भारतीय राजनीति
और
शासन

(१८५७–१९५२)

(आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा के लिए स्वीकृत)

लेखक

हृदय नारायण सभरवाल, एम० ए०, (राजनीति तथा इतिहास)
एल-एल० बी०
अध्यक्ष, राजनीति विभाग
बी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर

तथा

रामगुलाम गुप्त, एम० ए०, (राजनीति तथा इतिहास)
राजनीति तथा इतिहास विभाग
क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर

प्राक्कथन लेखक

प्रिन्सिपल पी० डी० गुप्ता, एम० ए०
एन० आर० ई० सी० कालेज, खुर्जा

१९५२]

[मूल्य ८॥)

प्रकाशक :
आर० पी० गुप्त
११२/३५४, विमल निवास
स्वरूपनगर
कानपुर

प्रथम संस्करण १९५१
द्वितीय संस्करण १९५२

मुद्रक :
पं० लालमणि
माडर्न प्रेस
जनरलगञ्ज
कानपुर

प्राक्कथन

अधुनिक भारत की संवैधानिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के अध्ययन में रुचि रखने वालों को भारतीय राजनीति और शासन के विषय पर इस पुस्तक का परिचय देते हुये मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। विषय केवल हमारे विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये ही नहीं अपितु राजनीति में रुचि रखने वाले सभी भारतीयों के लिये बड़े महत्व का है। भारत की स्वतन्त्रता के साथ संवैधानिक इतिहास के विद्यार्थियों का हमारे देश में राष्ट्रीय और संवैधानिक विकास की मुख्य धाराओं के अन्वेषण की ओर झुकना स्वाभाविक ही है। देश के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से ब्रिटिश शासन-सत्ता के हाथों में आने के बाद से पिछले ९० वर्षों में ही भारत का आधुनिक राष्ट्रवाद अपने विकास को प्राप्त हुआ है, और इसी काल में उन तत्वों को भी शक्ति मिली जिनके परिणामस्वरूप देश के निवासियों में एक सक्रिय राजनैतिक चेतना उत्पन्न हुई और वे संघर्ष और आन्दोलन की राह पर चल कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हो सके। भारतीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिये इस काल का, और इसका निर्माण करने वाले तत्वों का, निरपेक्ष अध्ययन अत्यधिक आवश्यक है, और इसी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये हमारे विश्वविद्यालयों में इस काल से सम्बन्धित विशेष पाठ्य-क्रम निर्धारित किये गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में लेखकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास का वर्णन करते हुये उन शक्तियों और संस्थाओं की विवेचना की है जिनके कारण इस देश की जनता में राजनैतिक चेतना का उदय सम्भव हो सका। लगभग पिछले सौ वर्षों के राजनैतिक आन्दोलनों को एक संक्षिप्त एवं आलोचनात्मक रीति से उपस्थित किया गया है। जिन राजनैतिक संस्थाओं और साम्प्रदायिक सङ्गठनों तथा विचार-धाराओं का प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उन पर अलग से प्रकाश

डाला गया है। हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के प्रमुख पात्रों, राजनैतिक विचारधारा तथा आन्दोलन के नेताओं और देश के राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कठिनाइयाँ और कष्ट झेलनेवाले देशभक्तों का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में भारतीय संविधान के विकास का वर्णन किया गया है। सन् १८५८ ई० से सन् १९१९ ई० तक के काल का सिंहावलोकनमात्र किया गया है। परन्तु सन् १९१९ ई० और सन् १९३५ ई० के अधिनियमों की व्याख्या यथेष्ट विस्तारपूर्ण तथा लाभदायक आलोचना से भरी हुई है। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ तथा भारत शासन और देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के सिंहावलोकन के साथ संवैधानिक विकास का यह ऐतिहासिक वर्णन समाप्त होता है।

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में संविधान सभा द्वारा निर्मित तथा २६ जनवरी सन् १९५० ई० को उद्घोषित, भारत के नए संविधान का वर्णन किया गया है। नए संविधान का यह वर्णन विवेचनात्मक तथा तर्कपूर्ण है और निश्चय ही भारतीय संविधान के विद्यार्थियों के लिये लाभप्रद सिद्ध होगा।

पुस्तक राजनीति-शास्त्र के दो अनुभवी शिक्षकों द्वारा लिखी गई है जिनमें से एक के विषय में मैं गौरव के साथ यह कह सकता हूँ कि उनकी गणना मेरे उन विद्यार्थियों में है जिनकी प्रतिभा और लगन का मैंने सदा आदर किया है। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उनके परिश्रम का फल यह पुस्तक केवल भारत के संवैधानिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिये ही नहीं, वरन् उन साधारण पाठकों के लिये भी अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होगी जो विषय में केवल सामान्य रुचि रखते हैं।

पी० डी० गुप्ता

दिनाङ्क, ४ अप्रैल, सन् १९५१ ई०,
एन० आर० ई० सी० कालेज,
खुर्जा

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक का प्रथम हिन्दी संस्करण अक्टूबर सन १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ था और जुलाई सन् १९५२ ई० में ही इसके दूसरे संस्करण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इससे स्पष्ट है कि पुस्तक विद्यार्थियों के लिये लाभप्रद सिद्ध हुई है। इसकी लोकप्रियता से हम लोगों का उत्साह वर्द्धित हुआ और हमने पुस्तक को द्वितीय संस्करण में पहले से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप अब यह पुस्तक हमारी अंग्रेज़ी पुस्तक के द्वितीय संस्करण का रूपान्तरमात्र नहीं रह गई है। अनेक स्थलों पर पुस्तक के कई अंश फिर से लिखे गये हैं और 'स्थानीय स्वशासन का विकास' शीर्षक एक नया अध्याय जोड़ा गया है। राष्ट्रीय आन्दोलन विषयक सभी अध्यायों में वृद्धि की गई है तथा वैधानिक विकास सम्बन्धी अध्यायों में भी आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्धन किये गये हैं। नये संविधान के वर्णन को अधिक आलोचनात्मक तथा विस्तृत बनाने का प्रयास किया गया है। परन्तु सबसे अधिक प्रयत्न इस बात का रहा है कि आद्योपान्त भाषा सरल, स्पष्ट तथा बोधगम्य हो।

आशा है हमारा यह संस्करण विद्यार्थियों के लिये प्रथम संस्करण से अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

कानपुर
दिनाङ्क, १५ दिसम्बर, १९५२

एच० एन० सभरवाल
आर० जी० गुप्ता

प्रथम संस्करण की भूमिका

भारत के आधुनिक राष्ट्रवाद का इतिहास अत्यधिक घटनापूर्ण है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के गत पचास वर्षों में ही इतना युगान्तरकारी और तीव्र परिवर्तन हुआ है कि आज की पीढ़ी अतीत के चित्र की कल्पना भी नहीं कर सकती। यह परिवर्तन इतना अधिक व्यापक था, इसकी गति इतनी तीव्र थी और इसके पीछे इतनी अधिक बिखरी हुई और परस्पर विरोधी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं कि इसका उचित मूल्यांकन असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। और हम अभी उस परिवर्तन-काल के इतने समीप हैं कि मूल्यांकन तो दूर की बात है, हमारे लिये निष्पक्ष होकर उन घटनाओं, शक्तियों और व्यक्तित्वों को क्रमबद्ध करना भी सरल नहीं है।

परन्तु कार्य कठिन होते हुये भी आवश्यक है। हम संक्रमण-काल के प्राणी हैं; परिवर्तनमय अतीत से होकर निकल चुके हैं और स्वस्थ तथा स्थिर भविष्य की चिन्ता में हैं। हमारे सामने अगणित समस्याओं का प्रश्न है। और अनेक प्रयोगों की छाँह में हम उनका समाधान खोज रहे हैं। उदाहरण के लिये २६ जनवरी सन् १९५० ई० को हमने एक ऐतिहासिक प्रयोग का आरम्भ किया, उस दिन हमारे नए संविधान की उद्घोषणा हुई। यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी क्योंकि इस संविधान में हमारे चिर-सञ्चित आदर्श प्रतिफलित हुए, हमारी जातीयता को विकास और विस्तार का अवसर मिला तथा हमारे जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति मिली। परन्तु यह संविधान कोई स्वतन्त्र, स्वतः-सम्पूर्ण वस्तु अथवा घटना नहीं है। इसके पीछे गत सौ वर्षों के राष्ट्रीय एवं संवैधानिक विकास का संघर्षमय इतिहास है। और इस इतिहास के पीछे अनेक व्यक्तियों के बलिदान की कहानी तथा अनेक क्रान्तिकारी विचारधाराओं की प्रेरणा छिपी हुई है। इसीलिये तो अतीत का यथार्थ मूल्यांकन किये बिना सफल भविष्य की संयोजना सम्भव नहीं है। अतीत से वर्तमान बनता है वर्तमान से भविष्य। अतएव नवीन भारत के नागरिकों के लिये अतीत का ज्ञान आवश्यक है।

सम्भवतः इसी आवश्यकता का अनुभव करके आगरा विश्व-विद्यालय ने अपने राजनीति-शास्त्र के पाठ्य-क्रम में इस विषय का समावेश किया है। उसकी बी० ए० परीक्षा में राजनीति के तृतीय प्रश्न-पत्र का विषय भारतीय राजनीति तथा शासन है; और एम० ए० के पाठ्य-क्रम में भी आधुनिक भारतीय संविधान के विकास पर एक अलग प्रश्न-पत्र है। अन्य विश्व-विद्यालय भी अपने पाठ्य-क्रम में इस विषय को उचित स्थान दे रहे हैं। परन्तु उपरोक्त प्रश्न-पत्रों के लिये विद्यार्थियों का पथ-निर्देशन करने वाली कोई अच्छी पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। अतएव दिसम्बर

सन् १६५० ई० में जब हमने प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम अँग्रेज़ी संस्करण प्रकाशित किया उस समय हमारा उद्देश्य केवल इस अभाव की पूर्ति करना था। पुस्तक का आशातीत स्वागत हुआ और पहला संस्करण छः मास के भीतर ही समाप्त हो गया। अवसर से लाभ उठाते हुये हमने पहले संस्करण की त्रुटियों को दूर करने और कमियों को पूरा करने का यथासम्भव प्रयत्न किया। अपने इस प्रयत्न में हमें पुस्तक के कई अंश फिर से लिखने पड़े तथा कई नये अध्याय जोड़ने पड़े, जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय परिवर्तित एवं परिवर्धित संस्करण पहले की अपेक्षा लगभग ५० प्रतिशत अधिक विस्तृत हो गया।

इधर हमारे विश्व-विद्यालयों की शिक्षा और परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी हो गया है। इसके अतिरिक्त, हमने अनुभव किया कि पुस्तक की उपादेयता विद्यार्थियों से भी अधिक उन सामान्य पाठकों के लिये है जो आज जनतन्त्र के अधिकारों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं। अतएव अँग्रेज़ी के द्वितीय संस्करण पर आधारित यह हिन्दी संस्करण भी सेवा में उपस्थित किया जा रहा है।

इस पुस्तक में हमने बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करके उसे शृंखलाबद्ध करने एवं एक स्वरूप देने का प्रयास किया है। कार्य कठिन था परन्तु हम निस्सङ्कोच भाव से कह सकते हैं कि हमारी सम्पूर्ण विवेचना, हमारा अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का सम्पूर्ण मूल्यांकन, पूर्णतया निष्पक्ष है। अध्ययन की सुविधा के लिये पुस्तक को तीन खण्डों में बाँट दिया गया है। आरम्भ के दो खण्डों में भारत के राष्ट्रीय एवं संवैधानिक विकास का यथासम्भव संक्षिप्त परन्तु पूर्ण वर्णन किया गया है, और हमने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि हमारी विवेचना सरल तथा बोधगम्य हो। भारतीय राजनैतिक विचारधारा की विवेचना करते हुये हमने प्रमुख राजनैतिक दलों और नेताओं के आदर्शों और विचारों पर प्रकाश डालने का भी प्रयत्न किया है। पुस्तक के तीसरे खण्ड में नए संविधान की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है। यह संविधान हमारी युग-युग की आशाओं एवं आकांक्षाओं का प्रतीक एक विस्तृत प्रलेख है। परन्तु वह हमारे भविष्य का सफल निर्माण कर सकेगा या नहीं, यह हम पर निर्भर है। संविधान तो साधनमात्र है, उसका उचित अथवा अनुचित प्रयोग हमारे हाथ में है। और हमारा विश्वास है कि संविधान की पृष्ठ-भूमि तथा उसके आदर्शों एवं उसकी सीमाओं का समुचित ज्ञान हमें उसके उचित प्रयोग की ओर अग्रसर करेगा।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अध्यापकों, विद्यार्थियों तथा राजनीति-शास्त्र में रुचि रखनेवाले सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक की उपादेयता का निर्णय तो पाठकगण ही कर सकेंगे, परन्तु भाषा की क्लिष्टता को यथासम्भव सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। पारिभाषिक शब्दों के साथ अँग्रेज़ी

शब्द दे दिए गये हैं और पुस्तक के अन्त में संवैधानिक शब्दों का पारिभाषिक-शब्दावलि-कोष भी दिया गया है। इस बात का सतत् प्रयत्न करने पर भी कि पुस्तक में किसी प्रकार की त्रुटियाँ न रहने पाएँ, छापे की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। अगले संस्करण में इनको दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा। यदि कोई पाठक पुस्तक की अन्य त्रुटियों को बताने तथा इसे अधिक उपयोगी बनाने में परामर्श देंगे उनके हम आभारी होंगे।

हम सनातनधर्म कालेज, कानपुर के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यापक श्री शालिग्राम मिश्र, एम०ए०, के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन करते हैं। वे अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी के भी विद्वान् लेखक हैं। उन्होंने हमारी इस पुस्तक के हिन्दी रूपान्तर में इतना अधिक परिश्रम किया है कि इसका अधिकांश श्रेय उन्हें दिये बिना हम उनसे उऋण नहीं हो सकते। अन्त में हम एन० आर० ई० सी० कालेज, खुर्जा के प्रिंसिपल श्री पी० डी० गुप्ता के अत्यन्त अनुगृहीत हैं जिन्होंने पुस्तक का प्राक्कथन लिख कर अपने उदार स्नेह का परिचय दिया है।

कानपुर
दिनांक ५ अक्टूबर, सन् १९५१ ई०

एच० एन० सभरवाल
आर० जी० गुप्ता

'भारतीय राजनीति और शासन'

पर

कुछ सम्मतियाँ

Dr. Ishwari Prasad, M.A., LL.B., D. Litt., M. L. C. *Professor and Head of the Department of Politics, Allahabad University.*

'Indian Politics and Government' by Messrs H. N. Sabharwal and R. G. Gupta with a foreword by Principal P. D. Gupta of Khurja College is a useful publication. The first part of the book contains an account of the rise and growth of the nationalist movement and the authors have taken pains to be concise and accurate. From the birth of the Congress right up to the partition (1947) the various phases have been clearly described and no important event is left out. The negotiations which were held after Lord Wavell's appointment as viceroy between the different parties have been mentioned and the various plans are examined. One is struck by the moderation and fairness of the view which the authors have taken in regard to some of the most controversial matters.

How the nationalist movement has suffered from communalism, has been clearly pointed out by the authors. They have traced the history of Muslim communalism from its inception and dwelt upon its mischievous results. Mr. Jinnah's two-nation theory is explained and also the damage done to the cause of the nationalist movement by his vanity, intransigence and the attitude of non-possumus which he had adopted towards the Indian problems. Their judgment will be endorsed by all right-minded persons. The second part of the book describes the constitutional development during the years 1858–1947 and gives an account of the reforms introduced from time to time. The treatment is on the whole fair and impartial. The third part deals

with the present constitution. It is an admirable summary of the main features. It would have been better if it had been more critical.

I have no doubt the book will be found useful by students as well as others. The industry, impartiality and fairness of the authors are commendable.

November 13, 1952 **(Sd.) Ishwari Prasad**

डा० ब्रजमोहन शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, अध्यक्ष राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

'भारतीय राजनीति और शासन' मैंने आद्योपान्त पढ़ी। आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० (राजनीति) कक्षा के तृतीय प्रश्न पत्र के पाठ्य-क्रम को ध्यान में रखते हुये यह पुस्तक बड़े अच्छे ढङ्ग से लिखी गई है। वास्तव में यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

जिस सरलता और विवेचना के साथ पुस्तक लिखी गई है उसे देखते हुये कहा जा सकता है कि केवल विद्यार्थी ही नहीं राजनीति में रुचि रखने वाले साधारण जन भी उससे लाभ उठा सकते हैं।

२६-१०-५२ (ह०) ब्रजमोहन शर्मा

Principal P. D. Gupta, M. A., *N. R. E C. College, Khurja*

The book has been written by two experienced teachers of Political Science—one of whom I have had the privilege of counting among those students of mine for whose ability and industry I have always had a high respect—and I have no doubt that their labours have produced a book which will be found to be of great use not only by students of Indian constitutional history but also by the lay readers who may be interested in the subject in a general way.

April 4, 1951 **(Sd.) P.D. Gupta**

Dr. M. P. Sharma. M. A., D. Litt., *Professor of Public Administration and Local Self Government, Nagpur University.*

I find it to be a comprehensive book dealing with the constitutional and national development of India, the more significant trends of Indian political thought in recent times and an exposition of the new Indian constitution. The book should prove very useful for the students as well as the general reader. The treatment of the subject in hand reveals the sound scholarship of the authors who have spared no pains to make their account clear and comprehensive

June 9, 1951 **(Sd.) M. P. Sharma.**

Prof. **K. S. Bhatnagar,** M. A., LLB., *V. S. S. D. College, Kanpur.*

The authors deserve congratulations for bringing out this timely volume on Indian Politics and Government. The last part of the book alone, dealing with the new constitution of the Indian Republic, is sufficient to make it valuable for students of Indian constitutional development. The vast scope of the subject has been done ample justice to and ticklish questions have been discussed with singular objectivity and lucidity.

October 20, 1951 **(Sd) K. S. Bhatnagar.**

Dr. S. N. Verma, M. A., (*Political Science & History*) *Ph. D.* (*Columbia*), *Head of the Department of Political Science, D. A V. College, Kanpur.*

Professors H N. Sabbarwal and R. G. Gupta have supplied a long felt need of the Indian students of Political Science by bringing out this book on Indian Politics and Government, The treatment of the subject is as lucid as it is exhaustive. The book covers a crowded period of Indian politics extending over almost 100 years and to summarise it in 564 pages is indeed a creditable achievement. The arrangement of the matter in three distinct parts is, no doubt, satisfactory from the point of view of clarity and simplicity, but to my mind it gives the impression that there is no connection between the Indian nationalist movement and the constitutional

development in the country. The first two parts could in my opinion have been more satisfactorily dealt with together to avoid this misconception, which I hope the authors may find advisable in a subsequent edition.

That the book has been found to be useful is apparent from the rapid circulation it has had, going through two editions within the short period of one year. On the whole it is a useful study and the authors deserve every encouragement in their efforts.

Dec 15, 1952. **(Sd.) S. N. Verma.**

The PIONEER

There are numerous books on Indian politics and government but few give so many details at one place as we find here. The authors have consulted almost all the standard works on the subject and have presented the material so collected along with their own comments in a well-planned manner. Their analysis of the main trends of Indian political thought and struggle during the last 90 years or more is convincing. It is materially different from that given by the text-book writers of the pre-Independence period.

That the book has been well received is evident from the fact that it had to go through the press twice in nine months. First published in December, 1950, its second edition had to be brought out in September 1951, Since then many things have happened. The book, therefore, needs revision particularly where it deals with Indian finance and the Kashmir problem.

March 23, 1952 **S. A.**

स्वतन्त्र भारत

पुस्तक की भूमिका में ही लिखा है कि पुस्तक लिखने का मुख्य उद्देश्य आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० कक्षाओं के राजनीति विषय के तृतीय प्रश्न-पत्र के लिये एक पाठ्य-पुस्तक तैयार करना है। निस्सन्देह इस उद्देश्य की पूर्ति प्रस्तुत पुस्तक बहुत अच्छी तरह करती है। भारत में राष्ट्रीयता के विकास तथा

स्वातन्त्र्य आन्दोलन की सफलता पर चारों ओर छितरी हुई सामग्री लेखकों ने परिश्रम से संग्रहीत की है। व्यापक विषय का विवेचन तथा प्रतिपादन अच्छे ढङ्ग से किया गया है। पुस्तक में मौलिक अथवा गम्भीर गवेषणात्मक दृष्टिकोण नहीं लिया गया है पर 'पाठ्य-पुस्तक' में यह किया भी नहीं जा सकता। आगरा विश्वविद्यालय ने यह पुस्तक बी० ए० कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में स्वीकृत भी कर ली है। अन्य लोगों के लिये भी पुस्तक उपयोगी है क्योंकि उसमें भारत में राष्ट्रीयता के सूत्रपात, काँग्रेस आन्दोलन और उसकी सफलता, राष्ट्र-निर्माताओं के विचार और कार्य प्रणाली, वर्तमान राजनीतिक दलों की नीति तथा भारत की वैधानिक प्रगति की पृष्ठभूमि समझाते हुये भारतीय संविधान पर पर्याप्त विचार किया गया है। हिन्दी भाषा में यह पुस्तक एक बड़ी कमी को पूरा करती है।

दिसम्बर ३१, १६५१ रा० प्र०

विश्वमित्र

१८५७ की प्रथम भारतीय राज्य क्रान्ति से लेकर स्वाधीन भारत के अद्यावधि राजनीतिक क्रम विकास कर के सरल बोधगम्य इतिहास की परिचायक इस पुस्तक के विषय में संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषी जनता के लिये यह मृत्यु लोक के लिये मन्दाकिनी है। पुस्तक के पूर्वार्ध विषय राजनीति और शासन विषय की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक हैं, उत्तरार्ध विषय नागरिक शास्त्र की निधि हैं। देश की हिन्दी भाषा-भाषी जनता की तत्कालीन आवश्यकता पूर्ति के लिये हमारे विचार से पुस्तक अपने ढङ्ग की बेजोड़ है। लेखकों का प्रयास सफल एवं स्तुत्य है। पुस्तक राजकीय प्रश्रय की अधिकारिणी है।

दिसम्बर ७, १६५१

श्री हरिशङ्कर विद्यार्थी, अध्यक्ष, डेवलपमेण्ट बोर्ड, कानपुर।

गत सौ वर्षों के राजनतिक आन्दोलनों तथा भारत की संवैधानिक प्रगति का यह क्रमबद्ध इतिहास सामयिक है। भारतीय राजनीति के गम्भीर विद्यार्थियों के ही लिये नहीं अपितु उन सभी लोगों के लिये जिन्हें भारत के राजनैतिक आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास के अध्ययन से रुचि है, यह पुस्तक लाभप्रद सिद्ध होगी।

अक्टूबर १५, १६५१ (ह०) हरिशंकर विद्यार्थी

प्रिन्सिपल सद्गुरुशरण अवस्थी, बी० एन० एस० डी० कालेज, कानपुर।

'भारतीय राजनीति और शासन' में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास का वर्णन करते हुये उन सभी शक्तियों एवं संस्थाओं की रोचक विवे[illegible] की गई है जिनके परिणामस्वरूप भारत ने स्वतन्त्रत [illegible] निक विकास का वर्णन सरल, बोधगम्य [illegible] साथ ही भारत के नये संविधान की विस्तृ [illegible] ाख्या भी पुस्तक में दी गई है।

अक्टूबर [illegible] १ [illegible] (ह०) सद्गुरुशरण अवस्थी

Dr. V. P. S. Raghuvanshi, M. A., D. Phil., *Department of Politics and History, B. R. College, Agra.*

I am impressed by your second edition of 'Indian Politics and Government.' It fully meets the requirements of our B. A. students of Political Science. The Hindi rendering of the book is quite excellent.

November 12, 1951 **(Sd.) V. P. S. Raghuvanshi**

Prof. R. K. Islam, M. A., *Head of the Department of Political Science and History, Gandhi Faizam College Shahjahanpur*

Accept my congratulations for having written such a nice book. I may tell you that I have used the word 'nice' in its literal sense and not in the journalistic one where it has lost much of its flavour. It is decidedly the best book on B. A. Paper III (Political Science) of our university and when I made it obligatory on the part of every one of my students to purchase it, I did so solely on the merits of the book. Neither yourself nor your publishers are in any way under any obligation.

December 7, 1951. **(Sd.) R. K. Islam**

Principal N. N. Mundle, M. A., *St. Andrews College, Gorakhpur.*

Your book contains very useful material for the benefit of the students. Please accept my congratulations for writing such an excellent and useful book.

January 7, 1952. **(Sd.) N. N. Mundle.**

विषय-सूची

प्रथम भाग—भारत में राष्ट्रीयता का विकास तथा राजनैतिक विचार धारा

(१८५७–१९४७)

अध्याय	विषय	पृष्ठ

प्रथम भाग

भारत में राष्ट्रीयता का विकास तथा राजनैतिक विचारधारा

(१८५७-१९४७)

पहला अध्याय

१८५७—पहला स्वातन्त्र्य संग्राम

आधुनिक भारतीय राष्ट्र भावना—राष्ट्रीयता बाह्य अथवा वहिर्मुखी भावना न होकर एक अन्तर्मुखी, व्यक्तिगत सिद्धान्त है। आजकल इसी दृष्टिकोण को उत्तरोत्तर अधिक मान्यता प्राप्त हो रही है। इसके अनुसार राष्ट्रीयता एक ही प्रदेश के निवासियों की उस निश्चित देश के प्रति समान दृष्टिकोण की भावना को कहते हैं। फिर भी अनेक विदेशी विद्वान भारतवर्ष को राष्ट्र स्वीकार नहीं करते। उनकी यह धारणा किसी हद तक ग़लत है क्योंकि भारतीय इतिहास की परम्परा में हमें विषमताओं के बीच एक अद्भुत समता के दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण भारत के निवासियों का एक ही इतिहास है और उनके साहित्य, काव्य तथा लोकगाथाओं के पीछे समान सभ्यता तथा परम्पराओं की शृङ्खला है। यह सत्य है कि मध्यकालीन भारत में राष्ट्रीय भावना का अस्तित्व न था। उस समय के सामन्ती दृष्टिकोण तथा वातावरण में शुद्ध राष्ट्रीय भावना पनप ही नहीं सकती थी। परन्तु समान विचारधारा, समान भावना तथा समान जीवन-दर्शन के अर्थ में राष्ट्रीय भावना संसार के सभी देशों के लिये एक आधुनिक जागृति है। आधुनिक योरोप का इतिहास ही राष्ट्र-राज्य (The Nation-State) के विकास से आरम्भ होता है। अतएव यह निर्विवाद है कि हमारे देश में भी इस भावना का जन्म बहुत बाद में हुआ। यहाँ राष्ट्रीयता अंग्रेज़ों के अन्यायों एवं अत्याचारों के प्रति विद्रोह तथा साम्राज्यशाही शासन और शोषण के विरोधस्वरूप उत्पन्न हुई समान राजनैतिक चेतना में पनपी और आज संसार के दूसरे देशों की भाँति भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय भावना का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

कुछ लोग समझते हैं कि राष्ट्रीय काँग्रेस (Indian National Congress) का इतिहास ही भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म तथा विकास का इतिहास है। परन्तु यह धारणा पूर्णत: सत्य नहीं है। वास्तव में भारतीय राष्ट्रीयता की शक्तियाँ काँग्रेस के जन्म से बहुत पहले सजग हो चुकी थीं और राष्ट्रीय भावना का प्रचार और प्रसार काँग्रेस के बाहर भी होता रहा है। हमारे देश की विभिन्न जातियों को एकता के सूत्र में बाँधने का सबसे अधिक श्रेय तो अत्याचारी विदेशी शासन को है जिसके कुकृत्यों से विद्रोह आवश्यक हो गया था। अंग्रेज़ों के विस्तार तथा संगठन की नीति साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से अत्यन्त हितकर थी। इसके फलस्वरूप विशाल भारत देश बिना किसी व्यय के ही अंग्रेज़ी साम्राज्य में मिलकर अंग्रेज़ों के अत्यधिक लाभ का

साधन बन गया था। परन्तु कम्पनी की व्यापार-नीति इतनी अधिक शोषणप्रधान और डलहौज़ी की लूटमारी इतनी खुली हुई तथा अमानुषिक थी कि सामन्ती शासकों में विद्रोह तथा घृणा के भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक हो गया। शासन द्वारा परिपोषित ईसाई पादरियों के धर्म प्रचार ने इस विरोध को और प्रबल बना दिया, हिन्दू-मुसलमान, राजा-प्रजा, सभी वर्गों तथा परिस्थितियों के भारतीयों के मस्तिष्क सन्देहों और आशंकाओं से उत्तेजित थे और ये आशंकायें बिल्कुल निराधार भी नहीं थीं। चरबी की कारतूसों ने चिनगारी का काम किया। भारतीय समाज विद्रोह के पूर्व ही आधुनिकता को अपना चुका था और देश ने राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन में एक प्रकार की एकता प्राप्त कर ली थी। अतएव राष्ट्रीय विचारधारा तथा आन्दोलन का विकास स्वाभाविक ही था। इस प्रकार भारतीय राजनीति में अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप (प्लासी का युद्ध सन् १७५७ ई०) के ठीक सौ वर्ष बाद भारत ने सबल तथा विस्तृत होती हुई साम्राज्यशाही के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा किया।

सन् १८५७ ई० की यह घटना अंग्रेज़ों के लिये "सिपाही विप्लव" मात्र थी परन्तु हमारे लिए यह भारतीय स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई थी। अंग्रेज़ों ने इस संग्राम में शहीद होने वाले भारतीय वीरों पर कीचड़ उछालने में कुछ उठा नहीं रक्खा। उनके एकांगी वर्णनों को पढ़ कर सत्य की थाह पाना भी कठिन लगने लगता है। वास्तव में सन् १८५७ के विद्रोह का सन्तोषजनक इतिहास अप्राप्य है क्योंकि इसका वास्तविक स्वरूप स्वतन्त्र भारत में साँस लेने वाला कोई भारतीय ही उपस्थित कर सकता है। परन्तु आधुनिक भारतीय राष्ट्र भावना के विकास में सन् '५७ का महत्व समझने के लिए ऐतिहासिक विवादों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

सन् '५७ का युद्ध—इस युद्ध की योजना सीधी और सरल थी। इसके अनुसार भारतीय सेना को देश भर में एक निश्चित समय पर विद्रोह का झण्डा ऊँचा करके अंग्रेज़ अफ़सरों को मार डालने, कारागृह तोड़ कर बन्दियों को मुक्त कर देने, राज्यकोषों, शस्त्रागारों तथा किलों पर अधिकार कर लेने तथा तार के खम्भों और रेल की पटरियों को काट देने का कार्यक्रम था। क्रान्तिकारियों को पूर्ण विश्वास था कि इन धक्कों से विदेशी सरकार की नींव हिल जायगी। इसके पश्चात् उनका दूसरा लक्ष्य जनता की सहानुभूति प्राप्त करना था। विद्रोह के नेताओं ने अपनी घोषणाओं में क्रान्ति की आधारशिला को अधिक से अधिक विस्तार देने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी माँगों में ज़मींदार, व्यापारी, सरकारी कर्मचारी, कारीगर, पण्डित, फ़कीर आदि सभी वर्गों के असन्तोष और क्षोभ का उल्लेख कया।

क्रान्ति का मुख्य भार सेना के कन्धों पर था और मद्रास तथा बम्बई की भाँति जहाँ-जहाँ सेना ने संघर्ष में योग नहीं दिया वहाँ-वहाँ विप्लव की अग्नि केवल सुलग कर ही रह गई। परन्तु पश्चिमोत्तर प्रांत में दिल्ली, मेरठ, अवध, रुहेलखण्ड,

आगरा, इलाहाबाद तथा बनारस में, बंगाल के पटना और छोटा नागपुर प्रदेशों में तथा मध्यभारत के नीमुच और अजमेर जिलों में यथेष्ट समय तक फौजी राज्य की व्यवस्था रही। इससे हम क्रान्ति के विस्तार तथा उसकी गम्भीरता का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। अवध, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड और सागर तथा नर्वदा के प्रदेशों में जनता अंग्रेज़ी राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। पश्चिमी बिहार तथा आगरा और मेरठ कमिश्नरियों में भी सेना और जनता ने लगभग साथ ही साथ विद्रोह किया। इसके परिणामस्वरूप देश के कुछ भागों से तो अंग्रेज़ी सत्ता का लोप ही हो गया। कलकत्ते की कम्पनी-सरकार का दिल्ली और आगरा से कोई सीधा सम्पर्क नहीं रह गया था।

सेना का विद्रोह मेरठ में १० मई, सन् १८५७ को निश्चित समय से कुछ पूर्व अनायास ही आरम्भ हो गया। मेरठ से सैनिक दिल्ली की ओर बढ़े और राजधानी भी शीघ्र ही उनके अधिकार में आगई। यह इस स्वातन्त्र्य-युद्ध की सबसे महत्वपूर्ण विजय थी क्योंकि इसके फलस्वरूप विप्लवकारी सैनिकों को युद्ध का नेता मिला, उद्देश्य मिला, झण्डा मिला, राष्ट्रीय क्रांति की मान-मर्यादा मिली और हथियार तथा गोला बारूद मिले जिनकी उन्हें अत्यधिक आवश्यकता थी। जब कई असफल प्रयत्नों के बाद अंग्रेज़ों ने फिर राजधानी में प्रवेश किया तब जनता उनका डटकर सामना करने के लिये तैयार थी। इस प्रकार दिल्ली के आसपास के गाँवों में भी बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा।

आगरा में नगर तो अंग्रेज़ों के अधिकार में ही रहा, परन्तु शेष प्रांत भर की जनता उठ खड़ी हुई थी। लखनऊ विप्लवकारियों द्वारा घिरा, उद्धार हुआ, खाली किया गया और फिर अंग्रेज़ों के अधिकार में आया; और यह सारे परिवर्तन अल्पकाल में ही हो गये। भूतपूर्व पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने कानपुर पर अधिकार कर लिया और यहाँ भी सारा भेदभाव भूल कर हिन्दू-मुसलमान दोनों ने साथ-साथ काम किया, साथ-साथ खून बहाया। शीघ्र ही रुहेलखण्ड में भी आग फैल गई और वहाँ की सेना, पुलिस तथा जनता ने मिलकर केवल कुछ घण्टों में ही अंग्रेज़ी राज्य को उखाड़ फेंका।

मध्यभारत तथा बुन्देलखण्ड में इस क्रान्ति के साथ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तथा नाना साहब के सेनापति तात्या टोपे के अमर नाम गुँथे हुये हैं। लक्ष्मीबाई की ओजपूर्ण वाणी में जादू था। उसके संकेतमात्र पर जनता कट-मरने के लिये तैयार हो जाती थी। उसने ग्वालियर पर अपना अधिकार कर लिया, परन्तु जून, सन् १८५८ में वह युद्ध में लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। इसके एक वर्ष बाद तात्या टोपे भी बन्दी बनाकर फाँसी पर चढ़ा दिया गया। वह वास्तव में एक महान सेनानी था। नाना साहब नैपाल के घने जंगलों में जा छिपा और फिर उसका पता नहीं चला।

बिहार के विप्लवकारियों का केन्द्र आरा था। वहाँ के राजपूत जमींदार राजा कुमार सिंह ने अपनी वीरता से अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिये और मृत्युपर्य्यन्त उन्हें छकाते ही रहे।

इस प्रकार उत्तर के लगभग सभी प्रांतों में सेना और पुलिस के साथ-साथ भारतीय-कर्मचारियों ने भी विद्रोहियों का ही साथ दिया। बहुधा तो अंग्रेज़ों को कहीं किसी प्रकार की सहायता मिलना कठिन हो जाता था। धनिक वर्गों की श्रद्धा भी अंग्रेज़ों पर से उठने लग गई थी। पंजाब में जहाँ अंग्रेज़ों को सत्ता अभी टस से मस भी नहीं हुई थी, सरकार का चलाया हुआ छः प्रतिशत ब्याज का १० लाख पौंड का ऋण लोगों का ध्यान भी नहीं आकर्षित कर सका। परन्तु सिख राजाओं के हृदय में विप्लवकारियों के प्रति तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। राजपूताना के अधिकतर शासकों ने भी निष्पक्ष रहना ही उचित समझ कर किसी पक्ष की सहायता नहीं की। फिर भी उत्तर में विद्रोह बिजली की गति से फैला और उसके पीछे "करने या मरने" की भावना थी। परन्तु दक्षिण में इस चिनगारी ने तुरन्त आग नहीं पकड़ी। वहाँ के लोगों ने कुछ समय रुक कर उत्तर का परिणाम देखने का निश्चय किया। वहाँ जब-जब आग भड़की हैदराबाद के प्रधानमन्त्री सालार-जंग ने तुरन्त उसे दबा दिया।

इस विद्रोह के फलस्वरूप भारत सरकार को भारी आर्थिक घाटा हुआ और सरकारी ऋण बहुत बढ़ गया। अतएव सरकार तथा उसकी हुण्डियों की साख पर भी भारी आघात हुआ। देश का आन्तरिक व्यापार ढीला पड़ गया, इङ्गलैंड से माल आना बन्द हो गया और महाजन तथा व्यापारी हाथ पर हाथ धरे बैठे रह गये। विद्रोह में जीवन-हानि के आँकड़े इससे भी अधिक भयानक हैं। लगभग ३०,००० भारतीय सैनिक तथा १,००,००० असैनिक युद्ध में लड़ते हुए मारे गये। परन्तु विद्रोह-दमन के उपरान्त जो अनुमान लगाया गया उसके अनुसार चोटों, कठिनाइयों तथा राजकीय दण्ड के फलस्वरूप मरने वाले सैनिकों की संख्या १,००,००० से कम नहीं थी और असैनिक मरने वालों की संख्या तो इससे भी कहीं अधिक रही होगी। इस युद्ध में विजेताओं की भी यथेष्ट हानि हुई। विद्रोह की धन तथा जन हानि के इन आँकड़ों से हम उसकी भयानकता तथा विस्तार का बहुत कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

असफलता के कारण—सन् १८५७ ई० की यह राज्यक्रान्ति प्रारम्भ में अत्यन्त सफल रही, परन्तु अन्ततः वह अपना उद्देश्य प्राप्त न कर सकी। वास्तव में क्रांतिकारी अपनी प्रारम्भिक सफलता से यथेष्ट लाभ नहीं उठा पाये। इसके कई कारण थे जिनमें से कुछ पर तो उनका कोई वश न था, परन्तु शेष उनकी नीति, उनके दृष्टिकोण तथा सामाजिक स्तर की सीमाओं के ही परिणाम थे।

क्रान्ति की असफलता का सबसे पहला कारण समय का ग़लत चुनाव था। सन् १८५७ का वर्ष अंग्रेज़ों के लिये शुभ था। उस समय तक क्रीमिया तथा चीन के युद्ध समाप्त हो चुके थे और इस प्रकार विद्रोह-दमन के लिये बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी सेनायें भेजने में कोई अड़चन नहीं रह गई थी। अफ़ग़ानों के साथ भी अंग्रेज़ों की मित्रता थी और देश के बाहर भारत का कोई मित्र नहीं था। दूसरे, अंग्रेज़ों ने समुद्र पर एकाधिकार जमा रक्खा था, अतएव उन्होंने भारत के अकेलेपन को और भी अधिक निस्सहाय बना दिया। जब तक पंजाब तथा सागर तट के नगर उनके अधिकार में थे, अंग्रेज़ों को आन्तरिक विप्लव की विशेष चिन्ता नहीं थी। तीसरे अंग्रेज़ों के पास बड़ी भारी सेना थी और उसके हथियार भारतीय हथियारों से कहीं अच्छे थे। उनकी एन्फील्ड राइफलों की मार भारतीयों के पैर उखाड़ देती थी। इसके अतिरिक्त, तार द्वारा समाचार भेजने के नये आविष्कार का भी क्रान्तिकारियों के विरुद्ध सफल प्रयोग किया गया।

कारणों की दूसरी शृंखला में सबसे पहले हम उचित निर्देशन की कमी पर विचार करेंगे जिसके फलस्वरूप विद्रोह का आरम्भ मेरठ में १० मई को निश्चित समय से पूर्व ही हो गया। योजना के अनुसार प्लासी के युद्ध की शताब्दी के दिन, २२ जून को सारे देश में एक साथ विद्रोह का विस्फोट होना चाहिए था। इस प्रकार आरम्भ में ही समय-तालिका भङ्ग हो जाने के कारण सफलता का केवल एक उपाय शेष रह गया था—देश के अधिकतर भागों से अंग्रेज़ी सत्ता का शीघ्रातिशीघ्र निर्मूलन। परन्तु पहले से इस प्रकार की योजना न रहने के कारण यह भी नहीं हो सका। दूसरे, बहुत से देशी राजाओं को अंग्रेज़ी कूटनीति के फलस्वरूप शक्ति तथा सत्ता मिली थी; उन्होंने क्रान्ति का विरोध किया। दिनकरराव की कूटिनीति के कारण सिन्धिया विद्रोह में कोई योग नहीं दे सका और निज़ाम ने दक्षिण में उठते हुए विद्रोह को दबाया। ये शासक पुत्र गोद लेने का अधिकार चाहते थे। लार्ड कैनिंग ने बड़ी चतुराई से यह अधिकार देने का आश्वासन देकर उन्हें भारत में अंग्रेज़ी सत्ता का मुख्य स्तम्भ बना लिया। तीसरे, ज़मींदारी तथा निहित स्वार्थों ने भी–विशेषकर बङ्गाल में–शासक वर्ग के हित को ही अपना हित समझा। दूसरी ओर देश के दलित वर्ग भी विप्लवकारियों का साथ नहीं दे सके। और अन्त में, क्रान्तिकारियों के पास न तो संयोजनशील-नेतृत्व ही था और न समानान्तर सत्ता के रूप में क्रांतिकारी संगठन का कोई केन्द्र ही।

परिणाम—सन् १८६० तक विप्लव के सारे चिन्ह मिटाये जा चुके थे, परन्तु उसके घावों के गहरे निशान, उसके स्थायी परिणाम अब भी शेष थे। यह क्रान्ति मुख्यत: अंग्रेज़ी शासन की प्रगतिशील विचारधारा के विरुद्ध सामन्तकालीन तत्वों के विद्रोह का परिणाम थी। आन्दोलन तो सफल नहीं हो सका परन्तु उसके

फलस्वरूप जनता का दबा हुआ असन्तोष उभर कर ऊपर अवश्य आ गया। विदेशी शासन भी एक बार सहम गया। इस क्रान्ति के दमन में जनता को आतंकित करने के उद्देश्य से अमानुषिक निर्दयता का प्रयोग किया गया जिसकी याद आज भी भारतीय मस्तिष्क में कसकती है। भारतीयों तथा अंग्रेज़ों के बीच की खाई चौड़ी होती गई और पश्चिमी आदर्शों पर आधारित नई भारतीय सभ्यता के सपने चूर-चूर हो गये। क्रान्ति की असफलता से हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच भी भेदभाव उत्पन्न हो गया और इस प्रकार भारत की आत्मा में एक दरार-सी पड़ गई। हमारे आज के नागरिक जीवन को गन्दा बनाने वाले साम्प्रदायिक मनमुटाव तथा कलह इसी उत्तर-क्रांतिकाल की देन हैं। विद्रोह में मुसलमान सबसे आगे रहे थे, अतएव अंग्रेज़ों ने विभाजन की नीति (Divide Et Empera) को अपनाया। लगभग चालीस वर्षों तक वे मुसलमानों की उपेक्षा तथा हिन्दुओं के साथ पक्षपात करते रहे और इसके बाद जब हिन्दू भी विद्रोही हो चले, अंग्रेज़ों ने मुसलमानों का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। इसका कुफल यह हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों में मनमुटाव बढ़ गया और सरकार की इसी विभाजन नीति के परिणाम-स्वरूप साम्प्रदायिक समस्या ने आगे चल कर एक विकट रूप धारण किया।

अंग्रेज़ लेखकों के मतानुसार इस विद्रोह के फलस्वरूप भारत से ईस्टइण्डिया कम्पनी की "अप्रगतिशील, स्वार्थप्रधान तथा व्यापारिक" शासन-नीति उठ गई और उसका स्थान वाइसराय के माध्यम से ब्रिटिश शासन-सत्ता के उदार शासन ने ले लिया। परन्तु वास्तव में यह परिवर्तन केवल नाममात्र का था, क्योंकि भारत में अंग्रेज़ों का फैलता हुआ साम्राज्य सन् १७९३ से ही इङ्गलैंड की सरकार की देखरेख में चल रहा था। परन्तु अब शासन की बागडोर पूर्ण रूप से अपने हाथ में लेने पर ब्रिटिश सरकार का ध्यान सबसे पहले ऐसे उपायों की ओर गया जिसके द्वारा भविष्य में इस प्रकार के विद्रोह की आशंका मिटाई जा सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का सबसे अच्छा उपाय देश में उत्तरदायित्वपूर्ण, जनहित प्रधान शासन व्यवस्था की स्थापना है, यह किसी ने सोचा भी नहीं। अतएव सेना का पुनर्संगठन किया गया और उसमें भारतीयों की संख्या घटा कर उनके स्थान पर अंग्रेज़ भरे गये। परन्तु एक-एक अंग्रेज़ सैनिक का व्यय चार-पाँच भारतीय सैनिकों के बराबर होता था। अतएव अंग्रेज़ों की भारतीय सेना का व्यय भी बढ़ने लगा। परन्तु इसकी चिन्ता ही किसे थी? मुख्य सैनिक केन्द्रों में गोरी पल्टन की नियुक्ति की गई। नई देशी पल्टन में केवल गुरखों, पठानों तथा सिखों की भर्ती की जाती थी और उच्च जाति वालों को जान-बूझ कर स्थान नहीं दिया जाता था। सेना के नये दस्ते बनाने में भी जाति-विभाजन की नीति पर काम किया गया। आपस में ईर्ष्या और मनमुटाव बढ़ाने के लिये पल्टनों का साम्प्रदायिक नामकरण किया गया, उदाहरणार्थ राजपूत रेजीमेंट, सिक्ख

पल्टन, पठान पल्टन आदि। इस प्रकार भारतीय सेना जनता की समरवाहिनी बनने के योग्य ही नहीं रक्खी गई। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वयं जनता के हथियार छीन कर उसे कायर तथा निकम्मा बना दिया गया, जनता निरस्त्र हो गई। उसके पास आत्म-रक्षा के लिए भी हथियार नहीं रह गए। इतना ही नहीं, जनता को भली-भाँति दबाया गया। गदर में भाग लेने वाले कुटुम्बों को नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश शासन सत्ता की पुन: स्थापना पहले से अधिक भयानक एवं सुदृढ़ रूप में की गई।

महारानी विक्टोरिया के नवम्बर सन् १८५८ के घोषणापत्र को भारतीयों का महान अधिकार-पत्र (Magna Charta) कहा गया है परन्तु वास्तव में, इसके शब्द-जाल के पीछे हमारी गुलामी और हज़ारों मील दूर रहने वाली जाति के द्वारा शासित होने की लज्जाजनक कहानी छिपी हुई थी। अंग्रेज़ कहें चाहे जो कुछ परन्तु बर्मा तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में उनकी पुरानी साम्राज्य विस्तार की नीति अब भी काम कर रही थी। भारतीयों पर किए जाने वाले अत्याचारों में भी किसी प्रकार की कमी नहीं आई थी। वास्तव में अँग्रेजों ने अब भारतीय समाज के राजनैतिक तथा आर्थिक प्रतिक्रियावादी तत्वों से समझौता करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये काफ़ी मजबूत आधार खोज लिया था। जिन सामन्तशाही तत्वों ने विद्रोह का नेतृत्व किया था सरकार ने उन्हीं को और सबल बनाना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त सरकार प्रत्येक प्रगतिशील सुधार-योजना का विरोध कर रही थी। वर्ण-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता की राह का रोड़ा थी, अतएव सरकार ने उसका समर्थन तथा परिपोषण किया। आर्थिक क्षेत्र में भी विदेशी स्वार्थों के सङ्गठन का युग विद्रोह के बाद से ही आरम्भ हुआ। भारत में विदेशी व्यापार तीव्र गति से फैल रहा था और देश की अर्थ-व्यवस्था को धक्के पर धक्का लग रहा था। सन् १८६१ तथा १९०० के बीच पड़ने वाले कई दुर्भिक्षों का क्रम इस सत्य का सबसे बड़ा प्रमाण है। परन्तु जितने उत्साह से यह विदेशी अपनी उच्चता का दावा तथा व्यवहार करते थे, उतने ही उत्साह से भारतवासी भी समानता की घोषणा करना सीख रहे थे।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इस विद्रोह के साथ-साथ प्राचीन भारत का अन्तिम प्रहार विफल हो चुका था। अब अंग्रेजों को केवल उस नवीन भारत का भय रह गया था जो पश्चिम के मानसिक विकास से प्रेरणा लेकर उठ रहा था।

दूसरा अध्याय

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात

राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप—सन् १८५७ के विद्रोह का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। इस अवसर पर जिस प्रकार अनेक वर्गों तथा जातियों के लोग कंधे से कंधा भिड़ा कर लड़े थे वैसा देश के इतिहास में पहले कभी, किसी विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध नहीं हुआ था। परन्तु अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने की प्रबल अभिलाषा होते हुये भी इस विद्रोह में सच्चे राष्ट्रीय आन्दोलन के कई आवश्यक तत्व नहीं थे। जाति, धर्म तथा परिस्थिति की विभिन्नताओं के कारण भारतीय न तो पूर्ण एकता ही प्राप्त कर सके और न एक साथ तथा एक समय पर प्रहार ही कर पाये। विद्रोह के नेताओं के अपने अपने उद्देश्य थे। कुछ मुसलमान बहादुरशाह के नेतृत्व में अपनी खोई हुई राज्य-सत्ता पाना चाहते थे, कुछ हिन्दू पेशवा के अधिकारों की स्थापना के लिये लड़ रहे थे और दोनों ही जातियों के रूढ़िवादी तत्वों के मतानुसार यह क्रांति प्रगति की आधुनिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र थी और सब से बड़ी बात तो यह थी कि इस क्रान्ति के पीछे कोई ऐसे स्थायी तथा प्राणदायक आदर्श नहीं थे जो जाति वर्ग की विभिन्नताओं को एकता के सूत्र में बाँध कर रख सकते।

परन्तु यह निर्विवाद है कि इस विद्रोह के साथ भारतवर्ष मध्यकालीन परिस्थितियों से निकल कर आधुनिकता के युग में आ गया। अब देश के पश्चिमी शिक्षा प्राप्त नागरिक राजनीति का बौद्धिक मूल्यांकन करके राजनैतिक सम्भावनाओं का अनुमान लगाने में कुशल हो चले थे। ऐसी परिस्थिति में यह भी स्वाभाविक ही था कि देश में राष्ट्रीय आन्दोलन धीरे-धीरे बढ़ कर एक संगठित रूप धारण कर ले। शिक्षित भारतीय अब देश के अतीत वैभव की पुनर्स्थापना का स्वप्न देख रहे थे और इस प्रकार गुलामी की भावना को मिटाकर देशप्रेम के भाव जाग्रत करने के शुभ प्रयत्न में उन्हें धार्मिक नेताओं का सहयोग भी प्राप्त था। चारों ओर स्वराज्य की माँग उठ रही थी। अंग्रेजों ने हमारी ग्राम-पंचायतों को नष्ट कर उनके स्थान पर विदेशी परम्परा के बोर्ड और कौंसिलों की स्थापना की थी। परन्तु इन संस्थाओं में जनहित की क्षमता तक नहीं थी। अंग्रेजी शासन ने शिक्षा की पूर्ण अवहेलना कर केवल अंग्रेज़ व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए देश की समस्त ललित कलाओं तथा उद्योग-धन्धों का नाश कर दिया था। इसके फलस्वरूप जनता में और अधिक उत्तेजना फैल रही थी। सिंचाई, वन-रक्षा तथा कृषि की ओर से भी सरकार

उदासीन ही थी। लोग गाँव छोड़कर अधिकाधिक संख्या में नगरों की ओर आकर्षित हो रहे थे जिसके फलस्वरूप नगरों की स्वच्छता तथा स्वास्थ्य की समस्या बहुत आवश्यक हो गई थी। परन्तु सरकार ने इस दिशा में भी कोई ध्यान नहीं दिया। और जब इस उदासीनता के फलस्वरूप संक्रामक रोग फैलने लगे तब अधिकारियों ने उन्हें रोकने की शीघ्रता में ऐसे उपायों का प्रयोग किया जिनसे जनता की रही सही सहानुभूति भी समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ों की यह शासन-व्यवस्था बहुत मंहगी भी थी। ब्लंट (Blunt) के शब्दों में "भारत के सैनिक तथा सार्वजनिक विभागों पर होने वाला आवश्यकता से भी अधिक व्यय अत्यन्त लज्जा की बात है।" वास्तव में भारत के अर्थ-मंत्री को भारत की इतनी चिन्ता नहीं रहती थी जितनी इङ्गलैंड की। ऐसी परिस्थितियों में चारों ओर असंतोष फैलना स्वाभाविक ही था। श्रीमती एनीबेसेंट के शब्दों में भारत "शृंखलाओं में बँधा था" और उसने "स्वतन्त्र होने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।"

सन् १८५७ के विद्रोह के फलस्वरूप दोनों पक्षों के दृष्टिकोण बदल चुके थे। अब अंग्रेज़ों की भारत के प्रति पुरानी सहानुभूति घृणा के भावों में बदल गई थी। वे अब प्रत्येक वस्तु को प्रधानतः अंग्रेज़ी दृष्टिकोण अथवा 'स्तर' से देखने लगे थे। लिन्डसे रिपोर्ट (Lindsay Report) के शब्दों में "अब राज्य की नीति मुख्यतः जातीय कुलीनता के आधार पर निर्धारित होती थी। शासन की पूर्व-परिचित उदारता का लोप हो चुका था और यद्यपि लार्ड रिपन के स्थानीय स्वराज्य जैसे प्रस्ताव कभी-कभी स्वीकार कर लिये जाते थे परन्तु उनके व्यावहारिक स्वरूप पर प्रतिबन्ध लगा कर उन्हें प्रभावरहित भी बना दिया जाता था।" दूसरी ओर भारतीय जनता इस कठोर दमन को चुनौती देती हुई फिर उठ रही थी। यह दूसरी बात है कि इस बार जनता की यह नव चेतना दूसरी और अधिक वैधानिक राह पर चल रही थी।

इस प्रकार विद्रोह के बाद पचीस वर्ष के भीतर ही देश वास्तविक राष्ट्रीय चेतना का नवस्पंदन अनुभव करने लगा था। यदि हम इस काल के राजनैतिक इतिहास की अन्तरधाराओं की विवेचना करें तो वे सभी कारण स्पष्ट हो जायँगे जिनके फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना ने बलवती होकर सन् १८८५ ई० में राष्ट्रीय काँग्रेस को जन्म दिया। संक्षेप में ये कारण निम्नलिखित थे—

(१) **राजनैतिक एकता की स्थापना**—साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप शासित जातियों में राष्ट्रीय भावना का जागरण स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष में भी ऐसा ही हुआ। सन् १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध से आरम्भ होकर अंग्रेज़ी साम्राज्य शीघ्र ही सारे देश में फैल गया और एक शताब्दी के भीतर ही हिमालय से कुमारी अन्तरीप और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक के सारे प्रदेश पर कम्पनी का अधिकार

हो गया। इसके फलस्वरूप देश में एक प्रकार की राजनैतिक एकता की स्थापना हुई जिसने विभिन्न प्रांतों की सताई हुई जनता के हृदय में समान भावनाओं को जन्म देकर मित्रता के भावों को सुदृढ़ बनाया। यह निर्विवाद है कि भारत के इतिहास में पहले भी इस प्रकार की राजनैतिक एकता रह चुकी थी। हिन्दूकाल में अशोक और मुग़लकाल में अकबर और औरंगज़ेब ने भारत के एक बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। परन्तु, कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के शब्दों में, "अंग्रेज़ी शासन ने जिस एकता को जन्म दिया वह मुग़लकालीन एकता से कहीं अधिक विस्तृत तथा सुव्यवस्थित थी।" इसने रेल, तार, डाक आदि की सुविधायें तथा देश में शिक्षा का एक माध्यम प्रदान कर एकता की भावना को सुदृढ़ किया। लार्ड इर्विन (Lord Irwin) अपने लेख 'भारत में राजनैतिक जीवन का विकास' (Evolution of Political Life in India) में लिखते हैं, "और इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उस दूर अतीत में जब संयुक्त भारत और विशेषकर स्वराज्य-प्राप्त संयुक्तभारत, की धारणा स्वप्नमात्र थी, कम्पनी के शासन ने अनजाने ही यह नींव डाली जिस पर भारत का आधुनिक वैधानिक जीवन स्थिर है।" लार्ड इर्विन के विचारों से हमारा मतभेद हो सकता है परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेज़ी शासन तथा शोषण के फलस्वरूप देश में एक अभूतपूर्व एकता का जन्म हुआ। इस राजनैतिक एकता का फल यह हुआ कि स्थानीय भक्ति का स्थान सम्पूर्ण देश के प्रति भक्ति ने ले लिया।

(२) **पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति का प्रचार**—भारत में राष्ट्रीय विकास का दूसरा मुख्य कारण देश में पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति का प्रचार था। सन् १८३३ के अधिकार-पत्र (Charter) में देश में शिक्षा-प्रसार के लिए बीस लाख रुपये स्वीकृत किए गये थे। उस समय इस प्रश्न को लेकर, कि भारत के लिए पाश्चात्य शिक्षा अधिक वांछनीय होगी या पूर्वात्य, काफी विवाद हुआ और इस विवाद में लार्ड मैकाले (Macaulay) ने प्रमुख भाग लिया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि रुपया देश में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार पर व्यय किया जाए। इस सबका एकमात्र उद्देश्य पूर्वात्य सभ्यता का विनाश था। रजनी पामदत्त (Rajni Palme Dutt) के शब्दों में, मैकाले का उद्देश्य "अंग्रेज़ों की आज्ञा का सिर झुका कर पालन करने वालों का एक ऐसा नया वर्ग बनाना था जिसका अपने देशवासियों के साथ किंचित सम्पर्क शेष न रह जाये।" इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड मैकाले को अपने इस उद्देश्य में यथेष्ट सफलता भी मिली और अधिकतर भारतीयों की राष्ट्रीय भावना तथा उनकी नैतिकता लगभग नष्ट ही हो गई। परन्तु इसके साथ ही साथ अंग्रेज़ी शिक्षा एक प्रकार से वरदान भी सिद्ध हुई। इस शिक्षा ने

भारतीयों को विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक सर्वदेशीय भाषा देकर विभिन्न प्रांतों के बीच निकट सम्पर्क की स्थापना की। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों ने देश विदेश घूम कर पाश्चात्य जातियां तथा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। इससे उनका बौद्धिक विकास हुआ। उन्हें स्वतन्त्रता के सुखों का अनुभव करने के बाद अपने देश की गुलामी देखकर बड़ा क्षोभ हुआ। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों की यह क्रांति वास्तव में अंग्रेज़ी सभ्यता का ही परिणाम थी। और आगे चल कर इस क्रांति का प्रभाव भारतीयां की राजनैतिक विचारधारा पर भी पड़ा। हमारे समाज में अब अत्याचार के प्रति गहरी घृणा तथा स्वराज्य के प्रति स्नेह के भाव जगे। सर रिचर्ड टेम्पिल (Sir Richard Temple) अपनी पुस्तक '१८८० का भारत' (India in 1880) में लिखते हैं, "पढ़े लिखे भारतीयों के हृदय में स्वराज्य, राजनैतिक स्वत्व तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की आकांक्षा है, परन्तु यह सब अभी व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत नहीं आता।.........उनकी माँगों का स्वर अधिक तीव्र होता जा रहा है और उनका तात्पर्य है 'भारत भारतीयां के लिए'।" इस प्रकार योरोपीय साहित्य तथा विज्ञान के प्रचार के फलस्वरूप देश में जनतंत्रात्मक विचारधारा का विकास हुआ। पाश्चात्य शिक्षा, इङ्गलैंड के इतिहास, अंग्रेज़ी उदारवाद तथा मिल्टन, बर्क, मैकाले इत्यादि की रचनाओं ने स्वाधीनता, राष्ट्रीयता, तथा स्वराज्य के भावों की प्रेरणा की।

(३) धार्मिक पुनर्जागरण—भारत की राजनैतिक प्रगति का हमारे धार्मिक विकास के साथ जो निकट सम्बन्ध है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वास्तव में धर्म तथा राजनीति का जैसा अटूट सम्बन्ध हमारे यहाँ है वैसा सम्भवत: संसार के और किसी देश में नहीं होगा। भारत का धार्मिक पुनर्जागरण राजा राममोहनराय के समय से आरम्भ हुआ। मैकनिकोल (Macnicol) के शब्दों में, "वे एक नये युग के प्रवर्तक थे और उन्होंने जो ज्योति जलाई वह आज तक अनवरत जल रही है।" राजा राममोहनराय ने जनता को आलस्य की नींद से जगा कर हिन्दू रूढ़िवाद को ललकारा। उन्होंने शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त कई राजनैतिक सुधारों का भी प्रयत्न किया। वे भारतीयों के लिए भी वही स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते थे जो अंग्रेजों को अपनी विधि व्यवस्था (Rule of Law) के अन्तर्गत प्राप्त थी। उन्होंने ही भारत में सब से पहले न्यायिक तथा अधिशासी प्रकार्यों (Judicial and Executive functions) के विभाजन का प्रश्न उठाया। उनके बाद आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती हुये। वे राजाराममोहनराय की भाँति अंग्रेज़ी के पंडित नहीं थे। उनके सारे ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गये जिसे उत्तरी भारत की जनता भली भाँति समझ सकती थी। उनके आर्य-समाज ने शीघ्र ही एक जन-आन्दोलन का रूप ले लिया। उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुये आर्य-धर्म का प्रचार किया जो

भारत के स्वर्ण-युग का धर्म था। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू समाज का ध्यान उस प्राचीन काल की ओर आकर्षित किया जब देश स्वतन्त्र, समृद्ध तथा सुखी था। उन्होंने अपने सत्यार्थ-प्रकाश नामक ग्रन्थ में निर्भीकतापूर्वक लिखा कि विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अच्छा है। स्वामी जी के उपदेश से भारतीय जनता में स्वदेशी और स्वराज्य की भावना जाग्रत हुई। थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा श्रीमती एनीबिसेंट ने तो भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लिया तथा ब्रिटिश सरकार से भारत के लिए स्वराज्य की माँग की। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा अन्य धार्मिक शिक्षकों ने भी भारत के महान अतीत की दुहाई दे देकर देशभक्ति के भावों को प्रेरणा दी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियोसाफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन, इत्यादि धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय जनता के राष्ट्रीय भावों को बढ़ावा मिला। यहाँ के निवासियों में आत्मविश्वास तथा आत्मगौरव के भाव उत्पन्न हुए। यह भावना कि हम योरुपीय सभ्यता के सम्मुख बिल्कुल गिरे हुए हैं, दूर हुई। एक और विचारधारा भी इसी दिशा में प्रयत्नशील थी। यह पाश्चात्य धर्म तथा संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया की धारा थी जिसके प्रवर्तक उच्च पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय ही थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर इस आन्दोलन के जन्मदाता थे। कुछ योरुपीय विद्वान भी भारतीय भाषाओं तथा प्राचीन संस्कृति के अध्ययन में जी-जान से लगे थे। सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) ने मनु के न्यायशास्त्र तथा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक का अनुवाद किया; कोलब्रुक (Colebrook) ने संस्कृत व्याकरण पर अंग्रेज़ी में पहला ग्रन्थ लिखा; और चार्ल्स विल्किन्स (Charles Wilkins) ने गीता का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त टाड (Todd), मैक्समुलर (Maxmuller), मोनियर विलियम्स (Monier Williams) तथा बर्नूफ (Burnouf) इत्यादि विद्वानों ने भी भारत तथा पश्चिम के सामने संस्कृत साहित्य तथा भारत की प्राचीन सभ्यता के वैभव एवं गौरव का उद्घाटन किया। भारतीयों के ऊपर इन पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों का बहुत प्रभाव पड़ा। अपने अतीत गौरव के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना जगी। हमें यह ज्ञात होने लगा कि हमारी सभ्यता के सम्मुख योरुपीय सभ्यता कुछ भी नहीं है।

(४) **आर्थिक असन्तोष**—आर्थिक असन्तोष ने राष्ट्रीय आन्दोलन को और अधिक प्रोत्साहन दिया। १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत के उद्योग-धंधे बहुत समृद्ध थे। उस समय देश की औद्योगिक कलाएँ पश्चिम से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थीं। सन् १८२४ ई० तक भारतीय कपड़ा इङ्गलैंड में वहाँ के कारखानों में बने कपड़े से ५० प्रतिशत कम मूल्य पर बिकता था। परन्तु सन् १८१३ ई० से ही

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापारिक सर्वाधिकार समाप्त होते ही भारत की औद्योगिक परिस्थिति में एक व्यापक क्रान्ति हुई। पहले हम अपनी वस्तुएँ विदेशों को भेजते थे, अब विदेशों की निर्मित वस्तुएं, विशेष कर कपड़े, हमारे देश में आने लगीं। दश के अनेक गृह-उद्योगों का पतन आरम्भ हो गया था। उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते विदेशी होड़ के कारण भारत के अधिकतर उद्योग प्राय: नष्ट हो चुके थे।

यह सब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की निश्चित नीति का परिणाम था। कम्पनी का उद्देश्य भारतीय उद्योगों को कुचल कर इङ्गलैंड के कारखानों में निर्मित सस्ते माल की खपत बढ़ाना था। अतएव भारतीय वस्तुओं पर ऊँचे कर लगाए गये और इङ्गलैंड से यहाँ आने वाले माल पर नाम-मात्र को ही आयात-कर देना होता था। सन् १८७२ के बाद यह आयात-कर प्राय: नहीं के बराबर रह गये। परन्तु मैंचेस्टर के व्यापारियों को इतने से सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने शिकायत की कि भारत में उनके विरुद्ध पक्षपात की नीति का प्रयोग किया जा रहा है। इस पर भारत सरकार ने भारतीय कारखानों में तैयार होने वाले कुछ विशेष प्रकार के कपड़ों पर एक और अतिरिक्त कर लगा दिया। इस प्रकार कितनी निरंकुशता के साथ भारत का आर्थिक शोषण किया जा रहा था इसका कुछ अनुमान हम मार्टिन द्वारा १८३८ ई० में दिए गए निम्नलिखित आँकड़ों से लगा सकते हैं—

"इङ्गलैंड भारतवासियों को केवल २॥ प्रतिशत आयात-कर पर अंग्रेज़ी कारखानों में बना हुआ माल लेने पर विवश करता है, परन्तु हिन्दुओं के हाथ के बने सूती तथा रेशमी कपड़ों पर २० से ३० प्रतिशत तक कर वसूल कर लेता है। भारत की शकर पर १५० प्रतिशत, क़हवा (Coffee) पर २०० प्रतिशत, मिर्च पर ३०० तथा देशी शराब पर ५०० प्रतिशत कर लिया जाता है। और इङ्गलैंड का यह व्यवहार उस देश के साथ है जहाँ से २०,०००,००० पौण्ड प्रति वर्ष इङ्गलैंड को मिलते हैं। इस संख्या में ३,०००,००० पौण्ड की वह रकम भी सम्मिलित है जो प्रति वर्ष भेंट के रूप में वसूल की जाती है। भारत से आने वाला यह ३,०००,००० पौण्ड ३० वर्षों में १२ प्रतिशत मिश्र ब्याज पर ७२३,९९७,९७१ पौण्ड हुआ। इतनी तीव्र गति से धन खींचे जाने पर इङ्गलैंड भी शीघ्र ही निर्धन हो जाएगा। फिर भारत में जहाँ श्रमिकों को केवल २-३ पेंस प्रतिदिन मिलता है, इस शोषण का प्रभाव कितना भयानक होगा?"

इस प्रकार भारत इङ्गलैंड की निर्यात वस्तुओं का मुख्य बाजार तथा कच्चे माल का मुख्य विक्रेता बन गया।

भारतीय उद्योगों के इस पतन के फलस्वरूप देश में व्यापक आर्थिक असंतोष उत्पन्न हुआ। निराश होकर जनता ने कृषि का आश्रय लेना चाहा परन्तु धरती इतना 'बोझ' न सँभाल सकी। इसका कारण यह था कि भूमि के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी

सरकार कोई प्रगतिशील नीति नहीं अपनाना चाहती थी। ज़मींदारी प्रथा के कारण बहुत से लोग भूमिहीन हो गए थे। लगान के कारण किसानों की रीढ़ टूटी जा रही थी। किसान पूरी तरह तबाह हो गए। क्रांति के अतिरिक्त उनके पास कोई मार्ग नहीं रह गया। देश में प्रतिहिंसा की भावनाएँ जाग्रत होने लगीं। सन् १८७४-७५ ई० में पूर्वी बंगाल तथा दक्षिण में किसानों के दंगे हुये और इसके थोड़े ही समय बाद देश में दुर्भिक्षों का एक क्रम सा आया। इसके अतिरिक्त कुछ और ऐसे कारण भी थे जिनसे जनता की यह दुर्दशा और बढ़ गई। उदाहरण के लिए, उच्च राज्य कर्मचारियों को ऊँचा वेतन मिलता था परन्तु पढ़े लिखे लोगों का एक वर्ग बेकार तथा असन्तुष्ट था; सेना में भारतीयों का प्रवेश निषिद्ध था; और सबसे बड़ी बात यह थी कि इङ्गलैंड एशिया के अन्य देशों में अपने साम्राज्य के विस्तार तथा उसकी रक्षा के लिए युद्ध लड़ रहा था जिनके व्यय का भुगतान भारत को करना पड़ता था। इङ्गलैंड की कृत्रिम विनिमय-नीति (artificial exchange policy) ने परिस्थिति को और भी उलझा दिया था। विशेष कर बंगाल के शिक्षित भारतीय इङ्गलैंड की इस नीति के घोर विरोधी थे। उदाहरण के लिए श्री भोलानाथ चन्द्र ने अंग्रेज़ों की नीति की व्याख्या इस प्रकार की है : "यह (अंग्रेज़ों की नीति) आरम्भ में केवल निषेधात्मक थी, तत्पश्चात् अधिकारोन्मत्त, फिर दमनकारी और अन्त में अत्याचारी हो गई[1]।" आगे चल कर आपने लिखा है। "बिना बल का प्रयोग किए, बिना राजद्रोह किए तथा बिना वैधानिक सहायता की अपेक्षा किए अपने गत गौरव को प्राप्त कर लेना हमारे हाथ की बात है। हमारे पास केवल एक, परन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली, अस्त्र शेष है—नैतिक विरोध; और इस अस्त्र का प्रयोग किसी प्रकार अपराध नहीं हो सकता है। इस अमोघ अस्त्र के प्रयोग का एक उपाय है—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। हमें यही उपाय अपनाना चाहिये।" हमें याद रखना चाहिए कि यह पंक्तियाँ सन् १८७७ ई० में लिखी गईं थीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी भारतीयों के हृदय में एक गहरी अशान्ति उमड़ रही थी। शिक्षित भारत का अंग्रेज़ों की उस अर्थनीति से असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था जिसकी छाया में "विदेशी भारत का शोषण कर रहे थे। हमारे प्राकृतिक साधन निरन्तर निचोड़े जा रहे थे, देश में दुर्भिक्षों का ताँता लगा था और भारतीय जनता तथा उसके उद्योगों को शासन की रक्षा न प्राप्त होने के कारण गरीबी तीव्र गति से बढ़ रही थी।" परिस्थिति इतनी गम्भीर हो गई थी कि मैकनिकोल (Macnicol) सरीखे संयत आलोचक को भी विवश होकर कहना पड़ा : "केवल इतना ही नहीं कि हमने इस जाति के हृदय पर विजय नहीं पाई।

1. "At first prohibitive, next aggressive, then suppressive, it at last became repressive."

हम उसकी भूख भी नहीं मिटा पाये हैं।.....................भारत तथा मिश्र सरीखे देशों के शासन में इङ्गलैंड का एकमात्र उद्देश्य इन देशों को भौतिक संतोष देना रहा है। अतएव यदि इङ्गलैंड से इतना भी नहीं हुआ तो उसे किसी सफलता का दावा नहीं करना चाहिए। और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में उसे सफलता नहीं मिली है।" अंग्रेज़ों की इस नीति का विशेष प्रभाव किसानों पर पड़ा। सर विलियम हंटर (Sir William Hunter) ने भी स्वीकार किया है कि "सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में सबसे अधिक दयनीय दशा भारत के किसान की है, क्योंकि उसके स्वामियों ने उसके साथ अन्याय किया है।" लेनिन (Lenin) के अनुसार "जिसे भारत में अंग्रेज़ी राज्य कहा जाता है उसके अत्याचार और लूट की कोई सीमा नहीं है[1]।"

(५) अङ्गरेज़ों की जाति-विभेद की नीति—सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद इङ्गलैंड की राज्यसत्ता ने भारत के शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ले लिया और इङ्गलैंड की महारानी विक्टोरिया ने भारतीयों के नाम अपना प्रसिद्ध घोषणा-पत्र निकाल कर उन्हें यह आश्वासन दिया कि भविष्य में शासन का एकमात्र उद्देश्य भारतीयों की समृद्धि के लिए प्रयत्न करना होगा और बिना जाति, धर्म तथा रंग का विचार किये भारतीयों को उचित सार्वजनिक पदों के लिए चुना जाएगा। परन्तु इनमें से कोई आश्वासन भी पूरा नहीं किया गया और सरकार ने देश की समृद्धि के लिए कुछ नहीं किया। सन् ५७ के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेज़ों का भारतीयों के प्रति व्यवहार इतना घृणित तथा बर्बर हो गया कि वे भारतीयों को मनुष्य ही न समझने लगे। उनके लिए भारतीयों की हत्या करना साधारण बात हो गई। सर विलियम वेडरबर्न (Sir William Wedderburn) के कथनानुसार "नौकरशाही ने नई सुविधाएँ ही देना अस्वीकार नहीं किया, अपितु अवसर पाने पर सदियों की मिली हुई स्वतन्त्रता को फिर से छीनना आरम्भ किया।" जान ब्राइट (John Bright) के शब्दों में "सरकार गोपनीयता तथा अनुत्तरदायित्व पर आधारित थी[2]।" भारत के एक दूसरे मित्र फासेट (Fawcett) ने एक बार कहा था कि "इङ्गलैंड की धारासभा भारतीय जन-हित की अपेक्षा एक साधारण चित्र के क्रय में अधिक दिलचस्पी लेती थी।" इधर, इंडियन सिविल सर्विस की भरती में भेदभाव, शिक्षित वर्गों की बेकारी, शासन पर भारी व्यय, कपड़े पर अतिरिक्त कर इत्यादि कारणों के फलस्वरूप जनता का असंतोष बढ़ता ही जा रहा था। और जब अंग्रेज़ों ने यह कहना आरम्भ किया कि एक अंग्रेज़ के जीवन का मूल्य कई

---

1. "There is no end to the violence and plunder which is called British rule in India."

2. "The government was one of secrecy and irresponsibility."

भारतीयों के जीवन के बराबर है, तब यह खाई और भी गहरी होने लगी। वास्तव में, विद्रोह के बाद से अंग्रेज़ों की सारी नीति का केवल एक ही आधार रह गया था—भारतीयों में अविश्वास। सेना, पुलिस, विदेश तथा राजनैतिक विभागों में भारतीयों को उत्तरदायित्व पूर्ण पदों से दूर ही रक्खा गया। देश भर में जनता को निःशस्त्र कर दिया गया तथा सैनिक प्रदर्शनों द्वारा आतंक फैलाने के प्रयत्न किए गये। सन् १८६८ में सरकार ने एक आज्ञापत्र निकाला जिसके अनुसार विलायती जूते पहन कर कोई भी दरबार तथा अन्य उत्सवों में जा सकता था, परन्तु देशी जूते पहनने वालों के लिए एक निश्चित सीमा के भीतर उन्हें उतार देना अनिवार्य था। अंग्रेज़ नवयुवक भारतीयों को उसी प्रकार जानवर समझने लगे थे जैसे पंच (Punch) पत्रिका के व्यङ्ग-चित्रों में बहुधा दिखाये जाते थे। विद्रोह के बाद जनरल नील (Neill) तथा अन्य अधिकारियों ने जो अत्याचार किये उनको गर्व का विषय बनाया गया। सर हेनरी काटन ने लिखा है—"जहाँ तक मेरा संबंध है, मुझे भारतवर्ष में अपनी नौकरी के समय की कोई बात इतनी नहीं कसकती जितनी कि इन फाँसियों की याद। और मेरी तरह सोचने वाले और भी बहुत से लोग थे जिनका आज भी यही विचार है कि सरकार की वे अन्तिम आज्ञाएँ नितान्त अपूर्ण थीं।" एक अन्य स्थल पर सर हेनरी काटन ने लिखा है: "यह एक बड़ा भयानक रोग-लक्षण है कि भारत में अन्य योरुपीय जनों की भाँति अधिकारी वर्ग भी अब भारतीयों के प्रति द्वेषभाव रखने लगा है।.........हम एक अत्यन्त गम्भीर परिस्थिति में आ फसे हैं क्योंकि अधिकारियों का यह मत-परिवर्तन पूर्ण हो चुका है और इसके साथ ही साथ (दोनों जातियों के बीच) खिंचाव भी शंकाप्रद अवस्था तक पहुँच गया है।" जातीय कटुता की यह वृद्धि भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का एक प्रमुख कारण बन गई। अंग्रेज़ों के दुर्व्यवहार के कारण भारतीयों में भी उनके प्रति घृणा, असन्तोष तथा क्षोभ की भावना जाग्रत हुई।

(६) प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य तथा समाचारपत्रों का प्रभाव—इन सबसे अधिक प्रभावशाली एक कारण और भी था जिसका उद्देश्य भारत में एकता स्थापित कर राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करना था। भारतीय समाचारपत्र अव्यक्त रूप से देश भर में जनमत का निर्माण कर रहे थे। राष्ट्रीयता के विकास में इन समाचार-पत्रों का बड़ा हाथ रहा है। इन्होंने देश की दुर्दशा की ओर जनसाधारण का ध्यान आकर्षित किया और उन्हें ब्रिटिश नीति के दुष्परिणामों से अवगत कराया। इनके प्रभाव का क्षेत्र वास्तव में अत्यन्त विस्तृत था और सरकार द्वारा परिपोषित अंग्रेज़ी पत्रों के प्रचार का सफल उत्तर देना इन्हीं की सामर्थ्य थी। भारतीय समाचारपत्रों का इतिहास सन् १७८० ई० में बङ्गाल गज़ट के प्रकाशन के साथ आरम्भ होता है। उस समय से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक लगभग सभी समाचार-पत्र

अंग्रेज़ी में छपते रहे। इसके बाद भी कुछ समय तक भारतीय भाषाओं के पत्रों की संख्या थोड़ी ही रही। सन् १८३५ ई० में सर चार्ल्स मेटकाफ (Sir Charles Metcalfe) की सरकार ने समाचारपत्रों की छिनी हुई स्वतन्त्रता वापस दे दी और इस समय से भारतीय भाषा-पत्रों की उन्नति तीव्र गति से आरम्भ हुई। सन् १८७५ ई० में देश में प्रकाशित होनेवाले समाचार-पत्रों की संख्या ४७८ थी और इनमें से अधिकतर पत्र भारतीय भाषाओं के थे। अंग्रेज़ी तथा प्रान्तीय भाषाओं के इन पत्रों ने राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम के भाव जगाने की दिशा में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय भाषाओं का साहित्य भी उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ समाज में नव-चेतना भर रहा था। यहाँ पर बंकिमचन्द्र चटर्जी की अमर रचना 'आनन्द मठ' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसे कुछ आलोचकों ने आधुनिक बंगाली देशप्रेम का धर्म-ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' इसी का एक अंश है। हिन्दी में भी इस समय राष्ट्रीयता के विचार लेखों आदि द्वारा प्रकट किए जा रहे थे। इस विषय में सर हेनरी काटन ने एक घटना का वर्णन किया है। कहा जाता है कि सन् १८७१ ई० में नील गोदाम के एक अंग्रेज़ मैनेजर के पक्ष में पक्षपात-पूर्ण निर्णय देने के कारण सरकार ने सर काटन की निन्दा की थी। तब "उस समय के कुछ भारतीय समाचार पत्रों ने जिनमें 'अमृत बाज़ार पत्रिका' तथा 'हिन्दू पेट्रियट' मुख्य थे, किसी प्रकार इस सरकारी आदेशपत्र को प्राप्त कर उस पर खूब टीका-टिप्पणी की। सन् १८७४ में 'हिन्दू पेट्रियट' ने यहाँ तक लिख दिया कि 'भारत के लिये स्वराज्य' यही हमारा नारा होना चाहिये और उस स्वराज्य का आधार अन्य उपनिवेशों की भांति, वैधानिक हो।"

(७) यातायात के साधनों की उन्नति—यातायात के साधनों की उन्नति लार्ड डलहौज़ी के शासनकाल से ही आरम्भ हो गई थी। उन्होंने सार्वजनिक निर्माण का एक नया विभाग स्थापित करके उसकी योजनाओं के लिए धन की व्यवस्था की। उन्होंने ही देश में सबसे पहले रेल, तार तथा वैज्ञानिक साधनों द्वारा वन-रक्षा का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त सड़कों के निर्माण की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। यातायात की इन सुविधाओं के कारण ही बड़े-बड़े नेतागण देश भर का दौरा कर तथा सार्वजनिक भाषणों और अखिल-भारतीय सम्मेलनों का आयोजन कर जनमत का निर्माण करने में सफल हो सके। उदाहरण के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत भर का दौरा करके यह प्रचार किया कि इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षायें भारत तथा लन्दन में साथ-साथ होनी चाहिए। उनका यह दौरा सर्वदेशीय राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा में पहला क़दम था।

(८) अन्य देशों की जाग्रति का प्रभाव—इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन के सबल होने का एक और महत्वपूर्ण कारण शिक्षित वर्ग पर तत्कालीन पाश्चात्य तथा

पूर्वी देशों के राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव था। सन् १८६० तथा १८८५ ई० के बीच जर्मनी, इटली, रूमानिया और सर्विया ने एकता तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की और फ्रांस में तीसरे जनतन्त्र की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त स्पेन में वैधानिक राज्य-सत्ता की स्थापना हुई और रूस के ज़ार (Tsar) तक ने अपने शासन में उदार सुधार किये। इङ्गलैंड में भी द्वितीय तथा तृतीय सुधार कानून पास हुए और इसी समय के आसपास अमरीका का संविधान पहले से अधिक जनतन्त्रवादी बना लिया गया। जापान ने वैध राज्य प्रणाली स्थापित की। अरब, मिश्र, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान आदि देशों ने भी अच्छी राजनैतिक प्रगति कर दिखायी। चीन जैसे स्वेच्छाचारी शासन वाले देश ने प्रजातन्त्र राज्यपद्धति का स्वागत किया। समाचारपत्रों, पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के माध्यम से इन सभी घटनाओं का प्रभाव शिक्षित भारतीयों पर पड़ा और इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन को अधिक बल मिला।

(९) लार्ड लिटन की राजनैतिक भूलें—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में लार्ड लिटन का शासनकाल (१८७६-८०) राजनैतिक भूलों से भरा था जिसके कारण राष्ट्रीय आन्दोलन को और प्रोत्साहन मिला। अफ़ग़ानिस्तान के प्रति लिटन की नीति आतंकपूर्ण साम्राज्यवाद की थी। उसने अपनी इस नीति द्वारा असन्तुष्ट भारत के बुद्धिवादी तत्वों को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। इसी प्रकार जब सन् १८७७ ई० में सारे देश में भयानक दुर्भिक्ष फैल रहा था, वाइसराय महोदय ने दिल्ली में दरबार किया जिसमें पानी की तरह रुपया बहाया गया। यह देखकर एक भारतीय पत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "घर फूँक कर तमाशा देखा जा रहा है।" इसके अतिरिक्त भारतीय जनता का नि:शस्त्रीकरण, समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध, कपड़े पर आयात-कर का उन्मूलन, सैनिक-व्यय में वृद्धि, आदि अन्य कारण भी थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति बढ़ाकर भारतीय जनता के हृदय में राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता की अनुभूति उत्पन्न की। अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था से भी भारतीय सन्तुष्ट नहीं थे। दीवानी के मुक़दमों का व्यय विनाशकारी था, फौजदारी पक्ष का दण्ड-विधान अमानुषिक था; न्याय का वितरण पक्षपात रहित नहीं था और बहुधा राजनैतिक उद्देश्यों से प्रभावित होकर किया जाता था। कार्यकारिणी द्वारा शासन की प्रथा से भी भारतीयों का विरोध था क्योंकि कार्यकारिणी बहुधा मनमाना आचरण करती थी। हस्तक्षेप तथा दमन उसके स्वाभाविक साधन थे। उसका दमन अत्याचार की सीमा को छूता था और वह पुलिस का प्रयोग जनता की रक्षा करने के लिये नहीं, अपितु आतंक फैलाने के लिए, करती थी।

(१०) इल्बर्ट बिल—लार्ड लिटन के बाद लार्ड रिपन वाइसराय हुए। इङ्गलैंड के प्रधान-मन्त्री ग्लैडस्टन ने उन्हें विशेष रूप से इसलिए चुना था कि उनमें दमन की अपेक्षा भारत और इङ्गलैंड दोनों के हित-साधन की नीति अपनाकर

उपस्थित संकट का सामना करने की क्षमता थी। वे उदार दल (Liberal Party) से सम्बन्धित थे। भारत में आते ही उन्होंने प्रेस ऐक्ट का अन्त कर दिया और देश में स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की स्थापना की। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी इस उदार नीति से भारतीयों का क्षोभ बहुत कुछ कम हो गया। इसके अतिरिक्त लार्ड रिपन ने लिटन की साम्राज्यवादी नीति को तिलांजलि देकर अफ़ग़ानिस्तान के अमीर से सम्मानपूर्वक संधि कर ली और इस प्रकार अफ़ग़ान युद्ध का अन्त कर दिया। परन्तु उनके ही शासनकाल में इल्बर्ट बिल (Ilbert Bill) के प्रश्न पर एक दुखद विवाद उठ खड़ा हुआ। इल्बर्ट बिल के द्वारा वाइसराय महोदय देश के फौजदारी दण्ड-विधान में प्रचलित जाति-भेद का अन्त करना चाहते थे। यह बिल श्री पी० सी० इल्बर्ट द्वारा कौंसिल में उपस्थित किया गया और इसका उद्देश्य भारतीय न्यायाधीशों को योरुपीय अपराधियों के मुक़दमे सुनने का अधिकार देकर न्याय-विधान के क्षेत्र से जातीय भेदभाव को दूर करना था। परन्तु भारत में रहने वाले अंग्रेज़ों ने यह अपनी जाति का महान अपमान समझा कि 'काले' न्यायाधीश उनके मुकदमों का निर्णय करें। वे इस बिल का डटकर विरोध करने के लिए तत्पर हो गये। शीघ्र ही इस आन्दोलन ने प्रबल रूप धारण कर लिया। सर हेनरी काटन ने इस आन्दोलन का निम्नलिखित वर्णन किया है—

"विरोध-प्रदर्शन के लिए कलकत्ते के नगर-भवन में अंग्रेज़ों की एक विशाल सभा हुई। (इस अवसर पर) वकीलों तक ने अपनी व्यावसायिक परम्परा का त्याग कर दिया और वक्ता तथा श्रोता सभी उत्तेजनावश पागल होकर औचित्य एवं उदारता को भूल गए। गवर्नमेंट-भवन के फाटक पर स्वयं वाइसराय महोदय का अपमान किया गया·········बात यहाँ तक बढ़ गई कि कलकत्ते में कुछ लोगों ने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा·········जिसका उद्देश्य गवर्नमेंट-भवन के रक्षकों को वश में करके, वाइसराय महोदय को चन्द्रपाल घाट से एक जहाज़ में बैठाकर उन्हें अन्तरीप की राह वापस इङ्गलैंड भेज देना था·········(और) कहा जाता है कि यह सब बंगाल के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर तथा पुलिस कमिश्नर की जानकारी में हुआ। नौकरशाही ने शासक जाति के सम्मान का प्रश्न उठा कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि यदि गोरे अपराधी को काले न्यायाधीश के सामने खड़े होने पर विवश किया गया तो अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव हिल जायगी। एक योरुपीय 'रक्षा-समिति' की स्थापना की गई जिसकी शाखायें विभिन्न ब्रिटिश केन्द्रों में खोली गईं। इसके अतिरिक्त गोरी जाति के सम्मान तथा अधिकारों की रक्षा के लिए डेढ़ लाख रुपये का एक कोष भी एकत्रित किया गया। और इन लोगों ने भारत तथा इङ्गलैंड में ऐसा प्रबल आन्दोलन चलाया कि भारत सरकार को भी इस तूफ़ान के आगे सिर झुकाना पड़ा

और बेचारा असहाय इल्बर्ट बिल वापस ले लिया गया।"

इल्बर्ट बिल तो पास न हो सका, परन्तु उससे भारतीयों की आंखें खुल गईं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सम्मिलित संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया। सारे देश में असन्तोष की लहर दौड़ गई। अब उनके सामने यह स्पष्ट हो गया कि राजनैतिक प्रगति का एकमात्र उपाय एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था का संगठन है जिसका कार्य-क्षेत्र पूर्णत: राजनैतिक हो। प्रोफेसर डाडवेल (Dodwell) के मतानुसार "इल्बर्ट बिल ने भारतीयों को शिक्षा दी और सावधान किया।" परन्तु यहाँ पर हमें केवल इसी बात पर ध्यान देना है कि इस विवाद से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। सर हेनरी काटन के शब्दों में, "इस आन्दोलन ने तथा योरुपीय लोगों द्वारा लार्ड रिपन की नीति के विरोध ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता दी उतनी तो पास होकर यह बिल भी नहीं दे सकता था।"

कॉंग्रेस का जन्म

कॉंग्रेस के जन्म से बहुत पहले भी भारत में राजनैतिक संस्थाओं का अस्तित्व था। उदाहरण के लिए दादाभाई नौरोजी ने सन् १८६६ ई० में "ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन का संगठन किया था तथा रानाडे ने इसके चार वर्ष बाद 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना की थी। इन संस्थाओं ने सार्वजनिक जीवन के संगठन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। परन्तु यह प्रारम्भिक संस्थाएँ मुख्यत: स्थानीय प्रकृति की थीं; इनमें जुट कर देश भर में राजनैतिक प्रचार करने की क्षमता नहीं थी। लार्ड लिटन के शासनकाल में एक महत्वपूर्ण तथा सुसंगठित राजनैतिक संस्था की स्थापना हुई। इसका नाम इण्डियन एसोसिएशन (Indian Association) था और इसकी स्थापना जुलाई सन् १८७६ ई० में हुई। लार्ड लिटन की दमन-नीति ने अनजाने ही इस संस्था को जितना बल दिया उतना सम्भवत: कई वर्षों के राजनैतिक आन्दोलन से भी प्राप्त नहीं हो सकता था। इस संस्था ने बंगाल के शिक्षित नवयुवक समाज को राष्ट्रीयता की प्रेरणा देकर देश की वास्तविक सेवा की। संक्षेप में इसका उद्देश्य अंग्रेज़ी शासन के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए वैधानिक व्यवस्था के लिए आन्दोलन करना था। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा 'A Nation in Making' में बताया है कि यह संस्था निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर स्थापित की गई थी—

"(१) देश में सबल तथा सतर्क जनमत का निर्माण;

(२) समान राजनैतिक उद्देश्यों तथा आकाँक्षाओं के आधार पर भारत की विभिन्न जातियों का एकीकरण;

(३) हिन्दू-मुसलमानों के बीच मैत्री-भाव की स्थापना ; और
(४) तात्कालिक सार्वजनिक आन्दोलन में किसानों का सहयोग।"

सन् १८७७ ई० में जब सरकार ने इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा की आयु-सीमा २१ से घटा कर १६ वर्ष कर दी तब 'इण्डियन एसोसिएशन' ने कलकत्ते के नगर-भवन में एक प्रतिनिधि सभा करके इसका घोर विरोध किया और इस प्रकार पहले अखिल-भारतीय राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सन् १८७७-७८ ई० में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने देश भर का दौरा करके प्रचार किया जिसके फलस्वरूप इण्डियन सिविल सर्विस के प्रश्न पर एक अखिल-भारतीय स्मृति-पत्र इङ्गलैंड की लोकसभा के सामने उपस्थित किया गया। 'इण्डियन एसोसिएशन' की इन्हीं सेवाओं के कारण उसे काँग्रेस का पूर्वज कहा जाता है।

इलबर्ट बिल सम्बन्धी विवाद से भारतीयों को अच्छी तरह विश्वास हो गया कि राजनैतिक प्रगति के लिए एक अखिल-भारतीय संस्था का संगठन आवश्यक है। अतएव विभिन्न प्रांतों में विभिन्न संस्थाओं की नींव पड़ी। परन्तु संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन की जिस योजना के फलस्वरूप भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस का जन्म हुआ उसकी नींव सन् १८८३ ई० में कलकत्ता में होने वाले प्रमुख भारतीयों के एक सम्मेलन में पड़ी थी। यह सम्मेलन वास्तव में अभूतपूर्व था। इसमें बंगाल प्रांत के सभी भागों में रहने वाले शिक्षित लोगों ने एक बड़ी संख्या में भाग लिया। इसी सम्मेलन में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारतीयों को देश-हित के लिए एक होने को ललकारा था। इसके बाद सन् १८८४ में बंगाल में ही 'नेशनल लीग' (National League) की स्थापना हुई। इस लीग का विधान तथा इसके उद्देश्य और आदर्श लगभग वही थे जो आगे चलकर काँग्रेस ने अपनाये। बम्बई और मद्रास भी पीछे नहीं रहे, क्योंकि इसी समय के लगभग बम्बई में 'प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' तथा मद्रास में 'महाजन सभा' का भी जन्म हुआ।

परन्तु अखिल-भारतीय संगठन की दिशा में पहला निश्चित क़दम दिसम्बर, सन् १८८४ ई० में उठाया गया। देश के विभिन्न भागों से बहुत से प्रतिनिधि अड्यार (मद्रास) में थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने आये थे। अधिवेशन के बाद मद्रास के दीवान बहादुर रघुनाथ राव के निवास स्थान पर दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, इत्यादि सत्रह प्रमुख भारतीयों की एक बैठक हुई। इन नेताओं ने देश-हित सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के बाद राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना का समर्थन किया। इस कार्य में एक अंग्रेज़ पेंशनभोगी राज्य-कर्मचारी, ए० ओ० ह्यूम (A. O. Hume) महोदय ने प्रमुख भाग लिया। वे सन् १८८२ ई० में इण्डियन सिविल सर्विस से त्याग पत्र देने के बाद से अपने समय और शक्ति का प्रयोग भारत के उठते हुए जन-आन्दोलन को वैधानिक

सीमाओं में बाँधने के प्रयत्न में कर रहे थे। पहली मार्च सन् १८८३ को उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक पत्र लिखकर भारतीयों को "मातृभूमि की मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने को" ललकारा था। उन्होंने लिखा था: "देश के चुने हुए उच्चतम शिक्षा प्राप्त नवयुवको! यदि तुम्हीं अपने आराम और स्वार्थ का त्याग कर अपनी तथा अपने देश की अधिक स्वतन्त्रता के लिए, अधिक निष्पक्ष शासन-व्यवस्था और उसमें अपना अधिकाधिक भाग प्राप्त करने के लिए डट कर प्रयत्न नहीं कर सकते, तो जो कुछ हम—तुम्हारे मित्र—समझते हैं वह ग़लत है और जो कुछ तुम्हारे शत्रु कहते हैं वह सब सच है।·········ऐसी दशा में, कम से कम इस समय तो प्रगति की कोई आशा शेष नहीं रह जाती और भारत में वर्तमान शासन व्यवस्था से अच्छे प्रबन्ध की न तो आवश्यकता है, न क्षमता ही।"

ह्यूम महोदय ने सन् १८८४ ई० में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक एक संस्था की स्थापना की। अगले वर्ष के मार्च के महीने में यह निश्चय किया गया कि भारत के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन पूना में बड़े दिन की छुट्टियों में किया जाय। ह्यूम महोदय ने इस विषय में तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से परामर्श करने के बाद यह निश्चय किया कि संस्था का नाम बदलना चाहिए और इस प्रकार इस नए संगठन का नाम भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस पड़ा। वास्तव में यह नाम परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसका अर्थ स्पष्ट था—कि संस्था अब सामाजिक सम्मेलन मात्र नहीं रह गई थी, अब उसका अपना राजनैतिक तथा आर्थिक कार्य-क्रम भी था। लार्ड डफरिन ने इस विचार का स्वागत किया और इस प्रकार दिसम्बर सन् १८८५ ई० में काँग्रेस का जन्म हुआ। श्री गोपालकृष्ण गोखले के शब्दों में: "कोई भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना कर ही नहीं सकता था। उस समय प्रत्येक राजनैतिक आन्दोलन को ऐसी संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता था कि यदि काँग्रेस का जन्मदाता एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ तथा सफल भूतपूर्व राज्यकर्मचारी न होता तो सरकार तुरन्त ही इस आन्दोलन के दमन का कोई न कोई उपाय निकाल ही लेती।"

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि आरम्भ में काँग्रेस को अंग्रेज़ों से प्रेरणा मिली या नहीं। साधारणत: लोगों की धारणा है कि ह्यूम महोदय तथा काँग्रेस के अन्य जन्मदाताओं ने सारे देश में जागरण की लहर फैलते देखकर यह अनुमान लगा लिया था कि अंग्रेज़ों को "भयानक विस्फोट का तात्कालिक भय है।" दूसरे शब्दों में, काँग्रेस की नींव सशस्त्र विद्रोह से अंग्रेज़ी साम्राज्य की रक्षा करने के उद्देश्य से डाली गई। आरम्भ में काँग्रेस के नेताओं ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को वैधानिक दिशा में मोड़कर अंग्रेज़ों की सहायता की। ह्यूम तथा उनके मित्रों ने भी

राष्ट्रीयता की लहर को बाँध कर एक निर्दिष्ट मार्ग पर लगाने के उद्देश्य से ही काँग्रेस की स्थापना की थी। इस मत की पुष्टि के लिए प्रमाण भी है। कहा जाता है कि काँग्रेस की स्थापना के समय ह्यूम महोदय ने अपने एक मित्र सर आकलैंड कालविन (Sir Auckland Colvin) को बताया था कि उन्होंने यह योजना अपने ही कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई एक प्रबल और बढ़ती हुई शक्ति निष्कासन के लिए एक रक्षा-नली की व्यवस्था के उद्देश्य से बनाई थी[1]। ह्यूम महाशय भारतीय स्थिति को अच्छी तरह समझते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि सन् ५७ की भाँति भारतवर्ष में फिर कहीं क्रान्ति न हो जाय। उन्हें कुछ ऐसे पत्र भी मिले थे जिनमें व्यक्तियों की हत्या, सरकारी बैंकों को लूटना, बाज़ारों में उथल पुथल मचाना आदि बातों का वर्णन था। यह क्षुब्धता संगठित क्रान्ति का रूप धारण कर सकती थी। शान्तिप्रिय होने के नाते ह्यूम साहब रक्तपात से डरते थे। लाला लाजपतराय ने भी इस मत का ज़ोरदार समर्थन करते हुए यंग इण्डिया (Young India) में लिखा है: "परन्तु एक बात स्पष्ट है कि काँग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य अंग्रेज़ी साम्राज्य को ख़तरे से बचाना था, भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था, भारत का गौण; और यह कोई नहीं कह सकता कि काँग्रेस ने इस उद्देश्य का पालन नहीं किया है।" सर विलियम वेडरबर्न ने भी इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया है कि ह्यूम महोदय ने यह योजना क्रान्ति का भय दूर करने तथा भारत के राष्ट्रीय उत्साह के निष्कासन के उद्देश्य से ही बनाई थी।

परन्तु श्रीमती एनी बेसेंट (Annie Besant) का उन सत्रह भले और सच्चे आदमियों की सच्चाई में पूर्ण विश्वास है जिन्होंने अपने स्नेह और विश्वास के बल पर मातृभूमि की रक्षा के लिए एक राष्ट्रीय संस्था को जन्म देने का निश्चय किया। उनके मतानुसार काँग्रेस का जन्म अड्यार के थियोसोफिकल सम्मेलन से हुआ। वे कहती हैं, "निश्चय ही, भारत के महान धर्मों के प्रति लोगों के हृदयों में भरे हुए नए अभिमान का स्पन्दन, भविष्य में भारत के अतीत के ही अनुरूप महानता प्राप्त करने की आशा, यह विश्वास कि राज्यच्युत पूर्व सदा पश्चिमी राष्ट्रों का अनुगामी न रहेगा और यह भावना कि अतीत के विशाल साम्राज्यों का पोषक एशिया फिर राजदण्ड पकड़ने के लिए हाथ बढ़ायेगा—इन स्वप्नों की प्रेरणा पाकर ये स्वप्नदर्शी परामर्श करने बैठे होंगे।"

---

1. Mr. Hume told his friend Sir Auckland Colvin that he had advanced the scheme, "as a safety-valve for the escape of great and growing forces generated by our own action."

तीसरा अध्याय

काँग्रेस के प्रारम्भिक वर्ष

(राष्ट्रीय आन्दोलन १८८५-१९०५)

पहली काँग्रेस—हम देख चुके हैं कि काँग्रेस का जन्म वास्तव में परिस्थितियों का परिणाम था, व्यक्तियों के प्रयत्न का नहीं। इसकी जड़ पूर्वगामी सार्वजनिक संस्थाओं तथा 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट', 'आर्म्स ऐक्ट', भारतीय सिविल सर्विस की आयु-सीमा के कम किए जाने और इल्बर्ट बिल इत्यादि विवादग्रस्त विषयों से फूटी थी। काँग्रेस के संस्थापकों ने अप्रैल सन् १८८५ में एक उद्देश्य-पत्र निकाल कर घोषणा की कि काँग्रेस का पहला अधिवेशन २५ से ३१ दिसम्बर, १८८५ तक पूना में होना निश्चय हुआ है। देश के सभी भागों के प्रमुख नेता, जिनमें से अधिकतर अंग्रेज़ी भाषा भली प्रकार जानते थे, इस अधिवेशन में प्रतिनिधि बनकर आने वाले थे। इसके व्यक्त उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(१) राष्ट्रीय उन्नति के सच्चे कार्यकर्ताओं के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित करना; और

(२) आगामी वर्ष के कार्यक्रम का परामर्श के उपरान्त निश्चय।

अव्यक्त रूप से इसका उद्देश्य दूसरा ही था। अंग्रेज़ सदा ही यह आक्षेप लगाया करते थे कि भारतीयों में प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा कार्य करने की क्षमता नहीं है। और यह अधिवेशन, जो वास्तव में एक प्रकार से राष्ट्रीय धारासभा का स्वरूप था, इस आक्षेप का समुचित उत्तर था।

परन्तु निश्चित समय से कुछ पूर्व पूना में हैज़ा फैल जाने के कारण संयोजकों ने सम्मेलन का स्थान बदल कर बम्बई कर दिया। इस प्रकार विशाल नगर बम्बई में २८ दिसम्बर, सन् १८८५ को गोकुलदास तेजपाल संस्कृत पाठशाला में काँग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। देश के सभी भागों से आए हुए लगभग ७२ प्रतिनिधि इस अधिवेशन में उपस्थित थे और उन्होंने सर्वसम्मति से श्री डब्ल्यू० सी० बनर्जी (W. C. Bonnerjee) को अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित किया। काँग्रेस के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष ने अपने भाषण में संस्था के उत्तरदायित्वपूर्ण स्वरूप का उल्लेख करते हुए उसके निम्नलिखित उद्देश्य बताये—

(१) "साम्राज्य के विभिन्न भागों में भारत के हित में सच्चे हृदय से कार्य करने वालों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क तथा मैत्रीभाव की वृद्धि;

(२) "व्यक्तिगत तथा मैत्रीपूर्ण सम्पर्क द्वारा यथा सम्भव जातीय, धार्मिक अथवा प्रान्तीय भेदभाव को मिटाकर राष्ट्रीय एकता की उस भावना को पूर्ण विकसित तथा सुदृढ़ बनाना, जो लार्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासन-काल में उत्पन्न हुई थी;

(३) "अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण सामयिक सामाजिक प्रश्नों पर यथासम्भव विचार-विनिमय के उपरान्त शिक्षित भारत के परिपक्व विचारों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करना;

(४) "आगामी वर्ष के लिए उस कार्य-प्रणाली तथा उन साधनों का निश्चय करना जिनके अनुसार सामाजिक नेता जनहित के लिए उचित प्रयत्न कर सकते हैं।"

काँग्रेस के अध्यक्ष ने अपना भाषण समाप्त करते हुए कहा : "हमारी आकांक्षा का सार यह है कि शासन की आधारशिला विस्तृत हो तथा जनता को उसका उचित भाग मिले।" इस पहले अधिवेशन ने जो प्रस्ताव स्वीकार किए उनका सम्बन्ध मुख्यत: भारत सचिव की कौंसिल का अन्त, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं का विस्तार एवं सुधार, भारत तथा इङ्गलैंड में साथ-साथ इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा, भारतीय शासन-विधान की जाँच के लिए शाही कमीशन की नियुक्ति, बर्मा का भारत से विच्छेद, कपास पर आयात-कर की पुनर्स्थापना तथा सैनिक व्यय में कटौती, आदि विषयों से था।

इस प्रकार काँग्रेस के पहले अधिवेशन में ही राष्ट्रीय महत्व के राजनैतिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय किया गया। हम पूर्व अध्याय में ही बता चुके हैं कि ह्यूम महोदय ने इस संस्था को राजनैतिक रंग वास्तव में लार्ड डफरिन के सुझाव पर दिया था, अन्यथा उनका विचार इसे केवल सामाजिक कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रखने का था। इसके अतिरिक्त उनका एक उद्देश्य यह भी था कि देश की बढ़ती हुई शक्ति के निष्कासन के लिए एक स्थायी "रक्षानली' बन जाये जिससे आगे चल कर भारत में अंग्रेजों की प्रभुता को कभी आँच न आ सके। लार्ड डफरिन भी यही चाहते थे। अन्तर केवल इतना था कि उनका लक्ष्य राज्यभक्तों को उग्र तत्वों से विलग कर अपने शासन के लिए सहायता और सहानुभूति प्राप्त करना था और इसी उद्देश्य से उन्होंने ऐसे लोगों को काँग्रेस का सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित भी किया। जब ह्यूम महोदय अपनी योजना लेकर उनसे परामर्श करने आये थे, लार्ड डफरिन ने उसी समय उनसे कह दिया था कि सरकार को सबसे अधिक कठिनाई यह जानने में होती है कि जनता क्या चाहती है, अतएव यदि कोई ऐसी उत्तरदायित्वपूर्ण संस्था बन जाये जिसके द्वारा सरकार को भारतीय जनमत की सूचना सुविधापूर्वक मिलती रहे, तो इससे जनता का बड़ा हित होगा।

कांग्रेस के इस पहले अधिवेशन की कार्यवाही में दादाभाई नौरोजी, फीरोज़-शाह मेहता, काशीनाथ तैलंग, दिनशा वाचा, दीवान बहादुर रघुनाथ राव, सुब्रह्मन्य अय्यर तथा आर० एम० सयाणी ने प्रमुख भाग लिया। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को भी निमन्त्रित किया गया था, परन्तु वे कलकत्ते में नेशनल कान्फ्रेंस के संगठन में अधिक व्यस्त होने के कारण उपस्थित नहीं हो सके।

सरकार की प्रतिक्रिया—आरम्भ में तो सरकार कांग्रेस की माँगों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती रही, परन्तु शीघ्र ही यह देख कर कि आन्दोलन भारत तथा इङ्गलैंड में यथेष्ट सहानुभूति एवं समर्थन प्राप्त कर रहा है, उसकी दृष्टि बदल गई। सन् १८८६ में काँग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसके सभापति दादाभाई नौरोजी थे। इसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या ७२ से बढ़ कर ४३६ हो गई थी। और अगले वर्ष बदरुद्दीन तैय्यब जी के सभापतित्व में होने वाले मद्रास के तीसरे अधिवेशन में इससे भी अधिक उत्साह दिखलाई पड़ा क्योंकि इस बार ६०७ प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में भाग लिया। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि काँग्रेस की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। यही सरकार की बदली हुई नीति का कारण था। सन् १८८६ तथा १८८७ में वाइसराय ने काँग्रेस के प्रतिनिधियों के सम्मान में प्रीतिभोज किए थे, परन्तु सन् १८८८ में उन्होंने संस्था की आलोचना आरम्भ कर दी। कलकत्ते के सेंट एण्ड्रूज़ क्लब में एक भोज के अवसर पर भाषण देते हुए लार्ड डफरिन ने कहा कि अब काँग्रेस का झुकाव "राजद्रोह की ओर हो गया है" परन्तु यह संस्था शिक्षित भारतीयों के "नगण्य भाग मात्र का प्रतिनिधित्व करती है।" सन् १८८८ के बाद सरकार का यह विरोध बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि उस वर्ष प्रयाग में होने वाले काँग्रेस के चौथे अधिवेशन को रोकने के उद्देश्य से सरकार ने उसकी राह में अनेक बाधाएँ खड़ी कीं। परन्तु सरकार का विरोध ही काँग्रेस की लोकप्रियता का कारण बना और बम्बई में होने वाले सन् १८८९ ई० के अगले अधिवेशन में जिन प्रतिनिधियों ने भाग लिया उनकी संख्या भी वर्ष की संख्या के बराबर, अर्थात् १८८९ थी। तत्पश्चात् सन् १८९० ई० में सरकार ने एक आज्ञा-पत्र निकाल कर प्रांतीय सरकारों को आदेश दिया कि सरकारी कर्मचारियों को काँग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने से रोक दिया जाये। सरकारी कर्मचारी अलग हो गये परन्तु काँग्रेस की लोकप्रियता अधिकाधिक बढ़ती ही गई।

इङ्गलैंड में काँग्रेस का कार्यक्षेत्र—इसी बीच काँग्रेस इङ्गलैंड की जनता का ध्यान भारतीय परिस्थिति की यथार्थता की ओर आकर्षित करके उसकी सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न भी कर रही थी। सन् १८९० ई० में वहाँ भारत के पक्ष में जनमत बनाने एवं काँग्रेस के कौंसिल-सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से एक प्रतिनिधि-मण्डल इङ्गलैंड भेजा गया। चार्ल्स ब्रैडला—जिन्हें इङ्गलैंड

की लोकसभा में भारत का प्रतिनिधि कहा जाता था—तथा सर विलियम वेडरबर्न लोकसभा में तथा उसके बाहर काँग्रेस के इन प्रयत्नों का नेतृत्व कर रहे थे। इन लोगों ने भारतीय प्रश्नों पर विचार विनिमय करने के उद्देश्य से लोकसभा के सदस्यों की एक समिति बनाई जिसकी सफलता का अनुमान केवल इस बात से ही लगाया जा सकता है कि इसकी कार्यवाही में १५४ सदस्यों ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त 'इण्डिया' नाम का मासिक पत्र भी काँग्रेस के प्रचार कार्य के लिए प्रकाशित किया जाता था। विलियम डिग्बी, मोहनलाल घोष, दादाभाई नौरोजी, डब्लू० सी० बनर्जी तथा इयर्डले नार्टन इङ्गलैंड में भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस के मुख्य स्तम्भ थे। और वास्तव में इन लोगों ने बड़ा भारी काम भी किया। ये सार्वजनिक भाषणों का आयोजन करते थे, प्रचार-पुस्तकों का वितरण करते थे, लोकसभा के सदस्यों से मिलते थे, समाचारपत्रों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे, काँग्रेस के कार्यक्रम के त्रैमासिक विवरण बनाते थे तथा भारतीय जनता के प्रतिनिधि-मण्डलों को इङ्गलैंड की जनता तक पहुँचाने का आवश्यक प्रबन्ध करते थे। सन् १८८८ ई० से लगभग बीस वर्षों तक लगातार राष्ट्रीय काँग्रेस प्रस्तावों द्वारा प्रति वर्ष इस ब्रिटिश समिति के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती रही। इसके अतिरिक्त इस महान कार्य में वेडरबर्न तथा उनके सहयोगियों की सहायता करने के लिए आंशिक व्यय स्वरूप कुछ रुपया भी प्रति वर्ष उनके पास भेजा जाता था।

इङ्गलैंड के समाचारपत्रों का ध्यान भी भारतीय प्रश्नों की ओर आकर्षित किया गया और उनमें से कुछ ने लेखों द्वारा राष्ट्रीय काँग्रेस तथा उसकी माँगों पर यथेष्ट प्रकाश डाला। उनके लेखों का सरांश यही होता था कि काँग्रेस एक अखिल-भारतीय संस्था है और उसकी माँगें सर्वथा उचित हैं। सन् १८८८ में एक समाचार-पत्र 'ग्लाउस्टर जर्नल' (Gloucestor Journal) ने लिखा : "यह बड़े खेद की बात है कि इङ्गलैंड भारत की इस समस्या को समझने का प्रयत्न भी नहीं करता जो वास्तव में बड़ी सीधी और सरल है।···पाश्चात्य कला तथा विज्ञान के सम्पर्क से प्रभावित हो कर वे (भारतीय) अपनी प्राचीन संस्कृति की पुनर्स्थापना करने एवं इस प्रकार संसार के राष्ट्रों के बीच अपना उचित स्थान ग्रहण करने को उत्सुक हैं।···और प्रश्न केवल इतना है कि इस महान् देश का शासन उसके अपने हित, उसके निवासियों की सुरक्षा और हमारी महारानी तथा उनके गौरव को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिये, अथवा उसे निरंकुश नौकरशाही, स्वार्थमय गुटबन्दी और लोभी वर्ग-हितों की दया पर छोड़ देना उचित होगा। इङ्गलैंड का अपराध यह है कि इस दिशा में उसे जो कुछ करना चाहिए था उसने नहीं किया।············उसने स्वाभाविक रूप से इस महान् धरोहर का शासन-प्रबन्ध भी ऐसे अधिकारियों के हाथ में छोड़ दिया है जो बार-बार अयोग्य सिद्ध हो चुके हैं, जिन पर वास्तव में किसी प्रकार का उत्तर-

दायित्व नहीं है, जिनका हित अधिकतर भारतीय जनहित की विपरीत दिशा में रहता है।.........यह नीति इङ्गलैंड के लिए अत्यधिक लज्जास्पद, तथा भारत के लिए नाशकर है। और अन्त में यही नीति हमसे भारतीयों की सहानुभूति छीन कर हमारे भारतीय साम्राज्य के अन्त का कारण बनेगी।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत सरकार की तीव्रतम आलोचना करने वाले भारतीय नहीं, अंग्रेज़ ही थे।

सन् १८९२ का कौंसिल कानून—भारत तथा इङ्गलैंड में कांग्रेस के बढ़ते हुए आन्दोलन को देख कर लार्ड डफरिन ने भी परिस्थति की गम्भीरता का अनुभव किया। अतएव उन्होंने कौंसिलों के सुधार का प्रयत्न आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप सन् १८९२ का भारतीय कौंसिल सुधार कानून बना। इस कानून में धारासभाओं की सदस्यसंख्या बढ़ा कर तथा स्थानीय शासन-संस्थाओं, विश्वविद्यालयों तथा व्यापार-मंडलों द्वारा कुछ सदस्यों की नामज़दगी की व्यवस्था करके भारतीयों को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया था। परन्तु इस कानून में निर्वाचन के सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति नहीं थी। इसके अन्तर्गत धारासभा में प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया था, परन्तु पूरक प्रश्नों की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके अनुसार धारासभा के सदस्य बजट पर साधारण रूप से बहस कर सकते थे, परन्तु उन्हें कटौती के प्रस्ताव रखने का अधिकार नहीं था। इन सब बातों को देखते हुए कांग्रेस का इस सुधार योजना से असन्तुष्ट रहना स्वाभाविक ही था। अतएव सन् १८९३ के अधिवेशन में सुधार-योजना की निम्नलिखित चार विशेष असन्तोषजनक बातों का उल्लेख किया गया:—

(१) योजना के अन्तर्गत निर्वाचन-प्रणाली अत्यन्त जटिल थी;

(२) प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने के अधिकारों के साथ बजट पर मत देने तथा पूरक प्रश्न पूछने के सम्बन्धित अधिकार न होने के कारण बजट-सम्बन्धी बहस अपूर्ण थी और सदस्य प्रस्ताव नहीं उपस्थित कर सकते थे।

(३) भारत के प्रांतों में पंजाब का स्थान प्रमुख होते हुए भी उसे केन्द्रीय अथवा स्थानीय कौंसिलों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था; और

(४) इस कानून की लगभग सभी धारायें पूर्णतया असन्तोषजनक थीं। इसके अन्तर्गत कुछ वर्गों से प्रतिनिधित्व का अधिकार छीन कर अन्य वर्गों को अनुचित अनुपात में दिया गया था।

सन् १८९३ ई० के कांग्रेस अधिवेशन में प्रतिनिधित्व के इस जटिल प्रश्न पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोखले ने कहा : "सज्जनों, इन धाराओं के विषय में मैं यह तो नहीं कहूँगा कि इन्हें जान-बूझ कर कानून का उद्देश्य नष्ट करने के लिए बनाया गया है, परन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि यदि इन्हें बनाने वाले अधिकारी को इस प्रकार की योजना बनाने का आदेश देकर बैठाया जाता जिससे सुधार-कानून का उद्देश्य समाप्त हो जाये तो वह इससे अधिक अच्छी योजना प्रस्तुत

नहीं कर सकता था।" इन धाराओं की सहायता से सरकार ने इस बात का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर लिया था कि यथासम्भव निर्वाचित व्यक्ति स्वतन्त्र न होकर ऐसे हों जिन पर आसानी से प्रभाव डाला जा सके। काँग्रेस ने अनुभव किया कि यह धारायें स्वयं अपना उद्देश्य नष्ट करके सन् १८६२ के सुधार-कानून की हत्या कर देंगी। अतएव काँग्रेस के नेताओं ने इन धाराओं के परिवर्तन की माँग उठाई।

सरकार की उपेक्षा—काँग्रेस का कार्य इसी प्रकार चल रहा था। परन्तु यह सब देश के विभिन्न भागों में वार्षिक अधिवेशन करने, कभी-कभी प्रतिनिधि-मण्डल बना कर इङ्गलैंड भेज देने और लन्दन के एक साप्ताहिक पत्र की थोड़ी सी आर्थिक सहायता कर देने तक ही सीमित था। इन प्रारम्भिक वर्षों में काँग्रेस बार-बार अपनी माँगें दोहराती रही। उसकी मुख्य माँगें निम्नलिखित थीं:—धारासभाओं की सदस्य-संख्या बढ़ा कर उन्हें प्रतिनिधि संस्थाएँ बनाया जाये; जूरी द्वारा न्याय करने की प्रथा का अधिक प्रचार हो; प्रिवी कौंसिल (Privy Council) में भारतीयों की भी नियुक्ति हुआ करे; देश में औद्योगिक शिक्षा का प्रसार किया जाये; इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा इङ्गलैंड और भारत में साथ-साथ हुआ करे; शस्त्रास्त्र कानून (Arms Act) का संशोधन किया जाये; भारतीय स्वयंसेवकों की अलग सेना बनाई जाय; देश में सैनिक शिक्षालयों की स्थापना हो; तथा भारत-मन्त्री का वेतन ब्रिटिश सरकार दिया करे। परन्तु उपरोक्त माँगों का यह अर्थ नहीं है कि काँग्रेस का ध्यान केवल ब्रिटिश भारत की आन्तरिक समस्याओं तक ही सीमित था। उसने प्रवासी भारतीयों की कठिनाइयों पर भी विचार किया, भारतीय नरेशों के साथ अँग्रेज़ों द्वारा किए गये दुर्व्यवहार का विरोध किया और सरकार की सीमा-नीति की कड़ी आलोचना की। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शासन का कोई ऐसा अङ्ग नहीं बचा था जिसकी ओर काँग्रेस का ध्यान न गया हो। परन्तु उसकी आलोचना का मुख्य लक्ष्य सरकार की बजट तथा अर्थ-सम्बन्धी नीति थी।

काँग्रेस के प्रयत्नों के फलस्वरूप जनता का ध्यान भी इन्हीं प्रश्नों पर केन्द्रित हो गया था। वास्तव में यह कहना अधिक सत्य होगा कि काँग्रेस ने सारा वातावरण ही बदल दिया था। परन्तु सन् १८६२ और १६०५ के बीच सरकार के दृष्टिकोण में भी स्पष्ट परिवर्तन हो गया था। दुर्भाग्यवश इस बीच जितने वाइसराय यहाँ आए उनमें से किसी को भारत की आकाँक्षाओं के साथ सहानुभूति नहीं थी। लार्ड लैंसडाउन और लार्ड एल्गिन दोनों ही अत्यन्त साधारण स्तर के व्यक्ति थे। उनमें इस कठिन परिस्थिति को सँभालने की क्षमता नहीं थी। लार्ड एल्गिन के शासनकाल में, सन् १८६६-६७ में, देश में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। सरकार ने पीड़ितों की सहायता का प्रबन्ध तो अवश्य किया, परन्तु केवल दिखाने के लिए; और जनता को बहुत कष्ट सहना पड़ा। जनता के कष्ट की सीमा यहीं न थी, क्योंकि सन् १८६६में

ही देश में महामारी भी फैली। वास्तव में एक वर्ष के भीतर अकाल, महामारी, भूकम्प, युद्ध और दमन सभी कष्ट झेलने पड़े। महामारी रोकने के लिए सरकार द्वारा जो व्यवस्था की गई वह अत्यन्त असुविधापूर्ण थी। इससे इतना असन्तोष बढ़ा कि उसी वर्ष महारानी के जन्मोत्सव की रात में इस व्यवस्था के प्रधान अधिकारी रैण्ड (Rand) साहब की पूना में हत्या कर दी गई। इसके फलस्वरूप सारे महाराष्ट्र में दमन का चक्र वेग से घूमने लगा। तिलक तथा अन्य अनेक राजनैतिक नेताओं पर राजद्रोह का अभियोग लगा कर उन्हें दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया। राजद्रोह को कुचल देने के उद्देश्य से कई नए कानून भी बनाए गये। डाकघर सम्बन्धी कानून में सुधार करके पोस्टमास्टरों को अधिकार दे दिया गया कि वे संदिग्ध वस्तुओं को निर्दिष्ट व्यक्ति के पास पहुँचने से रोक लें। फौजदारी कानून में सुधार करके जिलाधीशों के अधिकार बढ़ा दिए गये जिससे वे असन्तोष फैलाने वाले व्यक्तियों की समुचित दण्ड व्यवस्था कर सकें। इस प्रकार जनता के सारे नागरिक-अधिकार छीन लिए गये। इसके परिणाम-स्वरूप समूचे देश में क्रोध तथा विरोध का तूफान-सा उठ खड़ा हुआ।

अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति—जिस समय भारत में उपरोक्त घटनाएँ अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध भारतीयों का असन्तोष बढ़ा कर ऐसी अखिल-देशीय संस्था को जन्म दे रही थीं जिसका मुख्य उद्देश्य राजनैतिक सुधारों की प्राप्ति था, उन्हीं दिनों भारत के बाहर भी कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे भारतीयों को आत्मविश्वास प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली। सन् १८९६ में अबीसीनिया ने इटली को और सन् १९०४ ई० में जापान ने रूस को युद्ध में नीचा दिखाया अतएव गोरी जातियों की अजेयता का बुलबुला फूट चुका था। इसके अतिरिक्त यूनान, इटली तथा टर्की में इन्हीं दिनों सफल स्वातन्त्र्य-आन्दोलन हुए। इन सब घटनाओं से भारतवासियों के हृदय में भी अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने का एक नया उत्साह भर गया।

जनता के असन्तोष का एक दूसरा कारण दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार था। वहाँ के 'गोरे' निवासी भारतीयों को 'कुली' कह कर उनका खुला अपमान करते थे। नैटाल, ट्रांसवाल तथा अन्य स्थानों के बड़े बड़े भारतीय व्यापारी भी इस प्रकार के जातीय अपमान से बच न पाते थे। नैटाल तथा केप प्रांतों में एक नियम बना दिया गया था जिसके अनुसार केवल वही लोग वहाँ आकर बस सकते थे जो कम से कम कोई एक योरुपीय भाषा भली प्रकार जानते हों। सन् १८८८ में भारतीय आरेंज नदी के उपनिवेश से निकाल बाहर किए गये। उन पर भाँति-भाँति के अपमानजनक प्रतिबन्ध तो सभी स्थानों में लगे थे, यहाँ तक कि उन्हें नगरों के बाहर 'कूड़ाघरों' में रहने पर विवश किया जाता था। सन् १८९३ ई० में गाँधी जी दक्षिणी अफ्रीका गये। वे भारतीयता का यह अपमान सहन न कर सके,

अतएव उन्होंने अपने देशवासियों के अधिकारों के लिए लड़ने का निश्चय किया। और जब यह संघर्ष समाप्त होने के बाद उन्होंने भारत लौट कर देश के स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लेने के लिए काँग्रेस में प्रवेश किया, उस समय अफ्रीका के यही अनुभव उनके लिए सहायक सिद्ध हुए।

लार्ड कर्ज़न की प्रतिक्रियावादी नीति—इस प्रकार जब सन् १८६६ में लार्ड कर्ज़न वाइसराय होकर भारत आये, यहाँ के वातावरण में अंग्रेज़ी सरकार के प्रति घृणा व्याप्त थी। उन्होंने जिस नीति का पालन किया उसका उद्देश्य भारत पर अंग्रेज़ी राज्य की शक्ति को सुदृढ़ बनाना था। परन्तु इसका परिणाम उल्टा ही हुआ और परिस्थिति और अधिक गम्भीर हो गई। भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार उद्दण्ड तथा अन्यायपूर्ण था; उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही गम्भीर हुई। जब उन्होंने भारत में पदार्पण किया सभी वर्गों ने उनका स्वागत किया। परन्तु उनका दृष्टिकोण आरम्भ से ही घोर प्रतिक्रियावादी था, अतएव भारतवासियों की प्रसन्नता शीघ्र ही निराशा में बदल गई। उनकी नीति का एकमात्र लक्ष्य शासन-व्यवस्था को सुचारु बनाना था और उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीयों में शासन-भार वहन करने की क्षमता नहीं है। अतएव उन्होंने 'कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट' तथा 'इण्डियन यूनीवर्सिटीज़ ऐक्ट' जैसे कानून बनाये जिनका उद्देश्य इन संस्थाओं को सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत कर लेना था। बङ्गाल के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर सर अलेक्जेण्डर मैकेंज़ी ने स्थानीय स्वराज्य-प्राप्त कलकत्ता कारपोरेशन के विरुद्ध एक भाषण दिया जिससे कारपोरेशन के सदस्यों को बड़ा क्षोभ हुआ। इस भाषण में कारपोरेशन की तीव्र आलोचना इसलिए की गई थी कि वह नगर की स्वच्छता में किसी प्रकार का सुधार नहीं कर पाया था। परन्तु इस विषय में लन्दन की दशा कलकत्ते से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी। इस बात का अनुमान एक अंग्रेज़ लेखक के निम्नलिखित वर्णन से लगाया जा सकता है:—

"थोड़े ही समय पूर्व लन्दन के पूर्वी भाग में ग़रीब जनता के घरों का वर्णन करते हुए स्वास्थ्य-विभाग के एक अधिकारी ने क्या यह नहीं कहा था कि यह घर पशुओं की माँदों से भी अधिक कष्टप्रद तथा अस्वास्थ्यकर है?" और आगे चल कर "राजधानी लन्दन में दसों हजार अंग्रेज़ स्त्री-पुरुष रोगग्रस्त घोंसलों में रहते हैं।...... यह कितना भयानक चित्र है! परन्तु सम्राट् अथवा उनके प्रधान-मन्त्री ने कभी इसका दोष लन्दन कारपोरेशन के लार्ड मेयर के सिर नहीं मढ़ा है।"

अतएव कलकत्ता कारपोरेशन के सदस्यों ने सर अलेक्जेंडर मैकेंज़ी की आलोचना का विरोध किया। इस पर गवर्नर महोदय ने कारपोरेशन को सरकार के नियन्त्रण में लेने का प्रयत्न आरम्भ किया और इस आशय का एक बिल कौंसिल के सामने रक्खा। परन्तु बिल पास होने के पूर्व ही उन्हें स्वास्थ्य ठीक न होने के

कारण अवकाश ग्रहण करना पड़ा। अतएव उनके कार्य को लार्ड कर्ज़न ने अपने हाथ में लिया। अब वाइसराय महोदय स्थानीय स्वराज्य के सिद्धान्त को ही निर्मूल करने के प्रयत्न में लग गये। सन् १८७६ ई० में कारपोरेशन की सदस्य-संख्या ७५ निश्चित की गई थी जिनमें से ५० निर्वाचित होते थे तथा शेष २५ सरकार द्वारा नामज़द किए जाते थे। लार्ड कर्ज़न ने तनिक सी कलम घुमा कर निर्वाचित सदस्यों की संख्या २५ कर दी। कारपोरेशन का अध्यक्ष तो पहले से ही सरकार का ही आदमी होता था, अब सरकारी सदस्यों का बहुमत भी हो गया।

इसके पश्चात् लार्ड कर्ज़न ने विश्वविद्यालयों को सरकारी नियन्त्रण में लेने का प्रयत्न आरम्भ किया। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसका वर्णन अपनी आत्मकथा 'A Nation in Making' में करते हुए लिखा है : "सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्ज़न ने शिमले में एक शिक्षा-सम्मेलन किया जिसमें केवल योरुपीय शिक्षकों को ही निमन्त्रित किया गया था···सम्मेलन के बाद शीघ्र ही एक यूनीवर्सिटीज़ कमीशन की नियुक्ति हुई जिसमें एक भी हिन्दू सदस्य नहीं था।···इस कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए—(१) द्वितीय श्रेणी के कालेजों को तोड़ दिया जाए (और बङ्गाल में अधिक संख्या इसी स्तर के विद्यालयों की थी;) (२) वकालत की पढ़ाई बन्द कर दी जाए; और (३) प्रबन्ध-समिति द्वारा शिक्षा-शुल्क निर्धारित किए जाएँ (जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि शुल्क बढ़े)। इस प्रकार सुव्यवस्था के उद्देश्य से उच्च शिक्षा के क्षेत्र को सीमित किया जा रहा था।" इन सुझावों के आधार पर एक यूनीवर्सिटीज़ ऐक्ट पास किया गया जिसके अन्तर्गत उच्च शिक्षा की व्यवस्था सरकार के हाथ में आ गई। इतना ही नहीं, इस कानून के फलस्वरूप उच्च शिक्षा मध्य वर्ग के विद्यार्थियों की पहुँच से बाहर हो गई। प्रान्तीय नौकरियों के लिए एक परीक्षा होती थी, लार्ड कर्ज़न ने उसे भी बन्द करा दिया। यह उनकी प्रतिक्रियावादी नीति का एक और उदाहरण था। अफ़गानिस्तान तथा तिब्बत के प्रति उनके साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का भी भारत में बहुत विरोध हुआ। लार्ड कर्ज़न इन प्रदेशों में अंग्रेज़ी प्रभाव फैला कर साम्राज्य की शक्ति बढ़ाना चाहते थे। इसका अर्थ था भारत के सैनिक व्यय में भारी वृद्धि जिसे भारतीयों ने कभी पसन्द नहीं किया।

परन्तु लार्ड कर्ज़न की सबसे बड़ी भूल बङ्गाल का विभाजन थी। इससे केवल बङ्गाल की ही नहीं अपितु सारे भारत की जनता को बहुत क्षोभ हुआ। वाइसराय महोदय का यह कार्य किस प्रकार भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ, इसने किस प्रकार देश को एकता के सूत्र में बाँध कर काँग्रेस को अभूतपूर्व शक्ति दी, इन प्रश्नों की विस्तृत विवेचना हम अगले अध्याय में करेंगे। देशबन्धु ऐण्ड्रूज़ (Andrews) ने ठीक कहा है कि "जिस काँग्रेस ने आगमन के समय खुले हृदय से उनका स्वागत किया था, उनके भारत से जाते समय वही खुले विद्रोह की ओर अग्रसर थी।"

ब्रिटेन में श्रद्धा—अपने जीवन के प्रारम्भिक बीस वर्षों तक काँग्रेस यह विश्वास लेकर ह्यूम साहब के निर्धारित पद पर चलती रही कि अंग्रेज़ भारतीयों को उनका जन्मसिद्ध अधिकार देने के लिये तैयार हैं। काँग्रेस के नेताओं को अंग्रेज़ों की ईमानदारी में पूरा-पूरा विश्वास था। वे समझते थे कि जिस दिन इङ्गलैंड की लोक-सभा को यह विश्वास हो गया कि अब भारतीयों में शासन-क्षमता आ गई है, उसी दिन अंग्रेज़ अपनी इच्छा से, तथा प्रसन्नता के साथ, भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता का उपहार दे देंगे। अपने इस सरल विश्वास से काँग्रेस ने सभी वर्गों के भारतीयों तथा अंग्रेज़ व्यापारियों, वकीलों और राजनीतिज्ञों की सहानुभूति प्राप्त कर ली। इसी कारण इस थोड़े से बीच में ही चार अंग्रेज़ काँग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और अंग्रेज़ों ने भारत सरकार की जितनी तीव्र आलोचना की उतनी सम्भवतः भारतीयों ने भी न की होगी। काँग्रेस के जन्म के कुछ समय बाद शासकों तथा शासितों के प्रतिनिधियों के बीच संघर्ष आरम्भ हुआ, परन्तु यह संघर्ष मुख्यतः वैधानिक ही था। अभी काँग्रेस एक नई संस्था थी, अतएव नेताओं के सामने पहला प्रश्न उसके परिपोषण का था। और नेतागण इस विषय में कितना सतर्क रहते थे इसका अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि काँग्रेस के जन्म के दस वर्ष उपरान्त भी जब अरविन्द घोष ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उसके कार्य की आलोचना की, तब रानाडे ने 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक चन्द्रावरकर को यह आलोचना अपने पत्र में प्रकाशित करने का आदेश इसलिए दिया कि इससे संस्था का अहित होने की सम्भावना थी। इस विषय में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि कौंसिल-सुधार कानून पास होने के बाद से देश में व्यापक असन्तोष था, तथापि सन् १८९५ के पूना अधिवेशन में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अंग्रेज़ी साम्राज्य से सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष में भाषण दिया। उन्होंने कहा : "समय आने पर भारत का इन स्वतन्त्र देशों के संघ में अपना स्थान होगा जिनकी सभ्यता संस्थाएँ तथा नैतिकता अंग्रेज़ी आदर्शों पर स्थिर हैं।" अगले वर्ष कलकत्ता अधिवेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए रहमतउल्ला सयानी ने कहा, "इस अंग्रेज़ जाति से अधिक ईमानदार तथा स्वस्थ जाति संसार में दूसरी नहीं है।" सन् १९०४ में भी बम्बई के म्युनिस्पल कारपोरेशन द्वारा लार्ड कर्ज़न को मानपत्र देने के प्रस्ताव का विरोध करते हुए फीरोजशाह मेहता ने उनकी साम्राज्य वादी नीति की घोर निन्दा की, परन्तु इसके साथ ही अंग्रेज़ जाति की न्याय-प्रियता में अपना अटूट विश्वास प्रकट किया।

सन् १९०५ तक काँग्रेस का कार्य इसी प्रकार चलता रहा। इसके प्रस्तावों में सरकार की नीति पर प्रभाव डालने की शक्ति नहीं थी, परन्तु उनसे देश में जनमत को जन्म तथा विकास मिला। काँग्रेस का सरकार पर प्रभाव न होने के कारण देश के नवयुवक नेताओं का असन्तोष बढ़ रहा था। इसके फलस्वरूप काँग्रेस में एक नये दल

का जन्म हुआ जो आगे चल कर, सन् १९०७ ई० में कांग्रेस से अलग हो गया। परन्तु इतना सब होने के बाद भी जीवन के इन प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस की बड़ी प्रतिष्ठा थी और जनता के हृदय में उसका स्थान बन चुका था।

चौथा अध्याय

संघर्ष के पथ पर

(राष्ट्रीय आन्दोलन १९०५ से १९१९ तक)

धार्मिक राष्ट्रीयता तथा आतंकवाद का प्रादुर्भाव—कांग्रेस ने अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जो प्रस्ताव पास किए उनका सरकार पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु जनता में एक नया जागरण अवश्य दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में दो नए राष्ट्रीय वादों का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों ही गहरी धार्मिकता, अत्यधिक देश-प्रेम, अडिग उत्साह और विदेशी शासन के प्रति घृणा के भावों से ओतप्रोत थे। इन दोनों वादों के बीच केवल कार्य-प्रणाली का अन्तर था, अन्यथा दोनों ही समान थे। उग्रवादी समझते थे कि केवल वैधानिक आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रचार द्वारा देश का पुनरुत्थान सम्भव है। इसके विपरीत आतंकवादियों का गोली मारने, हत्या करने, बम फेंकने, इत्यादि की पाश्चात्य क्रान्तिकारी प्रणाली में बड़ा विश्वास था। राष्ट्रवाद के इन वादों के जन्म के मुख्य कारण निम्नलिखित थे:—

(१) सन् १८६२ ई० से सन् १६०६ ई० तक का समय ब्रिटिश-भारतीय सम्बन्धों की दृष्टि से बड़े महत्व का है। इस बीच इङ्गलैंड के अनुदार शासन ने कई ऐसे कानून बनाये और लागू किये जिनका भारत की जनता ने बड़ा विरोध किया। यह विरोध उस समय और भी उग्र हो गया जब लार्ड कर्ज़न की भूलोंभरी नौकरशाही ने बङ्गाल-विभाजन की अपनी सबसे बड़ी मूर्खता की। परन्तु इस विद्रोह की जड़ें बहुत पहले ही पड़ चुकी थीं। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि इस दिशा में लार्ड लैंसडाउन, लार्ड एल्गिन तथा लार्ड कर्ज़न की साम्राज्यवादी नीति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। कलकत्ता कारपोरेशन ऐक्ट, यूनीवर्सिटीज़ ऐक्ट और आफ़िशल सीक्रेटस ऐक्ट (Official Secrets Act) वास्तव में जनता की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध थे और लार्ड कर्ज़न की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति जनता के क्षोभ का कारण बनी। देश में अकाल तथा महामारी के कारण त्राहि-त्राहि मची थी, ऐसे समय लार्ड कर्ज़न ने दिल्ली में दरबार का आयोजन किया। इसके अतिरिक्त भारतीयों के साथ उनका व्यवहार भी बड़ा अपमानजनक था। इन सब कारणों से देश में अशान्ति बढ़ रही थी।

(२) बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत ने भी उद्योग तथा व्यापार के आधुनिक साधनों को अपनाया और भारतीय पूँजीपति अंग्रेज़ों से प्रतिस्पर्धा करने

लगे। काँग्रेस ने भी उनका पूरा समर्थन किया। और देश में स्थान-स्थान पर स्वदेशी प्रदर्शिनियां तथा उद्योग-सम्मेलनों के आयोजन होने लगे। भारत ने थोड़े ही समय में पूँजीवाद तथा विदेशों से व्यापार के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति कर ली। इससे पूर्व-पश्चिम का संघर्ष बढ़ गया और अनुदार राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिला।

(३) राष्ट्रीय आपत्तिकाल में भी सरकार राष्ट्र-विरोधी अर्थ-नीति का पालन कर रही थी, इससे असन्तोष और भी तीव्र हो गया। जनता अकाल और महामारी के कारण जर्जर हो रही थी, सरकार की नीति से उनका क्लेश कम होने के स्थान पर और बढ़ गया। दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्रदत्त, रानाडे, दिनशा वाचा, विलियम डिग्बी, इत्यादि ने अपने लेखों द्वारा भारत सरकार की राष्ट्र-विरोधी अर्थ-नीति की पोल खोलने का प्रयत्न किया। इन्हें पढ़ कर भारतीय जनता ने अनुभव किया कि विदेशी शासन ही उनकी ग़रीबी और मध्य वर्ग की बेकारी का एकमात्र कारण है। अंग्रेज़ों की ईमानदारी और न्यायप्रियता में भारतीयों को बड़ा विश्वास था, परन्तु इन सब बातों से उन्हें गहरा धक्का लगा।

(४) अंग्रेज़ भारतीयों के साथ उद्दण्ड व्यवहार करते थे और अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों में भारत विरोधी प्रचार होता था। अनेक अवसरों पर 'गोरे' सिपाही भारतीय नारियों का अपमान करने के बाद भी साफ छोड़ दिए गये और अंग्रेज़ी अखबार ऐसी घटनाओं की निन्दा करने के स्थान पर बराबर अपराधियों का ही पक्ष लेते रहे। इसके अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका में भी भारतीयों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा था। वहाँ की परिस्थिति पहले से ही गम्भीर थी, बोअर युद्ध (Boer War) में अंग्रेज़ों की विजय से दशा और भी बिगड़ गई। वहाँ के भारतीय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जिस साहसपूर्ण लगन का परिचय दे रहे थे, भारत में उसकी प्रशंसा की गई। केवल इतना ही नहीं, यहाँ दक्षिणी अफ्रीका के भारतीय सत्याग्रहियों की सहायता के लिए चन्दा भी इकट्ठा किया गया। उस समय भारतवासी इतना निर्णय नहीं कर पाये कि इसमें दक्षिणी अफ्रीका की सरकार का अधिक दोष है या इङ्गलैंड का। अतएव उन्होंने सारा दोष इङ्गलैंड की सरकार पर ही थोप दिया।

(५) आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी, इत्यादि धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं ने भी देश में एक नया वातावरण उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप भारतीय मस्तिष्क में पाश्चात्य वेषभूषा, शिक्षा, विचारधारा तथा जीवन-दर्शन के विरुद्ध गहरी घृणा का समावेश हो गया था। वास्तव में उस समय के नेताओं को जितनी प्रेरणा इस धार्मिक पुनर्जागरण से मिली, उतनी सम्भवतः और किसी दिशा से प्राप्त नहीं हुई। लोकमान्य तिलक, अरविन्द घोष, विपिनचन्द्रपाल, लाला लाजपतराय इत्यादि सभी की प्रेरणा का उद्गम धर्म ही था। उस समय के अनेक स्कूल, कालेज, क्लब तथा सांस्कृतिक केन्द्र धार्मिक आधार पर स्थापित किये गए

थे तथा भारत के अतीत गौरव के प्रति गर्व के भाव जगाने में बहुत सफल हुए। **केसरी, युगान्तर, सन्ध्या,** इत्यादि अनेक समाचारपत्रों ने भी विशेषकर सन् १८९६ ई० के अकाल के बाद, सरकार-विरोधी आन्दोलनों का नेतृत्व किया। उन्होंने राजनैतिक तथा धार्मिक प्रचार किया, जनता को हिंसा का पाठ पढ़ाया और अंग्रेज़ों के अमानुषिक अत्याचारों और उनकी साम्राज्यवादी नीति का भण्डाफोड़ किया। उन्होंने जनता को बतलाया कि जब भारतवासी अंग्रेज़ी शासन से मुक्ति पाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझने लगेंगे तभी देश अपने अतीत गौरव को प्राप्त कर सकेगा। परन्तु इस रणोन्मुख, धर्मप्रधान राष्ट्रवाद में कुछ अवगुण भी थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "सन् १९०७ ई० का भारतीय राष्ट्रवाद का यह पुनर्जागरण सामाजिक दृष्टिकोण से निश्चय ही प्रतिक्रियावादी था।" अतीत में उसकी आवश्यकता से अधिक आस्था थी और हिन्दू धर्म से अनुप्राणित होने के कारण उस ने मुसलमानों को विमुख कर दिया। वे अब मुस्लिम लीग की ओर झुकने लगे।

(६) इन सबके अतिरिक्त कुछ ऐसे विदेशी प्रभाव भी थे। जिन्होंने भारतीय मस्तिष्क को विस्तार देकर जनता की निराशा का अन्त कर दिया। संसार में सभी ओर शासित जनता अत्याचारी शासकों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर रही थी, यह देख कर भारतीय राष्ट्रवाद भी रणोन्मुख होने लगा। इसी समय के लगभग अबीसीनिया के हब्शियों ने इटली को, तथा जापानियों ने रूस को युद्ध में पराजित किया। मिश्र, ईरान, टर्की और रूस में जन-आन्दोलनों का बल बढ़ रहा था। इन सब घटनाओं से योरुपीय जातियों की अजेयता का बुलबुला फूट गया और एशिया की जातियों में नये जीवन और साहस का संचार हुआ।

इस विषय में रैटक्लिफ़ (Ratcliffe) ने लिखा है: "सन् १९०४ ई० की काँग्रेस आन्दोलन के उस स्वरूप का चरम-विन्दु थी जिसकी प्रतिष्ठा उसके जन्म-दाताओं तथा उनके राजनैतिक विश्वासों और साधनों में विश्वास रखने वाले नेताओं ने आरम्भ में की थी। इसके बाद नये और क्रान्तिकारी तत्व सामने आने लगे।" जुलाई, सन् १९०५ ई० में बङ्गाल के विभाजन की घोषणा की गई और इसके फलस्वरूप केवल बङ्गाल में ही नहीं अपितु सारे भारत में विद्रोह का एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिनचन्द्रपाल के नेतृत्व में काँग्रेस के नववयस्क अङ्ग ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया। उदारवादी नेताओं की नीति से असन्तुष्ट नई पीढ़ी के राजनीतिज्ञों की विचारधारा तथा कार्य-प्रणाली का संचालन लोकमान्य तिलक कर रहे थे। सन् १९०५ ई० की काँग्रेस विषय-समिति की बैठक में उनके पक्ष की विजय हुई और उन्होंने अधिवेशन में ही नई पीढ़ी के प्रतिनिधियों की एक खुली सभा करके राष्ट्रवादियों के भावी कार्य-क्रम पर विचार-विनिमय किया। इस

सभा में उन्होंने अपनी असहयोग तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की योजनाओं पर प्रकाश डाला। लाला लाजपतराय भी काँग्रेस की ओर से इङ्गलैंड का दौरा करके हाल ही में लौटे थे। उन्होंने बताया कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें अपने प्रयास का ही सहारा लेना चाहिए क्योंकि अंग्रेज़ों की सहायता पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। इधर, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलनों में विपिनचन्द्रपाल अग्रणी थे। इस प्रकार काँग्रेस के यह सब नेता अब वैधानिक आन्दोलन का पथ त्याग कर उग्रवादी हो गए थे।

बङ्गाल का विभाजन—२० जुलाई, सन् १९०५ ई० को बङ्ग-भङ्ग की घोषणा की गई। इसका प्रस्ताव निम्नलिखित था :

"बङ्गाल के चटगाँव, ढाका और राजशाही ज़िले, टिपरा का पार्वत्य प्रदेश और आसाम की वर्तमान कमिश्नरी, इनको मिला कर लेफ्टीनेंट गवर्नरी के स्तर का एक नया प्रान्त बनाया जाएगा। दोनों क्षेत्रों के वर्तमान घनिष्ट सम्बन्धों की रक्षा के उद्देश्य से दार्जिलिंग बङ्गाल के साथ ही रहेगा।

लार्ड कर्ज़न के अनुसार विभाजन का मुख्य उद्देश्य बङ्गाल सरकार के भारी शासन-भार को कम करना था। यह सत्य है कि बङ्गाल की संख्या बढ़ कर ८०,०००,००० हो गई थी, परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस समय बङ्गाल में बहुत से अबंगभाषा-भाषी क्षेत्र भी सम्मिलित थे और इन्हें प्रांत से पृथक करके शासन का भार सफलतापूर्वक हलका किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। वास्तव में बङ्गाल के विभाजन का मुख्य उद्देश्य शासन में सुव्यवस्था लाना नहीं था। अंग्रेज़ हिन्दू मुसलमानों के बीच भेदभाव उत्पन्न करके बङ्गाल के शिक्षित वर्ग को विभाजित तथा निर्बल बनाना चाहते थे। स्वयं लार्ड कर्ज़न ने पूर्वी बङ्गाल में केवल मुसलमानों की एक सभा में भाषण देते हुए बताया था कि बङ्ग-भङ्ग के पीछे शासन की सुव्यवस्था के अतिरिक्त उनका उद्देश्य एक ऐसे प्रान्त का निर्माण करना भी था जहाँ मुसलमान अपने बहुमत के कारण, अपना शासन स्वयं संभालने में समर्थ हो सकें। अन्य उच्च अंग्रेज़ अधिकारियों ने भी इसी प्रकार की बातें कहीं। उदाहरण के लिए पूर्वी बङ्गाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर सर बैम्फील्ड फुलर (Sir Bampfylde Fuller) ने एक भाषण में कहा कि भारत सरकार के दो पत्नियाँ हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान—और सरकार मुसलमान पत्नी को अधिक प्यार करती है। इस प्रकार की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाजन का मुख्य उद्देश्य साम्प्रदायिक भेदभाव उत्पन्न करना ही था।

अन्तत: सरकार की इस 'विभाजन-नीति' का परिणाम मनचाहा ही निकला, परन्तु उस समय इसके फलस्वरूप देश में अभूतपूर्व एकता तथा काँग्रेस में अभूतपूर्व बल का संचार हुआ। थोड़े से मुसलमानों ने आन्दोलन से नाता अवश्य तोड़ लिया

परन्तु उनके बहुमत ने अंग्रेज़ों की कूटनीति को भली भाँति समझ कर विभाजन की की नई व्यवस्था का विरोध किया। सारा बङ्गाल एक साथ उठ खड़ा हुआ। आन्दोलन चलने लगा और ब्रिटिश सरकार के सम्मुख इस विषय में कई स्मृति-पत्र उपस्थित किए गये। सम्पूर्ण देश ने और लगभग सभी भारतीय समाचार-पत्रों ने बङ्गाल का पक्ष लिया। कलकत्ते के अंग्रेज़ी पत्र **स्टेट्समैन** (Statesman) ने विभाजन की तीव्र आलोचना करते हुए लिखा : "स्पष्ट है कि इस निष्प्रयोजन और मूर्खताभरी नीति का पालन करके सरकार ने बड़ी भारी भूल की है जिसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि शीघ्र ही देश पर मर मिटने वालों की एक पूरी सेना उठ कर खड़ी हो जायगी।" **टाइम्स आफ इण्डिया** ने लिखा : "अच्छा होता यदि लार्ड कर्ज़न दूसरी बार लौट कर भारत न आए होते। अपनी पूर्वनिर्मित प्रतिष्ठा पर पानी फेरने के लिए वे इससे (अर्थात् बङ्ग-भङ्ग से) अधिक सफल किसी अन्य उपाय की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।" और **पायनियर** ने टिप्पणी की कि यह विभाजन "बे सिर पैर और अकारण है। इसके एक पक्ष के जो लाभ बताये जाते हैं वही दूसरे पक्षों में स्पष्टत: घातक सिद्ध होते हैं।"

वहिष्कार और स्वदेशी—विभाजन की घोषणा ने जनता पर बिजली का सा प्रभाव किया। इसके विरोधस्वरूप काँग्रेस के उग्र पक्ष ने अंग्रेज़ी वस्तुओं के वहिष्कार का निश्चय किया। ७ अगस्त, सन् १९०५ को कलकत्ते के नगर-भवन में एक सभा हुई जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—"यह सभा भारत-सम्बन्धी प्रश्नों के प्रति इङ्गलैंड की उपेक्षा और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली भारत-सरकार द्वारा भारतीय जनमत की अवहेलना के विरोधस्वरूप, जब तक विभाजन का प्रस्ताव वापस नहीं ले लिया जाता, उस समय तक के लिए इङ्गलैंड में बनी हुई वस्तुएँ न खरीदने के पक्ष में प्रांत भर की बहुत सी सभाओं द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों का पूर्ण समर्थन करती है।"

यह वहिष्कार अस्थायी था और इसका एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश जनता का ध्यान बङ्गाल की माँगों की ओर आकर्षित करना था। माँगें पूर्ण होते ही वहिष्कार भी समाप्त हो जाता। परन्तु स्वदेशी आन्दोलन का आधार अधिक स्थायी था। स्वदेशी-प्रचार के लिए देश भर में सभायें हुईं। अंग्रेज़ी समाचारपत्रों ने इस आन्दोलन को भारी भूल कह कर यह विश्वास प्रकट किया कि "यह नौ दिन का आश्चर्य" शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा। परन्तु छ: वर्षों तक बङ्गाल विभाजित रहा और यह आन्दोलन भी पूरे छ: वर्षों तक चलता रहा। यह विदेशियों के लिए अत्यधिक आश्चर्य का विषय तथा जनता की असाधारण उत्तेजना का सजीव प्रमाण था। यह देख कर सरकार को आशंका हुई और उसने दमन-नीति का प्रयोग आरम्भ कर दिया, परन्तु इससे जनता का क्षोभ और भी बढ़ गया। वहिष्कार तथा स्वदेशी-प्रचार के कार्य-क्रम में विद्यार्थी

प्रमुख भाग ले रहे थे, अतएव सरकार ने उन पर नियंत्रण लगाने की योजना बनाई। जिलाधीशों ने शिक्षालयों के अध्यक्षों को एक पत्र लिख कर उन्हें चेतावनी दी कि यदि वे अपने विद्यार्थियों को इन राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने से नहीं रोकेंगे तो उनकी सरकारी सहायता-वृत्ति रोक दी जायगी। परन्तु इस पत्र का प्रभाव भी उल्टा ही हुआ और विद्यार्थियों की उत्तेजना और बढ़ गई।

इस प्रकार अब राष्ट्रीय आन्दोलन के चार-मुख्य अङ्ग हो गये थे—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति और स्वराज्य की प्राप्ति। ७ अगस्त १६०५ ई० को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का नारा आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ने लगा। लाखों रुपयों के कपड़े सड़कों पर फूँक दिए गये। गाँव के बने कपड़े तथा अन्य स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार हुआ और स्वदेशी की भावना दिन पर दिन गहरी होती गई। सरकारी स्कूलों का भी बहिष्कार किया गया और राष्ट्रीय विद्यालय खोले गए। बाबू विपिन चन्द्रपाल ने अपने राष्ट्रीय साप्ताहिक 'न्यू इण्डिया' (New India) द्वारा राष्ट्रीयता तथा क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रचार किया। किन्तु जहाँ देश में एक ओर राष्ट्रीय एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन उग्र रूप से चल रहा था, दूसरी ओर नरमदल वालों ने हिंसा का विरोध किया। सन् १६०६ ई० में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में उग्र तथा उदार दलों के बीच प्रबल संघर्ष हुआ और फूट पड़ते-पड़ते बची। इसका श्रेय दादाभाई नौरोजी को है जो राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता बनाये रखने का ही उद्देश्य लेकर विशेष रूप से इङ्गलैंड से आये थे। इस प्रकार काँग्रेस की बागडोर नरमदल के हाथों में ही रही, परन्तु इस अधिवेशन द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काँग्रेस में वामपक्षी विचारों का गहरा प्रभाव था। दादाभाई नौरोजी तक ने अपना अति-नम्र तथा वैधानिक दृष्टिकोण त्याग कर अध्यक्षपद से अत्यन्त प्रभावोत्पादक भाषण देते हुए कहा : "हम दया की भीख नहीं माँगते, हम केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक होने के नाते अपने अधिकारों का और अधिक विभाजन करने की अपेक्षा आज हम इस पूरे प्रश्न को एक शब्द स्वराज्य में व्यक्त कर सकते हैं, उसी प्रकार का स्वराज्य जैसा इङ्गलैंड अथवा अन्य उपनिवेशों में प्रचलित है।" उस समय इस बात की आशंका थी कि उदारपक्ष के नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फ़िरोज़शाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, इत्यादि इस मत का विरोध करेंगे और काँग्रेस में फूट पड़ जायगी। गोखले ने उग्रवादियों को चेतावनी देते हुए भी कहा था : "सरकार के पास शक्ति का कितना संचय है यह आप नहीं समझ रहे हैं। यदि आपकी बात मान कर आज काँग्रेस कोई कार्य आरम्भ करती है तो सरकार को पाँच मिनट के भीतर हमारा गला घोंट देने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी।" तथापि उग्रपक्षियों के बहुमत के सामने उदार दल को झुकना पड़ा।

सूरत की फूट—सन् १६०७ में होने वाले सूरत के अगले काँग्रेस अधिवेशन में उदारवादी नेताओं ने कलकत्ता अधिवेशन के उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कराने का दूसरा प्रयत्न किया। उग्र राष्ट्रवादी यह पहले से जानते थे। अतएव वे चाहते थे कि अध्यक्षपद पर उनके दल का कोई व्यक्ति हो। परन्तु काँग्रेस-विधान के अनुसार नरम-दल के नेता रासबिहारी घोष अध्यक्ष निर्वाचित हो गये। उग्र राष्ट्रवादियों ने इस निर्वाचन का विरोध किया। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने नरमदल के दृष्टिकोण से अपनी पुस्तक 'A Nation in Making' में परिस्थिति की निम्नलिखित व्याख्या की है—

"एक प्रबल दल श्री तिलक के अध्यक्ष निर्वाचित होने के पक्ष में था और यह लोग रासबिहारी घोष का निर्वाचन नहीं चाहते थे। इस दल का मत था कि रासबिहारी घोष के अध्यक्ष होने से अच्छा तो यह होगा कि काँग्रेस की शक्तियाँ बिखर जाएँ। और काँग्रेस की शक्तियाँ बिखर कर ही रहीं। नेताओं पर कुर्सियों, जूतों और चप्पलों की वर्षा की गई।……और पुलिस को बलपूर्वक पण्डाल खाली कराना पड़ा। इस घटना के साथ काँग्रेस के इतिहास का एक स्मरणीय अध्याय समाप्त हुआ और उसकी धारा बदलने लगी।"

इस प्रकार पहले दिन के अधिवेशन का अन्त गड़बड़ी में हुआ। दूसरे दिन अधिवेशन विसर्जित कर दिया गया और तीसरे दिन नरमदल वालों ने अपना अलग सम्मेलन किया जिसमें राष्ट्रवादियों ने कोई भाग नहीं लिया। इस प्रकार उस समय नरम दल की ही जीत रही और कम से कम कुछ समय के लिए तो अवश्य ही काँग्रेस उनके अधिकार में आ गई।

राष्ट्रवादी काँग्रेस से बाहर रह कर, अपने आदर्शों एवं साधनों के अनुसार कार्य करने लगे। वास्तव में सन् १६०५ ई० से ही राष्ट्रवादियों का पृथक अस्तित्व हो गया था और सन् १६०७ की इस फूट का कोई विशेष महत्व नहीं था। उग्र राष्ट्रवादियों के नेता बालगङ्गाधर तिलक भारत के आधुनिक धर्मप्रधान राष्ट्रवाद के प्रवर्तक माने जा चुके थे। उन्होंने पिछली शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में ही महाराष्ट्र में एक नई चेतना का संचार कर दिया था। राजनीति के क्षेत्र में उनका आगमन श्री शिवा जी महोत्सव से सम्बन्धित है। यह महोत्सव प्रचलित करने में उनका उद्देश्य हिन्दुओं के समक्ष उनके एक राष्ट्रीय वीर का आदर्श रख कर उन्हें राष्ट्रधर्म की प्रेरणा देना था। लोकमान्य तिलक ने गोवध-निरोधक समितियों की स्थापना की, गणपति उत्सव का प्रचार किया और हिन्दू अखाड़ों और लाठी दलों का संगठन किया। उनके इन सब कार्यों ने हिन्दू जाति में एक नई, पौरुषपूर्ण आत्मा को जन्म दिया।

सूरत की फूट के बाद लगभग सौ उदारवादी नेताओं की एक उपसमिति ने राष्ट्रीय काँग्रेस का एक नया विधान तैयार किया जिसका उद्देश्य काँग्रेस की कार्य-

प्रणाली को सुचारु तथा समयानुकूल बनाना था। नए विधान की पहली धारा में संस्था की नीति का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया था—

"भारत की जनता को उसी प्रकार शासन-व्यवस्था प्राप्त हो जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों में प्रचलित है और उनके समकक्ष भारतवासी भी साम्राज्य के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों के भागी बनें। यही भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस के उद्देश्य हैं। वर्तमान शासन-व्यवस्था में धीरे-धीरे सुधार कर, राष्ट्रीय एकता तथा जनोत्साह को बढ़ावा देकर और देश के मानसिक, नैतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों का सुसंगठन कर वैधानिक रीति से इन उद्देश्यों को प्राप्त करना है।"

इस नए विधान में उग्रदल के अधिक उत्साही तथा अधिक कार्यशील कार्यकर्ताओं के लिए जानबूझ कर कोई स्थान नहीं छोड़ा गया था और तिलक के असहयोग तथा स्वदेशी के कार्यक्रम का उल्लेख बताते हुए, सर्वाङ्गसुधार के लिए वैधानिक कार्य-प्रणाली को चुना गया था। इस उपाय से नरम दल ने कुछ समय के लिए काँग्रेस पर अपना अधिकार जमा लिया। परिस्थितियों को देखते हुए अंग्रेज़ों का हित भी नरम दल वालों के साथ ही था, अतएव उन्होंने भी इस दल की भरसक सहायता की। उग्रवादी काँग्रेस से बाहर कर दिए गये, परन्तु वे अब भी उसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जनता का नेतृत्व करते रहे और वास्तव में जनमत उनके ही पक्ष में था। इसी समय बङ्गाल के कुछ नवयुवक क्रान्तिकारियों ने अंग्रेज़ अधिकारियों की हत्या करके अत्याचारियों के हृदय में त्रास भरने के उद्देश्य से एक आतंकवादी दल की स्थापना की। इस दल का मूल मन्त्र था—खून के बदले खून और जान के बदले जान।

क्रान्तिकारी आन्दोलन—लार्ड कर्ज़न के बाद सन् १९०५ ई० में लार्ड मिण्टो वाइसराय होकर आये। उन्होंने आते ही अनुभव किया कि भारत में असन्तोष बहुत विस्तृत तथा परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर है। अतएव उन्होंने भी, अन्य अंग्रेज़ शासकों की भाँति, आन्दोलन को कुचलने के लिए दमन-नीति का आश्रय लिया। सब से पहले राजद्रोह के उद्देश्य से की जाने वाली सभाओं के विरुद्ध कानून (Seditious Meetings Act, 1907) बना। इस कानून के अन्तर्गत सरकार को किसी सभा को भङ्ग करने या किसी व्यक्ति को भाषण देने से रोकने का अधिकार मिल गया। प्रतिक्रियास्वरूप अनेक गुप्त दलों का संगठन स्वाभाविक ही था। दमन का परिणाम शासकों के लिए सदैव बुरा ही होता है। सरकार की दमन-नीति ने ही उस काल में विपिन चन्द्रपाल और अरविन्द घोष को जनता का नेता बना दिया। अरविन्द बाबू का कहना था कि विदेशी शासन को नष्ट करने के लिए हर उपाय नीतिपूर्ण और उचित है। अरविन्द बाबू का यह कथन नवयुवकों को जँच गया। गुप्त हिंसात्मक आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा और यह आन्दोलन बङ्गाल तक ही सीमित न रहा। यू० पी०, सी० पी० और महाराष्ट्र में भी आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। ६ दिसम्बर, सन् १९०७ ई० को

जिस गाड़ी में बङ्गाल के लेफ्टीनेएट गवर्नर सर ऐएड्रयू फ्रेज़र (Sir Andrew Fraser) यात्रा कर रहे थे उसे मिदनापुर के पास बम रख कर पटरी से गिरा दिया गया। उसी महीने की २३ तारीख को ढाका के भूतपूर्व ज़िलाधीश एलेन (Allen) महोदय को पीछे से गोली मारी गई, परन्तु सौभाग्यवश उनके प्राण बच गये। ३० अप्रैल सन् १६०८ ई० को कलकत्ते के मुख्य प्रेसीडेन्सी मैजिस्ट्रेट किंग्सफर्ड (Kingsford) को मारने के उद्देश्य से एक बम फेंका गया। वे तो बाल-बाल बच गये, परन्तु दो निर्दोष स्त्रियाँ श्रीमती तथा कुमारी केनेडी (Kennedy) के प्राणों पर आ बनी। इस अपराध में श्री खुदीराम बोस को फाँसी का दण्ड मिला।

क्रान्तिकारी दल का कार्य अन्य प्रान्तों में भी फैल रहा था। सन् १६०७ ई० के आरम्भ में ही लाहौर में ब्रिटिश-विरोधी प्रचार ज़ोर पकड़ने लगा था। इस प्रान्त में किसानों से सम्बन्धित कुछ कानून बनाए गये थे जिनसे जनता सन्तुष्ट नहीं थी। इन्हीं कानूनों की याद दिला कर सिक्खों को भड़काया जा रहा था। इसके अतिरिक्त सेना तथा पुलिस के कर्मचारियों से भी अनुरोध किया जा रहा था कि वे यथाशक्ति क्रान्तिकारियों की सहायता करें। लाहौर तथा रावलपिण्डी में किसानों के दंगे हुए जिनके फलस्वरूप लाला लाजपतराय और सरदार अजीत सिंह को देश-निकाले का दण्ड मिला। परन्तु इससे भी अशान्ति कम नहीं हुई। मद्रास में विपिन चन्द्र पाल तथा चिदाम्बरम् पिल्ले ने ब्रिटिश विरोधी-प्रचार किया और वहाँ भी झगड़े आरम्भ हो गये। महाराष्ट्र में, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में केसरी जनता का प्रिय समाचारपत्र था। और केसरी जनता को बता रहा था कि अंग्रेज़ी शासन रूसी ज़ारों की प्रणाली पर चल रहा है, अतएव जनता को भी क्रान्ति का रूसी ढङ्ग ही अपनाना चाहिए। नासिक के गुप्त दल 'अभिनव भारत' ने बम्बई सरकार को तङ्ग कर रखा था। इस दल की स्थापना गणेश सावरकर ने की थी। संयुक्त प्रान्त तथा मध्य प्रान्त में भी राजद्रोही पत्र प्रकाशित हो रहे थे और गुप्त रूप से कार्य चल रहा था।

यह देख कर अंग्रेज़ों को बड़ी चिन्ता हुई। अतएव ८ जून सन् १६०८ ई० को भारत-सरकार ने दो नए दमनकारी कानून बनाये। विस्फोटक पदार्थ कानून (Explosive Substances Act) के अन्तर्गत जन अथवा पदार्थ द्वारा, या अन्य किसी प्रकार से अपराध करने या करने वाले को सहायता पहुँचाने पर १४ वर्ष के कालेपानी अथवा ५ वर्ष के कारावास का दण्ड-विधान था। समाचारपत्र कानून (Newspapers Act) का उद्देश्य ऐसे समाचारपत्रों का दमन करना था जिनमें किसी प्रकार से हत्या अथवा किसी और हिंसापूर्ण कृत्य को उत्तेजना देने वाला विषय प्रकाशित होता हो। परन्तु इन दो कानूनों से दमन-चक्र पूरा नहीं हुआ। अतएव दिसम्बर सन् १६०८ ई० में फ़ौजदारी संशोधन कानून (Criminal Law Amendment Act) पास किया गया जिसके अन्तर्गत किसी भी ऐसी संस्था को

ग़ैरकानूनी घोषित किया जा सकता था जो, सरकार की समझ में, न्याय विधान अथवा शान्ति और सुव्यवस्था के मार्ग में बाधा डालती हो। परन्तु इस दमन-चक्र की उपेक्षा-सी करता हुआ क्रान्तिकारी कार्यक्रम केवल बङ्गाल में ही नहीं बल्कि सारे देश में पूर्ववत् चलता रहा। नवम्बर सन् १६०६ में, जिस गाड़ी में लार्ड तथा लेडी मिंटो की सवारी अहमदाबाद में निकाली जा रही थी उसे उड़ा देने का प्रयत्न किया गया। दो नारियल के बम उस पर फेंके गये परन्तु उनका विस्फोट ठीक समय पर न होने के कारण वाइसराय की जान बच गई।

मिण्टो-मार्ले सुधार—अब सरकार ने अनुभव किया कि केवल दमन-नीति से काम नहीं चल सकता। अतएव उसने उदारवादियों, मुसलमानों, ज़मींदारों और देशी नरेशों को अपने पक्ष में करने के उद्देश्य से सुधार के कुछ नए सुझाव उपस्थित किये। वास्तव में मिण्टो-मार्ले सुधार योजना केवल नरम दल को संतुष्ट करने के लिए बनाई गई थी। योजना के निर्माताओं का विश्वास था कि इसके द्वारा देश की उदार विचार-धारा को सरकार के पक्ष में करके उग्रराष्ट्रवाद का संतुलन किया जा सकता है। लार्ड डफरिन के समान लार्ड मिण्टो ने भी सन् १६०६ ई० में अपनी कौंसिल की एक उपसमिति बनाई जिसका एक कार्य केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं की निर्वाचित सदस्य-संख्या बढ़ाने के प्रश्न पर विचार करना था। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वय कहा था "जिस शिक्षा प्रसार को हम अंग्रेज़ों ने इतना प्रोत्साहन दिया है, उसका प्रभाव अब दृष्टिगोचर होने लगा है।·········हम अब वर्तमान परिस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकते।·········राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन होना आवश्यक है।········· और मुझे यह अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि परिवर्तन का आरम्भ हमारी, अर्थात् भारत सरकार की, ओर से हो, जिससे कहीं ऐसा न लगने लगे कि हम सुधार इस देश के आन्दोलन अथवा इङ्गलैंड के आदेश से विवश होकर कर रहे हैं।"

अब सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने की योजना बनाई। मुस्लिमलीग की स्थापना तथा पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली, दोनों ही इस दिशा में महत्वपूर्ण तथा भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए घातक क़दम थे। हिज़ हाईनेस आगाख़ाँ (His Highness the Aga Khan) के नेतृत्व में एक मुस्लिम प्रतिनिधि मण्डल ने लार्ड मिण्टो से मिलकर मिण्टो-मार्ले सुधार योजना के अन्तर्गत पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों की माँग की। मौलाना मोहम्मदअली का कहना है कि वास्तव में यह प्रतिनिधि-मण्डल अंग्रेज़ों ने ही शिमले में बैठ कर बनाया था और आगाख़ाँ महोदय अंग्रेज़ी सरकार की आज्ञाओं का पालन मात्र कर रहे थे। अतएव लार्ड मिण्टो ने तुरन्त इसकी माँग स्वीकार कर ली और इस प्रकार भारत के दो प्रमुख सम्प्रदायों के बीच स्थायी वैमनस्य तथा घृणा का बीज पड़ा। सन् १६०६ के कानून के अनुसार मुसलमानों को पृथक निर्वाचन-क्षेत्र मिले। परन्तु इसके साथ-साथ उनका साधारण

क्षेत्रों में मत देने का अधिकार भी पहले ही जैसा बना रहा। राष्ट्रवादियों ने इस दोहरे मताधिकार का तीव्र विरोध किया।

विभाजन का अन्त—काँग्रेस मिण्टो-मार्ले योजना को कार्यान्वित करने के लिए तैयार थी। परन्तु इन सुधारों में किसी नए सिद्धान्त का समावेश न होने के कारण उग्रवादी संतुष्ट नहीं थे। वास्तव में मिण्टो तथा मार्ले दोनों ने ही स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि उनका विचार वैधानिक अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने, या इस दिशा में कोई क़दम उठाने का नहीं था। इस योजना से गोखले सरीखे उदारपन्थियों की आशायें भी पूरी नहीं हुई। अतएव उग्रपन्थियों का आन्दोलन पहले जैसा ही चलता रहा और आतंकवादियों का कार्य बन्द नहीं हुआ। और समय आने पर राष्ट्रवादियों की आशंकायें सत्य सिद्ध हुई। मिण्टो-मार्ले योजना के अनुसार जो पहली कौंसिल बनी उसने सन् १९१० ई० का प्रेस ऐक्ट पास किया। यह कानून बड़ा कठोर था और इसके दस वर्ष के अल्प जीवनकाल में इसकी आड़ लेकर न जाने कितना अत्याचार किया गया। इसने देश में स्वतन्त्र तथा स्वस्थ पत्रकारिता की प्रगति रोक दी। परन्तु सन् १९११ ई० में सरकार को विवश होकर बङ्गाल के विभाजन का अन्त करना पड़ा। इस निश्चय की घोषणा स्वयं सम्राट् ने १२ दिसम्बर सन् १९११ ई० को ब्रिटिश भारत की नई राजधानी दिल्ली में अपने राज्याभिषेक-दरबार के अवसर पर की और इस प्रकार देशभक्त नेताओं के प्रयत्न से कर्ज़न के मूर्खतापूर्ण बङ्ग-भङ्ग का अन्त हुआ। इस घोषणा से काँग्रेसी क्षेत्रों में बड़ी प्रसन्नता हुई परन्तु मुसलमानों, और विशेषकर नवनिर्मित बङ्गाल-आसाम प्रान्त के मुसलमानों, को असन्तोष हुआ। विभाजन के इस प्रकार अन्त होने का एक परिणाम यह भी हुआ कि अब भारतीयों को इस बात का विश्वास हो गया कि अंग्रेज़ों के निश्चय भी बदल सकते हैं। परन्तु आतंकवाद का अन्त नहीं हुआ और सन् १९१२ ई० में स्वयं लार्ड हार्डिंज (Lord Hardinge) के ऊपर बम फेंका गया। सौभाग्यवश यह प्रयत्न घातक नहीं हुआ।

दक्षिणी अफ्रीका में संघर्ष—इन्हीं दिनों दक्षिणी अफ्रीका में जाकर बसने वाले भारतीयों की स्थिति विशेष चिन्ताजनक हो रही थी। संसार के उस भाग में भारतीयों पर जो प्रतिबन्ध लगाये जा रहे थे वे उत्तरोत्तर अधिक असह्य होते जा रहे थे। महात्मा गाँधी एक भारतीय व्यापारी की ओर से वकील होकर वहाँ गये थे। उन्होंने उन परिस्थितियों का अध्ययन किया जिनमें भारतीयों को रहना पड़ता था। उन्हें भी यह इतनी असह्य जान पड़ीं कि उन्होंने भारतीयों के अधिकारों के लिए लड़ने का निश्चय कर लिया। भारत में भी गोखले ने जनता का ध्यान इस प्रश्न की ओर आकर्षित किया और भारतीयों ने अपने अफ्रीकावासी भाइयों की इस संघर्ष में सहायता करने के लिए जी खोल कर चंदा दिया। महात्मा गाँधी, गोखले और स्वयं लार्ड

हार्डिंज ने इस आंदोलन में विशेष दिलचस्पी ली। कुछ समय बाद जनरल स्मट्स (Smuts) के समझौते के अनुसार इस आंदोलन का अंत हुआ और दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों पर लगाये गये अनेक प्रतिबन्धों को हटाने के लिए भारतीय सहायता कानून (Indian Relief Act, 1914) पास किया। महात्मा गाँधी अब भारत लौट आये।

नरम दल का पतन—यहाँ पर सन् १६०७ से सन् १६१४ ई० तक के काँग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रम का थोड़ा सा उल्लेख कर देना उचित होगा। इन सात वर्षों तक नरम तथा उग्र दलों का संघर्ष अनवरत चलता रहा। यह संघर्ष कभी उग्र रूप धारण कर लेता था और कभी धीमा पड़ जाता था, परन्तु बन्द कभी नहीं हुआ। नया दल अब भी जनता में सरकार-विरोधी प्रचार कर रहा था। इस समय काँग्रेस के सभी प्रस्तावों और अध्यक्ष-पद से दिए गये भाषणों का सम्बन्ध राजद्रोही सभा कानून (Seditious Meetings Act), फौजदारी कानून (Criminal Law Amendment Act) तथा समाचारपत्र कानून (Press Act) से होता था। वास्तव में इन्हीं कानूनों की आड़ लेकर नेताओं को बन्दी बनाया जा रहा था, उन्हें कारावास, निर्वासन आदि का दण्ड दिया जा रहा था और उनके समाचार पत्रों का मुँह बन्द किया जा रहा था। इस प्रकार देश से निर्वासित किये जाने वालों में लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वास्तव में लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह की गिरफ्तारी का कारण दूसरा ही था। पंजाब के तत्कालीन गवर्नर सर डेंज़िल इबट्सन (Sir Denzil Ibbetson) का शासन अत्यन्त प्रतिक्रियावादी तथा असन्तोषजनक था। इसी शासन के अन्तर्गत पंजाब के कुछ भागों को बसाने के लिए एक नया कानून (Punjab Colonisation Bill) बनाया जा रहा था। जनता ने उक्त दोनों नेताओं के नेतृत्व में इसके विरुद्ध आन्दोलन किया जिसके फलस्वरूप आन्दोलन के नेता गिरफ्तार कर लिए गये। उधर बङ्गाल में भी दमन-चक्र पूर्ववत् चल रहा था और अश्विनी कुमार दत्त, कृष्णकुमार मित्तर तथा अनेक और लोग कारागृहों में सड़ रहे थे। सभायें बलप्रयोग द्वारा भङ्ग कर दी जाती थीं और समाचार-पत्रों को अभियोग लगा कर बन्द कर दिया जाता था। **बन्देमातरम्**, सन्ध्या, **युगान्तर, नवशक्ति** आदि का प्रकाशन बन्द हो चुका था। इन परिस्थितियों के कारण इस समय काँग्रेस के अधिवेशन में भी अधिक उत्साह नहीं दिखाई पड़ता था। अंग्रेज़ झुक नहीं रहे थे परन्तु नरमदल के नेता उनसे भीख-सी माँग रहे थे। सन् १६११ ई० में सम्राट् के भारत आगमन के अवसर पर इन लोगों ने हृदय से उनका स्वागत किया परन्तु इसका भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। वास्तव में यही कुछ कम नहीं था कि मार्ले तथा इङ्गलैंड की उदार सरकार की सहायता से नरमदल वाले काँग्रेस को अपने अधिकार में किये थे। परन्तु काँग्रेस

का सन् १६१३ ई० का कराँची अधिवेशन एक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। प्रसिद्ध मुसलमान देशसेवी नवाब मोहम्मद बहादुर के सभापतित्व में इस अधिवेशन ने किसी सीमा तक हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य का अन्त कर दिया। इसी वर्ष मुस्लिम लीग ने भी घोषणा की कि उसका उद्देश्य भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की प्राप्ति है। इस घोषणा से काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच का अन्तर बहुत कम हो गया, क्योंकि काँग्रेस का लक्ष्य भी यही था कि "भारत स्वतन्त्र एवं संगठित साम्राज्य के स्व-शासित राज्यों के समकक्ष पहुँच जाय।"

सन् १६१४ ई० में पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ और अन्य मित्र-राष्ट्रों के साथ इङ्गलैंड ने भी घोषणा की कि यह युद्ध "संसार को जनतन्त्रवाद के लिए निष्कंटक बनाने के उद्देश्य से" लड़ा जा रहा था। इस घोषणा के बाद भारतीयों ने अनुभव किया कि युद्ध में इङ्गलैंड तथा मित्र-राष्ट्रों का साथ देना भारत का कर्तव्य होने के साथ-साथ देश के लिये हितकर भी होगा। युद्ध आरम्भ होने के थोड़े ही समय बाद तिलक को मुक्त कर दिया गया। उन्होंने भी अपने देशवासियों को इङ्गलैंड की यथा-शक्ति सहायता करने की सलाह दी। महात्मा गाँधी दक्षिणी अफ्रीका से लौट कर भारत आ चुके थे, उन्होंने हृदय से मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने का वचन दिया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस युद्ध में सम्पूर्ण काँग्रेस इङ्गलैंड के पक्ष में थी। इन नेताओं का अनुमान था कि युद्ध समाप्त होते ही भारत को स्वराज्य देने की दिशा में कोई बड़ा महत्वपूर्ण क़दम उठाया जायेगा।

'होम रूल' आन्दोलन—परन्तु सन् १६१५ ई० में भी न तो एकता थी और न कोई ऐसा विशेष प्रभावशाली नेता ही जो उसे सबल बना सकता। गोखले का स्वर्गवास हो चुका था और श्रीमती एनी बेसेंट को काँग्रेस में आये केवल एक वर्ष हुआ था। परन्तु इस एक वर्ष में ही उन्होंने यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। उन्हें काँग्रेस का बार-बार अंग्रेज़ों से प्रार्थना करना अच्छा नहीं लगता था। वास्तव में उनके प्रभाव में आकर ही काँग्रेस ने कहना आरम्भ किया था कि हम स्वराज्य का पुरस्कार नहीं माँगते, वह तो हमारा अधिकार है। सन् १६१५ ई० में उन्होंने काँग्रेस के दोनों दलों में समझौता कराने का बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हो सकी। इसके बाद लोकमान्य तिलक ने नरमदल के विरोध में राष्ट्रवादियों का संगठन आरम्भ किया। उन्होंने काँग्रेस के सम्मुख एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने का प्रस्ताव रक्खा जिसे काँग्रेस ने स्वीकार नहीं किया; इस पर अप्रैल सन् १६१६ ई० में उन्होंने होम रूल लीग (Home Rule League) की स्थापना की। इधर श्रीमती एनी बेसेण्ट ने भी नेताओं को एकत्रित करने तथा तात्कालिक 'होम रूल' की माँग के पक्ष में जनमत तैयार करने के उद्देश्य से एक नई राजनैतिक संस्था बनाने का

निश्चय किया था। अतएव उन्होंने भी सितम्बर सन् १६१६ ई० में मद्रास में एक दूसरी होमरूल लीग का उद्घाटन किया। इन दोनों संस्थाओं ने मिलकर देश के तात्कालिक स्वराज्य के लिये बड़े उत्साह से आन्दोलन चलाया।

सन् १६१६ ई० का वर्ष काँग्रेस के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण है। काँग्रेस की बागडोर अब श्रीमती एनी बेसेण्ट के हाथ में थी और वे ही 'होमरूल' आन्दोलन का परिचालन कर रही थीं। इस वर्ष लखनऊ के अधिवेशन में काँग्रेस के दोनों दल फिर मिलकर एक हो गये और लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय तथा चित्तरंजन-दास के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि नरमदल की स्थिति डाँवा-डोल लगने लगी। इसी वर्ष लखनऊ में काँग्रेस-लीग समझौते का बीज पड़ा जो आगे चल कर, परन्तु इसी वर्ष के भीतर, कलकत्ते में प्रतिफलित हुआ।

लखनऊ का समझौता—काँग्रेस-लीग समझौते की मुख्य माँगें तीन थीं—भारत के लिये स्वराज्य, भारत मन्त्री की कौंसिल का अन्त, तथा केन्द्र और प्रान्तों में कार्यकारिणी पर लोकसभाओं का अनुशासन। इतना इस समझौते में भी स्वीकार कर लिया गया था कि लोकसभाओं की सदस्य-संख्या का पाचवाँ भाग नामज़द सदस्यों का हो। इस स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम एकता प्राप्त करने के उतावलेपन में काँग्रेस ने एक बड़ी भारी भूल यह की कि उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Communal Representation), दीर्घानुपात (Weightage) तथा लोक-सभा के कार्यों में साम्प्रदायिक रोक (Communal Veto) के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। काँग्रेस ने मुसलमानों का पृथक प्रतिनिधित्व तो अवश्य स्वीकार कर लिया परन्तु अब उनके पास साधारण क्षेत्र वाला दूसरा मताधिकार नहीं रह गया था। जिस सिद्धान्त पर प्रतिनिधित्व के अनुपात का निश्चय किया जाना था वह इस प्रकार था: बङ्गाल तथा पंजाब आदि प्रान्तों में, जहाँ मुसलमानों का बहुमत था, उनके प्रतिनिधियों की संख्या अनुपात से थोड़ी कम रक्खी जाए और जिन प्रान्तों में उनका अल्पमत हो वहाँ उन्हें अनुपात से बहुत अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाए, जिससे वे लोकसभाओं की कार्यवाही में उचित तथा प्रभावपूर्ण भाग ले सकें। इस प्रकार बङ्गाल में जहाँ मुसलमानों की संख्या ५४·६ प्रतिशत थी उन्हें ४० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिलने की योजना थी; परन्तु संयुक्त प्रान्त में जहाँ उनकी संख्या केवल १४·३३ प्रतिशत थी, उन्हें ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व का अधिकार मिल रहा था। इस समझौते की एक शर्त यह भी थी कि "यदि किसी कौंसिल में किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रतिनिधियों की तीन-चौथाई संख्या विरोध कर रही हो तो उस सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित किसी प्रस्तावित कानून, या उसके किसी भाग, या किसी दूसरे प्रस्ताव को आगे न बढ़ाया जाए।" समझौता ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति के लिये भेजा गया और माँग की गई कि "भारत को दासता की अवस्था

से उठा कर उसे साम्राज्य के अन्य स्व-शासित उपनिवेशों के समान अधिकार दिए जायँ।"

हिन्दू-मुसलमान एकता से आन्दोलन की शक्ति बढ़ गई थी और श्रीमती एनी बेसेंट का 'होम रूल' आन्दोलन बहुत जनप्रिय हो रहा था। लोकमान्य तिलक का प्रसिद्ध वाक्य "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" देश भर में मन्त्र की भाँति दोहराया जा रहा था। सन् १६१७ ई० में आन्दोलन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। यह देख कर सरकार को बड़ी चिन्ता हुई, परन्तु वह अभी भारत को 'होम रूल' नहीं देना चाहती थी। अतएव उसने नेताओं को बन्दी बना कर तथा निर्वासन का दण्ड देकर आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न आरम्भ किया। मई सन् १६१७ ई० में 'होमरूल' सम्बन्धी सभाओं में भाषण देने के कारण तिलक से भी २०,००० रुपये के मुचलके माँगे गये। प्रान्तीय गवर्नरों ने अपने भाषणों में नेताओं को चेतावनी देना आरम्भ किया। श्रीमती एनी बेसेंट, वाडिया तथा अरुण्डेल को कारागृह में बन्द कर दिया गया। परन्तु जितना दमन किया गया, असन्तोष उतना ही बढ़ा और आग भी उतनी ही फलती गई।

सरकार की प्रतिक्रिया—अब सरकार ने उदार दल के नेताओं को प्रसन्न करने की युक्ति सोची। अतएव घोषणा की गई कि "सरकार का लक्ष्य है कि शासन के सभी अङ्गों में भारतीयों को अधिकाधिक भाग मिले और भारत में उत्तरदायित्व-पूर्ण स्व-शासन की नियमित प्राप्ति के उद्देश्य से देश में स्व-शासित संस्थाओं का विकास हो[1]।" इसके कुछ समय बाद भारत-मन्त्री मांटेग्यू ने लार्ड चेम्सफर्ड के साथ भारत का दौरा किया। इसी बीच उन्होंने भारत के लिए एक सुधार-योजना बनाने के उद्देश्य से भारतीय नेताओं से वार्तालाप भी किया। परन्तु इस प्रकार जो योजना बनी वह काँग्रेस-लीग समझौते के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। इस पर विचार करने के लिए काँग्रेस ने अगस्त सन् १६१८ ई० में एक विशेष अधिवेशन बुलाया। इस अधिवेशन ने सुधार-योजना को "निराशाजनक तथा असन्तोषपूर्ण" बताया। परंतु उदारवादी नेता इससे सन्तुष्ट थे, अतएव एक बार फिर काँग्रेस में फूट पड़ गई। नवम्बर सन् १६१८ में उदारवादियों ने काँग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद करके 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय उदार संघ' (All-India National Liberal Federation) नाम की अपनी अलग संस्था स्थापित की। काँग्रेस अब पूर्णतया उग्र दल के हाथों में आगई थी। अतएव सरकार भी उसे कुचलने के उपायों पर विचार करने लगी।

---

1. "The policy of His Majesty's Government......is that of the increasing association of Indians in every branch of administration and the gradual development of the self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India."

पांचवाँ अध्याय

असहयोग और स्वराज्य दल की नीति

(राष्ट्रीय आन्दोलन १९१९ से १९२९ तक)

जब इङ्गलैंड तथा जर्मनी के बीच पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ, भारतवर्ष अँग्रेज़ों की पूर्णरूप से सहायता करने के लिये तत्पर हो गया। भारत के सपूत जान हथेली पर रख युद्धक्षेत्रों में अँग्रेज़ों से कंधा भिड़ा कर लड़े। इसके अतिरिक्त भारत ने इङ्गलैंड की आर्थिक सहायता भी की। वाइसराय तथा इङ्गलैंड के प्रधान मन्त्री तक ने इस सहायता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मित्र-राष्ट्र पहले ही घोषणा कर चुके थे कि वे यह युद्ध जनतन्त्र सिद्धान्त की रक्षा तथा निर्बल जातियों के स्व-शासन अधिकार के लिए लड़ रहे हैं। अतएव भारतीयों को विश्वास था कि इस युद्ध के समाप्त होते ही उनकी दासता का भी अन्त हो जायगा और भारत को स्वाधीन राष्ट्र कहलाने का गौरव प्राप्त होगा। परन्तु दूरदर्शी प्रेक्षकों ने तभी समझ लिया था कि इन आदर्शवादी युद्ध-उद्देश्यों का लक्ष्य वास्तव में भारत की सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त करना है। अन्त में इनका भी वही परिणाम होगा जो अभी तक अंग्रेज़ों की सभी घोषणाओं का होता आया था। यद्यपि काँग्रेस बराबर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति श्रद्धा व्यक्त करती रही थी, तथापि यथार्थवादियों की समझ में नहीं आता था कि युद्ध में इतनी सहायता करने के बाद भारत बराबरी का दावा करते हुए उन राजनैतिक अधिकारों की माँग क्यों नहीं उठाता जो साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों को प्राप्त थे। सन् १९१४ से प्रति वर्ष काँग्रेस इस आशय के प्रस्ताव स्वीकार कर रही थी कि अब स्व-शासन की दिशा में यथेष्ट सुधार करने का समय आगया है। लखनऊ अधिवेशन के बाद से काँग्रेस के नेताओं का मतभेद दूर हो चुका था और स्वराज्य की माँग में मुस्लिम लीग भी उनके साथ थी।

सन् १९१८ के आरम्भ में ही इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री लायड जार्ज (Lloyd George) ने अधिक सहायता पाने के उद्देश्य से भारत को एक संदेश भेजा जिसमें भारत की बड़ी प्रशंसा की। इसके उत्तर में वाइसराय ने भारत की ओर से मित्रराष्ट्रों को पूरी-पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया। तत्पश्चात्, २७ अप्रैल सन् १९१८ को दिल्ली में एक युद्ध सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर सम्राट् ने एक सन्देश भेजा जिसका तात्पर्य यह था कि "साम्राज्य की आवश्यकता भारत के लिये एक सुअवसर है।" महात्मा गांधी ने इस सम्मेलन में भाग लिया और धन-जन से मित्रराष्ट्रों की सहायता करने का भरसक प्रयत्न किया। इतना सब होने पर भी अंग्रेज़ी सरकार

बंगाल की उन भयानक क्रांतिकारी दुर्घटनाओं तथा राजनैतिक डकैतियों को नहीं भूली थी जिनका दमन करने के उद्देश्य से उसने जन-जीवन की सारी सुविधायें हरण करने वाला कुप्रसिद्ध भारत रक्षा कानून लागू किया था। इसके अतिरिक्त पंजाब में भी गाँव-गाँव छानकर सेना में भरती करने के लिये ऐसे दुराग्रहपूर्ण साधनों का प्रयोग किया गया था कि उनकी याद युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी कसकती रही। सरकार की दोहरी नीति आरम्भ हो चुकी थी। इस नीति का एक स्वरूप, जो प्रचार मात्र के लिये था, भारत को स्वराज्य देने का प्रबन्ध करना था। इस दिशा में अंग्रेज़ों की नीति का उत्कृष्टतम उदाहरण था भारतमन्त्री मांटेग्यू का अगस्त सन् १९१७ का घोषणापत्र जिसमें उन्होंने भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के क्रमिक विकास की अपनी योजना प्रस्तुत की थी। परन्तु उनकी नीति का दूसरा स्वरूप भी था जिसके अंतर्गत उन्होंने भारत के क्रान्तिकारी कार्यों की समस्या का अध्ययन कर उसके दमन के साधन निश्चित करने के लिये सर सिडनी रौलट के सभापतित्व में एक कमीशन बैठाया था।

८ जुलाई सन् १९१८ को माण्टेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montagu-Chelmsford Report) तथा उसके थोड़े ही दिन बाद, १९ जुलाई सन् १९१८ ई० को रौलट कमीशन की रिपोर्ट (Rowlatt Commission Report) प्रकाशित हुई। रौलट कमीशन की रिपोर्ट में एक सुझाव इस आशय का भी था कि संदिग्ध क्रान्तिकारियों का अभियोग सुने बिना ही, एक 'जूडिशल बोर्ड' (Judicial Board) के आदेश मात्र पर, नज़रबन्द कर देने की व्यवस्था हो। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि भारत रक्षा कानून का अन्त हो जाने पर भी उसकी अत्याचारपूर्ण व्यवस्था का अन्त न हो। अतएव जिस समय सन् १९१८ ई० के अन्त में युद्ध विराम की घोषणा हुई, भारतीय वातावरण में गहरी अशान्ति व्याप्त थी। भारतीय उद्योग धन्धों की दशा शोचनीय थी। बेकारी बढ़ रही थी। किसान, मज़दूर तथा मध्य श्रेणी के लोग क्षुब्ध हो रहे थे। किन्तु सरकार की ओर से ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया जिससे लोगों का कष्ट दूर हो। "साम्राज्य की आवश्यकता" पूर्ण हो जाने पर भारत के साथ विश्वासघात किया जा रहा था, ऐसी लोगों की धारणा हो गई थी। सभी वर्गों में यह विश्वास प्रबल हो गया था कि सुधारों की बातचीत ऐसे ही समाप्त हो जायेगी और शीघ्र ही वह समय भी आने वाला है जब स्वराज्य पाना तो दूर रहा, भारतवासियों के लिये अपने घरों में शान्तिपूर्वक बैठना भी दुर्लभ हो जाएगा और क्रान्तिकारी आन्दोलन का नाम लेकर उनके चलने-फिरने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये जायेंगे। परन्तु रौलट रिपोर्ट के विषय में जनता का क्या मत है, सरकार ने इस प्रश्न पर विचार करने का भी कष्ट नहीं किया। उसने उक्त रिपोर्ट के आधार पर एक रौलट बिल बना कर फ़रवरी सन्

१६१६ में सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया और उसी वर्ष मार्च में यह बिल कानून बन गया।

महात्मा गान्धी का नेतृत्व—इस स्थल पर महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति के रंगमंच पर नायक रूप में प्रवेश किया। कार्यक्षेत्र में तो वे कुछ वर्ष पूर्व ही आ चुके थे और इस बीच उन्हें अपने उस अस्त्र को माँजने-सँवारने का अवसर भी मिल गया था जिसके प्रयोग से आगे चल कर भारत को स्वतन्त्रता मिली। वे चम्पारन (बिहार) में किसानों तथा अहमदाबाद में श्रमिकों का पक्ष लेकर सत्याग्रह आन्दोलन भो चला चुके थे। सन् १६१७ में जब देश में होमरूल आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था, गांधी जी थोड़े से कार्यकर्ताओं को साथ लेकर चम्पारन ज़िले के किसानों के कष्टों की जाँच कर रहे थे। उनके प्रयत्न से ही नील की खेती करने वाले किसानों के कष्ट दूर हुए। इसके उपरान्त सन् १६१८ में गाँधी जी ने अहमदाबाद के मज़दूरों को संगठित किया और उनके प्रयत्न से मज़दूरों की मज़दूरी में ३५% की वृद्धि हुई। अब सन् १६१६ में उन्होंने नौकरशाही को चेतावनी देते हुए वाइसराय महोदय से प्रार्थना की कि वे रौलट कानून को अपनी स्वीकृति न दें। साथ में उन्होंने चुनौती भी दी कि यदि उनकी बात नहीं मानी गई तो उन्हें सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह करने पर विवश होना पड़ेगा। परन्तु सरकार अभी सत्याग्रह के इस नये अस्त्र का महत्व नहीं समझती थी और रौलट कानून बन ही गया।

अप्रैल सन् १६१६ ई० से ३० जनवरी सन् १६४८ तक अपनी मृत्यु पर्यन्त महात्मा गान्धी भारतीय राजनीति का संचालन करते रहे। अहिंसा और सत्य उनके मूल-मंत्र थे और उनका नैतिक व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि थोड़े ही समय में उन्होंने सारे देश की श्रद्धा प्राप्त करली और भारतवासियों को पूर्ण विश्वास हो गया कि आरम्भ में चाहे जितनी असफलतायें मिलें, अन्ततः इसी मार्ग पर चल कर देश आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करेगा। गांधी जी ने कहा था: "इस आन्दोलन में सहस्रों स्त्री पुरुषों को कारागृह-वास करना होगा, स्वयं निःशस्त्र रहकर बिना हाथ उठाये लाठियों के प्रहार सहने होंगे, परन्तु अन्त में सफलता निश्चित है।" सारा देश उनके बताये मार्ग पर चलने के लिए सहर्ष तत्पर हो गया। वास्तव में जाति-धर्म की दीवारों के भीतर जाकर अपने देशवासियों के चरित्र तथा उनकी आत्मा को जैसा गांधी जी ने पहचाना वैसा कदाचित् ही कभी किसी ने पहचाना हो। और उन्होंने कांग्रेस को जनतन्त्रवादी स्वरूप देकर उसे जनता की संस्था बना दिया।

पहला सत्याग्रह आन्दोलन—रौलेट बिल के पास हो जाने पर गांधी जी ने घोषित किया कि इसके विरोध में वे सत्याग्रह करेंगे। सरकार के सामने ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आई थी। साथ ही जनता के लिए भी यह नया अस्त्र था जिसका प्रयोग इसके पूर्व देश में नहीं हुआ था। लेकिन जनता को गांधी जी पर विश्वास हो चला

था। वे चम्पारन में किसानों तथा अहमदाबाद में मज़दूरों का सफल नेतृत्व कर चुके थे। अत: जनता ने गांधी जी की घोषणा का स्वागत किया। गांधी जी ने अपना उद्देश्य-पत्र निकाल कर ३० मार्च का दिन देशव्यापी हड़ताल तथा व्रत, प्रार्थना और आत्म-शुद्धि के लिए निश्चित किया। बाद को यह तिथि बदल कर ६ अप्रैल कर दी गई। दिल्ली में इस तिथि परिवर्तन की सूचना नहीं पहुंच सकी। वहाँ ३० मार्च को ही जलूस भी निकले और हड़तालें भी हुईं। सत्याग्रह का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द ने किया। पुलिस ने गोली चलाई, जिसके परिणामस्वरूप ५ व्यक्ति मरे तथा अनेक आहत हुए। देश में सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व कर गांधी जी वास्तव में अत्यधिक अपमान एवं उपेक्षा से क्षुब्ध सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। गांधी जी का यह सत्याग्रह हमारे इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है। इस आन्दोलन में मुसलमान भी पूर्णतया हिन्दुओं के साथ थे और दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्ध इस समय जितने अच्छे थे वैसे कदाचित् ही कभी रहे हों। डा० राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में "यह पहला आन्दोलन था जिसमें अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित तथा नागरिक और ग्रामीण, सभी ने भाग लिया। ऐसा लगता था कि भारतीयों की शताब्दियों की नींद खुल गई हो और जगकर उन्होंने अनायास ही अपने भीतर छिपी हुई शक्ति का अनुभव किया हो। संक्षेप में, उन्होंने अपनी खोई हुई आत्मा को फिर पा लिया था।" इस नये आन्दोलन की भाषा तथा शैली सर्वथा नवीन थी। नरमदल के नेता इसका तात्पर्य ही सहीं समझ पाये और इस कारण कांग्रेस से पृथक हो गये।

इस आन्दोलन के साथ राष्ट्रीय अपमान तथा निराशा का ज्वालामुखी फूट निकला और देश अब परम शक्तिशाली साम्राज्य को चुनौती देने के साधन खोज रहा था। परन्तु जनता के इस अद्भुत सहयोग का मुख्य कारण भारत तथा एशिया के इतिहास के युद्धोत्तर युग की पराधीन परिस्थितियों में निहित था। इस समय भारतीय मध्यवर्ग की अवस्था नितान्त निस्सहाय थी, किसान आत्माभिमानहत तथा त्रस्त थे और श्रमिकवर्ग की दशा किसानों से किसी प्रकार अच्छी नहीं थी। साथ ही व्यापारी-वर्ग भी आन्दोलन के आर्थिक आधार को सुदृढ़ बनाने के लिये तत्पर था। सेना से निकले हुए सैनिकों पर, जो युद्धोपरान्त देश लौटे थे, अब किसी प्रकार का अनुशासन न था; और असन्तोष चारों ओर फैल रहा था। पश्चिमोत्तर सीमा पर अफ़गान युद्ध तथा खिलाफत के प्रश्न के फलस्वरूप मुसलमान भी अंग्रेज़ों से बहुत असन्तुष्ट थे। जिस समय महात्मा गांधी ने उपरोक्त कारणों से शक्ति संग्रह कर अंग्रेज़ों को ललकारा, पंजाब की परिस्थिति विशेष गंभीर हो रही थी। मँजे हुये प्रतिक्रियावादी सर माइकेल ओडायर (Michael O'Dwyer) उस समय वहाँ के गवर्नर थे। उन्होंने बढ़ने से पूर्व ही आग बुझा देने के उद्देश्य से डा० सत्यपाल तथा डा० किचलू को किसी अज्ञात स्थान

में नज़रबन्द कर दिया। युद्धोत्तर काल का पंजाब सरकार की हिंसा तथा बलप्रयोग की नीति को सिर झुका कर स्वीकार करने वाला नहीं था, अतएव नेताओं के गिरफ्तार होते ही सारे प्रान्त में अशांति फैल गई। पंजाब गोली का उत्तर गोली से देने को उत्सुक था। १० अप्रैल सन् १६१६ को नेशनल बैङ्क में आग लगा दी गई जिसमें आसपास के कुछ और घर भी जलकर स्वाहा हो गये और कुछ अंग्रेज़ों के प्राण भी गये। इस बढ़ती हुई हिंसा को रोकने के उद्देश्य से नेताओं ने महात्मा गांधी को पंजाब बुलाया परन्तु उन्हें राह में ही, पंजाब की सीमा पर, बन्दी बनाकर बम्बई वापस ले जाया गया।

जलियाँवाला बाग़ का हत्याकाण्ड—महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी ने आग में घी का काम किया। अहमदाबाद, नडियाद, लाहौर, अमृतसर तथा दिल्ली की जनता ने विरोध-प्रदर्शन किये जिसके फलस्वरूप झगड़े हुए और असन्तोष फैलने लगा। शीघ्र ही सारे देश का वातावरण गम्भीर हो गया। परन्तु दूसरी ओर भारत सरकार का दमन-चक्र भी पूरी निर्दयता के साथ चल रहा था और स्थान-स्थान पर जनता को आतंकित करने का प्रयत्न किया जा रहा था। अमृतसर की दुर्घटना सबसे अधिक भयानक तथा दु:खद हुई। १३ अप्रैल सन् १६१६ ई० को हिन्दुओं का संवत्सर पर्व था। इसके तीन दिन पूर्व पुलिस के एक गोलीकाण्ड में कई व्यक्ति आहत हुए थे। इस गोलीकाण्ड की निन्दा करने के उद्देश्य से लगभग २०,००० स्त्री, पुरुष तथा बच्चे जलियाँवाला बाग़ में एकत्रित हुए थे। जब सभा में हंसराज का भाषण हो रहा था, जनरल डायर (General Dyer) ५० अंग्रेज़ तथा १०० भारतीय सैनिकों को साथ लेकर सशस्त्र गाड़ियों में शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ धमका। बाग़ से बाहर जाने का एक ही मार्ग था, उसे जनरल डायर ने रोक दिया। तत्पश्चात्, बिना उचित चेतावनी दिये, उसने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि जब तक उनकी बारूद समाप्त न हो जाए वे गोली चलाते रहें। सरकारी अनुमान के अनुसार भी इस हत्याकाण्ड में लगभग ४०० नि:शस्त्र तथा शान्तिप्रिय व्यक्ति मारे गये और लगभग २,००० घायलों को निर्दयतापूर्वक असहाय अवस्था में उसी स्थान पर छोड़ दिया गया। अमृतसर का यह लोमहर्षक हत्याकाण्ड अंग्रेज़ों तथा भारतीयों के पारस्परिक सम्बन्धों का उतना ही महत्वपूर्ण दिशा-परिवर्तन है जितना सन् १८५७ का विद्रोह था। अब दोनों जातियों के मार्ग सदा के लिए अलग हो गये। अंग्रेज़ों का अत्याचार इसके बाद भी पूर्ववत् चलता रहा। लाहौर, अमृतसर तथा गुजराँवाला ज़िलों में सैनिक शासन अपनी पूरी नृशंसता के साथ चल रहा था। लोगों की सम्पत्ति हरण कर ली जाती थी, फाँसी पर लटकाया जाता था, सार्वजनिक स्थानों में कोड़े लगाये जाते थे, जेलों में ठूँस दिया जाता था, उन पर बमां तथा

मशीनगनों का प्रयोग किया जाता था और उन्हें पेट के बल रेंगाया जाता था। संक्षेप में, यह सचमुच आतंक की पराकाष्ठा थी।

इस घटना से सारा देश सहम गया परन्तु पंजाब में क्या हो रहा है, बाहर इसका ठीक-ठीक पता नहीं चल पाता था। सभी ओर ऐसा आतंक छाया था कि जनता के हार्दिक क्षोभ को स्वर मिलना भी कठिन हो रहा था। तब सर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इन अत्याचारों के विरोध स्वरूप अपनी उपाधि वाइसराय महोदय को लौटा दी। उनके इस कार्य से सारे संसार में हलचल मच गई। इसी समय सर शंकरन नायर ने भी वाइसराय की कौंसिल से त्यागपत्र देकर अपना विरोध प्रकट किया। इस पर सरकार ने इन घटनाओं की छानबीन के लिए लार्ड हंटर की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। यह समिति भी पंजाब में जनरल डायर द्वारा किए गये असंख्य अमानुषीय कृत्यों को अस्वीकार नहीं कर सकी। हन्टर कमीशन के एक सदस्य जस्टिस रेंकिन ने जनरल डायर से पूछा कि उन्होंने डर के कारण तो गोली नहीं चलवाई। इस पर जनरल डायर ने कहा, "नहीं, ऐसा नहीं था। मुझे भयानक कर्तव्य पालन करना पड़ा। मैं समझता हूँ कि मैंने दया का व्यवहार किया। मैं चाहता था कि अच्छी तरह से और ज़ोरों से गोली चलाऊँ, जिससे फिर कभी मुझे या और किसी को गोली न चलाना पड़े। मैं समझता हूँ सम्भवत: बिना गोली चलाये ही मैं भीड़ को तितर-बितर कर देता, लेकिन वे फिर वापस आते और मुझ पर हँसते और मैं समझता हूँ कि ऐसा करने से मैं अपने को ही मूर्ख बनाता।" यह स्मरण रहे ये शब्द जनरल डायर के ही हैं। इस पर भी उसे पुरस्कार स्वरूप अनेक उपाधियों से विभूषित किया गया तथा अत्याचार के अपराधी अन्य अधिकारियों की रक्षा के लिए एक कानून (Indemnity Bill) बना दिया गया। इङ्गलैंड की लोकसभा के उत्तर-आगार (Upper House), 'हाउस आफ लार्ड्स' ने जनरल डायर के अपराधों की लीपापोती कर दी और इङ्गलैंड की जनता ने चन्दा करके उन्हें एक थैली भेंट की।

खिलाफत का प्रश्न—जलियाँवाले बाग़ के हत्याकाण्ड के कुछ मास पश्चात् ही खिलाफत आन्दोलन चला। यह दूसरा प्रश्न था जिससे महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हुई। मित्र-राष्ट्रों ने टर्की के सुल्तान के साथ बड़ा अन्याय किया था। संसार भर के मुसलमान टर्की के सुल्तान को अपने धर्म का रक्षक—खलीफा—मानते थे, अतएव महायुद्ध के उपरान्त होने वाली संधि द्वारा टर्की साम्राज्य के विनष्ट किए जाने का समाचार पाने पर मुसलमान जगत की धार्मिक भावनाओं को भारी धक्का लगा। युद्ध में टर्की अंग्रेज़ों के विरोध में था परन्तु भारत के मुसलमानों ने उनका साथ यह समझ कर दिया था कि अंग्रेज़ उनके धर्म-स्थानों की रक्षा करेंगे। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर मुसलमानों को टर्की के भविष्य के विषय में

चिन्ता हुई। वे देख रहे थे कि अधिकतर योरुपीय राष्ट्र, जिनमें इङ्गलैंड भी सम्मिलित था, इस्लाम के नाश का षड्यन्त्र रच रहे हैं। और उनकी यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। सेवरेस (Sevres) की संधि के अनुसार टर्की के साम्राज्य को विभाजित कर दिया गया तथा मुसलमानों के धर्म-स्थान विधर्मियों को दे दिए गये। इस संधि से भारत के मुसलमानों को बड़ा असन्तोष हुआ। ठीक इसी समय हंटर कमेटी की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई। फिर क्या था, सारे भारत में आग सुलग उठी। बम्बई में खिलाफत कमेटी की बैठक हुई जिसमें मुसलमानों ने महात्मा गाँधी की सलाह मान कर अंग्रेज़ों के साथ असहयोग करने का निश्चय किया। ३० मई सन् १६२० को हंटर रिपोर्ट तथा सेवरेस की संधि के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थिति पर विचार करने के लिए बनारस में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की एक बैठक हुई जिसमें सरकार की क्रूरता और अन्याय के लिए उसके प्रति घृणा का प्रस्ताव पास किया गया तथा यह निश्चय किया गया कि असहयोग के प्रश्न पर अन्तिम निर्णय करने के लिए काँग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। ३० जून सन् १६२० ई० को हिन्दू मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा इलाहाबाद में हुई। इसमें वाइसराय को उचित चेतावनी देने के बाद असहयोग के अस्त्र का प्रयोग करने का निश्चय किया गया। देश के विभिन्न भागों में अन्य दलों की कितनी ही सभाओं में भी खिलाफत तथा पंजाब के प्रश्नों पर न्याय की माँग की गई। ३१ अगस्त को खिलाफत दिवस मनाया गया। इस अवसर पर महात्मा गाँधी ने अपना क़ैसरे-हिन्द स्वर्ण पदक लौटाते हुए वाइसराय को लिखा—"पिछले कुछ महीनों की घटनाओं से मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है कि खिलाफत के विषय में सरकार का व्यवहार अनुचित, अन्याय-पूर्ण तथा अनैतिक रहा है और अपनी अनैतिकता को छिपाने के प्रयत्न में उसने एक के बाद दूसरी भूलें की हैं। ऐसी सरकार के प्रति मेरे मन में न श्रद्धा सम्भव है, न प्रेम। पंजाब के विषय में इङ्गलैंड तथा आपकी सरकार का जो दृष्टिकोण रहा है उससे मुझे और अधिक असन्तोष हुआ है। अधिकारियों के अपराधों की ओर आपने समुचित ध्यान नहीं दिया और सर माइकेल ओडायर को निर्दोष छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त मांटेग्यू महोदय की उतावली और उनका पंजाब-सम्बन्धी घटनाओं का अज्ञान, भारतीय जनमत की उपेक्षा तथा हाउस आफ लार्डस का विश्वासघात, आदि बातों ने मुझे वर्तमान सरकार से बहुत दूर कर दिया है और इस योग्य नहीं रखा कि मैं पहले की भाँति पूरे हृदय से, आपकी सेवा में अपना विनीत सहयोग उपस्थित कर सकूँ।"

असहयोग आन्दोलन—३१ अगस्त सन् १६२० ई० को महात्मा गाँधी तथा अलीबन्धु देश के दौरे पर निकले और यहीं से असहयोग आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। खिलाफत-दिवस के थोड़े ही दिन बाद ४ से ६ सितम्बर तक कलकत्ते में

काँग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें लाला लाजपतराय ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इस अधिवेशन के सामने मुख्य प्रश्न आगामी कार्यक्रम के विषय में निर्णय करना था। काँग्रेस पहली बार वैधानिक संघर्ष की पहचानी राह छोड़ कर असहयोग की ओर पाँव बढ़ा रही थी, अतएव थोड़ा सा अनिश्चय स्वाभाविक ही था। विषय-समिति की बैठक में चित्तरंजनदास के विरोध के फलस्वरूप गाँधी जी के प्रस्ताव की उग्रता कम हो गई, तथापि ८०० के विरुद्ध २००० के बहुमत से काँग्रेस ने असहयोग की नीति को स्वीकार कर लिया। यह स्मरणीय प्रस्ताव लम्बा होते हुए भी, काँग्रेस के परिवर्तित दृष्टिकोण का संक्षिप्त व्यक्तीकरण होने के कारण उद्धरणीय है। पूरा प्रस्ताव इस प्रकार था—

"क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत तथा साम्राज्य दोनों की सरकारें भारतीय मुसलमानों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में पूर्णतया असफल रही हैं, और प्रधान मन्त्री ने अपना दिया हुआ आश्वासन जानबूझ कर भङ्ग कर दिया है; और क्योंकि प्रत्येक ग़ैर मुसलमान का कर्तव्य हो जाता है कि इस धार्मिक विपत्ति से त्राण पाने के प्रयत्न में अपने मुसलमान भाई की प्रत्येक उचित रीति से सहायता करे; और क्योंकि अप्रैल सन् १६१६ की दुर्घटना के सम्बन्ध में उपरोक्त दोनों सरकारों ने पंजाब की निरपराध जनता की रक्षा करने, तथा उन अपराधियों को दण्ड देने में जो जनता के प्रति असैनिक एवं अमानुषिक व्यवहार के अपराधी हैं, नितान्त उपेक्षा का प्रदर्शन किया है, या सफलता नहीं प्राप्त की है, और उन्होंने सर माइकेल ओडायर को निर्दोष घोषित किया है जब कि वास्तव में अधिकतर अपराधों का उत्तरदायित्व उन पर ही था और उन्होंने अपने द्वारा शासित जनता के क्लेशों के प्रति निर्दय उपेक्षा का प्रदर्शन किया था; और क्योंकि 'हाउस आफ कामन्स,' और उससे भी अधिक 'हाउस आफ लार्ड्स' की बहस से यह दुखद सत्य स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जनता के साथ उन्हें किंचित् सहानुभूति नहीं है और वे वस्तुत: उस नियमित आतंकवाद एवं नृशंसता के समर्थक हैं जिसका पंजाब में प्रदर्शन किया गया था, और क्योंकि वाइसराय महोदय का नवीनतम वक्तव्य इस बात का प्रमाण है कि खिलाफत तथा पंजाब के विषय में उनके हृदय में तनिक भी पश्चाताप नहीं है, अतएव इस काँग्रेस का विश्वास है कि इन दो अन्यायों के समाधान के बिना भारत में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा तथा भविष्य में ऐसे अत्याचारों की पुनरावृत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय स्वराज्य की स्थापना ही है।

"और भी, इस काँग्रेस के विचार में भारत की जनता के लिये इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया है कि वह प्रगतिशील एवं अहिंसात्मक असहयोग की नीति का समर्थन करे तथा उस समय तक पालन करती रहे जब तक अन्यायों का समाधान होकर स्वराज्य की स्थापना न हो जाये।

"और क्योंकि इसका आरम्भ भी उन्हीं वर्गों से होना उचित है जो अभी तक जनमत का निर्माण एवं प्रतिनिधित्व करते आये हैं, और क्योंकि सरकार अपनी शक्ति का संगठन लोगों को उपाधियाँ देकर, तथा अपने विद्यालयों, न्यायालयों एवं अपनी धारासभाओं के माध्यम से करती है; और क्योंकि आन्दोलन की वर्तमान स्थिति में यह वांछनीय है कि लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कम से कम खतरा उठाया जाए और कम से कम बलिदान की अपेक्षा की जाये; अतएव यह काँग्रेस जनता को परामर्श देती है कि :—

"(१) उपाधियां एवं अवैतनिक पदों का त्याग दिया जाये और स्थानीय संस्थाओं की सरकारी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया जाये;

(२) सरकारी दरबारों तथा अन्य सरकारी अथवा अर्धसरकारी उत्सवों में, जिनका आयोजन सरकारी अधिकारियों द्वारा या उनके सम्मान में हुआ हो, भाग न लिया जाये;

(३) वर्तमान विद्यालयों एवं महाविद्यालयों से विद्यार्थियों को धीरे-धीरे निकाल कर विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना की जाये;

(४) वकील तथा न्यायार्थी दोनों ही अंग्रेजी सरकार के न्यायालयों का क्रमशः बहिष्कार करें और आपसी झगड़ों का निर्णय करने के लिये जनता की पंचायतें बनाई जायँ;

(५) सैनिक, कर्मचारी तथा श्रमिक वर्ग मैसोपोटामिया जाकर नौकरी करने से इन्कार कर दें;

(६) नये सुधारों के अन्तर्गत निर्मित कौंसिलों के अभ्यर्थी अपने नाम वापस ले लें, और यदि कुछ लोग काँग्रेस की परामर्श न मान कर निर्वाचन के लिये खड़े हो हों, तो मताधिकारी उन्हें अपना मत न दें;

(७) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाये।

"और क्योंकि असहयोग आन्दोलन की योजना अनुशासन तथा आत्म-बलिदान का उद्देश्य लेकर बनाई गई है और इन गुणों के बिना कोई देश वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता; और क्योंकि आन्दोलन के आरम्भ में प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा बच्चे को अनुशासन एवं आत्म-बलिदान के अभ्यास का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिये; अतएव यह काँग्रेस परामर्श देती है कि सूती कपड़ों के सम्बन्ध में स्वदेशी का सिद्धान्त अपने विस्तृत रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिये; और क्योंकि स्वदेशी पूंजी तथा व्यवस्था से चलने वाले देशी कारखाने राष्ट्र की आवश्यकता भर का सूत और कपड़ा नहीं बनाते हैं, और न सम्भवतः बहुत दिनों तक बना सकेंगे, यह काँग्रेस परामर्श देती है कि प्रत्येक घर में सूत कातने की प्रथा फिर से चला कर, और लाखों जुलाहों को, जो प्रोत्साहन न मिलने के कारण अपना प्राचीन तथा सम्मानपूर्ण

व्यवसाय छोड़ बैठे हैं, फिर हाथ से कपड़ा बुनने की प्रेरणा देकर शीघ्र बड़े परिमाण में कपड़ा बनाने की व्यवस्था की जाये।"

संक्षेप में, इस प्रस्ताव के अन्तर्गत भारतीयों से प्रार्थना की गई थी कि वे उपाधियां और सरकारी पदों को त्याग दें, सरकारी स्कूल-कालेजों से अपने बच्चों को धीरे-धीरे निकाल लें, न्यायालयों का वहिष्कार करें, कौंसिलों तथा स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता से त्यागपत्र दे दें, विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार करें, तथा मेसोपोटामिया जाकर सेना की नौकरी न करें। और इस सारे कार्यक्रम की आधार-शिला अहिंसा थी। इस प्रकार कांग्रेस का विश्वास बदला, कांग्रेस की नीति परिवर्तित हुई तथा उसमें आमूल परिवर्तन हुआ। इसका सारा श्रेय गांधी जी को है। वे भारतीय राष्ट्रीय इतिहास में प्रथम बार क्रान्तिकारी ढंग से जननायक के रूप में आए।

दिसम्बर सन् १९२० ई० में नागपुर के साधारण अधिवेशन में कांग्रेस ने कलकत्ते के प्रस्तावों का पुन: समर्थन किया और इस प्रकार वैधानिक आन्दोलन का पथ सदा के लिये पीछे छूट गया। बादल घिर रहे थे, असहयोग की घड़ी निकट आ रही थी, ऐसे समय में नरम-दल ने कांग्रेस से अन्तिम बिदा लेकर अपनी 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' नाम की अलग संस्था स्थापित की। इधर, गांधी जी के प्रस्ताव पर कांग्रेस के विधान में भी नई परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया गया। नागपुर की कांग्रेस ने अखिल भारतीय तिलक स्मारक निधि के लिये एक करोड़ रुपया एकत्रित करने का भी निश्चय किया। जनता ने भी चन्दा देने में प्रशंसनीय तत्परता का प्रदर्शन किया।

गांधी जी का असहयोग आन्दोलन सार्वदेशिक रूप लेकर चला था। जीवन के प्रत्येक अंग पर इसकी छाप पड़ी। जनता के सामने नया प्रोग्राम था और उसे नये प्रकार का नेता मिला था। इसलिए नये उत्साह और साहस के साथ जनता ने आन्दोलन में भाग लिया। आन्दोलन दावाग्नि के वेग से फैलने लगा। नई धारा-सभाओं के वहिष्कार का कार्यक्रम अधिक सफल नहीं हो सका, क्योंकि जनता के सच्चे प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में नवाब-ताल्लुकेदार, उपाधि-प्राप्त रईस-ज़मींदार, वकील, साहूकार और व्यापारी धारासभाओं के सदस्य बन गये और इस प्रकार यह धारासभायें जनमत से बहुत दूर हो गईं। परन्तु दूसरी दिशाओं में आन्दोलन को अभूतपूर्व सफलता मिली। नागपुर कांग्रेस के बाद ही चित्तरंजनदास ने अपनी चलती हुई वकालत छोड़ दी और बङ्गाल के विद्यार्थियों को विद्यालयों से बाहर आकर आन्दोलन में भाग लेने के लिये ललकारा। इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और सुभाष बोस तथा प्रफुल्ल-चन्द्र घोष सरीखे उत्साहियों ने अपना उज्ज्वल भविष्य भी स्वतन्त्रता के दाँव पर लगा दिया। संयुक्त प्रान्त में पंडित जवाहरलाल नेहरू आन्दोलन के नेता थे। सहस्रों की संख्या में विद्यार्थियों ने अपने विद्यालय छोड़ दिये और देश के प्रत्येक भाग में राष्ट्रीय

विद्यालयों की स्थापना हुई। इनमें अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बङ्गाल का राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, तिलक महाविद्यापीठ इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कितने ही वकीलों ने वकालत छोड़ दी; पंचायतों की स्थापना हुई और अंग्रेज़ी के न्यायालय उजड़ने लगे। खद्दर और स्वदेशी का यथेष्ट प्रचार हुआ और अमीर-गरीब सभी ने चरखा कातना आरम्भ कर दिया। मादक पदार्थों के विरुद्ध भी आन्दोलन हुआ जिससे सरकार को आबकारी की आय में भारी घाटा पहुँचा। मादक द्रव्यों का बायकाट तथा पिकेटिंग करते हुए काँग्रेस तथा सरकार के बीच धारवार, मातियान, गुण्टूर, केराला आदि स्थानों पर मुठभेड़ भी हुई जहाँ पर सरकार ने अनेक अत्याचार किए।

सन् १६२१ ई० में पूरे वर्ष भर आन्दोलन अप्रत्याशित सफलता के साथ बढ़ता रहा और लगता था कि शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य हिल उठेगा। इसी वर्ष आसाम-बङ्गाल रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल, मिदनापुर में लगानबन्दी आन्दोलन तथा मलाबार प्रदेश में मोपला (मुसलमानों में एक कट्टर धार्मिक वर्ग) विद्रोह की घटनायें हुईं। जनवरी सन् १६२१ में कैनाट के ड्यूक नई धारा सभा का उद्घाटन करने भारत आये। परन्तु उनके आगमन का स्वागत सभी स्थानों में हड़तालों द्वारा किया गया। फरवरी में ननकाना की दुर्घटना हुई जिसमें लगभग २०० सिखों के प्राण गये। इस दुर्घटना में ब्रिटिश सरकार ने धनाढ्य महन्तों का पक्ष ले कर अकालियों का दमन किया। मार्च से सरकार का दमनचक्र सभी जनसेवी संस्थाओं के विरुद्ध निष्ठुर वेग के साथ घूमने लगा। राजद्रोही सभा कानून (Seditious Meetings Act) लागू कर दिया गया और मद्य-निषेध आन्दोलन में भाग लेने वाले सहस्रों भारतीयों को पकड़-पकड़ कर जेलों में भर दिया गया। परन्तु भारतीय इसके लिये तैयार थे। लगभग ३०,००० व्यक्तियों ने सहर्ष जेल-यातना स्वीकार की और सैकड़ों ने अपनी उपाधियाँ त्याग दीं। मई में गांधी-रीडिंग वार्ता हुई जिसके फलस्वरूप अली-बन्धुओं ने आश्वासन दिया कि जब तक उनका सम्बन्ध इस आन्दोलन से रहेगा, वे किसी प्रकार हिंसा का प्रचार न करेंगे। जुलाई में अखिल-भारतीय काँग्रेस कमेटी ने युवराज के स्वागत में भाग न लेने का निश्चय किया। अतएव १७ नवम्बर १६२१ ई० को जब भारत में युवराज का आगमन हुआ, सारे देश में हड़ताल मनाई गई। स्थिति की गम्भीरता बढ़ती ही जा रही थी। युवराज जहाँ-जहाँ गये जीवनहीन नगरों ने उनका स्वागत किया और बहुत से विदेशियों को उस दिन विवश होकर व्रत रखना पड़ा क्योंकि होटलों के नौकर भी हड़ताल पर थे। अली-बन्धु पहले ही पकड़े जा चुके थे। दिसम्बर सन् १६२१ ई० में पंडित मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास, लाला लाजपतराय, मौलाना आज़ाद, इत्यादि भी बन्दी बना लिये गये। तथापि

लार्ड रीडिंग के युवराज का हार्दिक स्वागत कराने के सारे प्रयत्न असफल रहे और उन्हें निराश होकर इङ्गलैण्ड लौट जाना पड़ा।

दिसम्बर सन् १९२१ ई० में अहमदाबाद में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। काँग्रेस ने असहयोग नीति का एक बार फिर समर्थन करते हुए निश्चय किया कि सरकार की दमन-नीति को देखते हुए काँग्रेसजनों को उचित है कि वे शान्तिपूर्वक गिरफ्तारी के लिए प्रस्तुत रहें तथा सविनय अवज्ञा की तैयारी करते रहें। इसी अधिवेशन में महात्मा गाँधी को काँग्रेस का डिक्टेटर भी नियुक्त किया गया। इधर सरकार की दमन-नीति और भी कठोर हो गई थी। परन्तु काँग्रेस का आन्दोलन उसकी उपेक्षा करता हुआ पूर्ववत् चल रहा था। आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है—"जब से भारत का सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ स्थापित हुआ, उसके इतिहास में जनता का क्षोभ तथा उत्साह इस सीमा तक पहले कभी नहीं पहुँचा था। इस दीर्घकाल में देश को अपने इतने अधिक सुपुत्रों की स्नेहपूर्ण तथा अडिग सेवा पहले कभी नहीं प्राप्त हुई थी। जनता का अपनी योग्यता तथा अपनी कठिनाइयाँ स्वयं दूर कर लेने की क्षमता में इतना प्रबल विश्वास पहले कभी नहीं रहा था[1]।"

अहमदाबाद काँग्रेस के उपरान्त जनवरी, १९२२ में देश के नेताओं का एक सम्मेलन बम्बई में हुआ। काँग्रेस की ओर से केवल गाँधी जी इसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सरकार और काँग्रेस में समझौता हो जाय। यह निश्चय हुआ कि जब तक समझौते की बात चलती रहे तब तक अहमदाबाद काँग्रेस द्वारा निश्चित सत्याग्रह आन्दोलन रोक दिया जाय। असहयोगियों तथा दूसरे बन्दियों को छोड़ने का भी प्रस्ताव पास हुआ। सरकार की अत्याचारपूर्ण नीति का विरोध किया गया और शीघ्र ही एक गोलमेज़ सम्मेलन की माँग पेश की गई जिसके द्वारा खिलाफत, पंजाब हत्याकाण्ड और स्वराज्य का प्रश्न हल किया जाय। काँग्रेस की कार्यकारिणी ने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। परन्तु वाइसराय ने समझौते की शर्तों को मानना अस्वीकार कर दिया।

चौरीचौरा में हिंसा का प्रयोग—इस पर पहली फरवरी सन् १९२२ को महात्मा गाँधी ने लार्ड रीडिंग को इस आशय का एक पत्र लिखा कि सात दिन की

---

1. "Never before in the history of India, since its connection with Britain, had popular indignation and popular enthusiasm been greater. Never before during this long period had the country secured the loving and ungrudging services of so many of her sons. Never before had the faith of the people in themselves and in the country's ability to solve its own difficulties burned brighter." [Rajendra Prasad]

चेतावनी की अवधि के भीतर यदि सरकार की दमन-नीति में परिवर्तन न हुआ तो बारदोली में जनता का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायगा। बारदोली सूरत ज़िले में एक छोटा सा तालुका है। गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए बारदोली को इसलिए चुना कि वहाँ की जनता ने काँग्रेस की सारी शर्तें मान ली थीं। परन्तु सात दिन की अवधि व्यतीत भी नहीं हो पाई थी कि ५ फरवरी को संयुक्त प्रान्त के चौरीचौरा नामक स्थान से एक दुर्घटना का दु:खद समाचार मिला जिसके फलस्वरूप असहयोग आन्दोलन अचानक ही स्थगित कर दिया गया। गोरखपुर के निकट इस छोटे से स्थान में प्रदर्शनकारियों की भीड़ ने नियन्त्रण के बाँध तोड़कर पुलिस के थाने में आग लगा दी जिसके फलस्वरूप २१ सिपाही और १ दरोगा जीवित ही भस्म हो गये। गाँधी जी ने तुरन्त आन्दोलन स्थगित कर दिया और कहा कि मैंने ऐसे लोगों को संघर्ष में भाग लेने का बुलावा देकर ही भारी भूल की जिनमें अधिकतर वास्तव में सत्याग्रही नहीं थे। १२ फरवरी को बारदोली में काँग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई और बहुत विरोध होने पर भी गाँधी जी का निश्चय स्वीकार कर लिया गया। पं जवाहरलाल नेहरू ने भी स्वीकार किया है कि ऊपरी शक्ति तथा विस्तृत उत्साह होने पर भी सन् १९२२ ई० का आन्दोलन समाप्तप्राय ही था। यदि यह "चलता रहता तो जनता में हिंसा की प्रवृत्ति भी बढ़ती जिसका दमन सरकार बड़े भयानक ढङ्ग से करती।" परन्तु चितरजनदास और सुभाष बोस का मत इससे भिन्न था। उनका विचार था कि "जब उत्साह चरम सीमा पर था ऐसे समय पीछे हटने की आज्ञा देना महान् राष्ट्रीय दुर्भाग्य था।" अस्तु, आन्दोलन के इस प्रकार स्थगित हो जाने से जनता का उत्साह फीका पड़ गया। किन्तु दबी हुई हिंसा-वृत्ति को बाहर निकलना ही था, अतएव स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे।

१० मार्च सन् १९२२ ई० को महात्मा गाँधी गिरफ्तार कर लिए गये। उनके विरुद्ध विद्रोह-प्रचार का अभियोग लगाया गया। न्यायाधीश के सम्मुख अपना इतिहास-प्रसिद्ध वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा—"मैं जानता हूँ कि मैं आग से खेल रहा था, फिर भी मैंने यह खतरा मोल लिया और यदि मुक्त कर दिया जाऊँ तो फिर वैसा ही करूँगा। ऐसा न करना मैं कर्तव्य पथ से विचलित होना समझता हूँ। यह मेरे धर्म का अन्तिम सिद्धान्त है[1]।" १८ मार्च सन् १९२२ ई० को उन्हें ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। परन्तु स्वास्थ्य बहुत खराब हो जाने के कारण अवधि समाप्त होने के पूर्व ही, ५ फरवरी सन् १९२४ ई० को उन्हें मुक्त कर दिया गया। तथापि, चितरंजन-दास, सुभाष बोस, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, इत्यादि नेताओं के प्रबल

1. "I know I was playing with fire. I ran the risk and, if I were set free, I would still do the same. I would be failing in my duty, if I do not do so. It is the last article of my faith." [Mahatma Gandhi]

विरोध करने पर भी सविनय अवज्ञा का अन्त हो गया और असहयोग हवा में उड़ गया। अब जाकर सरकार ने सुख की साँस ली।

कहा जा सकता है कि गाँधी जी का पहला असहयोग आन्दोलन अपने मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सका। उससे अंग्रेज़ी सरकार को हल्का सा धक्का अवश्य लगा, परन्तु स्वराज्य का स्वप्न स्वप्न ही रह गया। फिर भी आन्दोलन की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में इसे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। अब राजनैतिक आन्दोलन का स्तर ऊंचा हो गया था और जनता में जागृति आ गई थी। भारतीय राजनीति ने वैधानिक पचड़ों से निकल कर सक्रिय आन्दोलन की राह पकड़ ली थी और बिखरी हुई राष्ट्रीय शक्ति एकत्रित तथा संगठित हो गई थी। जनता ने समझ लिया था कि अपने शस्त्रास्त्रों के कारण सरकार बलशाली भले ही लगती हो, परन्तु यदि राष्ट्र एक बार स्वतन्त्र होने तथा इस स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करने का निश्चय कर ले, तो सरकार को उसके सामने झुकना ही पड़ेगा।

स्वराज्य दल का कार्य—असहयोग आन्दोलन की ऊपरी असफलता से काँग्रेस के कुछ प्रमुख नेताओं को कौंसिल-बहिष्कार भी निरर्थक जान पड़ने लगा। काँग्रेस में एक शक्तिशाली पक्ष यह सोचने लगा था कि काँग्रेस को कौंसिलों में जाकर वहाँ से असहयोग करना चाहिए। चितरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू इस दल के नेता थे। यह दल आगे चलकर स्वराज्य-दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसके नेताओं ने जुहू में गाँधी जी से मिलकर उनका आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया। परन्तु गाँधी जी को इस दिशा में अधिक आशा नहीं थी। सन् १९२४ में काँग्रेस का बेलग्राम अधिवेशन उनके सभापतित्व में हुआ और उस समय तक स्वराज्यवादी भी काँग्रेस के साथ ही थे। अब भारतीय राजनीति में पुनः दो दल उठ खड़े हुए (१) अपरिवर्तनवादी जो गाँधी जी के पक्षपाती तथा असहयोग के समर्थक थे; और (२) परिवर्तनवादी या स्वराजिस्ट जो नए सुधारों के अन्तर्गत निर्मित कौंसिलों में प्रवेश कर वैधानिक आंदोलन द्वारा उन्हें विनष्ट करना चाहते थे। स्वराज्य दल के नेता गाँधी जी का सम्मान करते हुए भी राजनीति में उनके विरोधी थे।

स्वराज्य-दल के जन्म का कारण असहयोग आन्दोलन की असफलता ही नहीं अपितु इस दल के समर्थकों का असहयोग आन्दोलन तथा गाँधी जी के नैतिक सिद्धान्तों में अविश्वास था। पार्टी के उद्देश्यों की व्याख्या देशबन्धु चितरंजनदास ने सन् १९२५ ई० में बङ्गाल की विधान सभा में भाषण देते हुए इस प्रकार की थी, "यह कहा गया है कि हमारा नारा है 'नष्ट करो, नष्ट करो।'······हम नष्ट करना क्यों चाहते हैं? हम किससे मुक्त होना चाहते हैं? हम उस परिपाटी को नष्ट करना तथा उससे मुक्त होना चाहते हैं जो हमारे लिए हितकर नहीं है, और न हो ही सकती है। हम उसे नष्ट करना चाहते हैं, क्योंकि हम उसके स्थान पर एक ऐसी परिपाटी

का निर्माण करना चाहते हैं जो सफलतापूर्वक कार्य कर सके और सार्वजनिक हित में सहायता पहुँचाए[1] ।" स्वराज्य दल के समर्थकों का कहना था कि देश सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए तैयार नहीं है और असहयोगियों को चुनावों में भाग लेना चाहिए। यदि इन चुनावों में वे बहुमत प्राप्त कर सकें तो उन्हें चाहिए कि सरकार की प्रत्येक योजना का विरोध करें और यदि वे अल्प संख्या में हों तो उन्हें धारासभाओं के कार्यक्रम में कोई भाग नहीं लेना चाहिए। उनका विचार द्वैध शासन को आंतरिक विरोध द्वारा नष्ट करने का था। उनके विध्वंसात्मक कार्यों में बजट (budget) की माँगों तथा सरकारी नियमों का विरोध करना और रचनात्मक कार्यों में स्वराज्य के लिए प्रयत्न करना तथा राष्ट्रीय भावना को जागृत और नौकरशाही का अन्त करने वाले प्रस्तावों को रखना था। विधान सभाओं के बाहर वे गाँधी जी के चर्खा, हरिजनोद्धार तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि रचनात्मक कार्यों का पूर्ण समर्थन करते थे।

बेलग्राम काँग्रेस के बाद स्वराज्य पार्टी का प्रोग्राम ही काँग्रेस का प्रोग्राम हो गया। गांधी जी ने देखा कि देश में राजनैतिक वातावरण अच्छा नहीं है। स्थान-स्थान पर दंगे हो रहे हैं और साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ता जा रहा है। अतः उन्होंने असहयोग की बात बन्द कर दी, क्योंकि उस समय की स्थिति में कोई भी सक्रिय राजनैतिक आन्दोलन चलाना कठिन था। कौंसिल विरोध स्थगित कर दिया गया और काँग्रेस के बड़े-बड़े नेता चुनाव में खड़े किये गये। चुनावों में स्वराज्य दल को बंगाल तथा मध्य प्रदेश में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। परन्तु अन्य प्रांतों तथा केन्द्र में उन्हें बहुमत न मिल सका। बंगाल में स्वराज्य पार्टी के नेताओं से १९२४-२५ में मंत्रिमण्डल बनाने के लिये कहा गया किन्तु देशबन्धु चितरंजनदास ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। फरवरी सन् १९२४ में पं० मोतीलाल नेहरू ने केंद्रीय धारासभा में बहुमत की ओर से सन् १९१९ के सुधारों में संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित किया। इङ्गलैंड की मजदूर सरकार ने स्वराज्य दल के इस मत से सहानुभूति तो प्रकट की किन्तु इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं किया। निस्संदेह स्वराज्य पार्टी सरकार को अपने कार्यक्रम से विचलित नहीं कर सकी, फिर भी इसने कौंसिलों के अन्दर अच्छा काम किया। पार्टी के पीछे यथार्थ शक्ति सी० आर० दास थे। जून, १९२५ में उनका

---

1. "It has been said that our cry is destroy, destroy......Why do we want to destroy? What do we want to get rid of? We want to destroy and get rid of the system which does no good and can do no good. We want to destroy it, because we want to construct a system which can be worked with success and will enable us to do good to the masses."
[C. R. Das]

देहान्त हो गया। इससे स्वराज्य पार्टी की बहुत बड़ी हानि हुई। इस समय स्वराज्य पार्टी के अन्दर भी मतभेद उत्पन्न हो रहा था। स्वराज्यवादियों के दो दल हो गए थे और ये दोनों दल विरोधी दिशाओं में प्रयत्नशील थे। एक दल सरकार से सहयोग करने की सोच रहा था और दूसरा दल असहयोगियों का था जिनकी नीति सरकार के कार्यों में सदा विघ्न डालने की थी। तांबे, जयकर और केलकर ने ही सरकार से सहयोग नहीं किया, स्वयं मोतीलाल नेहरू ने 'स्कीन समिति' का सदस्य होना स्वीकार कर लिया। साम्प्रदायिक दंगों ने स्वराज्य दल का पक्ष और भी निर्बल कर दिया। इन सब का फल यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी अशक्त होने लगी। सन् १९२५ ई० में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कानपुर में हुआ। इसकी अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू थीं और उनके प्रयत्न से स्वराज्य पार्टी के दोनों दलों के बीच समझौता हो गया। परन्तु सन् १९२६ ई० के निर्वाचन में स्वराज्य दल की भारी हानि हुई और उसकी सदस्य-संख्या गिर गई। तथापि यह कहना उचित होगा कि नौकरशाही के साथ मिलकर उदारपंथियों ने नई कौंसिलों के चारों ओर आकर्षण का जो ताना-बाना बुन रखा था उसे स्वराज्य दल ने छिन्न-भिन्न कर दिया। निर्वाचन में नरमदल और उदारपंथी दोनों ही पूर्ण असफल रहे और नौकरशाही अब यह दावा नहीं कर सकती थी कि वह जनता के प्रतिनिधियों की सहायता से शासन चला रही है।

साइमन कमीशन का विरोध तथा १९२८ की अन्य घटनायें—८ नवम्बर सन् १९२७ ई० को घोषणा की गई कि सर जान साइमन के सभापतित्व में एक "सर्व गौराङ्ग" कमीशन भारत आयेगा। भारत के सभी राजनैतिक दलों ने इसका तीव्र विरोध किया और देश ने एक मत होकर कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। काँग्रेस ने स्वराज्य दल के सदस्यों को आदेश दिया कि इस राष्ट्रीय अपमान के विरोध स्वरूप वे धारासभा की बैठकों में उपस्थित न हों, परन्तु अपनी सदस्यता का त्याग न करें। ७ फरवरी सन् १९२८ ई० को कमीशन भारत आया और इसके साथ ही देश के एक कोने से दूसरे कोने तक राष्ट्रीय क्षोभ की लहर दौड़ गई। 'साइमन लौट जाओ' का नारा लगाया गया और कमीशन जिस योग्य था उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया गया। सारे देश में जनता ने कमीशन का विरोध किया। लाहौर में प्रदर्शनकारियों का नेतृत्व करते हुये लाला लाजपतराय को लाठियों की गहरी चोट लगी और कहा जाता है कि यही उनकी असामयिक मृत्यु का मुख्य कारण था। लखनऊ में पं० जवाहरलाल नेहरू और पं० गोविन्द वल्लभ पंत पर लाठियाँ बरसाई गईं। इन बातों से जनता का क्रोध बढ़ रहा था और परिस्थिति अधिक गंभीर होती जा रही थी।

सन् १९२८ ई० की एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी बारदोली में सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में किसानों का सत्याग्रह जिसे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। बारदोली में प्रत्येक २० वर्ष के बाद ज़मीन का बन्दोबस्त होता था और हर बन्दोबस्त

के बाद लगान बढ़ा दिया जाता था। इस बार भी बन्दोबस्त की बात उठी और लोगों को डर हुआ कि फिर लगान में वृद्धि होगी। लोग केवल यह चाहते थे कि एक निष्पक्ष जाँच कमेटी बैठाई जाय जो किसानों की आर्थिक स्थिति पर विचार कर लगान में वृद्धि करने या न करने के विषय में उचित सम्मति दे। सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया और बारदोली के किसानों के लगान में २५% वृद्धि कर दी गई। श्री वल्लभभाई पटेल ने इसका तीव्र विरोध किया और किसानों के सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व किया। सरकार ने साम्प्रदायिकता को उभारने की चेष्टा की तथा कड़ी दमन-नीति का अवलम्बन किया। परन्तु अन्त में सत्याग्रहियों की विजय हुई और सरकार को झुकना पड़ा। लगान की वृद्धि रोक दी गई। श्री वल्लभभाई पटेल को इस आन्दोलन की सफलता के उपहार स्वरूप सरदार की पदवी मिली।

इस वर्ष की एक और घटना भी स्मरणीय है। अंग्रेज़ कहा करते थे कि भारतीय अंग्रेज़ी सुधार-योजनायें भले ही स्वीकार न करें परन्तु उनमें अपनी कोई योजना बनाने की क्षमता नहीं है। इस चुनौती के उत्तर स्वरूप यहाँ के सब राजनैतिक दलों ने मिलकर भारत के लिये एक शासन विधान बनाने के उद्देश्य से पंडित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में एक समिति की स्थापना की। इस समिति ने कठिन परिश्रम के उपरान्त अपनी विस्तृत रिपोर्ट उपस्थित की। इसमें सन्देह नहीं कि इस समिति के सुझावों को जैसा समर्थन प्राप्त हुआ वैसा अभी तक किसी योजना को नहीं मिला था। इसमें भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य पर आधारित शासन-विधान की कल्पना की गई थी।

अंग्रेजी सरकार को चुनौती—इसी वर्ष काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में सुभाष बोस तथा पंडित मोतीलाल नेहरू के बीच बड़ा संघर्ष हुआ। सुभाष बाबू तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू पूर्ण स्वतन्त्रता के समर्थक थे और पंडित मोतीलाल नेहरू औपनिवेशिक स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे। अन्त में दोनों पक्षों ने गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित समझौता स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार को चुनौती दी गई थी कि वह ३१ दिसम्बर सन् १६२६ तक नेहरू कमेटी के सुझाव स्वीकार कर ले अन्यथा काँग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना उद्देश्य घोषित कर उसकी प्राप्ति के लिए आन्दोलन आरम्भ कर देगी। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि काँग्रेसी मेम्बर रचनात्मक कार्यों के लिए विधानालयों में पूर्ण प्रयत्न करें, काँग्रेस का संगठन बढ़ायें तथा ऐसे तमाम कार्य करें जिनसे राष्ट्र के हितों की रक्षा हो और राष्ट्र के विभिन्न वर्गों तथा स्वार्थों का संगठन मज़बूत हो। इस प्रकार प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्र की शिथिलता दूर कर उसे सक्रिय आन्दोलन में भाग लेने के लिए प्रस्तुत रहने को कहा गया।

सन् १६२६ से संघर्ष युग का पुनः आरम्भ होता है। देश की राजनैतिक स्थिति एक बार फिर गम्भीर हो जाती है। तत्कालीन विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने

भारत पर भी अपना प्रभाव डाला। मज़दूर और किसान भूखों मरने लगे तथा शिक्षित वर्ग में बेकारी फैलने लगी। इस प्रकार नये संघर्ष के लिए वातावरण तैयार होने लगा। सरकारी दमन-चक्र ने परिस्थिति को और भीषण रूप दे दिया। २० मार्च, १६२६ ई० को बम्बई, पंजाब और यू० पी० में ताज़ीरात हिन्द की १२१ वीं धारा के अनुसार अचानक सैकड़ों घरों में तलाशियाँ हुईं और राष्ट्र सेवी तथा मज़दूर नेता सैकड़ों की संख्या में गिरफ्तार किये गये। पुलिस ने जनता के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया। किन्तु जनता के उत्साह में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। देश भर में विद्युत-सी दौड़ गई और सरकार के अत्याचारपूर्ण व्यवहार के विरोध में हड़तालें हुईं, जलूस निकले तथा अन्य प्रदर्शन हुए। जब सरकार ने देखा कि संघर्ष की बात खुले तौर से फिर सामने आ गई है, तो पुन: समझौते की बात आरम्भ की। लार्ड इर्विन ने ब्रिटिश सरकार के सामने भारतीय दृष्टिकोण उपस्थित करने के उद्देश्य से इङ्गलैंड के लिए प्रस्थान किया। वहाँ से लौट कर ३१ अक्टूबर को अपनी घोषणा में उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "भारत की वैधानिक प्रगति का स्वाभाविक अन्त औपनिवेशिक स्वराज्य ही है।" इसी घोषणा में यह भी बताया गया कि शीघ्र ही इस विषय पर विचार करने के लिये लन्दन में एक गोलमेज़ सम्मेलन बुलाया जा रहा है।

नवम्बर सन् १६२६ ई० में काँग्रेस ने दिल्ली में एक सभा की जिसमें अन्य राजनैतिक दलों के नेता भी निमन्त्रित किये गये। इस सर्वदल सम्मेलन ने यह स्वीकार किया कि वाइसराय की घोषणा के पीछे सचाई है, तथा यह आशा प्रकट की कि भारतीयों को भी इस योजना के निर्माण में सहायता करने का अवसर मिलेगा। उन्होंने राजनैतिक बन्दियों को कारागार-मुक्ति का सुझाव रखते हुए बताया कि ऐसा करने से सम्मेलन के लिए मैत्रीपूर्ण वातावरण तैयार हो जायगा। उन्होंने यह भी सुझाव प्रस्तुत किया कि शान्तिपूर्ण वातावरण के लिए समझौते की नीति अपनाई जाय तथा प्रगतिशील राजनैतिक दलों का सहयोग प्राप्त किया जाय और उनको गोलमेज़ सम्मेलन में शामिल किया जाय। नेताओं का अनुमान था कि सम्मेलन इस प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् शीघ्र ही भारत के लिए औपनिवेशिक विधान का निर्माण करेगा। परन्तु भारत सरकार ने इन सुझावों की ओर ध्यान नहीं दिया। अन्तिम समय तक पंडित मोतीलाल तथा महात्मा गाँधी के इस दिशा में सारे प्रयत्न असफल ही रहे।

पूर्ण स्वराज्य की माँग—सन् १६२६ में काँग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। उस समय वातावरण सम्भावनाओं से भरा था। परन्तु ३१ दिसम्बर की आधी रात के एक मिनट बाद तक भी काँग्रेस की माँगों पर ब्रिटिश सरकार की ओर से कोई आश्वासन प्राप्त न होने पर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वराज्य का झण्डा फहराते

हुए घोषणा की : "स्वराज्य से हमारा तात्पर्य है ब्रिटिश शासन एवं ब्रिटिश साम्राज्य-वाद से पूर्ण छुटकारा।" इस प्रकार लाहौर में काँग्रेस की नीति का पुनर्निर्माण हुआ। यह अधिवेशन वास्तव में हमारे देश के राष्ट्रीय इतिहास के एक नये युग का आरम्भ था।

छठा अध्याय

सविनय अवज्ञा और उसके उपरान्त

(राष्ट्रीय आन्दोलन सन् १९२९ ई० से १९३९ तक)

कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन—डा० पट्टाभि सीतारमया ने लिखा है : "लाहौर अधिवेशन के समय कांग्रेस की दशा विगलित धातु के समान थी। निरन्तर बढ़ती हुई गिरफ्तारियों ने राष्ट्रीय देशप्रेम की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर दिया था और विचार तथा आदर्श इस पर खौल रहे थे[1]।" परिस्थिति वास्तव में बड़ी गम्भीर थी। गहरी उत्तेजना तथा अनिश्चय से वातावरण व्याप्त था। देश के सामने मुख्य समस्या यह थी कि यदि वह साहसपूर्वक स्वतन्त्रता के पथ पर अग्रसर न हुआ तो दासता की कड़ियाँ और कस दी जायंगी। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण में दृढ़तापूर्वक कहा कि भारत ने अब अंग्रेज़ी शासन से पूर्णतया स्वतन्त्र होने का निश्चय कर लिया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निन्दा करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, "मैं समाजवाद एवं जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों का मानने वाला हूं; राजाओं-महाराजाओं में मेरी तनिक भी आस्था नहीं।" नेहरू जी ने यह भी बतलाया कि वे जान बूझ कर एक संघर्ष छेड़ने नहीं जा रहे हैं। किन्तु यदि सरकार समझौते के दरवाज़े को बन्द ही करना चाहती है तो वे क्या कर सकते हैं। उनके सामने तो अब कलकत्ते का प्रस्ताव है और ध्येय 'पूर्ण स्वतन्त्रता'। इस प्रकार लाहौर के अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार यह घोषणा की कि देश का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य है। इस आशय का निम्नलिखित प्रस्ताव गांधीजी ने उपस्थित किया—

यह कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न पर वाइसराय के ३१ अक्टूबर वाले वक्तव्य के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य दलों के नेताओं द्वारा प्रकाशित संयुक्त घोषणा को, जिसमें कांग्रेस कार्यकारिणी की राय थी, ठीक समझती है। साथ ही यह कांग्रेस स्वराज्य के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रश्न को हल करने के वाइसराय के प्रयत्नों की प्रशंसा करती है। तथापि उस समय से अब तक की घटनाओं, तथा वाइसराय और महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू और अन्य नेताओं के

1. "The Congress was in a cauldron in Lahore. Ideas and ideals were boiling on the fires of national patriotism kindled by the ever-increasing arrests." [Pattabhi Sitaramayya]

बीच हुए वार्तालाप के फल पर विचार करने के उपरान्त, इस काँग्रेस का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों में इसके गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने से कोई लाभ नहीं होगा। अतएव, पिछले वर्ष अपने कलकत्ता अधिवेशन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार, यह काँग्रेस घोषणा करती है कि काँग्रेस-विधान की पहली धारा में प्रयुक्त 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ 'पूर्ण स्वतन्त्रता' समझा जाय। और भी, यह काँग्रेस घोषणा करती है कि नेहरू कमेटी रिपोर्ट की पूरी योजना अब समाप्त समझी जाय। यह काँग्रेस आशा करती है कि भविष्य में समस्त काँग्रेसजन अपना पूरा समय तथा ध्यान भारत के पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के प्रयत्न में लगायेंगे। स्वराज्य-आन्दोलन के संगठन के प्रारम्भिक प्रयत्नस्वरूप, तथा अपनी नीति को इस परिवर्तित सिद्धान्त के अनुरूप बनाने के उद्देश्य से, यह काँग्रेस समस्त काँग्रेसजनों, तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य समर्थकों को आदेश देती है कि वे आगामी निर्वाचन में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से कोई भाग न लें तथा जो काँग्रेसजन धारा-सभाओं एवं अन्य समितियों के सदस्य हैं वे अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दें। यह काँग्रेस सम्पूर्ण देश से अपने रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने की प्रार्थना करती है और अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी को अधिकार देती है कि कमेटी जब भी उचित समझे सविनय अवज्ञा आन्दोलन, जिसमें लगानबन्दी भी सम्मिलित है, आरम्भ कर दे। यह सत्याग्रह चाहे किसी एक विशेष स्थान पर हो अथवा सारे देश में हो। सत्याग्रह पर आवश्यक प्रतिबन्ध भी लगाये जा सकते हैं।"

यह महत्वपूर्ण प्रस्ताव काँग्रेस के खुले अधिवेशन में प्रबल बहुमत द्वारा स्वीकार किया गया। इसके विरोध में केवल १५ व्यक्तियों ने हाथ उठाये। यह सत्य है कि इस अधिवेशन के उपरान्त तुरन्त ही श्रीनिवास आयङ्गर तथा सुभाष बोस ने "काँग्रेस जनतन्त्रवादी दल" की स्थापना की। तथापि, उक्त प्रस्ताव की स्वीकृति ही महात्मा गाँधी तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू की निश्चित विजय थी। और स्वतन्त्रता प्राप्ति के सारे प्रयत्नों में यह विरोधी दल भी सदा काँग्रेस के साथ रहा।

पहला स्वतन्त्रता दिवस—२६ फरवरी सन् १९३० ई० को सारे भारत में हमारा पहला स्वतन्त्रता दिवस बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। यह तिथि भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जायगी। परन्तु यह दिवस वास्तव में उत्सव का न था। इसी दिन तो देश ने स्वतन्त्रता के आदर्श को वरण किया था। इसी दिन कोटि-कोटि कण्ठों ने एक स्वर से घोषणा की थी कि अन्य देशों की भाँति भारत को भी स्वतन्त्रता के भोग का "अविभाज्य अधिकार" है। इसी दिन समस्त देश ने विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त करने के उद्देश्य से विदेशी शासन का अन्त करने की शपथ ली थी। इसी दिन भारत की जनता ने घोषणा की थी—"भारत में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की केवल स्वतन्त्रता का ही हरण नहीं किया है, इसने जनता के शोषण

पर अपने शासन का प्रासाद खड़ा किया है, और भारत का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सत्यानाश किया है।............जिस शासन ने हमारे देश का इस प्रकार चतुर्मुखी सत्यानाश किया है उसे अधिक समय तक सहन करना हम ईश्वर तथा मानवता के प्रति भारी अपराध समझते हैं।.........हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि हम स्वेच्छापूर्वक इसकी सहायता न करें और इसे अपना सहयोग न दें, तथा उकसाये जाने पर भी हिंसा से बचते हुए लगान तथा दूसरे कर देना बन्द कर दें, तो इस अमानुषिक शासन का अन्त निश्चित है। इसलिए हम यह शपथपूर्वक निश्चय करते हैं कि समय-समय पर निकलने वाले काँग्रेस के आदेशों का पूरा पालन करेंगे, जिससे 'पूर्ण स्वराज्य' की स्थापना हो सके।" यही शपथ प्रति वर्ष दोहराई जाती रही और अन्त में जब राष्ट्र के प्रयत्न प्रतिफलित हुए तब इस दिन की सुधि बनाये रखने के उद्देश्य से हमारा गणतन्त्र दिवस भी २६ जनवरी को ही मनाया जाने लगा।

संघर्ष बचाने की दिशा में महात्मा गाँधी का प्रयत्न—लाहौर अधिवेशन के थोड़े ही समय बाद वाइसराय महोदय ने धारासभा में एक ऐसा वक्तव्य दिया जिससे असन्तोष की खाई और चौड़ी हो गई। इस पर महात्मा गाँधी ने लार्ड इर्विन तथा रेमज़े मेकडानल्ड के सम्मुख अपना प्रसिद्ध ग्यारह शर्तों वाला प्रस्ताव रक्खा। इस प्रस्ताव में उन्होंने निम्नलिखित मुख्य माँगें की थीं : मद्य-निषेध किया जाये; रुपये और पौण्ड के अनुपातिक मूल्य में कमी हो; भूमि-कर घटा दिया जाये; नमक कर उठा लिया जाये; सैनिक-व्यय में यथेष्ट कमी हो; शासन-व्यवस्था में अधिक वेतन पाने वाले पदाधिकारियों की संख्या घटाई जाये; विदेशी कपड़े पर विशेष आयात-कर लगाया जाये; तटवर्ती आरक्षण कानून (Coastal Traffic Reservation Bill) पास किया जाये; राजनैतिक बन्दी कारामुक्त किए जायँ; गुप्त सूचना विभाग (C. I. D.) तोड़ दिया जाये अथवा जनता के प्रतिनिधियों के अनुशासन में रक्खा जाये; और आत्मरक्षा के लिये शस्त्रास्त्र रखने के अनुमति-पत्र जनता को स्वतन्त्रता-पूर्वक दिये जाया करें। गाँधी जी ने अपने समाचारपत्र 'यंगइण्डिया' में लिखा कि यदि उनकी यह माँगें स्वीकार कर ली जायँ तो सत्याग्रह-आन्दोलन की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। परन्तु सरकार ने उनकी माँगों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और देश में गिरफ्तारियों का क्रम पूर्ववत् चलता रहा।

परिस्थिति वास्तव में बड़ी गम्भीर थी और १४ फरवरी सन् १९३० ई० को साबरमती में काँग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक हुई जिसमें महात्मा गाँधी को सरकार के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार देकर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निश्चय किया गया। परन्तु सविनय अवज्ञा आरम्भ करने के पूर्व महात्मा गाँधी ने यह देखने का एक प्रयत्न और किया कि वाइसराय महोदय अब भी भारत को

माँग मानने को तैयार हैं या नहीं। उन्होंने रेजीनाल्ड रेनाल्ड्स (Reginald Reynolds) नामक एक अंग्रेज़ मित्र के माध्यम से अपना वाइसराय के नाम इतिहास-प्रसिद्ध पत्र भेजा। वाइसराय ने इसका संक्षिप्त-सा उत्तर देते हुए कहा कि गाँधी जी का प्रस्तावित कार्यक्रम वास्तव में बड़े खेद का विषय है और इसके फलस्वरूप देश में अव्यवस्था एवं अशान्ति फैलने की आशंका है। इस पर महात्मा गाँधी ने "यङ्ग इण्डिया" में लिखा—"मैंने रोटी माँगी थी और पत्थर पाया।......... मेरे इस कार्यक्रम के फलस्वरूप न्याय विधान तथा शान्ति-व्यवस्था का भङ्ग होना स्वाभाविक ही है। कानून की अनेक पोथियाँ हैं, परन्तु भारतीयों ने अभी तक केवल एक ही कानून जाना है, और वह है गोरे शासकों की इच्छा। राष्ट्र केवल एक प्रकार की सार्वजनिक शान्ति-व्यवस्था से परिचित है, और वह है सार्वजनिक कारागृह की शान्ति। सम्पूर्ण भारत एक विशाल कारागृह बन गया है। मैं इस कानून को नहीं मानता और इस अनिवार्य शान्ति की शोकपूर्ण समान गति को, जो देश को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अवसर न देकर उसका गला घोंट रहा है, भङ्ग करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता हूँ[1]।"

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—अब काँग्रेस के सामने संघर्ष की तैयारी करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं रह गया था। संघर्ष का क्या रूप होगा? किस तरह से सरकार के कानून तोड़े जायेंगे? सब के सामने यही प्रश्न था। गाँधी जी ने नमक कानून तोड़ने की बात सोची। अतएव, वाइसराय को उचित चेतावनी देने के उपरान्त, १२ मार्च सन् १९३० ई० को प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व, महात्मा गाँधी ने नमक कानून भङ्ग करने के उद्देश्य से अपने ७९ चुने हुए अनुयायियों के साथ इतिहास-प्रसिद्ध डाँडी यात्रा आरम्भ की। गाँधी जी की यह छोटी-सी सेना निश्चित स्थान की ओर चल पड़ी। मार्ग में नर-नारियों, बूढ़े-बच्चों का भारी समूह इसके साथ हो लिया और जहाँ-जहाँ यह लोग पहुचते थे इनका शानदार स्वागत किया जाता था। लोग उत्साहपूर्वक धन-जन से इनकी सहायता कर रहे थे। गाँधी जी की यह सत्याग्रही सेना ५ अप्रल को अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गई। ६ अप्रैल

---

1. "I asked for bread and I received stone instead......My course of action is bound to involve violation of law and danger to public peace. Inspite of books containing rules and regulations, the only law that the nation knows is the will of the British administrators. The only public peace the nation knows, is the peace of the public prison. India is one vast prison house. I repudiate this law and regard it as my sacred duty to break the mournful monotony of compulsory peace that is choking the heart of the nation for want of free vent." [Mahatma Gandhi]

को प्रात:काल गाँधी जी और उनके अनुयायियों ने विधिपूर्वक नमक-कानून भङ्ग किया। भारत के अन्य भागों में भी अगणित व्यक्तियों ने उनका अनुकरण किया। ६ अप्रेल को गाँधी जी ने अपने अनुयायियों को जो निम्नलिखित आदेश दिए उनसे इस आन्दोलन के वास्तविक स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है—

"प्रत्येक गाँव ग़ैरकानूनी नमक लाये अथवा बनाये; बहनें मादक पदार्थों की दूकानों, अफ़ीम के अड्डों तथा विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना दें। प्रत्येक घर में बूढ़े और युवक सभी तकली चला कर सूत कातें तथा प्रतिदिन ढेरों सूत बिने जाने के लिए दें। विदेशी वस्त्र जला दिए जायँ; हिन्दू छुआछूत की भावना का त्याग करें। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी और ईसाई सभी हृदय से एक हो जायँ। विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेज छोड़ दें और सरकारी कर्मचारी अपने पदों से त्याग-पत्र देकर अपना जीवन जनता की सेवा में अर्पण करें। और शीघ्र ही हम देखेंगे कि स्वतन्त्रता द्वार पर खड़ी हमारा आवाहन कर रही है।"

४ मई को आधी रात के बाद सन् १८२७ ई० के २५ वें नियम के अनुसार गाँधी जी को गिरफ्तार करके यरवदा जेल ले जाया गया। परन्तु इस गिरफ्तारी से उत्तेजना और बढ़ गई और आन्दोलन वेग पकड़ने लगा। जन-आन्दोलन में कहीं-कहीं सीमा का अतिक्रमण हो जाना स्वाभाविक ही था। स्थान-स्थान पर हड़तालें, विशाल प्रदर्शन और धावे होने लगे। २१ मई को धरसाने पर २५०० सत्याग्रहियों ने धावा किया। लोग धावे में नमक लूट कर लाते थे और पुलिस उनके ऊपर लाठियाँ बरसाती थी। न्यू फ्रीमैन (New Freeman) के सम्वाददाता मि० मिलर ने धरसाना के दृश्य का इस प्रकार वर्णन किया है। "पिछले १८ वर्षों में मैंने २२ देशों में सम्वाददाता का कार्य किया है। इस बीच में मैंने अनेकों दंगे, झगड़े तथा बग़ावतें देखी हैं। लेकिन मैंने धरसाना ऐसा वीभत्स दृश्य नहीं देखा। कभी-कभी दृश्य इतना दु:खप्रद होता था कि मुझसे देखा नहीं जाता था और कुछ क्षणों के लिये मुझे अपना मुँह घुमा लेना पड़ता था। सब से विचित्र बात थी सत्याग्रहियों का अनुशासन। ऐसा जान पड़ता था कि उन्होंने गाँधी जी के अहिंसा के सिद्धांत को अपने चरित्र में अपना लिया है।" चटगाँव के सरकारी शस्त्रागार पर धावा किया गया। पेशावर में जनता ने नगर पर अपना अधिकार कर लिया तथा संयुक्त-प्रान्त के किसानों ने सरकार को भूमि-कर देना बन्द कर दिया। उपरोक्त घटनाओं से हमें इसका थोड़ा बहुत आभास मिल जाता है कि जनता का यह विरोध कितना विस्तृत तथा प्रबल था। सारे देश में नमक कानून तोड़ा जा रहा था और राजद्रोह कानून तथा अन्य निषेध-आज्ञाओं को भङ्ग किया जा रहा था। शीघ्र ही सारे कारागृह भर गये और शीघ्रतापूर्वक नये तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। सारे देश में साधारणजनों तथा नेताओं ने सहर्ष हथकड़ियाँ पहनीं, साहसपूर्वक लाठियों की मार सहन की और

गोलियों की बौछारों के सम्मुख भी अडिग रहे। शोलापुर में १२ मई को सैनिक शासन अध्यादेश (Martial Law Ordinance) लागू कर दिया गया। महात्मा गांधी के बाद अब्बास तैय्यब जी तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी गिरफ्तार कर लिया गया था। परन्तु इन गिरफ्तारियों का आन्दोलन पर उलटा ही प्रभाव पड़ा और कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपनी इलाहाबाद की बैठक में इसका क्षेत्र और अधिक विस्तृत कर दिया। इसी बैठक में विदेशी वस्तुओं, बैंकों और बीमा कम्पनियों के वहिष्कार का भी निश्चय किया गया। जून में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी को ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया गया और पंडित मोतीलाल नेहरू सरीखे उदारपंथी नेता को ६ मास के कारावास का दण्ड मिला। कई स्थानों पर पुलिस तथा सेना ने गोली भी चलाई। सबसे अधिक पाशविकता का प्रदर्शन पेशावर में हुआ। वहाँ गढ़वाली सैनिकों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था और दस दिन तक नगर जनता के अधिकार में रहा। ४ मई, सन् १६३० को ब्रिटिश सेना ने नगर पर फिर अधिकार कर लिया। इस संघर्ष में प्राणहानि भी बहुत हुई और सबसे अधिक बलिदान ख़ान अब्दुल ग़फ्फ़ार ख़ाँ के ख़ुदाई ख़िदमतगारों ने किया। इस समय से भारत की स्वतन्त्रता के लिये जितने संघर्ष हुये उन सबमें ख़ुदाई ख़िदमतगार सदा सबसे आगे रहे। बम्बई, मद्रास, यू० पी०, सी० पी०, कर्नाटक आदि प्रान्तों में भी जलूस निकालना, लगानबन्दी, जंगल सत्याग्रह, धरना आदि रूपों में आन्दोलन चले। बङ्गाल में आन्दोलन ने संगठित आतंकवाद का रूप धारण किया। सभी स्थानों पर पुलिस ने अत्याचार किया—सभायें भङ्ग की गईं, लाठियाँ बरसाई गईं तथा सहस्रों की संख्या में नौजवान पकड़े गये और उन्हें तरह तरह की यातनायें दी गईं। इस आन्दोलन के समय वाइसराय ने देश की साधारण न्याय-व्यवस्था का अतिक्रमण कर १३ अध्यादेश निकाले जिनकी आड़ लेकर अत्यधिक अमानुषिक प्रकार का अत्याचार किया गया। अनुमान किया जाता है कि देश भर में कम से कम ६०,००० गिरफ्तारियाँ हुईं और पुलिस की गोलियों से लगभग १०० व्यक्ति मरे और कम से कम ५०० घायल हुये। इस आन्दोलन में स्त्रियों तथा विद्यार्थियों ने जो कार्य किया उसकी सब ओर प्रशंसा हुई।

समझौते का प्रयत्न—आन्दोलन चल रहा था। इसी बीच सर तेजबहादुर सप्रू और डा० जयकर ने कांग्रेसी नेताओं तथा वाइसराय के बीच मध्यस्थ बन कर समझौता कराने का प्रयत्न किया। २३ तथा २४ जुलाई को उन्होंने यरवदा जेल में महात्मा गाँधी से भेंट की। इसके बाद वे गाँधी जी का पत्र लेकर नैनी जेल में पंडित मोतीलाल नेहरू तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिलने आये। यह समझौते की बातचीत बहुत दिनों तक चलती रही और पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा डा० महमूद को महात्मा गाँधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, इत्यादि से परामर्श करने

यरवदा ले जाया गया। सरकार चाहती थी कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन तुरन्त बन्द कर दिया जाये, परन्तु काँग्रेस के नेताओं ने परिस्थिति देखते हुए ऐसा करना उचित नहीं समझा। अतएव समझौते का यह प्रयास विफल गया और गतिरोध पूर्ववत् चलता रहा।

पहले गोलमेज़ सम्मेलन का बहिष्कार—पहला गोलमेज़ सम्मेलन लन्दन में १२ नवम्बर को आरम्भ हुआ, परन्तु काँग्रेस ने इसमें कोई भाग नहीं लिया। पहले दिन के अधिवेशन का सभापतित्व स्वयं सम्राट् ने किया और सम्मेलन का दृश्य सचमुच अत्यन्त आकर्षक था। परन्तु भारत में उस दिन पूर्ण हड़ताल मनाई गई, और बम्बई के सचिवालय के सामने, कलकत्ता में, तथा अन्य बड़े-बड़े नगरों में पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ बरसाईं और मनमानी गिरफ्तारियाँ कीं। उधर सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी प्रतिनिधि—जिनमें देशी नरेश तथा मुसलमान भी सम्मिलित थे—औपनिवेशिक स्वराज्य तथा संघ शासन व्यवस्था की माँग कर रहे थे। नौ सप्ताह की मन्त्रणा के बाद भी वे भारत की वैधानिक प्रगति के लिये कोई निश्चित सुझाव नहीं प्रस्तुत कर सके। अनेक समितियाँ तथा उपसमितियाँ बनीं परन्तु साम्प्रदायिक समस्या तथा अभिरक्षण (safeguards) सम्बन्धी विषयों पर मतभेद बना ही रहा। मुसलमानों का कहना था कि राजनैतिक समझौते के पहले साम्प्रदायिक समझौता हो जाना आवश्यक है। वे जिन्ना साहब की १४ शर्तों पर अड़े थे (आठवाँ अध्याय देखिए)।

१९ जनवरी सन् १९३१ ई० को गोलमेज़ सम्मेलन के खुले अधिवेशन में भाषण देते हुये प्रधान-मन्त्री रैमज़े मैकडानल्ड ने भारत के वैधानिक सुधार की ब्रिटिश सरकार द्वारा तैयार की गई योजना पर प्रकाश डाला। इस योजना में काँग्रेस की माँगों का बहुत थोड़ा अंश स्वीकार किया गया था। यह स्वाभाविक ही था। परन्तु प्रधानमन्त्री ने काँग्रेस से इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की प्रार्थना की और सर तेज बहादुर सप्रू को आश्वासन दिया कि भारत का वातावरण शान्त हो जाने पर उनके सभी राजनैतिक बन्दियों के छोड़े जाने के सुझाव पर अवश्य विचार किया जायेगा।

नेताओं की कारामुक्ति—२५ जनवरी को लार्ड इर्विन ने काँग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्यों की कारामुक्ति का आदेश दे दिया और दूसरे दिन काँग्रेस के लगभग ३० नेतागण मुक्त कर दिये गये और वे सरकारी आज्ञापत्र, जिनके अनुसार काँग्रेस को गैरकानूनी घोषित किया गया था, वापस ले लिये गये। कारागृहों से छूटते ही महात्मा गाँधी तथा अन्य नेतागण शीघ्रतापूर्वक इलाहाबाद आये जहाँ पं० मोतीलाल नेहरू रोग-शय्या पर असाध्य पड़े थे। परन्तु नेताओं का परामर्श इस बीच भी चलता रहा और अन्त में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा इतनी

आश्वासनकारी नहीं है कि उसके आधार पर काँग्रेस गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हो जाये। ६ फरवरी सन् १६३१ ई० को पंडित मोतीलाल नेहरू का देहान्त हो गया। इस संकट-काल में ऐसे महान् व्यक्ति के निधन से सारा राष्ट्र शोकमग्न हो गया।

गाँधी इर्विन समझौता—इसी बीच सर तेज बहादुर सप्रू, डा० जयकर, नवाब भोपाल तथा श्रीनिवास शास्त्री कांग्रेस और सरकार के बीच समझौता कराने का अथक प्रयत्न कर रहे थे। उनके विशेष आग्रह पर गाँधी जी ने लार्ड इर्विन से भेंट करने की अनुमति माँगी। लार्ड इर्विन मानों प्रतीक्षा ही कर रहे थे और यह वार्तालाप १६ फरवरी से ४ मार्च तक चलता रहा। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता था कि बिना समझौता हुये वार्तालाप भङ्ग हो जायेगा। परन्तु अन्त में, ५ मार्च सन् १६३१ ई० को गाँधी-इर्विन समझौते पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हो ही गये। इस समझौते के अनुसार सरकार ने अपना दमन-चक्र, तथा कांग्रेस ने अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन, रोक दिया।

इस समझौते की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—सरकार की ओर से—(१) सारे अध्यादेशों तथा अपूर्ण अभियोगों को उठा लिया जायेगा; (२) जिन लोगों पर हिंसात्मक कार्यों के अभियोग हैं उनके अतिरिक्त सारे राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया जायेगा; (३) समस्त अपहृत सम्पत्ति, जो उस समय तक बेंची नहीं गई थी, उसके स्वामियों को वापस कर दी जायेगी; (४) तटवर्ती प्रदेशों में नमक कानून का प्रशासन उदार कर दिया जायेगा; तथा (५) धरने पर से प्रतिबन्ध हटा लिया जायेगा यदि उसके पीछे राजनैतिक उद्देश्य न हो अथवा उसके फलस्वरूप शान्तिभङ्ग की आशंका न हो। दूसरे पक्ष में महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस की ओर से—सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया जायेगा; (२) नमक कानून के अन्त की माँग वापस ले ली जायेगी; तथा (३) भारत की वैधानिक प्रगति के लिए अगले गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लिया जायेगा।

इस समझौते के विषय में रजनी पामदत्त ने कहा है—"गाँधी-इर्विन समझौते में काँग्रेस की कोई माँग पूरी नहीं हुई (नमक कर तक नहीं हटाया गया)। सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिया गया। काँग्रेस ने उस गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया जिसे बहिष्कार करने की उसने शपथ ली थी। और स्वराज्य की दिशा में कोई निश्चित कदम भी नहीं उठाया गया[1]।" गोलमेज़ सम्मेलन में

---

1. "The Irwin-Gandhi Agreement secured not a single aim of the Congress struggle (not even the repeal of the Salt Tax) Civil Disobedience was to be withdrawn. Congress was to participate in the Round Table Conference, which it had sworn to boycott. Not a single concrete step to self-government was granted." [R. Palme Dutt]

भाग लेना कांग्रेस किसी समय, बिना संघर्ष के ही, स्वीकार कर सकती थी, और उस दशा में सम्भवत: उसे अधिक प्रतिनिधित्व भी प्राप्त हो जाता। इस समझौते ने आन्दोलन को उस समय अचानक और रहस्यपूर्ण ढंग से रोक दिया जब उसकी सफलता निकट ही थी। "इस प्रकार यह समझौता बड़े परिमाण में बारदोली के अनुभव की पुनरावृत्ति मात्र था।" परन्तु महात्मा गाँधी का कहना था कि कम से कम कुछ समय के लिये तो देश उस संकट से बच ही गया जो समझौता न होने पर सम्भवत: सौगुना बढ़ जाता।

कांग्रेस का करांची अधिवेशन—परन्तु अंग्रेजों की ओर से गाँधी-इर्विन समझौते का पालन केवल थोड़े समय तक ही किया गया। एक मास के भीतर ही, कांग्रेस के करांची अधिवेशन के ठीक पहले, एक ऐसी दु:खपूर्ण घटना हुई जिसके बाद कांग्रेस के लिए भी शान्ति बनाये रखना असम्भव हो गया। यह घटना भगतसिंह, राजगुरु और शुकदेव की फाँसी थी। इन तीनों देशभक्तों को धारासभा में बम फेंकने तथा लाहौर में एक पुलिस अधिकारी की हत्या करने के अपराध में प्राणदण्ड मिला था। इनका अभियोग कई महीनों तक चलता रहा। और सारे देश की दृष्टि इन साहसी वीरों पर केन्द्रित थी। गाँधी जी ने इन्हें फाँसी से बचाने का बड़ा प्रयत्न किया परन्तु वे भी सफल नहीं हो सके। अतएव जिस समय सरदार वल्लभभाई पटेल के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ, वातावरण चिन्ता, उत्तेजना तथा अनिश्चय से व्याप्त था। इस घटना के विरोध-स्वरूप इस वर्ष सभापति का जलूस भी नहीं निकाला गया। सारा देश क्षुब्ध था और महात्मा गाँधी तथा नेताओं का करांची आते हुये राह में तथा स्वयं सिन्ध की राजधानी में समझौता-विरोधी प्रदर्शनों द्वारा स्वागत किया गया। कांग्रेस के अधिवेशन में भी समझौते की तीव्र आलोचना की गई। कांग्रेस के नेतागण बड़ी समझदारी तथा बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से ही इस बढ़ते हुए विरोध को रोक पाये।

विलिंगडन का आगमन—अप्रैल सन् १६३१ के अन्त में लार्ड इर्विन के स्थान पर लार्ड विलिंगडन वाइसराय होकर भारत आये। इसी समय इङ्गलैंड में भी पूर्णतया अनुदार दल की सरकार बनी थी। इन परिवर्तनों से दोनों देशों की परिस्थिति में बड़ा अन्तर पड़ गया। भारत ने शीघ्र ही देख लिया कि लार्ड विलिंगडन शान्ति की नीति में विश्वास नहीं करते हैं। थोड़े ही समय के भीतर सरकार की ओर से गाँधी-इर्विन समझौते की शर्तें जानबूझ कर तथा बार-बार भङ्ग की गईं। परन्तु इसी बीच महात्मा गाँधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ लार्ड विलिंगडन की बातचीत भी चल रही थी। इस वार्तालाप के फलस्वरूप सरकार और कांग्रेस के बीच एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार महात्मा गाँधी कांग्रेस की ओर से लन्दन जाकर गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हो गये।

दूसरी ओर लार्ड विलिंगडन ने भी वचन दिया कि वे बारदोली में कर उगाहने वाले सरकारी अधिकारियों के अत्याचारों की जाँच करने के लिए शीघ्र ही मि० गार्डन को नियुक्त करेंगे।

दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में गाँधी जी—सन् १६३१ ई० में ७ सितम्बर से १ दिसम्बर तक लन्दन में दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन हुआ। इसमें काँग्रेस की ओर से भाग लेने के लिए गाँधी जी भेजे गये। उनके तर्क से, तथा इससे भी अधिक उनके व्यक्तित्व से, वहाँ सभी लोग बहुत प्रभावित हुए। परन्तु इङ्गलैंड के अनुदार राजनीतिज्ञों ने ऐसी चाल चली थी कि राजनैतिक प्रश्न तो नीचे दब गया और साम्प्रदायिक समस्या उभर कर ऊपर आ गई। मुसलमान सम्प्रदायवादियों के दृष्टिकोण का अन्य सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की विचारधारा के साथ कोई सामंजस्य ही नहीं था। और मुसलमान प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ अपवित्र गठबन्धन करके कुप्रसिद्ध साम्प्रदायिक परिनिर्णय (Communal Award) की नींव डाली। इस खींचातानी से गाँधी जी को बड़ी निराशा हुई और अंग्रेज़ों को एक बार फिर चेतावनी देकर वे दुखी मन भारत लौट आये। गोलमेज़ परिषद् में गाँधी जी ने काँग्रेस का प्रतिनिधित्व बड़ी शान के साथ किया। पहले आपने काँग्रेस का इतिहास बताया और उसकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला। तदुपरान्त आपने मौलिक अधिकारों के प्रस्तावों को पढ़ कर समझाया और प्रधानमन्त्री के भाषण की आलोचना की। उन्होंने कहा "काँग्रेस अपना अस्तित्व मिटा सकती है परन्तु वह उन साम्प्रदायिक निर्णयों को कभी नहीं मान सकती जिनके कारण स्वतन्त्रता का पौधा कभी बढ़ ही नहीं सकता।" गाँधी जी ने अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला। आपने कहा भारत अपनी रक्षा आप कर सकता है और काँग्रेस उत्तरदायी सरकार का बोझ सँभालने को तैयार है। अन्त में आपने बतलाया कि "हम ब्रिटिश हितों को हानि नहीं पहुँचाना चाहते, परन्तु हम भारतीय हितों की रक्षा अवश्य चाहते हैं।" जब गाँधी जी विलायत में ही थे, उन्हें देश की दुर्दशा का समाचार मिल चुका था। उस समय बङ्गाल, सीमान्त प्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त में दमन का साम्राज्य था। अतः अपने सहकर्मियों द्वारा बुलाये जाने के कारण उन्होंने इङ्गलैंड से और भी जल्दी प्रस्थान कर दिया।

सविनय अवज्ञा की पुनरावृत्ति—जब २८ दिसम्बर सन् १६३१ को गाँधी जी बम्बई में आकर उतरे, भारत की परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर हो रही थी। काँग्रेस के उच्च नेतागण जेल में थे, और अध्यादेश-शासन चल रहा था। काँग्रेस के सामने सविनय अवज्ञा का एकमात्र उपाय रह गया था। अतएव काँग्रेस-कार्यकारिणी ने देश को फिर संघर्ष आरम्भ करने का आदेश दिया। शीघ्र ही महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस-कार्यकारिणी के अन्य बचे सदस्य भी गिरफ्तार कर लिये गये तथा काँग्रेस को

गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। सभी काँग्रेस कार्यालयों में सरकार के ताले लग गये और उनकी सम्पत्ति सरकारी कोष में पहुँच गई।

देश भर में फिर पुलिस का अत्याचार होने लगा, समाचारपत्रों पर कठोर नियंत्रण लगा दिया गया और चारों ओर भय का साम्राज्य फैल गया। लार्ड विलिंगडन का उद्देश्य काँग्रेस को पूर्णतया कुचल कर जनता पर आतंक जमा देना था। परन्तु आन्दोलन फिर भी चलता रहा और वीर सत्याग्रहियों ने हँसते-हँसते यातनाओं का स्वागत किया। अनुमान लगाया जाता है कि इस बार कम से कम १,२०,००० व्यक्ति गिरफ्तार किए गये और दण्डित हुए। सन् १६३२-३३ की घटनायें एक प्रकार से सन् १६३०-३१ की ही पुनरावृत्ति थीं। अन्तर केवल इतना था कि इस बार संघर्ष पहले से अधिक गम्भीर तथा दृढ़ था, और दमन की कठोरता पहले से अधिक अमानुषिक थी। सरकार ने नग्न-बर्बरता का प्रयोग किया, शारीरिक यातनायें दीं, मारा-पीटा और गोलियाँ चलाईं, पूरे-पूरे गावों पर सामूहिक अर्थ-दण्ड लगाया और किसानों के खेत और घर उनसे छीन लिये। लार्ड विलिंगडन ने गर्वपूर्वक डींग मारते हुए कहा था कि वे ६ सप्ताह के भीतर आन्दोलन को कुचल देंगे। परन्तु आन्दोलन में इतना जीवन था कि इतनी विपरीत परिस्थितियों में भी वह ढाई वर्ष तक चलता ही रहा।

उधर इङ्गलैंड के प्रधानमन्त्री रैमज़े मैकडानल्ड ने साम्प्रदायिक समस्या पर अपने परिनिर्णय (Award) की घोषणा की जिसके अनुसार जिन सम्प्रदायों को पहले से ही पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त था उनके अतिरिक्त हरिजनों के लिये भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की गई। महात्मा गाँधी पहले ही सरकार को चेतावनी दे चुके थे कि इस प्रकार की व्यवस्था से हरिजनों का अहित होगा। परन्तु सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अतएव २० सितम्बर सन् १६३२ ई० को पूना जेल में उन्होंने हरिजनों के लिये की गई पृथक निर्वाचन-व्यवस्था के विरोध में आमरण अनशन आरम्भ किया। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने २६ सितम्बर को अपनी भूल सुधार ली। उसने पूना का समझौता स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार हरिजनों के लिये धारासभाओं में आरक्षित स्थानों (reserved seats) की व्यवस्था करते हुये उनके पृथक प्रतिनिधित्व का अन्त कर दिया गया।

इसके कुछ समय पश्चात् गाँधी जी ने आत्म-शुद्धि के लिए अपना २१ दिन का दूसरा अनशन आरम्भ किया। यह ८ मई सन् १६३३ को आरम्भ हुआ और इसका मुख्य उद्देश्य हरिजन आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को इतना बल देना था कि वे अधिक पवित्र एवं अधिक हार्दिक सेवा-भाव से अपना कार्य सम्पन्न कर सकें। ८ मई की सन्ध्या को भारत सरकार ने गाँधी जी को कारागृह से मुक्त कर दिया। जुलाई में काँग्रेस ने सविनय अवज्ञा के जन-आन्दोलन को व्यक्तिगत आन्दोलन का

स्वरूप देने का निश्चय किया और इस उद्देश्य से स्थानापन्न अध्यक्ष ने काँग्रेस के समस्त संगठनों का विलयन (dissolution) कर दिया। परन्तु सरकार ने व्यक्तिगत सत्याग्रहियों के विरुद्ध अपना दमन और कठोर कर दिया। गाँधी जी फिर गिरफ्तार कर लिए गये और अगस्त सन् १६३३ ई० में उन्हें १ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। परन्तु एक और अनशन करने के पश्चात् एक मास के भीतर ही उन्हें छोड़ दिया गया। काँग्रेस का व्यक्तिगत सत्याग्रह सभी प्रान्तों में चलता रहा और सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने हँस-हँस कर हथकड़ियाँ पहनीं। इस प्रकार अगस्त सन् १६३३ से अप्रैल सन् १६३४ तक आन्दोलन अनवरत समान गति से चलता रहा। मई सन् १६३४ में जाकर इस महान् आन्दोलन का अन्त हुआ जो सन् १६३० ई० में इतनी सफलता के साथ आरम्भ हुआ था।

सन् १६३०-३४ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का भारतीय जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। इसने जनता के हृदय में उत्साह, श्रद्धा तथा आत्म-बलिदान के भाव जागृत किये और इस प्रकार देश के लिये एक स्थायी लाभ सिद्ध हुआ। जिस आन्दोलन का बीज सन् २०-२१ में बोया गया था वही वृक्ष रूप में सन् ३०-३४ में हमारे सामने आया। सन् ३०-३४ का आन्दोलन केवल असहयोग तक ही सीमित न रहा किन्तु इसने सक्रिय रूप धारण किया और इसका विस्तार भी पहले से अधिक था। साम्राज्यवादियों ने भी जनता को पहले से अधिक कुचलने का कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु वे सफल नहीं हो सके। रजनी पामदत्त के शब्दों में "इस संघर्ष की अग्नि ने एक नई और अभूतपूर्व एकता, एक नये आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव तथा कभी न डिगने वाले साहस को जन्म दिया[1]।"

कौंसिल प्रवेश का निश्चय—जैसा इस प्रकार की परिस्थितियों में सदा ही होता है, अधिक राजनैतिक हलचल के बाद जनता के मस्तिष्क में एक प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक पक्ष से माँग उठी कि इस स्वातन्त्र्य युद्ध का एक नया मोरचा स्थापित करने के उद्देश्य से वैधानिक कार्यक्रम को भी एक बार फिर अपनाना चाहिये। अतएव जून सन् १६३४ ई० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अन्त करके कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। सरकार ने भी काँग्रेस पर आन्दोलन काल में लगाये गये सारे प्रतिबन्ध हटा लिये। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि सरकार की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। सरकार काँग्रेस को सदा सन्देह की दृष्टि से ही देखती रही और तनिक सा अवसर पाने पर उसके कार्यकर्ताओं के साथ कठोरतम व्यवहार करने में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी गई। दमन

1. "The furnace of those years of struggle helped to forge and awaken a new and greater national unity, self-confidence, pride and determination". [R. Palme Dutt]

और अशान्ति का चक्र सन् १९३६ में भी उसी प्रकार चल रहा था और गिरफ्तारियों, तलाशियों, विचित्र आज्ञाओं आदि का क्रम पूर्ववत् था। तथापि काँग्रेस ने सन् १९३५ के विधान के अन्तर्गत फरवरी सन् १९३७ ई० में होने वाले निर्वाचन में भाग लिया और उसमें उसकी शानदार विजय हुई। केन्द्रीय धारासभा में काँग्रेसी सदस्यों की संख्या किसी भी अकेले दल से अधिक थी और भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में यह दल सरकारी पक्ष के लिये एक स्थायी सिरदर्द बन गया था। ११ में से ६ प्रान्तों में काँग्रेस का पूर्ण बहुमत था। शेष में से तीन में इसका बहुमत न होने पर भी धारासभा में सबसे अधिक सदस्य इसके ही थे। चुनाव के पहले स्वयं काँग्रेस को अपनी सफलता पर विश्वास नहीं था। किन्तु चुनाव में ज़मीदारों, व्यापारियों, मिल-मालिकों आदि प्रगतिशील लोगों को जनता ने बुरी तरह ठुकराया और सारे देश में काँग्रेस की अपूर्व विजय हुई।

मंत्रिमण्डलों का निर्माण—१ अप्रैल सन् १९३७ ई० से प्रान्तों में नया विधान लागू होना था। काँग्रेस जानती थी कि इतना बड़ा बहुमत लेकर वह अधिक समय तक शासन से अलग नहीं रह सकती। तथापि आरम्भ में उसने उत्तरदायित्व सँभालना अस्वीकार कर दिया। जब उससे मन्त्रिमण्डल बनाने को कहा गया तो उसने यह शर्त रखी कि यदि गवर्नर यह आश्वासन दे दें कि वे उस समय तक अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे जब तक मन्त्रिमण्डल विधान के बाहर कुछ कार्य न करें तो काँग्रेस शासन का उत्तरदायित्व स्वीकार कर सकती है। गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन दे सकते हैं या नहीं इस विषय को लेकर बहुत वादविवाद हुआ और इस बीच जिन प्रान्तों में काँग्रेस का बहुमत था वहाँ शासन चलाते रहने के लिये अल्पसंख्यकों के अस्थायी मन्त्रिमण्डल बना दिये गये। जुलाई के अन्त में गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसका आशय यह था कि नये विधान का तात्पर्य यह कभी नहीं था कि गवर्नर अपने मन्त्रियों के साधारण शासन-कार्य में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित करें, और वे इस सिद्धान्त का पालन अवश्य करेंगे। इस पर दिल्ली में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की एक बैठक हुई जिसमें निश्चय किया गया कि यद्यपि वाइसराय महोदय के आश्वासन में काँग्रेस की माँगें पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं की गई हैं तथापि जनता की इच्छा के अनुसार, काँग्रेस शासन का उत्तरदायित्व स्वीकार कर सकती है।

अगस्त के आरम्भ में उन ६ प्रान्तों में, जहाँ काँग्रेस का बहुमत था, काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गये। कुछ समय पश्चात् उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, आसाम तथा सिन्ध में भी काँग्रेस ने सम्मिलित मन्त्रिमण्डल स्थापित कर लिये। इस प्रकार काँग्रेस ने वैधानिक कार्यक्रम के इस नये पथ पर पदार्पण किया और सभी मन्त्रिमण्डलों ने क्रान्तिकारी तथा जनहितकारी कानूनों का निर्माण किया। इस स्थान पर

काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों की सफलता और असफलता पर विशद विचार करना आवश्यक नहीं है। इसकी विवेचना 'प्रान्तीय स्वराज्य के अनुभव' शीर्षक सत्रहवें अध्याय में की गई है।

सन् १९३६ से १९३९ तक काँग्रेस की राजनीति—राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सन् १९३५ की सुधार योजना के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वराज्य में कई अवगुण थे। उदाहरण के लिये, इसने प्रान्तीय भेदभाव बढ़ा कर साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर दिया। इसी ने आन्तरिक द्वेष-भाव बढ़ाकर वामपक्षियों (Leftists) तथा दक्षिणपक्षियों (Rightists) के सैद्धान्तिक मतभेद की नींव डाली। काँग्रेस का वामपक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में पदग्रहण करने के विरुद्ध था। परन्तु सर्व श्री राजगोपालाचार्य, राजेन्द्रप्रसाद, भूला-भाई देसाई और वल्लभ भाई पटेल आदि दक्षिण पक्ष वाले नेताओं का कहना था कि पदग्रहण करने से काँग्रेस को जनता की सेवा करने का अवसर प्राप्त होगा। फलत: प्रान्तीय शासन दक्षिण पक्षवालों के हाथ में था, परन्तु काँग्रेस में समाजवादी तथा वामपक्षी दल का प्रभाव बढ़ रहा था। सन् १९३६ में पं० नेहरू ने लखनऊ अधि-वेशन में सभापति के पद से बोलते हुए कहा कि हमें भारतीय संघर्ष को संसार के फासिस्ट (Fascist) तथा अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध केन्द्रित करना है। इसके लिये हमें साम्राज्यवाद की विरोधी शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। इसे कार्यान्वित करने के लिए यह प्रस्ताव रखा गया कि श्रमिकों तथा कृषकों को सामूहिक रूप से काँग्रेस में सम्मिलित कर लिया जाय। दक्षिण पक्षियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और प्रस्ताव पास न हो सका। वामपक्षियों को इससे बड़ा असन्तोष हुआ। दोनों पक्षों में मतभेद बढ़ता ही गया। फल यह हुआ कि संस्थागत असंयम बढ़ने लगा। सन् १९३७ की नरीमैन-घटना और अगले वर्ष की खरे घटना इसी असंयम का प्रतीक थीं। श्री नरीमैन तथा डा० खरे दोनों ही ने काँग्रेस के आदेशों का उल्लंघन किया तथा उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही की गई। उक्त दोनों घटनाओं के समय सरदार पटेल तथा काँग्रेस कार्यकारिणी पर तानाशाही का आरोप किया गया। वस्तुत: काँग्रेस के भीतर बढ़ते हुए असंयम को नियन्त्रित करने के लिये थोड़ी-सी तानाशाही आवश्यक भी थी। अस्तु, दोनों पक्षों के बीच की खाई चौड़ी ही होती गई। गाँधीवादी दक्षिणपक्षी धैर्य का उपदेश देते थे। उनका मत था कि संशोधित संघ-विधान के आधार पर अँग्रेज़ों के साथ सम-झौता होना संभव है। परन्तु सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में वामपक्षी इस दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना कर रहे थे। वे अंग्रेज़ों की कठिनाइयों से लाभ उठा कर संघर्ष छेड़ देने के लिये तत्पर थे। समाजवादी तथा साम्यवादी भी वस्तुत: वामपक्षियों के ही साथ थे।

सन् १९३८ में हरीपुरा काँग्रेस अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया गया कि काँग्रेस १९३५ के सुधार कानून द्वारा प्रस्तावित संघीय योजना को रद्द करने की माँग को दोहराती है। सुभाष बाबू ने, जो इस अधिवेशन के सभापति थे, अपनी नीति को स्पष्ट करते हुये बताया कि ब्रिटिश सरकार हमारे राष्ट्र पर अपनी सारहीन योजनाओं को थोपने का जो भी प्रयत्न करेगी, उसका सभी शांतिपूर्ण उपायों द्वारा पूर्ण विरोध किया जायगा। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि काँग्रेस में दक्षिणपक्षियों का प्रभाव कम होगया था। वास्तव में कांग्रेस में दक्षिणपक्षियों का ही ज़ोर था और वामपक्षियों को भय था कि वे, उनके विरोध करने पर भी, ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देंगे। ऐसी परिस्थिति में सुभाषचन्द्र बोस ने सन् १९३९ ई० में काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये पुनर्निर्वाचित होने का प्रयत्न किया। गांधी जी के दल के डा० पट्टाभि सीतारमैय्या उनके विरोधी थे। इस निर्वाचन में १३७६ के विरुद्ध १५७५ मतों से सुभाषचन्द्र बोस की विजय हुई। पंडित जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार "अध्यक्ष का यह पुनर्निर्वाचन उनके (सुभाष बोस के) व्यक्तित्व तथा उनकी लोकप्रियता का प्रमाण था। इस प्रकार उनके पक्ष में मत देकर काँग्रेस के मतदाताओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे काँग्रेस से अधिक उग्र नीति की आशा करते हैं। इसके साथ ही साथ यह चोटी पर के नेताओं की तथाकथित तानाशाही के विरोध का प्रदर्शन भी था। गांधी जी ने इसे अपनी पराजय समझा। वास्तव में यह उनकी पराजय नहीं थी। परन्तु उनके नेतृत्व में चलनेवाली काँग्रेस कार्यसमिति की आलोचना इसे अवश्य कहा जा सकता है।" रजनी पामदत्त ने भी स्वीकार किया है कि "इसे एक निश्चित राजनैतिक निर्णय अथवा संस्था में वामपक्ष के प्रभावशाली बहुमत का सूचक किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता[1]।" मार्च सन् १९३९ में त्रिपुरी अधिवेशन की कार्यवाही से यह स्पष्ट होगया कि जनता अब भी दक्षिण पक्ष के साथ थी और गांधी जी अब भी उसके विश्वासपात्र नेता थे। पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त ने प्रस्ताव किया कि अध्यक्ष महोदय अपनी कार्यकारिणी गांधी जी की इच्छानुसार बनायें और प्रस्ताव सरलतापूर्वक स्वीकार हो गया। अप्रैल में सुभाषचन्द्र बोस ने अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दिया और "काँग्रेस के भीतर साम्राज्य-विरोधी तथा सुधारवादी तत्वों का संगठन करने के उद्देश्य से उन्होंने अपना अलग "अग्रगामी दल" (Forward Bloc) बनाया। तत्पश्चात् अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने डा० राजेन्द्रप्रसाद को अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया।

---

1. "It could by no means be regarded as a definite political judgment or indication of an effective Left majority in the membership of the Congress." [R. Palme Dutt]

मन्त्रिमण्डलों का पदत्याग—सितम्बर सन् १६३६ ई० में अभूतपूर्व विनाशकारी महायुद्ध ने सारे संसार को हिला दिया। इस युद्ध में भारत को भी बिना उसकी जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों की सम्मति लिये उसमें सम्मिलित कर लिया गया। इसके अतिरिक्त भारत-सरकार ने जनमत की अवहेलना करके ऐसे नियम बनाये जिनका प्रभाव प्रान्तीय शासन के अधिकारों पर भी पड़ा। इसके विरोध-स्वरूप काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये और काँग्रेस फिर संघर्ष-पथ पर आ गई।

सातवाँ अध्याय

भारत छोड़ो

(काँग्रेस आन्दोलन सन् १९३९ से १९४७ तक)

काँग्रेस तथा द्वितीय महायुद्ध— पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में काँग्रेस की वैदेशिक नीति का विकास हुआ है। इसके दो आधार-स्तम्भ हैं— राजनैतिक एवं आर्थिक साम्राज्यवाद का अन्त तथा स्वतन्त्र देशों का पारस्परिक सहयोग। काँग्रेस ने सन् १९३६ ई० में ही, निर्वाचन के अवसर पर प्रकाशित अपने उद्देश्यपत्र (Manifesto) में "साम्राज्यवादी युद्ध में भारत के सम्मिलित किये जाने का विरोध" व्यक्त किया था। सन् १९३८ ई० में पूरे वर्ष भर तथा अगले वर्ष मार्च में काँग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में अँग्रेज़ों की जर्मनी को संतुष्ट करते रहने की नीति की जितनी तीव्र आलोचना पं० जवाहरलाल नेहरू ने की वैसी सम्भवत: और किसी ने नहीं की। अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी पोलैण्ड पर आक्रमण होने के पूर्व ही निश्चय कर चुकी थी कि भारतीयों की इच्छा के प्रतिकूल देश को युद्ध में सम्मिलित करने तथा युद्ध में भारतीय साधनों के प्रयोग का विरोध किया जायेगा। अगस्त सन् १९३९ ई० में काँग्रेस कार्यसमिति ने प्रान्तों के काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को यह आदेश भी दे दिया था कि वे "ब्रिटिश सरकार की तैयारियों में किसी प्रकार से सहायता न करें।"

परन्तु ३ सितम्बर को भारत युद्ध में सम्मिलित कर लिया गया और लार्ड लिनलिथगो ने देश में आपात-स्थिति (State of Emergency) की घोषणा कर दी। उसी दिन 'भारत रक्षा आर्डिनेन्स' (Defence of India Ordinance) भी घोषित किया गया जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को अधिकार मिल गया कि वह ऐसे नियम बनावे जिन्हें वह ब्रिटिश भारत की रक्षा, देश में शान्ति तथा युद्ध-कार्य ठीक से संचालित होने के लिये आवश्यक समझती है। केन्द्रीय सरकार को सभायें रोकने, बिना वारण्ट के गिरफ्तारी करने तथा कानून तोड़ने के अपराध में आजन्म काले पानी तथा मृत्यु का दण्ड देने तक का अधिकार मिल गया। इसके आठ दिन बाद, ११ सितम्बर को, वाइसराय महोदय ने सूचना दी कि सन् १९३५ ई० की सुधार योजना के संघ-भाग की तैयारी युद्ध-काल के लिये स्थगित कर दी गई है। १४ सितम्बर को काँग्रेस की कार्यसमिति ने युद्ध-जन्य परिस्थिति पर एक प्रस्ताव स्वीकार किया। इसमें पोलैण्ड के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुये कहा गया था कि पोलैण्ड में जरमन आततायी आज जो कुछ कर रहे हैं वही सब भारत में पिछले १५०

वर्षों से होता आया है। कार्यसमिति ने सब से अधिक खेद इस बात पर प्रकट किया कि यद्यपि साम्राज्य के अन्य उपनिवेश युद्ध में स्वेच्छा से सम्मिलित हुये हैं, भारत को इस विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने का भी अवसर नहीं दिया गया। अतएव अपने भविष्य के विषय में सन्तोषकर आश्वासन पाये बिना भारत युद्ध-प्रयत्न में हार्दिक सहयोग नहीं दे सकता। कार्य-समिति ने आगे कहा कि "भारतवासियों को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिये, जिससे वे बिना किसी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप के, विधान-निर्मात्री परिषद् द्वारा अपना शासन विधान बना सकें और अपनी नीति चला सकें।" अन्त में कार्यसमिति ने अंग्रेज़ी सरकार से माँग की कि वह स्पष्ट शब्दों में बतावे कि जहाँ तक प्रजातन्त्र और साम्राज्यवाद का सम्बन्ध है, तथा संसार के लिए प्रस्तावित नवीन रूपरेखा का सम्बन्ध है, उसके युद्ध मन्तव्य क्या हैं। कार्य-समिति ने अपने इस वक्तव्य में सारे संसार को सम्बोधित करते हुये माँग की थी कि यदि इङ्गलैंड तथा फ्रांस के युद्धादर्शों में तनिक भी सत्य है तो संसार की सभी शासित जातियों को दासता की स्थिति से ऊपर उठाने का प्रयत्न तुरन्त आरम्भ हो जाना चाहिये। १० अक्टूबर को अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने भी माँग की कि युद्धोद्देश्यों की स्पष्ट घोषणा की जाये तथा उनको कार्यान्वित करने का प्रयत्न तुरन्त आरम्भ हो। उसने निश्चय किया कि भारत को स्वतन्त्र घोषित किया जाये और उस स्वतन्त्रता को यथासंभव व्यावहारिक स्वरूप तुरन्त दिया जाये।

वाइसराय की नीति—सरकारी उत्तर निराशाजनक ही रहा। वाइसराय महोदय ने भविष्य में औपनिवेशिक स्वराज्य देने का पुराना वायदा फिर दोहराया। उन्होंने राजनैतिक दलों के नेताओं को वार्तालाप के लिये आमन्त्रित किया। इस वार्तालाप में विभिन्न दलों के सब मिला कर ५३ नेताओं ने भाग लिया, परन्तु अन्त में चिर परिचित "दृष्टिकोणों का स्पष्ट मतभेद" और स्पष्ट हो गया और वार्तालाप का अन्त हो गया। इसी मतभेद की आड़ लेकर तो सरकार अभी तक भारत की माँगों को टालती आई थी। १७ अक्टूबर को वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने ब्रिटिश सरकार की ओर से एक नई घोषणा की। एक वक्तव्य देते हुये उन्होंने बताया कि "युद्ध समाप्त होने पर भारत की विभिन्न जातियों, दलों, वर्गों तथा देशी नरेशों के प्रतिनिधियों के साथ, सन् १६३५ के सुधार कानून में आवश्यक परिवर्तन करने के प्रयत्न में उनका सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से, परामर्श करने में सरकार को बड़ी प्रसन्नता होगी।" काँग्रेस ने इस प्रस्ताव को अपने सुझावों का भारी अपमान समझा। महात्मा गाँधी ने कहा, "वाइसराय महोदय के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज़ों का वश चलते भारत में जनतन्त्र की स्थापना सम्भव नहीं है।" गाँधी जी ने यह संकेत भी किया कि काँग्रेस किसी समय अपना आन्दोलन फिर आरम्भ कर सकती है। काँग्रेस का कार्यसमिति ने इस वक्तव्य को पूर्णतया असन्तोषजनक कह कर प्रस्ताव अस्वीकार

कर दिया और काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को आदेश दिया कि वे प्रान्तीय धारासभाओं में युद्धोद्देश्यों के विषय में एक प्रस्ताव स्वीकार करने के पश्चात् त्यागपत्र दे दें।

मुक्ति दिवस—नवम्बर में महात्मा गाँधी, मि० जिन्ना और वाइसराय के बीच फिर वार्तालाप हुआ परन्तु इसका भी कोई फल नहीं निकला। वाइसराय महोदय बात-बात पर साम्प्रदायिक समस्या का अड़ङ्गा लगाते थे और काँग्रेस का कहना था कि इङ्गलैंड के युद्धोद्देश्यों का भारत की साम्प्रदायिक समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद १५ नवम्बर को काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने अपने त्यागपत्र दे दिये। मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र से काँग्रेसी कार्यकर्ताओं में फिर से कर्मठता और त्याग की भावना आई। किन्तु मुस्लिम लीग ने मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र पर प्रसन्नता व्यक्त करने के लिये २२ नवम्बर को "मुक्ति-दिवस" (Day of Deliverance) मनाया। लीग ने ऐसा क्यों किया? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि काँग्रेस ने चुनावों के बाद अपने वायदे के प्रतिकूल काँग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में लीग के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकृत कर दिया। इससे लीग को बड़ा धक्का लगा और काँग्रेस और लीग में कटुता उत्पन्न हो गई। इस कटुता के परिणामस्वरूप सन् १९३७ और १९३८ में बिहार, संयुक्त प्रान्त, सीमा प्रान्त तथा मद्रास में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे भी हुए। सन् १९३९ में काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा त्यागपत्र देने पर लीग द्वारा 'मुक्ति-दिवस' मनाने से हिन्दू और मुसलमानों में साम्प्रदायिक कटुता और अधिक तीव्र हो गई। इसी के बाद लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया जिसको मान कर सन् १९४७ में अंग्रेज़ी सरकार ने भारत का दो भागों में विभाजन किया।

विधान-सभा की माँग—मार्च सन् १९४० ई० में काँग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन का सभापतित्व मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने किया जो इस समय से सन् १९४५ ई० तक इस पद को सुशोभित करते रहे। अधिवेशन में बोलते हुए मौलाना आज़ाद ने कहा कि अंग्रेज़ सारे संसार में ढिंढोरा पीटते फिरते हैं कि वे सब देशों की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं, परन्तु उनका यह सिद्धान्त केवल योरोप की भौगोलिक सीमाओं के भीतर ही लागू होता है। इस अधिवेशन में काँग्रेस ने यह घोषणा भी की कि भारत की जनता पूर्ण स्वतन्त्रता से कम कुछ स्वीकार न करेगी और प्रौढ़ मताधिकार (Adult Suffrage) के आधार पर निर्मित विधान सभा के माध्यम से अपने भाग्य निर्णय का अधिकार ही भारतीयों की समस्या का एकमात्र समाधान है। इसी अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार को चेतावनी-सी देते हुए गाँधी जी ने भी प्रस्ताव किया कि प्रत्येक काँग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी में बदल जाना चाहिये। इस प्रकार सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारी होने लगी। इसी समय सुभाष चन्द्र बोस वामपक्षी तत्वों को संगठित करने में संलग्न थे। वह चाहते थे कि काँग्रेस इङ्गलैंड को

अन्तिम चेतावनी दे दे और यदि वह इतने पर ,भी भारत को स्वतन्त्र न करे तो देशव्यापी सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया जाये। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक समझौता-विरोधी सम्मेलन का आयोजन भी किया।

कॉंग्रेस की शर्तें—परन्तु वास्तव में कॉंग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डलों के पद-त्याग के बाद भी बहुत समय तक सरकार के लिये अधिक उलझनें उत्पन्न नहीं कीं। १ जून सन् १९४० को भी महात्मा गाँधी ने लिखा था : "हम ब्रिटेन का नाश करके अपनी स्वतन्त्रता नहीं चाहते हैं।" और ७ जुलाई को कॉंग्रेस की कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा कि यदि यह घोषणा कर दी जाये कि युद्ध के बाद भारत स्वतन्त्र कर दिया जायेगा और आपात काल के लिये केन्द्र में एक अस्थायी सरकार बना दी जायेगी तो कॉंग्रेस धन-जन से इङ्गलैंड की पूरी सहायता करने को प्रस्तुत है। परन्तु इङ्गलैंड ने यह अत्यन्त उचित प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया।

चर्चिल का शासन—इसी बीच इङ्गलैंड में मन्त्रिमण्डल परिवर्तन हुआ जिसके फलस्वरूप चेम्बरलेन के स्थान पर मि० चर्चिल प्रधान मन्त्री तथा लार्ड जेटलेण्ड के स्थान पर मि० एमरी भारतमन्त्री नियुक्त हुये। इस नई धुरी ने भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को निर्दयतापूर्वक कुचल देने का निश्चय किया और शीघ्र ही चर्चिल ने इस विषय में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट भी कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि वे सम्राट् के प्रधानमन्त्री इसलिये नहीं बने हैं कि उनकी देखरेख में ब्रिटिश साम्राज्य का विलयन हो। उन्होंने यह भी कहा कि एटलांटिक चार्टर केवल योरपीय देशों के लिये है, भारत तथा बर्मा के लिये नहीं।

अगस्त योजना—इस समय युद्ध की परिस्थिति बिगड़ने लगी। पश्चिमी योरोप को हिटलर की सेनाओं ने कुछ महीनों के अन्दर ही रौंद डाला। अत: कॉंग्रेस के प्रस्ताव के उत्तर में नई ब्रिटिश सरकार से परामर्श करने के पश्चात् लार्ड लिनलिथगो ने ८ अगस्त सन् १९४० ई० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया। ब्रिटिश सरकार की इस अगस्त योजना में निम्नलिखित विधान था :—

(१) अल्पसंख्यकों को आश्वासन दिया गया कि ब्रिटिश सरकार "ऐसी किसी शासन व्यवस्था को अधिकार हस्तान्तरित नहीं करेगी जिसके स्वत्व को भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई बड़ा तथा शक्तिशाली अङ्ग स्वीकार न करता हो।"

अतएव मुस्लिम लीग को विश्वास हो गया कि उसकी स्वीकृति के बिना भारत के लिये कोई विधान नहीं बन सकता।

(२) युद्ध समाप्त होने पर विधान-सभा की स्थापना का वचन दिया गया और यह स्वीकार किया गया कि भारतीयों को अपना विधान स्वयं बनाने का अधिकार है।

(३) जनता के सच्चे प्रतिनिधियों को वाइसराय की कार्यकारिणी में सम्मिलित होने तथा एक युद्ध सलाहकार समिति बनाने के लिए निमन्त्रित किया गया।

(४) सभी वर्गों तथा धर्मों के भारतीयों से अनुरोध किया गया था कि वे युद्ध में पूर्ण सहयोग देकर ब्रिटिश राष्ट्रसंघ के भीतर भारत को स्वतन्त्र तथा समान भागीदार बनाने की दिशा में प्रयत्न करें।

स्पष्ट है कि इस योजना में उस राष्ट्रीय सरकार का कहीं उल्लेख भी नहीं था जिसकी माँग काँग्रेस ने कुछ समय पूर्व की थी। इसमें केवल दो बातें स्वीकार की गई थीं—वाइसराय की कार्यकारिणी का प्रसार तथा युद्ध के बाद, दूर भविष्य में, भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की आशा। अतएव काँग्रेस की कार्यसमिति ने इसे स्वीकार करते हुए अपना पहले का वह प्रस्ताव भी वापस ले लिया जिसमें कुछ शर्तों पर इङ्गलैंड की धन-जन द्वारा पूर्ण सहायता करने का वचन दिया गया था।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—१५ सितम्बर सन् १९४० को अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की बैठक बम्बई में हुई। इसमें निश्चय किया गया कि यद्यपि अभी तक इङ्गलैण्ड की कठिनाइयों को देखते हुये काँग्रेस ने बड़े संकोच का व्यवहार किया है किन्तु अब वह समय आ गया है कि और अधिक संकोच करने से काँग्रेस का अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। मौलाना आज़ाद ने अपने भाषण में कहा कि अब काँग्रेस के लिये अगला क़दम उठाना आवश्यक होगया है। अतएव निर्णय किया गया कि भाषण की स्वतन्त्रता की छोटी-सी माँग उठा कर उसकी प्राप्ति के लिये महात्मा गांधी के नेतृत्व में आन्दोलन आरम्भ किया जाय। परन्तु गांधी जी ने कहा कि यह सत्याग्रह जन-आन्दोलन नहीं होना चाहिये, अन्यथा सरकार के लिये उलझन उत्पन्न हो जायगी जब कि काँग्रेस का वास्तविक उद्देश्य विरोध-प्रदर्शन मात्र था। यह निश्चय हुआ कि शासन सत्ता की दुर्नीति के विरुद्ध, राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा के लिये, व्यक्तिगत सत्याग्रह किया जाय। १३ अक्टूबर को काँग्रेस की कार्यसमिति ने गांधी जी द्वारा प्रस्तुत आन्दोलन की योजना स्वीकार कर ली और १७ अक्टूबर को व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष उद्देश्य सम्भाषण तथा विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्थापित करना था। गांधी जी ने कहा कि हमारी माँग केवल इतनी ही है, क्योंकि हम भली प्रकार जानते हैं कि युद्ध समाप्त होने के पूर्व स्वतन्त्रता मिलना असम्भव है। सत्याग्रह को सर्वथा संयत तथा प्रतीकात्मक रखने का पूरा प्रयत्न किया गया। सबसे पहले सेवाग्राम आश्रम के आचार्य विनोबा भावे ने सत्याग्रह करते हुए युद्ध-विरोधी व्याख्यान दिये और वे गिरफ्तार हो गये। इसके पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू की बारी थी। परन्तु उन्हें वर्धा से इलाहाबाद आते हुये सत्याग्रह करने के पूर्व ही पकड़ लिया गया और गोरखपुर के न्यायाधीश ने उन्हें

४ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया। सरदार पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, राष्ट्रपति आज़ाद और उनके बाद भूतपूर्व मन्त्री, सचिव, धारासभाओं तथा अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के सदस्य बड़ी संख्या में गिरफ्तार कर लिये गये। इस आन्दोलन में संयुक्तप्रान्त सब से आगे रहा। सन् १९४१ ई० की ग्रीष्म ऋतु समाप्त होते होते २०,००० से अधिक सत्याग्रही कारागृहों में पहुँच चुके थे परन्तु गाँधी जी अभी बाहर ही थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ होने के लगभग १ वर्ष बाद, ३० अक्टूबर सन् १९४१ ई० को एक लम्बा वक्तव्य देते हुए उन्होंने बताया कि वे इस आन्दोलन को बढ़ाने या बन्द करने का क्यों विरोध करते थे। उन्होंने कहा कि यह समझना भूल होगी कि सत्याग्रह निष्क्रियता की नीति है। वास्तव में थोड़े से चुने हुये सत्याग्रही भी पूरी काँग्रेस का प्रतिनिधित्व कर सकते है।

वाइसराय की कार्यकारिणी का विस्तार—जिस समय व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन इस प्रकार चल रहा था और काँग्रेस के कितने ही कार्यकर्ता कारागृहवास कर रहे थे, भारत मंत्री एमरी ने एक बार फिर अगस्त योजना को दोहराते हुये पाकिस्तान की उस माँग की ओर संकेत किया जो मुस्लिम लीग ने अपने सन् १९४० ई० के लाहौर अधिवेशन में उठाई थी। जुलाई सन् १९४१ ई० में वाइसराय की कार्यकारिणी का पुनर्संगठन हुआ। अभी तक कार्यकारिणी में वाइसराय के अतिरिक्त ४ अंग्रेज़ और ३ भारतीय सदस्य होते थे। अब भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ८ तथा अंग्रेज़ों की ४ कर दी गई। इस प्रकार अब अमेरिका तथा अन्य देशों में ढिंढोरा पीटकर कहा जा सकता था कि भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर यह क्रान्तिकारी क़दम उठाया गया है। परन्तु भारतवासी भली प्रकार जानते थे कि कार्यकारिणी के इस पुनर्संगठन में कोई तथ्य नहीं है। इसी समय देश के उन नेताओं ने, जिनका सम्बन्ध किसी दल विशेष से नहीं था, काँग्रेस तथा सरकार के बीच समझौता कराने के उद्देश्य से बम्बई में एक सम्मेलन का आयोजन किया। परन्तु उनके इस प्रयास का कोई फल नहीं निकला।

व्यक्तिगत सत्याग्रह स्थगित—इस वर्ष अक्टूबर-नवम्बर में मित्रराष्ट्रों के दृष्टिकोण से युद्ध की परिस्थिति बहुत गम्भीर हो गई थी। रूस को जर्मनी ने आक्रान्त कर रखा था और सुदूर-पूर्व में जापान का आतंक बढ़ रहा था। इन परिस्थितियों में भारत सरकार ने धीरे-धीरे सत्याग्रहियों को छोड़ना आरम्भ किया। दिसम्बर तक लगभग सभी सत्याग्रही कारागृहों से बाहर आ गये थे। परन्तु महात्मा गाँधी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा, "यह नई नीति मेरे हृदय का कोई तार नहीं छूती और सत्याग्रह उस समय तक चलता रहेगा जब तक कार्यकारिणी स्वयं उसे बन्द नहीं करती।" इसके थोड़े ही समय बाद कार्यकारिणी की बैठक हुई। परन्तु अब उसे एक नई परिस्थिति का समना करना था क्योंकि जापान ने भी शत्रु पक्ष की ओर से

युद्ध की घोषणा कर दी थी। वह चीन को चारों ओर से घेर चुका था और सिंगापुर, मलाया तथा बर्मा उसके द्वारा रौंदे जा रहे थे। जापानी सेनानायक तोजो की सेनायें आगे बढ़ती आ रही थीं और उनका सामना करने वाली मित्रराष्ट्रों की सेनायें पीछे हट रही थीं। ऐसा ज्ञात होता था कि थोड़े ही समय में जापानी सेनायें भारतीय सीमा के अन्दर प्रवेश कर लेंगी। ऐसी स्थिति में काँग्रेस कार्यसमिति ने निश्चय किया कि वर्तमान परिस्थितियों में काँग्रेस का कर्तव्य है कि जापान द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने की सम्भावना से उत्पन्न भय के निवारण का प्रयत्न करे। अतएव ३० दिसम्बर १६४१ के बारदोली प्रस्ताव द्वारा सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और यह घोषणा की गई कि "यद्यपि भारत के सम्बन्ध में ब्रिटेन की नीति में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है फिर भी काँग्रेस कार्यकारिणी को इस नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर, जिसमें महायुद्ध संसारव्यापी हो गया है और भारत के छोरों तक पहुँच रहा है, विचार करना पड़ा है। काँग्रेस की सहानुभूति निश्चय ही उन लोगों के साथ है जो आक्रमण के शिकार हैं तथा जो अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं।" इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तथा प्रगतिशील देशों के साथ सक्रिय सहानुभूति की कामना ने काँग्रेस कार्यसमिति को इस बात पर बाध्य किया कि वह व्यक्तिगत सत्याग्रह को रोक कर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप नई नीति का अनुसरण करे।

क्रिप्स मिशन—चर्चिल तथा एमरी के दृष्टिकोण में भी अब कुछ परिवर्तन हुआ। युद्ध के आरम्भ से ही हमारे देश पर निरंकुश शासन हो रहा था। वाम-पक्षी कार्यकर्ता बीन बीन कर नज़रबन्द किये जा रहे थे। और इस प्रकार गिरफ्तार होने वाले लोगों में सबसे अधिक संख्या कम्युनिस्टों की थी। पर जिस समय काँग्रेस का ३० दिसम्बर १६४१ वाला प्रस्ताव पास हुआ, काँग्रेस के लगभग सभी कार्यकर्ता जेलों से बाहर आ चुके थे और जेलों में अब केवल कम्युनिस्ट तथा कुछ काँग्रेस समाजवादी युवक कार्यकर्ता ही रह गए थे। यह स्पष्ट था कि भारतीय राजनीति के इस गतिरोध से इङ्गलैंड में व्यापक चिन्ता उत्पन्न हो रही है। सन् १६४१ ई० के आरम्भ में जापानी सेना की आश्चर्यजनक सफलता ने इस चिन्ता को और बढ़ा दिया। फरवरी सन् १६४२ ई० में जनरल च्याङ्-काइ-शेक सपत्नकी भारत पधारे थे। यहाँ से चलते समय उन्होंने भारतवासियों के नाम जो सन्देश दिया उससे स्थिति की गम्भीरता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। चीनी नेता को सबसे अधिक चिन्ता इस बात की थी कि भारत जापानियों के विरुद्ध युद्ध में हार्दिक सहयोग दे, और जापानी सेनायें उस समय भारत की पूर्वी सीमा पर मँडरा रही थीं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया की भी यही इच्छा थी कि युद्ध में मित्रराष्ट्रों को भारत का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो, अतएव वे भी भारतीय समस्या के समाधान के लिये बड़े उत्सुक थे। २२ फरवरी सन् १६४२

ई० को अमेरिका के राष्ट्रपति ने रेडियो पर बोलते हुये स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'एटलांटिक चार्टर' सारे संसार के लिये है। आस्ट्रेलिया की लोकसभा में भाषण देते हुए वहाँ के विदेश-मन्त्री डा० इवाट ने भी कहा कि युद्ध में भारत का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये उसे स्वराज्य दे देना आवश्यक और उचित है। चीन, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया का इस प्रकार दबाव पड़ने पर इङ्गलैंड विवश हो गया और उसे भारतीय राजनीति का गतिरोध दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील होना पड़ा। अतएव ११ मार्च सन् १९४२ को प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की जिसका आशय यह था कि युद्धकालीन ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स शीघ्र ही भारत आकर यहाँ की स्थिति का अध्ययन करेंगे तथा कुछ ऐसे वैधानिक सुधारों के लिये भारतीयों की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे जिन्हें इङ्गलैंड की सरकार पहले ही स्वीकार कर चुकी थी। सर स्टैफर्ड क्रिप्स कुछ समय पूर्व तक मास्को में इङ्गलैंड के राजदूत थे और रूस को युद्ध में घसीट कर अपने कार्य-कौशल का परिचय दे चुके थे। अतएव इस समय उनका बड़ा मान था और उन्होंने भी भारत आकर यहाँ की राजनैतिक गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न करना स्वीकार कर लिया था।

२३ मार्च को सर स्टैफर्ड क्रिप्स दिल्ली आये और आते ही राजनैतिक दलों के नेताओं के साथ वार्तालाप करने में जुट गये। उन्होंने महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू, मि० जिन्ना, मौलाना आज़ाद, सरदार बल्देवसिंह आदि विभिन्न दलों के नेताओं से बातें कीं। कई बार ऐसा लगा कि समझौता हो जायेगा। मौलाना आज़ाद और पं० नेहरू अपने बहुत से आदर्शों तथा माँगों को भी कुछ समय के लिए छोड़ने को तैयार हो गये, फिर भी समझौता नहीं हो सका। बात यह थी कि क्रिप्स महाशय ने लीग, काँग्रेस, सिक्ख आदि सभी दलों के प्रतिनिधियों को तरह-तरह की आशायें दी थीं जिन्हें पूरा करने में उन्होंने अपने आप को असमर्थ पाया। २९ मार्च को पत्रकारों के एक सम्मेलन में उन्होंने अपना प्रस्तावित घोषणापत्र प्रकाशित किया जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) भारत शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके, इस उद्देश्य को लेकर ब्रिटिश सरकार प्रस्ताव करती है कि एक ऐसे भारतीय-संघ के निर्माण का प्रयत्न वांछनीय है जिसे एक उपनिवेश का स्तर प्राप्त हो, जो अन्य उपनिवेशों की भाँति सम्राट् की सत्ता को मानता हो और प्रत्येक क्षेत्र में उनके समकक्ष हो, जो अपने आन्तरिक तथा वैदेशिक सम्बन्धों में उनसे किसी प्रकार कम न हो, तथा जिसे ब्रिटिश राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार भी प्राप्त हो।

(२) युद्ध समाप्त होते ही प्रान्तीय धारासभाओं के निम्न-आगारों (Lower Houses) द्वारा अनुपाती प्रतिनिधान (proportional representation) के आधार पर एक विधान सभा का निर्माण किया जाये। देशी राज्यों को भी अपनी

जनसंख्या के उसी अनुपात में प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार हो जो ब्रिटिश भारत में लागू हो और उन प्रतिनिधियों को ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के समान ही अधिकार प्राप्त हों।

(३) ब्रिटिश सरकार निम्नलिखित शर्तों पर इस प्रकार निर्मित विधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करती है—

(अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त इस नये विधान से सहमत न हो तो उसे अपनी वर्तमान वैधानिक स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा, परन्तु यदि आगे चल कर वह कभी संघ में सम्मिलित होना चाहे तो इसकी भी व्यवस्था होगी। इसी प्रकार देशी राज्यों को भी पूर्ण स्वतन्त्रता होगी कि वे नये विधान को स्वीकार करें या न करें।

(ब) विधान सभा तथा इङ्गलैंड की सरकार के बीच एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किये जायंगे जिसमें पूर्ण उत्तरदायित्व हस्तान्तरित होने के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली सभी सम्भावनाओं तथा ब्रिटिश सरकार के पूर्व आश्वासनों के अनुसार अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की व्यवस्था होगी।

(४) नये विधान के पूर्ण होने तक भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर रहेगा। परन्तु ब्रिटिश सरकार भारतीय राजनैतिक जीवन के प्रमुख नेताओं को भारत, ब्रिटिश सरकार तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की मन्त्रणाओं में तात्कालिक एवं प्रभावपूर्ण भाग लेने के लिये आमन्त्रित करती है।

क्रिप्स ने स्वयं स्वीकार किया कि यह प्रस्तावित घोषणापत्र किसी विशेष नीति-परिवर्तन का द्योतक नहीं था। इसमें तथा कुछ वर्ष पूर्व की अगस्त योजना में कोई सैद्धान्तिक अन्तर न था। अगस्त योजना के अन्तर्गत भी युद्ध के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वचन दिया गया था तथा साथ ही यह घोषणा भी की गई थी कि विधान-निर्माण मुख्यत: भारतीयों का ही उत्तरदायित्व है। परन्तु प्रोफेसर कूपलैण्ड के मतानुसार क्रिप्स का प्रस्ताव अगस्त योजना से अधिक ठोस तथा रचनात्मक था। इसमें भारत को ब्रिटिश राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध विच्छेद करने का भी अधिकार दिया गया था। और इसके अन्तर्गत विधान-निर्माण, मुख्यत: नहीं, पूर्णत: भारतीयों का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया गया था। नई योजना में युद्ध समाप्त होने तक विभिन्न दलों द्वारा स्वीकृत कोई सिद्धान्त उपलब्ध न होने पर विधान सभा के निर्माण की व्यवस्था भी थी। इसके अतिरिक्त अस्थायी शासन व्यवस्था के क्षेत्र में भी यह प्रस्ताव अगस्त योजना से आगे था।

तथापि यह स्पष्ट है कि इस प्रस्ताव का सम्बन्ध भविष्य से था और तत्काल इससे किसी विशेष लाभ की आशा नहीं थी। इस विषय में महात्मा गाँधी ने बड़ी चुभती हुई टिप्पणी की। उन्होंने कहा, "यह एक ऐसी हुंडी है जिस पर आगे की

तिथि पड़ी हुई है, और सो भी ऐसे बैंक के नाम जिसके दिवालिया होने में सन्देह नहीं रह गया है[1]।" इस योजना का दूसरा दोष इसके अन्तर्गत प्रान्तों द्वारा भारतीय संघ में सम्मिलित होने या न होने की व्यवस्था थी। यह पाकिस्तान की माँग की स्वीकृति नहीं तो उसे प्रोत्साहन देने वाली अवश्य थी। तीसरे, रक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था को भी कांग्रेस कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी। और अन्त में, यह योजना वास्तव में भारतीय समस्या को सुलझाने के हार्दिक प्रयत्न का परिणाम नहीं थी। इसका उद्देश्य केवल विभिन्न दलों के नेताओं को कुछ समय के लिये बहला कर युद्ध के लिये भारतीय जनसंख्या के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करना था। डा० पट्टाभि-सीतारमैय्या ने कहा है: "इस प्रस्ताव में विभिन्न रुचि के लोगों को अच्छे लगने वाले विभिन्न पदार्थ थे।" कांग्रेस के लिये प्रस्तावना वाला अंश था जिसमें सम्बन्ध-विच्छेद के अधिकार सहित औपनिवेशिक स्वराज्य तथा विधान-सभा की स्थापना का उल्लेख किया गया था। मुस्लिम लीग के लिये प्रान्तों द्वारा भारतीय संघ में न सम्मिलित होने की अत्यन्त संतोषकर व्यवस्था थी। और देशी नरेशों के लिये अपने-अपने राज्यों से विधान सभा के सदस्यों की नियुक्ति का पूर्णाधिकार था।

२ अप्रैल सन् १९४२ ई० को कांग्रेस की कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव में क्रिप्स योजना को अस्वीकार करने के कारणों पर प्रकाश डाला। कांग्रेस का अनुमान था कि वास्तव में अंग्रेज़ों की भारत छोड़ने की तनिक भी इच्छा नहीं है, क्योंकि रक्षा का उत्तरदायित्व निकल जाने से शासन ढोंग मात्र रह जाता है। पं० जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार वाइसराय ने नौकरशाही के साथ मिलकर क्रिप्स योजना का सत्यानाश कर डाला क्योंकि उसका अन्तिम स्वरूप कुछ इस प्रकार हो गया था कि "शासन का तत्कालीन ढाँचा पूर्ववत् ही बना रहे, वाइसराय का एकाधिकार तथा स्वेच्छाचारी शासन भी पूर्ववत् बना रहे, और हममें से कुछ लोग उनके अनुचर बनकर भोजनालयों इत्यादि का प्रबन्ध करने लगें[2]।" इस प्रकार की लज्जाजनक स्थिति स्वीकार करना कांग्रेस के लिये असम्भव था। पं० नेहरू के मतानुसार यह कहना भूल है कि कांग्रेस ने इस योजना को गाँधी जी के समझौता-विरोधी दृष्टिकोण के कारण अस्वीकार

1. "It was a post-dated cheque on a bank that was obviously crashing." [Mahatma Gandhi]

2 Pt. Jawahar Lal Nehru in the 'Discovery of India' holds that Lord Linlithgow and the Civil Services sabotaged the Cripps' Plan, for in its final stages it came to this "that the existing structure of Government would continue exactly as before, the autocratic power of the Viceroy would remain, and a few of us would become his liveried camp-followers and look after canteens and the like."

किया। उन्होंने बताया कि यह "प्रश्न वही पुराना था अर्थात् भारतीय राष्ट्रवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पारस्परिक विरोध का प्रश्न। और इस प्रश्न पर, युद्ध होता या न होता, इँगलैण्ड तथा भारत का अँग्रेज़ी शासक-वर्ग अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिये कटिबद्ध था। उनके पीछे मि० चर्चिल का विशाल व्यक्तित्व था।"

इस अन्धकार में आशा की केवल एक किरण थी। क्रिप्स ने आश्वासन दिया था कि प्रस्तावित अस्थायी सरकार को वस्तुत: मन्त्रिमण्डल के अधिकार प्राप्त होंगे और वाइसराय वैधानिक राज्य-प्रमुखमात्र होगा। इसके अतिरिक्त इस योजना में अधिकतर ऐसी ही बातें थीं जिन पर आपत्तियाँ उठाना स्वाभाविक था। उदाहरण के लिये देशी राज्यों द्वारा विधान सभा में प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था तथा प्रान्तों के भारतीय संघ में सम्मिलित होने या न होने के अधिकार का उल्लेख किया जा सकता है। तथापि क्रिप्स के उपरोक्त आश्वासन में इतना आकर्षण था कि काँग्रेस भी सम्भवत: उनकी योजना को स्वीकार ही कर लेती। परन्तु चर्चिल तथा एमरी किसी प्रकार का समझौता नहीं चाहते थे। अतएव क्रिप्स पर लन्दन से दबाव डाला गया और वे शीघ्रतापूर्वक, गुत्थी को और उलझी छोड़कर, इङ्गलैण्ड लौट गये।

काँग्रेस के इस प्रकार योजना को अस्वीकार कर देने के पश्चात् जिन्ना साहब ने भी लीग की ओर से योजना को अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने "पाकिस्तान की अव्यक्त स्वीकृति" पर सन्तोष प्रकट किया। परन्तु उसकी मुख्य आपत्ति यह थी कि योजना में इस स्वीकृति का स्पष्ट व्यक्तीकरण नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त लीग ने निश्चय किया कि यदि सारे भारत के लिये एक ही विधानसभा बनी तो मुसलमान उसमें कोई भाग नहीं लेंगे। इसके साथ ही लीग ने अपनी पाकिस्तान की माँग फिर दोहराई। सिख तथा हिन्दू महासभा इस योजना को पहले ही अस्वीकार कर चुके थे। महासभा की कार्यसमिति का कहना था कि भारत एक तथा अविभाज्य है और जिस योजना में देश के राजनैतिक विभाजन की सम्भावना भी हो उसे स्वीकार करना महासभा के, तथा देश के, हितों के प्रति विश्वासघात होगा। सिखों के सर्वदल सम्मेलन ने घोषणा की : "हम अखिल-भारतीय संघ से पंजाब के विच्छेद का समस्त सम्भव साधनों द्वारा विरोध करेंगे।" उदार दल की ओर से सर तेजबहादुर सप्रू ने बताया कि एक से अधिक संघों का निर्माण देश के स्थायी हितों के लिये घातक होगा।

क्रिप्स ने पहले ही कह दिया था कि यदि किसी दल को इस योजना के स्वीकार करने में आपत्ति हुई तो ब्रिटिश सरकार इसे कार्यान्वित न करेगी। और अब तो सभी दलों ने इसे अस्वीकार कर दिया था। अतएव इसे आगे बढ़ाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स भारत को अत्यन्त उत्तेजित अवस्था में छोड़कर चले गये थे, और उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा काँग्रेस पर यह आरोप

लगाया कि इन्होंने राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के भारत-स्थित प्रतिनिधि कर्नल जान्सन की सहायता से अमरीका की मध्यस्थता प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। और इस प्रकार अपनी असफलता का उत्तरदायित्व दूसरों पर डाल कर सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने अपना प्रस्ताव ११ अप्रैल को वापस ले लिया। ब्रिटिश लोकसभा में भाषण देते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि मुसलमान और सिख राष्ट्रीय सरकार की स्थापना तथा उसे रक्षा विभाग सौंपे जाने के विरोधी थे। परन्तु हम पहले ही बता चुके हैं कि उनकी असफलता का वास्तविक कारण दूसरा था। उनकी योजना की समीक्षा करते हुए प्रोफेसर लास्की ने ठीक ही कहा था कि वास्तव में "यह जापान के विरुद्ध एक चाल थी, भारत की माँगों की स्वीकृति नहीं।"

'भारत-छोड़ो' आन्दोलन—क्रिप्स मिशन के इस प्रकार अचानक अन्त हो जाने का अर्थ स्पष्ट था। ब्रिटिश सरकार सम्भावित आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने का अवसर भारतीयों को नहीं देना चाहती थी। परिस्थिति गम्भीर होती जा रही थी। जापानी सेना भारत के द्वार पर खड़ी थी और भूखों मरते हुए भारतीय शरणार्थियों के झुण्ड के झुण्ड पूर्वी सीमा पार कर भारत में आ रहे थे। इधर देश में पूर्ण निराशा का वातावरण था। इन परिस्थितियों पर विचार करने के लिये २७ अप्रैल सन् १९४२ ई० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक इलाहाबाद में हुई। इसमें गहरे क्षोभ का प्रदर्शन करते हुये कहा गया कि कांग्रेस ऐसी किसी स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जिसमें भारतीयों को किसी विदेशी शक्ति के गुलामों की भाँति कार्य करना पड़े। फिर भी यह निश्चय हुआ कि जहाँ तक युद्ध का सम्बन्ध है कांग्रेस अंग्रेजी सरकार के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचायेगी, यद्यपि वह युद्ध में उनका साथ नहीं देगी। यह भी निश्चय हुआ कि अगर जापानी सेनायें भारत के भीतर प्रविष्ट हो जायें तो कांग्रेस उनके साथ शान्तिमय असहयोग की घोषणा कर देगी। भारतीय किसी भी दशा में जापानियों के सामने घुटने नहीं टेकेंगे। गाँधी जी को ब्रिटिश सरकार से अब किसी प्रकार की आशा नहीं रह गई थी। वह 'भारत छोड़ो' नारा लगा रहे थे। उनका कहना था कि अंग्रेज़ों का भारत छोड़ कर चला जाना ही देश को बचा सकता है, क्योंकि उनकी यहाँ उपस्थिति "जापानियों को आक्रमण की उत्तेजना" देती है। भारतीयों में विभाजन उत्पन्न करने वाला तीसरा दल अंग्रेज़ों का ही है। उनके चले जाने पर समस्त भारतवासी फिर एक हो जायेंगे। गाँधी जी ने अंग्रेज़ों को परामर्श दिया कि वे केवल भारत ही नहीं, एशिया और अफ्रीका के उन सब देशों को भी छोड़ दें जहाँ उन्होंने अपना आधिपत्य जमा रखा है। १४ जुलाई को वर्धा प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस की कार्यसमिति ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन किया। उसने कहा कि कांग्रेस की इस नई नीति का उद्देश्य युद्ध-संचालन में मित्रराष्ट्रों के लिए उलझनें उत्पन्न करना

अथवा चीन या भारत पर जापान द्वारा आक्रमण को किसी प्रकार प्रोत्साहन देना कदापि नहीं है। जापान को पराजित कर चीन को सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से कांग्रेस भारत में मित्रराष्ट्रों की सेना रखी जाने का भी विरोध नहीं करेगी। अंग्रेज़ों के भारत से चले जाने का अर्थ केवल इतना है कि देश से अंग्रेज़ों का शासन उठ जाये। स्वयं अंग्रेज़ों से उसका कोई वैमनस्य नहीं है। परन्तु यदि अंग्रेज़ों ने शासन सत्ता न छोड़ी तो कांग्रेस अपनी समस्त अहिंसात्मक शक्ति का, जो उसने सन् १६२० से संचित की है, उपयोग करने के लिए बाध्य होगी। जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है वह अंग्रेज़ी शासन से बिल्कुल ऊब चुकी थी। अत: वह जापान की जीतों पर प्रसन्न हो रही थी। युद्ध-कालीन आर्थिक कठिनाइयों, भयानक मँहगाई तथा आर्डिनेन्सों की निरंकुशता ने जनता के हृदय में शासकों के प्रति कटुता और अधिक भर दी। जापान इस परिस्थिति से लाभ उठा कर तेज़ी के साथ भारत की ओर बढ़ रहा था। उसकी यह धारणा हो रही थी कि भारत में उसका स्वागत होगा।

वर्धा प्रस्ताव के बाद जनता में इस प्रकार की धारणा ज़ोर पकड़ने लगी कि काँग्रेस किसी न किसी रूप में जन आन्दोलन आरम्भ करेगी। १ अगस्त को पं० जवाहरलाल नेहरू ने इलाहाबाद में तिलक दिवस पर भाषण देते हुए कहा, "हम आग के साथ खेलने जा रहे हैं। हम दोधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे हैं जिसका वार उल्टे हमारे उपर पड़ सकता है। लेकिन हम क्या करें? हम विवश हैं!" लगभग इसी समय बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने अपने एक भाषण में कहा कि "हमें इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिये।" बम्बई में सरदार पटेल ने कहा कि, "इस बार का आन्दोलन थोड़े दिनों का तथा बहुत तेज़ होगा।" नेताओं के इस प्रकार के भाषणों से जनता की यह धारणा, कि एक भयानक संघर्ष अनिवार्य है, और अधिक पुष्ट हो गई। परन्तु इस समय भी श्री राजगोपालाचार्य समझौते का प्रयत्न कर रहे थे। वर्धा प्रस्ताव के बाद उन्होंने गाँधी जी को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने काँग्रेस को लीग की पाकिस्तान सम्बन्धी माँग एक अनिवार्य बुराई के रूप में स्वीकार कर एकता के आधार पर राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने और जापानी हमले वाली 'बड़ी बुराई' का सामना करने का सुझाव रक्खा। इसी समय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी राय प्रकट की कि काँग्रेस को संघर्ष नहीं छेड़ना चाहिये, क्योंकि संघर्ष होने पर सरकार मनमानी कर सकेगी।

फिर भी सरकार की तैयारियाँ तथा जनता के असन्तोष को देखकर ८ अगस्त सन् १६४२ ई० को अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने अपने बम्बई के ऐतिहासिक अधिवेशन में प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव में, जिसकी प्रतिक्रिया सारे संसार में हुई, निम्नलिखित घोषणा की गई थी:—

"यह कमेटी काँग्रेस कार्यसमिति के १४ जुलाई सन् १६४२ ई० के प्रस्ताव

का समर्थन करती है तथा इसका विश्वास है कि बाद की घटनाओं ने, जिनमें युद्ध की घटनावली, ब्रिटिश सरकार के उत्तरदायी वक्ताओं के भाषण और भारत तथा विदेश: में की गई आलोचनायें भी सम्मिलित हैं, उसे और अधिक सावधान बना कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत तथा संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्यों की सफलता के लिए देश से अंग्रेज़ी शासन का उठ जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस शासन का अधिक समय तक चलना भारत को निर्बल बना कर पतन की दिशा में ले जा रहा है तथा देश की आत्मरक्षा एवं विश्व-स्वातन्त्र्य में सहायता करने की क्षमता का अधिकाधिक ह्रास कर रहा है।·········साम्राज्य का अधिकार शासक देश को बल देने के स्थान पर उसका अभिशाप तथा भार बन गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद का केन्द्र-बिन्दु भारत अब समस्या का मुख्य विषय बन गया है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता से ही इङ्गलैंड तथा संयुक्त राष्ट्रों की परख की जा सकती है और एशिया तथा अफ्रीका की जातियों के हृदय आशा एवं उत्साह से भरे जा सकते हैं। इस प्रकार इस देश में ब्रिटिश शासन का अन्त एक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर युद्ध का भविष्य तथा जनतंत्रवाद एवं स्वतन्त्रता की सफलता निर्भर है। स्वतन्त्र भारत इस सफलता को निश्चित बना सकता है क्योंकि स्वतन्त्र होने पर वह अपने सारे साधन नाज़ीवाद, फासिस्टवाद तथा साम्राज्यवाद को समाप्त करने में लगा देगा।

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने घोषणा की कि अंग्रेज़ों के चले जाने पर देश के प्रमुख राजनैतिक दलों तथा वर्ग-हितों के सहयोग से एक स्थायी सरकार बनाई जायगी जिसका मुख्य उद्देश्य अपनी सैनिक तथा अहिंसात्मक शक्ति के प्रयोग से, देश की आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करना होगा। कमेटी ने अल्पसंख्यकों को भी आश्वासन दिया कि इस जन आन्दोलन का उद्देश्य काँग्रेस के लिए राज्याधिकार प्राप्त करना नहीं है। "राज्याधिकार चाहे जब मिले, उसका उपभोग समस्त देशवासी करेंगे।"

आगे चल कर अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने कहा: "भारत की स्वतन्त्रता एशिया के सभी शासित देशों की स्वतन्त्रता की प्रतीक, तथा भूमिका होगी। वास्तव में, बरमा, हिन्दचीन, मलाया, हिन्देशिया, ईरान, ईराक आदि सारे देशों को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। यह (अभी) स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये कि इनमें से जो देश आज जापान के अधिकार में हैं, वे भविष्य में किसी औपनिवेशिक शक्ति को नहीं दिये जायेंगे।" इसके अतिरिक्त, एवं विश्व-संघ की कल्पना करते हुए, कमेटी ने कहा कि इस प्रकार के संघ का सदस्य बन कर भारत अपने को गौरवशाली समझेगा। काँग्रेस की यह अपील केवल इङ्गलैंड से ही नहीं, संयुक्त राष्ट्रों तथा सारे संसार से भी थी।

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी जानती थी कि ब्रिटिश सरकार पर उसकी प्रार्थनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और काँग्रेस के सामने संघर्ष के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं था। अतएव कमेटी ने भारतीय स्वतन्त्रता के अविभाज्य अधिकार की प्राप्ति के लिये एक जन-आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चय किया। कमेटी ने कहा कि इस आन्दोलन का स्वरूप अहिंसात्मक होना चाहिये जिसमें भारतीय जनता पिछले २२ वर्षों के शान्तिपूर्ण संघर्ष में संग्रह की हुई सारी अहिंसात्मक शक्ति का उपयोग कर सके। इस प्रकार के आन्दोलन का सफल नेतृत्व अकेले गाँधी जी कर सकते थे, अतएव कमेटी ने उनसे बागडोर अपने हाथ में लेकर देश का पथ-प्रदर्शन करने की प्रार्थना की। अन्त में कमेटी ने भारतवासियों से अपील की कि वे आगामी आन्दोलन के कष्टों को धैर्य तथा विश्वास के साथ सहन करते हुये गाँधी जी के नेतृत्व में अपनी एकता की रक्षा करते रहें और यह कभी न भूलें कि उनके आन्दोलन का आधार अहिंसा है।

८ अगस्त सन् १६४२ ई० को तीसरे पहर, प्रस्ताव स्वीकार हो जाने के पश्चात् गाँधी जी ने कमेटी के समक्ष देश के प्रमुख सेवक बन कर काँग्रेस का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा : "मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मुझे अकेले ही सारे संसार के विरुद्ध लड़ना होगा।······समस्त संयुक्त राष्ट्र भले ही मेरा विरोध करे, सम्पूर्ण भारत भले ही मुझे मेरी भूल समझाने का प्रयत्न करे, परन्तु मैं केवल भारत के हित के लिये नहीं अपितु सारे संसार के कल्याण के लिये, आगे ही बढ़ता जाऊँगा।······मैं स्वतन्त्रता के आने की अब अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मैं जिन्ना साहब के हृदय परिवर्तन की राह भी नहीं देख सकता।···यदि मैं और रुकूँगा तो ईश्वर मुझे दण्ड देगा। यह मेरे जीवन का अन्तिम संघर्ष है[1]।"

महात्मा गाँधी जानते थे कि आगामी संघर्ष जन आन्दोलन होगा। अतएव उन्होंने आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि इसमें कोई हिंसा का कार्य नहीं होना चाहिये। गाँधी जी तथा राष्ट्रपति आज़ाद ने यह भी बताया कि आन्दोलन आरम्भ करने के पूर्व वे एक बार फिर वाइसराय तथा संयुक्त राष्ट्रों के प्रमुखों से सम्मानपूर्ण समझौते के लिये अपील करेंगे।

परन्तु ६ अगस्त को सबेरे-तड़के, जब सारा बम्बई नगर सो रहा था, महात्मा गाँधी के साथ काँग्रेस कार्यसमिति के सब सदस्यों को गिरफ्तार करके अज्ञात स्थान में नज़रबन्द कर दिया गया। गाँधी जी को पूना के आग़ाखाँ महल में रखा गया था और कार्यसमिति के सदस्यों को अहमदनगर के क़िले में। परन्तु यह सब इतनी गुप्त रीति से किया गया था कि जनता को तनिक भी पता नहीं लग पाया। दूसरी ओर

1. "······I cannot wait any longer for Indian freedom. I cannot wait until Mr Jinnah is converted······If I wait any longer, God will punish me. This is the last struggle of my life." [Mahatma Gandhi]

सरकार का दमन-चक्र पूर्ण वेग से घूमने लगा। देश के सभी भागों में सहस्त्रों कॉंग्रेस के स्वयंसेवकों तथा स्वयंसेविकाओं की गिरफ्तारियाँ हुई। प्रदर्शनों तथा सभाओं को लाठियाँ चला कर भंग किया गया। स्थान-स्थान पर पुलिस तथा सेना ने गोलियाँ चलाईं और समाचार-पत्रों का मुंह बन्द कर दिया गया। अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के सदस्य बम्बई से लौटते हुये राह में ही पकड़ लिये गये। कॉंग्रेस की अखिल भारतीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय कमेटियाँ गैरकानूनी घोषित कर दी गईं, उनके कार्यालयों में सरकारी ताला लग गया, उनकी सम्पत्ति सरकारी कोषों में पहुंच गई और स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय झण्डे का अपमान किया गया। दमन की तूफ़ानी गति तथा उसके व्यापक संगठन से स्पष्ट हो जाता है कि सरकार इसके लिये बहुत पहले से तैयारी कर रही थी। वास्तव में इस बार कॉंग्रेस के आन्दोलन आरम्भ करने से पूर्व ही सरकार ने दमन आरम्भ कर दिया था। समाचार-पत्रों में सरकार द्वारा प्रमाणित समाचार ही छप सकते थे, अतएव देश के बाहर आन्दोलन का ठीक-ठीक हाल भी नहीं मिल पाता था।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि कांग्रेस ने वास्तव में सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन कभी अधिकृत रूप से आरम्भ ही नहीं किया। इसने केवल एक प्रस्ताव पास करके लोगों को यह आदेश दिया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा राष्ट्रीय माँगों के अस्वीकृत किये जाने पर वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दें। किन्तु सरकार के दमन ने जन-संघर्ष को जन्म दिया और यह आग शीघ्र ही देश के कोने-कोने में फैल गई। जनता अपने प्रिय नेताओं की गिरफ्तारी पर क्षोभ से पागल हो उठी। ९ अगस्त को देशव्यापी हड़ताल मनाई गई जो कुछ स्थानों में कई सप्ताह चलती रही। शिक्षालय बन्द हो गये और क्रोधातुर जनता ने तार और टेलीफोन के खम्भे उखाड़ना, तार काटना, रेलगाड़ियाँ उलटाना, स्टेशनों, थानों इत्यादि सरकारी भवनों को जलाना तथा पुलिस और अन्य सरकारी कर्मचारियों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। देश के कई भागों में रेलगाड़ियों का आना-जाना बन्द हो गया और कहीं-कहीं तो ऐसी अव्यवस्था फैली कि देश के अन्य भागों से किसी प्रकार का सम्पर्क ही नहीं रह गया। बम्बई से आन्दोलन आरम्भ होकर शीघ्र ही मद्रास, मध्यप्रान्त, बिहार, यू० पी० और बंगाल तक पहुँच गया। सिन्ध, आसाम और उड़ीसा में भी आग फैली और ११ अगस्त से तो सारे देश में स्थिति ने ऐसा भयानक रूप धारण किया कि उस पर नियंत्रण कठिन हो गया। आन्दोलन शीघ्र ही शहरों की सीमाओं को पार कर देहातों में पहुँचने लगा। आन्दोलन की एक विशेषता यह थी कि प्रायः सभी स्थानों पर विद्यार्थियों ने आन्दोलन में भाग लिया। बलिया तथा बस्ती (संयुक्तप्रान्त), सूरत (बम्बई) और पूरे बिहार प्रान्त ने इस आन्दोलन में जो कुछ किया उसकी कथा हमारे राष्ट्रीय इतिहास में गर्व के साथ लिखी जायेगी।

बलिया में तो ब्रिटिश सत्ता ही निर्मूल कर दी गई थी और बलूची सेना के आने तक जनता का शासन रहा। परन्तु बलूची सेना ने आकर स्त्री-पुरुष तथा बच्चों पर जो अत्याचार किये वे सर्वथा अमानुषिक तथा अवर्णनीय हैं। निःशस्त्र जनता पर गोलियाँ बरसाई गईं, लूटमार तथा हिंसा का नंगा ताण्डव नृत्य होने लगा, स्त्रियों का अपमान किया गया और निर्धन किसानों को सामूहिक अर्थ-दण्ड के भार से कुचला गया। बिहार तथा संयुक्तप्रान्त के दो-तीन स्थानों में वायुयानों से भी गोलियों की बौछार की गई। कई समाजवादी नेता छिपकर अपने ढङ्ग से आन्दोलन का संचालन करने लगे। श्री जयप्रकाश नारायण हजारीबाग़ जेल से निकल भागे परन्तु लाहौर के निकट विचित्र परिस्थितियों में फिर गिरफ्तार हो गये और लाहौर के किले में उन्हें अवर्णनीय यातनायें सहनी पड़ीं।

इस आन्दोलन में रेल, तार तथा सरकारी इमारतों को नष्ट किया गया, किन्तु कांग्रेस के सविनय अवज्ञा कार्यक्रम में इस प्रकार का कोई आदेश न था। गाँधी जी ने जो कार्यक्रम निश्चित किया था उसमें २४ घंटे की हड़ताल का आदेश था किन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा था कि "जो लोग सरकारी दफ्तरों में काम कर रहे हैं, सरकारी कारखानों, रेलवे, डाकखानों आदि में नौकरी कर रहे हैं, वे हड़ताल में न सम्मिलित हों, क्योंकि हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हम कभी भी जापानी, नाज़ी या फासिस्ट आक्रमण को सहन नहीं करेंगे, न हम अंग्रेज़ी राज्य को ही सहन करेंगे"। गाँधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक आन्दोलन ही सम्भव था। परन्तु कुछ स्थानीय तथा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों की ओर से जो आदेश जनता को मिले उनमें यद्यपि अहिंसा पर ज़ोर दिया गया था, फिर भी कुछ आदेश ऐसे थे जिनमें सेना में विद्रोह, पुल तोड़ना, रेल की पटरी हटाना इत्यादि कार्य सम्मिलित थे। २३ अगस्त को श्री के० जी० मश्रूवाला ने हरिजन में एक लेख में बतलाया कि "यातायात के साधनों में तोड़फोड़ मचाया जा सकता है......ऐसे संघर्ष में तार काटने, रेल की पटरियाँ हटाने, छोटे-छोटे पुलों को तोड़ने में कोई आपत्ति नहीं है, यदि ऐसा करने से कोई जीवन-हानि न हो। अहिंसात्मक क्रान्तिकारियों को चाहिये कि वे अंग्रेज़ी शासन को वैसा ही समझें जैसा वे धुरी राष्ट्रों (Axis powers) को समझते हैं... और अंग्रेज़ों के साथ यही समझ कर व्यवहार करें।" श्री मश्रूवाला के इस आदेश को जनता ने स्वयं गाँधी जी का आदेश माना और इसी भावना से प्रेरित होकर कार्य किया।

सरकारी अनुमान के अनुसार इस आन्दोलन में लगभग २५० रेल के स्टेशन तथा ५०० डाकघर नष्ट किये गये, १५० से अधिक पुलिस के थानों पर धावे हुये और कुछ अधिकारियों तथा सैनिकों के अतिरिक्त पुलिस के ३० कर्मचारी मारे गये। सन् १९४२ के अन्त तक पुलिस ने ५३८ अवसरों पर गोली चलाई, जिसके फलस्वरूप ९४० व्यक्ति मरे तथा १६३० घायल हुये। और यह क्रम सन् १९४२ ई० के बाद भी

चलता रहा। सब मिलाकर लगभग ६०,००० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। जैसा महात्मा गाँधी ने अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी में संकेत किया था, यह आन्दोलन वास्तव में सरकार के विरुद्ध "खुला विद्रोह" सिद्ध हुआ। परन्तु इसमें हिंसा का जो अंश आ गया था उसके लिये गाँधी जी कोई उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिये नहीं तैयार थे। आन्दोलन जिस प्रकार चला और जिस प्रकार जनता ने सरकार की दमन नीति का सामना किया उससे यह स्पष्ट अवश्य हो गया कि जनता का अब पुराने शुद्ध सत्याग्रह वाले ढंग पर विश्वास न था। वह डट कर पुलिस का सामना करने को तैयार थी, साथ ही उसने लुक छिपकर आक्रमण करने की नीति को भी अपनाया।

गाँधी जी ने सरकार से माँग की कि हिंसा के सम्बन्ध में काँग्रेस की स्थिति स्पष्ट करने का उन्हें अवसर दिया जाये, अथवा इतनी सुविधाएँ मिलें कि वे काँग्रेस की कार्यसमिति के साथ इस परिस्थिति पर विचार-विनिमय कर सकें। परन्तु लार्ड लिनलिथगो ने यह माँग स्वीकार नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि यदि गाँधी जी तथा काँग्रेस नेताओं को यह अवसर प्रदान किया गया तो संसार को यह ज्ञात हो जायेगा कि न तो काँग्रेस हिंसात्मक नीति का ही अवलम्बन करती है और न वह धुरी राष्ट्रों के प्रति सद्भावना ही रखती है। गाँधी जी को अपनी नीति स्पष्ट करने का अवसर न मिलने पर विवश होकर २१ दिन का अनशन आरम्भ करना पड़ा। उनकी दशा चिन्ताजनक होने लगी और देश के कोने-कोने से वाइसराय महोदय के पास प्रार्थनाओं का ताँता बंध गया। परन्तु लार्ड लिनलिथगो ने कहा कि बिना जनता के समक्ष अपनी भूल स्वीकार किये गाँधी जी कारागृह से मुक्त नहीं हो सकते। ईश्वर की कृपा तथा अपने आत्मबल से गाँधी जी ने संकट की अवस्था पार कर ली, परन्तु वाइसराय महोदय के इस निष्ठुर दृष्टिकोण से क्षुब्ध होकर उनकी विस्तारित कार्यकारिणी के तीन भारतीय सदस्यों—सर एच० पी० मोदी, श्री नलिनीरंजन सरकार तथा श्री एम० एस० अणे—ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। भारतमन्त्री एमरी लार्ड लिनलिथगो से भी अधिक हठी थे। उन्होंने काँग्रेस के साथ किसी प्रकार की बातचीत करना भी उचित नहीं समझा। परन्तु इतना उन्होंने अवश्य कहा कि यदि काँग्रेस "भारत छोड़ो" प्रस्ताव वापस ले ले तो क्रिप्स-योजना का द्वार अब भी उसके लिये खुला है।

सबसे अधिक खेद की बात यह थी कि इस संकटकाल में भारत के साम्यवादी दल ने भी काँग्रेस का साथ छोड़कर सरकार तथा मुस्लिम लीग के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसने "जन-युद्ध" का नारा उठाकर काँग्रेस को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापस लेने तथा पाकिस्तान के आधार पर मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने का उपदेश दिया। मुस्लिम लीग का कहना था कि "भारत छोड़ो" आन्दो-

लन मुसलमानों के हितों के विरुद्ध है। उधर जिन्ना साहब ने कांग्रेस विरोधी दलों की सहायता से केन्द्र में अस्थायी सरकार बनाने तक का प्रयत्न किया। परन्तु इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं मिली। उन्होंने गाँधी जी के साथ पाकिस्तान के आधार पर वार्त्तालाप करने का प्रस्ताव करते हुये बड़े गर्व के साथ कहा कि यदि गाँधी जी जेल से उनके नाम पत्र लिखें तो संसार की कोई भी शक्ति उसे उनके पास तक आने से नहीं रोक सकती। और गाँधी जी ने भी जेल से उनके नाम पत्र लिखा, परन्तु लार्ड लिनलिथगो ने उसे रोक लिया। इस पर जिन्ना साहब आराम से कुर्सी पर बैठे-बैठे हिन्दू कांग्रेस को गालियाँ देने लगे।

अगस्त आन्दोलन यद्यपि वास्तव में नवम्बर सन् १९४२ में ही दबा दिया गया था, फिर भी उसके साथ चलने वाले ध्वंसात्मक कार्य किसी न किसी रूप में साल भर तक चलते रहे। आन्दोलन का उचित नेतृत्व न होने के कारण वह सफल न हो सका। सफल जन-क्रान्ति के लिये जिस तैयारी की आवश्यकता होती है, वह यहाँ सम्भव ही न थी। भावुकता के आधार पर कार्य करने वाले व्यक्तियों और दलों ने सारे आन्दोलन को ग़लत रूप दे दिया। फलतः आन्दोलन असफल हो गया। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इस आन्दोलन के फलस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति विद्वेष और प्रतिशोध की भावना अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। जनता के प्रहार ने शासन व्यवस्था को डाँवाडोल कर दिया। सरकार को ज्ञात होगया कि स्वतन्त्रता के अतिरिक्त भारतीय जनता किसी दूसरे समझौते के मार्ग को नहीं स्वीकार करेगी।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन धीमा होते ही देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। जुलाई सन् ४३ में बंगाल, उड़ीसा और मालाबार में अकाल के चिह्न स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे। बंगाल के अकाल में ३० लाख से अधिक व्यक्ति मृत्यु के ग्रास हुये। इस दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व अँग्रेज़ी सरकार तथा बंगाल की लीग मिनिस्ट्री पर है, क्योंकि सरकारी कुप्रबन्ध के कारण व्यापारी वर्ग को चोरबाज़ारी की खुली छुट्टी मिल गई और जनता के प्राण गये। उड़ीसा, मालाबार, काठियावाड़ आदि स्थानों में भी सहस्रों व्यक्ति भूखों मर गये। सही नीति का अनुसरण करने से केन्द्र तथा प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हो सकती थी जिसके परिणामस्वरूप देश की राजनैतिक अवस्था ही न बदल जाती, अपितु देश भयानक अकाल से भी बच सकता था।

लार्ड वेवेल का आगमन—लार्ड लिनलिथगो के पश्चात् लार्ड वेवेल अक्टूबर सन् १९४३ ई० में वाइसराय होकर भारत आये। वे चर्चिल के विशेष विश्वासपात्र थे तथा इसके पूर्व भारत के प्रधान सेनापति होने के नाते क्रिप्स योजना से सम्बन्धित मन्त्रणाओं में महत्वपूर्ण भाग ले चुके थे। अतएव उनसे किसी विशेष नीति-परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती थी। तथापि कुछ लोग समझते थे कि

सैनिक वाइसराय महोदय गतिरोध दूर करने की दिशा में सैनिकोचित तत्परता का प्रदर्शन करेंगे। परन्तु लार्ड वेवेल ने बहुत दिनों तक अपने "मानसिक भण्डार" का रहस्योद्घाटन ही नहीं होने दिया और लोगों को निराशा होने लगी। आरम्भ में उन्हें कुछ समय तो बङ्गाल के दुर्भिक्ष से उत्पन्न परिस्थिति को सुधारने तथा पतनोन्मुख शासन-व्यवस्था में नया जीवन भरने में ही लग गये। यह समझ में आने वाली बात थी। परन्तु अपने आगमन के ६ मास पश्चात् अपने पहले भाषण में ही उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उन्हें भारत की समस्या सुलझाने में किसी प्रकार की उतावली नहीं है।

आज़ाद हिन्द सेना—अप्रैल सन् १९४४ ई० में महात्मा गाँधी बीमार पड़े और उनकी इस बीमारी ने अविचल लार्ड वेवेल को भी विचलित कर दिया। उनकी स्थिति दिन प्रति दिन गम्भीर होती जा रही थी अतएव लार्ड वेवेल ने हत्या के कलंक से बचने के लिए ६ मई को अनायास ही गाँधी जी को कारागृह से मुक्त कर दिया। उनके इस निश्चय का सम्भवत: एक और कारण भी था। जनवरी सन् १९४१ ई० में सुभाषचन्द्र बोस छिप कर भारत से भाग निकले थे और अफ़ग़ानिस्तान, इटली, तथा जरमनी होते हुए अन्त में जापान आ गये थे। उन्होंने पहले इटली, फिर जरमनी तथा अन्त में सिंगापुर में एक आज़ाद हिन्द सेना का संगठन किया था। नेता जी की यही आज़ाद हिन्द सेना इस समय पूर्व से भारत पर आक्रमण कर रही थी। अतएव गाँधी जी का जेल से बाहर होना आवश्यक समझा गया। अप्रैल सन् १९४४ ई० में आज़ाद हिन्द सेना भारत की सीमा पर आ गई थी तथा अंग्रेज़ों को पीछे हटा कर कोहिमा पर अधिकार कर चुकी थी। परन्तु अन्त में उसे युद्ध-सामग्री की कमी तथा असह्य वर्षा के कारण पीछे हटना पड़ा। जापान की पराजय के बाद आज़ाद हिन्द सेना ने भी अंग्रेज़ों को आत्म-समर्पण कर दिया, और जापान जाते हुए वायुयान-दुर्घटना के फलस्वरूप फ़ारमोसा द्वीप में नेता जी की मृत्यु हो गई। सन् १९४५ ई० में आज़ाद हिन्द सेना के तीन वीर नायकों—सहगल, ढिल्लन, तथा शाहनवाज़ पर दिल्ली के लाल किले में अभियोग चलाया गया। परन्तु जनता की सहानुभूति उनके साथ थी और अन्त में जब वे छोड़ दिए गये तब सारे देश ने संतोष की साँस ली।

राजा जी की योजना—रोगमुक्त होने पर महात्मा गाँधी ने वाइसराय से काँग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों से भेंट करने की सुविधा माँगी, परन्तु लार्ड वेवेल ने उनकी यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इसके पश्चात् गाँधी जी ने जिन्ना साहब के सम्मुख राजा जी द्वारा प्रस्तुत समझौते की योजना रखी। यह पहले बताया जा चुका है कि श्री राजगोपालाचार्य ने अप्रैल सन् १९४२ ई० में मुस्लिम लीग के साथ समझौते का प्रस्ताव रक्खा था जिसे काँग्रेस कार्यसमिति ने अस्वीकार कर दिया था। इस पर

उन्होंने विवश होकर काँग्रेस से त्यागपत्र दे दिया था। परन्तु काँग्रेस से पृथक् होने पर भी राजा जी काँग्रेस-लीग समझौते के प्रयत्न में लगे रहे। १० जुलाई सन् १९४४ को उन्होंने गाँधी जी की स्वीकृति से काँग्रेस और लीग के समझौते की एक योजना प्रकाशित की जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता की माँग का समर्थन करे तथा संक्रान्तिकालीन अस्थायी सरकार के निर्माण में काँग्रेस के साथ सहयोग करे।

(२) युद्ध समाप्त होने पर भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में मुस्लिम बहु-संख्यक समवर्ती क्षेत्रों की सीमा निर्धारित करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाये। तत्पश्चात् वयस्क मताधिकार प्रणाली के अनुसार इन क्षेत्रों के सब निवासियों की मत-गणना करके भारत से उनके सम्बन्ध-विच्छेद के प्रश्न का निर्णय किया जाये। यदि यह क्षेत्र भारत से अलग होना चाहें तो उन्हें अलग कर दिया जाये। परन्तु सीमावर्ती उपक्षेत्रों को अपनी इच्छानुसार एक अथवा दूसरे राज्य में रहने का अधिकार रहे।

(३) मत-गणना के पूर्व सब दलों को अपने दृष्टिकोण के प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(४) सम्बन्ध विच्छेद की दशा में रक्षा, यातायात तथा अन्य आवश्यक विषयों में पारस्परिक समझौते की व्यवस्था हो।

(५) आवश्यकता पड़ने पर जनसंख्या की स्वेच्छा के आधार पर अदला-बदली हो।

(६) उपरोक्त शर्तें उसी दशा में मान्य होंगी जब इङ्गलैंड भारतीयों को पूर्ण अधिकार तथा उत्तरदायित्व देना स्वीकार करले।

स्पष्ट है कि इस प्रस्ताव के अनुसार भी मुसलमानों को लगभग उतना प्रदेश मिल रहा था जितना उन्होंने सन् १९४७ ई० में माउंटबेटेन योजना के अन्तर्गत पाया। परन्तु सन् १९४४ ई० में जिन्ना साहब ने गाँधी जी का यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। वह मुस्लिम जनसंख्या वाले सभी ६ प्रान्त पूरे-पूरे चाहते थे तथा इन प्रान्तों के अन्य धर्मावलम्बियों को मत-गणना में भाग लेने का अधिकार नहीं दे रहे थे। रक्षा, यातायात, आदि समान-हित के विषयों की सम्मिलित व्यवस्था भी उन्हें स्वीकार नहीं थी। इसी वर्ष गाँधी जी ने साम्प्रदायिक समझौते का एक और प्रयत्न किया। बम्बई में कई दिन तक वार्तालाप चलता रहा। परन्तु अन्त में जिन्ना साहब ने कह दिया कि महात्मा गाँधी को काँग्रेस की ओर से कुछ कहने या करने का अधिकार ही नहीं है, और वार्तालाप का अन्त हो गया।

वेवेल योजना—गाँधी-जिन्ना वार्तालाप समाप्त होने के लगभग एक वर्ष बाद ब्रिटिश सरकार ने गतिरोध-भङ्ग करने का एक और प्रयत्न किया। २१ मार्च सन्

१९४५ को लार्ड वेवेल ने एमरी तथा चर्चिल से मंत्रणा करने के लिए शीघ्रतापूर्वक लन्दन के लिए प्रस्थान किया। ४ जून को वे लौट कर भारत आये। इससे स्पष्ट था कि इङ्गलैंड की सरकार आगामी साधारण निर्वाचन को दृष्टि में रख कर नीति परिवर्तन करना चाहती थी। १४ जून को मि० एमरी ने ब्रिटिश लोकसभा में तथा लार्ड वेवेल ने भारत में साथ-साथ घोषणा की कि काँग्रेसी नेतागण शीघ्र ही छोड़ दिये जायेंगे तथा शिमले में सब दलों के नेताओं का एक सम्मेलन होगा। इसके अतिरिक्त वाइसराय ने एक नई तथा जनमत की प्रतिनिधि कार्यपालिका सभा (Executive Council) बनाने के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजनैतिक नेताओं को निमन्त्रित किया। उन्होंने प्रस्ताव किया था कि इस नई कार्यपालिका सभा में सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों तथा "सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या समान अनुपात में हो।" इस प्रकार निर्मित कौंसिल को तत्कालीन विधान के अन्तर्गत शासन करना होगा, परन्तु वाइसराय तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इसके सब सदस्य भारतीय ही होंगे। जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है, विदेश-विभाग भी किसी भारतीय सदस्य को ही सौंप दिया जायेगा। परन्तु इसमें गवर्नर-जनरल द्वारा सन् १९३५ ई० के विधान के अन्तर्गत प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रयोग न करने का प्रश्न न था। इस अस्थायी सरकार के निर्माण का अन्तिम वैधानिक समझौते से भी कोई सम्बन्ध न था। वास्तव में इसका उद्देश्य स्थायी समझौते की राह बनाना था।

१६ जून सन् १९४५ ई० को काँग्रेस-कार्यकारिणी के सदस्य कारामुक्त किये गये और वे शीघ्रतापूर्वक शिमला पहुँचे जहाँ २५ जून को सम्मेलन आरम्भ हुआ। लार्ड वेवेल ने सब दलों के नेताओं से नई कार्यपालिका के लिए नामों की सूचियाँ माँगी। काँग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद ने एक पूरी सूची उपस्थित की जिसमें सभी दलों के प्रतिनिधि (तीन काँग्रेसी हिन्दू, दो काँग्रेसी मुसलमान, तीन लीगी मुसलमान तथा अन्य) सम्मिलित थे। उन्होने कहा कि काँग्रेस के दृष्टिकोण से कार्यपालिका में राष्ट्रीय मुसलमानों का होना सिद्धान्त का प्रश्न है, अन्यथा काँग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप पर कलंक लगेगा। परन्तु जिन्ना साहब ने अपने नाम देने के पहले यह आश्वासन माँगा कि कार्यपालिका के सब मुसलमान सदस्य लीगी ही होंगे। १४ जुलाई को लार्ड वेवेल ने घोषणा की कि कार्यपालिका-निर्माण के विषय पर राजनैतिक दलों में मतभेद होने के कारण सम्मेलन भङ्ग कर दिया गया है। वास्तव में काँग्रेस-लीग समानुपात को सवर्ण हिन्दू-मुसलमान समानुपात में बदल कर लार्ड वेवेल ने स्वयं बड़ी चतुराई से सम्मेलन की असफलता को अवश्यम्भावी बना दिया था। काँग्रेस ने लीग को प्रसन्न करने के लिए अपने सम्मान तथा सिद्धान्तों का भारी बलिदान करके हिन्दुओं के उचित प्रतिनिधित्व (अर्थात् जन-संख्या के अनुसार ७० प्रतिशत) का आधा तक स्वीकार कर लिया था, पर जिन्ना साहब के हठ की चट्टान से टकरा कर काँग्रेस की सारी

योजनायें चूर-चूर हो गईं। वास्तव में बात यह थी कि वाइसराय बिना मुस्लिम लीग की राय तथा सहयोग के कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे। वे लीग की आड़ में अपनी शक्ति बनाये रखना चाहते थे, वरना जिन्ना तथा मुस्लिम लीग की माँगों की अनुपयुक्तता पर विचार कर उन्हें ठुकराया जा सकता था। शिमला सम्मेलन ने यह सिद्ध कर दिया कि शक्ति का वास्तविक हस्तान्तर होने पर कॉंग्रेस तो शासन में भाग लेने के लिए प्रस्तुत थी, किन्तु ब्रिटिश सरकार भारतीय समस्या के हल का केवल दिखावामात्र कर रही थी।

भारत में साधारण निर्वाचन—२५ अगस्त सन् १९४५ को लार्ड वेवेल मि० एटली के मज़दूर सरकार से परामर्श करने फिर इङ्गलैंड गये। वहाँ जुलाई सन् १९४५ के साधारण निर्वाचन के पश्चात् अनुदार दल का शासन समाप्त हो चुका था और इस नई सरकार के भारतमन्त्री लार्ड पेथिक लारेन्स थे। लार्ड वेवेल की नई सरकार से मन्त्रणा के फलस्वरूप भारत की प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओं के लिये सन् १९४५-४६ के शीतकाल में साधारण निर्वाचन की घोषणा की गई। १९ सितम्बर को लार्ड वेवेल ने एक दूसरी घोषणा करते हुए बताया कि निर्वाचन के पश्चात् एक विधानसभा का निर्माण होगा तथा प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से कार्यपालिका का पुनर्संगठन किया जायेगा।

इसके उपरान्त निर्वाचन हुए। सभी प्रान्तों में लगभग शत-प्रतिशत गैर-मुस्लिम स्थान कॉंग्रेस को मिले। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में अधिकतर तथा संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार और आसाम में कुछ मुस्लिम स्थान भी कॉंग्रेस ने प्राप्त किये। अप्रैल सन् १९४६ में सिन्ध तथा बङ्गाल के अतिरिक्त सभी प्रान्तों में कॉंग्रेस ने शासन सँभाला। पंजाब में कॉंग्रेस, अकाली सिक्खों तथा यूनियनिस्ट दल का संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना, शेष सब प्रान्तों में शुद्ध कॉंग्रेसी शासन था।

मन्त्रिमण्डल मिशन के आगमन से पूर्व की परिस्थिति—कॉंग्रेस की इस अद्भुत विजय से अंग्रेज़ आश्चर्य-चकित हो गये। परन्तु आगामी एक वर्ष के द्रुतगामी क्रान्तिकारी परिवर्तनों के कुछ और कारण भी थे। युद्ध के उपरान्त सारे संसार में एक नवीन जन-जागरण हुआ था। मलाया, हिन्द-चीन, हिन्देशिया, बरमा तथा लंका के राष्ट्रीय आन्दोलनों ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी। जन-आन्दोलन की इस लहर से भारत भी अछूता नहीं बचा। बम्बई, कराची तथा मद्रास के भारतीय नाविकों (Royal Indian Navy) ने विद्रोह कर दिया था जिससे अंग्रेज़ों को बड़ी चिन्ता हुई। विद्रोह १८ फरवरी को बम्बई से आरम्भ होकर थोड़े ही समय में कराची तक फैल गया। भारतीय सैनिकों के इन विद्रोहियों पर गोली चलाने से इन्कार करने पर, अंग्रेज़ी सेना बुलाई गई। अंग्रेज़ों को अधिक शंका इसलिये हो रही थी कि कि जनता की सहानुभूति भी विद्रोहियों के साथ ही थी। इसी समय पहले अम्बाला

में और फिर अन्य स्थानों पर भी भारतीय वायुसेना (Indian Air Forces) की हड़ताल हुई। इन सब घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया था कि अब, अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से, भारतीय सेना की दशा सन्तोषजनक नहीं रह गई थी। अंग्रेज़ों के हृदय में यह भय पैठ गया कि राष्ट्रीय जागरण सेना तक पहुँच जाने से अब उनके साम्राज्य का आधार ही नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त, आज़ाद हिन्द सेना के सैनिकों पर जो अभियोग चलाया गया था उससे भी देश में रणोन्मुख राष्ट्रीयता की आग भड़क उठी थी। दूसरी ओर, युद्ध में विजयी होकर भी इङ्गलैंड की दशा पहले जैसी नहीं रह गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका महत्व बहुत कम हो गया था और युद्धोत्तर संसार के सबसे शक्तिशाली देश अमेरिका और रूस हो गये थे। स्वयं इङ्गलैंड में भी अनुदार दल की पराजय तथा मज़दूर दल की विजय इस बात की सूचक थी कि भारतीय गतिरोध को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर समस्या का मैत्रीपूर्ण समाधान होना अत्यन्त आवश्यक है।

मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना (Cabinet Mission Plan)—इसी बीच, सन् १९४५-४६ ई० के शीतकाल में भारतीय परिस्थिति के विषय में ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्रिटिश लोकसभा का एक शिष्टमण्डल (Parliamentary Delegation) यहाँ आया। इस शिष्टमण्डल ने इङ्गलैंड लौट कर बताया कि भारत में शासन-अधिकार को तुरन्त हस्तान्तरित कर दिया जाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। परिस्थिति इतनी गम्भीर हो रही थी कि अब विलम्ब का समय नहीं रह गया था। अतएव, १९ फरवरी सन् १९४६ ई० को ब्रिटिश सरकार ने लोक सभा में घोषणा की कि "भारतीय जनमत के नेताओं के साथ होनेवाले वार्तालाप की सफलता भारत, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा संसार की शांति के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संविधानसभा की स्थापना तथा प्रमुख राजनैतिक दलों की विश्वासपात्र कार्य-पालिका के निर्माण के विषय में लार्ड वेवेल के साथ मिल कर भारतीय नेताओं से परामर्श करने के लिये शीघ्र ही मन्त्रिमण्डल का एक विशेष मिशन भारत आयेगा जिसमें भारतमन्त्री लार्ड पेथिक लारेन्स, व्यापार बोर्ड के सभापति सर स्टैफर्ड क्रिप्स तथा मि० ए० वी० अलेक्ज़ान्डर सम्मिलित होंगे।" १५ मार्च को प्रधानमन्त्री ने लोकसभा में एक और वक्तव्य दिया जिसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश यह था कि अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों की प्रगति की राह में रुकावट नहीं डालने दी जायेगी। इससे प्रतीत होता था कि ब्रिटिश सरकार की मुस्लिम लीग सम्बन्धी नीति में परिवर्तन होने वाला है।

तीनों मन्त्री २३ मार्च को कराची में आकर उतरे। भारतमन्त्री के शब्दों में, उन्होंने पहले से ही दृढ़ निश्चय कर लिया था कि विषम तत्वों को सम बनाकर और न सुलझनेवाली गुत्थी को सुलझा कर ही छोड़ेंगे। १ अप्रैल से १७ अप्रैल तक वे

विभिन्न दलों तथा वर्गों के भारतीय नेताओं से मिले। इसी बीच नई दिल्ली में कांग्रेस और लीग के बीच भी समझौते की बातचीत हुई। अन्त में दोनों दलों से कहा गया कि वे अपने चार-चार प्रतिनिधि मई के आरम्भ में मन्त्रिमण्डल मिशन के साथ संयुक्त वार्तालाप के लिये शिमला भेजें। इस शिमला सम्मेलन में कांग्रेस की ओर से मौलाना आज़ाद, पं० नेहरू, सरदार पटेल तथा खान अब्दुल गफ्फ़ार ख़ाँ ने, और मुस्लिम लीग की ओर से मि० जिन्ना, नवाब इस्माइल ख़ाँ, नवाबज़ादा लियाक़त अली ख़ाँ और सरदार अब्दुर् रब निश्तर ने भाग लिया। परन्तु सदा की भाँति इस बार भी किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका और १२ मई को यह सम्मेलन भी समाप्त हो गया।

इसके पश्चात् १६ मई सन् १९४६ ई० को मन्त्रिमण्डल मिशन ने भारतीय समस्या के समाधान के लिये अपनी योजना प्रकाशित की। यह वास्तव में लीग के पाकिस्तान तथा कांग्रेस के संयुक्त भारत के बीच एक प्रकार का समझौता था। इसके मुख्य प्राविधान निम्नलिखित थे—

(१) एक भारतीय संघ की स्थापना की जायेगी। यह संघ वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा यातायात विभागों की व्यवस्था करेगा तथा इसे उक्त व्यवस्था के लिये आवश्यक अर्थ-संग्रह करने का अधिकार होगा। इस संघ में ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा राज्य दोनों ही सम्मिलित होंगे।

(२) संघ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कार्यपालिका तथा धारा-सभा होगी। धारा-सभा में प्रत्येक ऐसे प्रश्न का निर्णय करने के लिये, जिसका सम्बन्ध किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्या से हो, दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित तथा मतदाता प्रतिनिधियों एवं सब उपस्थित तथा मतदाता सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा।

(३) संघ-सूची के अतिरिक्त अन्य सब विषयों तथा समस्त अवशिष्ट शक्तियों (residuary powers) पर प्रान्तों का अधिकार होगा।

(४) देशी राज्यों को वे सारे अधिकार होंगे जो उन्होंने संघ-शासन को नहीं दिये हैं।

(५) प्रान्तों को अपने अलग वर्ग बनाने का अधिकार होगा। इन वर्गों की अपनी कार्यपालिका तथा धारासभायें होंगी और प्रत्येक वर्ग निश्चय करेगा कि प्रांतीय-सूची में से किन-किन विषयों की इस प्रकार सम्मिलित व्यवस्था होगी। इस प्रकार के सब मिलाकर तीन वर्ग बनेंगे, 'अ' वर्ग में मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा सम्मिलित होंगे; 'ब' वर्ग में उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश, पंजाब तथा सिन्ध; और 'स' वर्ग में बंगाल तथा आसाम।

(६) संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के २६६ (साधारण २१०, मुसलमान ७८, सिख ४ तथा चीफ़ कमिश्नरों द्वारा शासित क्षेत्रों से ४) और देशी राज्यों के अधिक से अधिक ६३ प्रतिनिधि होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि प्रान्तीय धारा सभाओं के निम्न आगारों (Lower Houses) द्वारा अनुपाती प्रतिनिधान (proportional representation) प्रणाली के अनुसार निर्वाचित किये जायेंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि मन्त्रणा द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। प्रारम्भिक अवस्था में देशी राज्यों का प्रतिनिधित्व उनकी एक विशेष मन्त्रणा समिति (Negotiating Committee) करेगी।

(७) संविधान सभा तीन वर्गों में विभक्त होगी:—(अ) मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा के १६० तथा चीफ़ कमिश्नरों द्वारा शासित क्षेत्रों के ३ सदस्य; (ब) पंजाब, उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान के ३६ सदस्य; और (स) बङ्गाल तथा आसाम के ७० सदस्य।

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का विभिन्न प्रान्तों तथा वर्गों में विभाजन निम्नलिखित रूप से करने का प्रस्ताव था:—

वर्ग (अ)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
उत्तरप्रदेश	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग	१६७	२०	१८७

इस प्रकार वर्ग 'अ' में गवर्नर के प्रान्तों के १८७ प्रतिनिधि तथा दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा तथा कुर्ग के चीफ़ कमिश्नर के प्रान्तों में हर एक को एक-एक प्रतिनिधि देकर कुल योग १९० हुआ।

वर्ग (ब)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	सिख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	०	३	०	३
सिन्ध	१	३	०	४
योग	९	२२	४	३५

इस प्रकार वर्ग 'ब' में गवर्नर के प्रान्तों से ३५ तथा बिलोचिस्तान के चीफ़ कमिश्नर के प्रान्त से १ प्रतिनिधि मिलाकर कुल योग ३६ हुआ।

वर्ग (स)

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की कुल संख्या = २९६

(८) प्रमुख राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों की अस्थायी सरकार बनाई जायेगी, परन्तु वाइसराय के विशेषाधिकार पूर्ववत् बने रहेंगे और देशी राज्यों से सम्बन्धित ब्रिटिश शासन-सत्ता का प्रभुत्व नई सरकार को हस्तान्तरित नहीं किया जायेगा।

(९) संघ तथा वर्गों के संविधानों में इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य रखी जायेगी कि संविधान लागू होने के दस वर्ष उपरान्त, तथा इसके पश्चात् दस-दस वर्ष के अन्तर से, कोई भी प्रान्त अपनी धारा सभा के बहुमत द्वारा विधान की धाराओं में संशोधन किए जाने की माँग कर सके।

(१०) संविधान सभा इङ्गलैंड की सरकार के साथ एक सन्धि करेगी जिसके द्वारा उपरोक्त प्रस्तावों की पुष्टि होगी।

इस योजना की व्याख्या करते हुए बताया गया कि प्रारम्भिक खुले अधिवेशन के पश्चात् प्रान्तीय तथा वर्गीय संविधान बनाने के लिए विधान सभा 'अ', 'ब' तथा 'स' वर्गों में विभाजित हो जायेगी। तत्पश्चात् तीनों वर्ग फिर एक होकर संघीय संविधान का निश्चय करेंगे। आरम्भ से अन्त तक प्रतिनिधियों के निर्वाचन का आधार साम्प्रदायिक ही था और प्रत्येक प्रान्त की सदस्य संख्या उसकी साम्प्रदायिक जन-संख्या के अनुपात में निर्धारित की गई थी। दस वर्ष की प्रारम्भिक अवधि के उपरान्त वर्गों को संघ से सम्बन्ध विच्छेद करने का अधिकार दिया गया था। विधान सभा द्वारा निर्मित किसी भी संविधान को लागू करने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर था। ब्रिटिश सरकार की इच्छा तो यही थी कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रसंघ में रहे, परन्तु भारत को इच्छानुसार सम्बन्ध-विच्छेद का पूर्ण अधिकार था।

योजना की आलोचना—मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना में वर्गीकरण प्रणाली का समावेश विशेष रूप से मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को संतुष्ट करने के लिए किया गया था। वास्तव में रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा यातायात के अतिरिक्त अन्य सब क्षेत्रों में एक प्रकार से पाकिस्तान का सिद्धान्त स्वीकार ही कर लिया गया था। दूसरी

और काँग्रेस के लिए भी इतना सन्तोष था कि मिशन ने तत्काल एक अलग मुस्लिम राज्य की स्थापना नहीं की थी और विभाजन भी कम से कम थोड़े समय के लिए तो टल हो गया था। इसके अतिरिक्त, विधान सभा के निर्माण में अल्प-संख्यकों के दीर्घानुपात (Weightage) का सिद्धान्त भी नहीं स्वीकार किया गया था। परन्तु अस्थायी सरकार के निर्माण में हिन्दू-मुसलमानों का समानुपात अब भी पूर्ववत् था। इस योजना की एक और विशेषता यह थी कि प्रस्तावित विधान सभा में केवल भारतीय सदस्य ही रखे गये थे। मिशन ने इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा था कि संविधान परिषद् के सदस्यों के चुनाव में योरोपियन सदस्य भाग न लें और संविधान सभा के कार्य में सरकारी अफसर किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकें। अतः संविधान परिषद् के निर्माण तथा कार्य-संचालन की योजना लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर थी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व केवल मुसलमानों तथा सिक्खों के लिए रक्खा गया था जब कि १९३५ के ऐक्ट के अन्तर्गत भारतीय ईसाइयों, एंग्लो इण्डियन (Anglo Indians) तथा अन्य छोटे-छोटे वर्गों के लिए भी इसकी व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के क्षेत्र को सीमित कर दिया गया। १७ मई को लार्ड वेवेल ने अपने एक भाषण में कैबिनेट मिशन योजना के गुणों की व्याख्या इस प्रकार की—"आपके सामने जो योजनायें रक्खी गई हैं वे ऐसी नहीं हैं जिन्हें कोई अकेला दल पसंद करता। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि इन योजनाओं को ही आधार मानकर भारत के सुव्यवस्थित तथा संगठित संविधान का निर्माण सम्भव है। इनसे भारत की उस मौलिक एकता की रक्षा सम्भव है जिसे दो बड़े वर्गों के बीच वैमनस्य से बराबर खतरा बना हुआ है; और वे विशेष रूप से भारतीय सैनिक शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचा लेंगी और इसी शक्ति के संगठन पर भारत की भविष्य रक्षा सम्भव है।

"मुसलमानों को अपने धर्म, अपनी शिक्षा, अपनी संस्कृति और अपने आर्थिक तथा अन्य हितों की रक्षा का पूरा अधिकार इन योजनाओं में मिलेगा।......... सिक्खों के लिए उनका पंजाब अविभाजित रक्खा जायेगा.........इन योजनाओं से भारत में पूर्ण शान्ति स्थापित होने की आशा है। यह शान्ति वर्गगत विद्वेषों से परे होगी।"

कैबिनेट मिशन योजना भारत की वैधानिक प्रगति में पिछली सभी योजनाओं से आगे अवश्य थी, परन्तु अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी दलों ने इस योजना की आलोचना की। काँग्रेस ने योजना को अस्वीकार करने के निम्नलिखित कारण बताये :—

(१) इसमें प्रस्तावित केन्द्रीय शासन अत्यन्त निर्बल था। उसका अधिकार केवल विदेश, रक्षा तथा यातायात सम्बन्धी तीन विषयों तक ही सीमित था। चलार्थ (Currency), अधिकोषण (Banking), निराक्रम्य (Customs), माप एवं

भारदण्ड (Weights and Measures), निर्माण तथा विकास (Planning and Development), मुद्रा-विनिमय (Exchange), इत्यादि, महत्वपूर्ण विषयों पर उसका कोई अधिकार नहीं रक्खा गया था। इस विकेन्द्रीयकरण के फलस्वरूप देश में भयानक आर्थिक अव्यवस्था का जन्म होना स्वाभाविक था।

(२) गवर्नर जनरल अब भी कार्यकारिणी का कार्यशील अध्यक्ष था, सत्ता का प्रतीकमात्र वैधानिक शासक नहीं।

(३) यह आशंका थी कि साम्प्रदायिक वर्गीकरण प्रणाली निश्चय ही देश को तीन भागों में विभक्त कर देगी। इसका परिणाम राष्ट्रीय एकता तथा जनतन्त्र के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा।

(४) प्रांतों का अनिवार्य वर्गीकरण प्रान्तीय स्वराज्य के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। उदाहरण के लिये, हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्त आसाम तथा राष्ट्रीय मुस्लिम बहुसंख्यक उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त को अपनी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान 'ब' और 'स' वर्गों में सम्मिलित किया गया था।

(५) अन्य संघ-शासित देशों की प्रचलित प्रणाली के प्रतिकूल भारतीय संघ के कुछ अंगों (उदाहरणार्थ देशी राज्यों) के लिये संघ में सम्मिलित होने के पूर्व अपने प्रदेशों में जनतन्त्रात्मक संविधान करना अनिवार्य नहीं किया गया था।

(६) अस्थायी सरकार में लीग तथा काँग्रेस के समानुपात का प्रस्ताव "न तर्कयुक्त था, न न्यायसङ्गत, न उचित और न जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों के अनुरूप ही[1]।" इसने काँग्रेस को साम्प्रदायिक संस्था के नीचे स्तर पर गिरा दिया। साथ ही काँग्रेस का यह कहना न्यायसङ्गत था कि वह भारत की ७५ प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है और लीग केवल २५ प्रतिशत का, अतएव लीग के साथ उसकी बराबरी का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये।

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के १ जून, सन् १९४६ ई० के सूचना-पत्र में उसके दृष्टिकोण की सुन्दर तथा संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की गई थी: "प्रतिबन्धों, आरक्षणों, अभिरक्षणों तथा वर्गहितों के संतुलन के (इस) बन में स्वतन्त्र भारत का स्पष्ट चित्र ही नहीं दिखाई पड़ता है[2]।"

---

1. The suggestion for parity between the Congress and the League in the Interim Government was, "neither commonsense, nor justice, nor equity, nor democracy."

2. "In the jungle of restrictions, reservations, safeguards and the balancing of one interest against another, it is difficult to visualise a clear and complete picture of a free and independent India."

मुस्लिम लीग की आलोचना भी इससे कम तीव्र नहीं थी। उसका कहना था कि इस योजना में पाकिस्तान की माँग के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं किया गया था। मुसलमान राष्ट्र अब भी भारत भूखण्ड में स्थित पूर्ण स्वतन्त्र पाकिस्तान की माँग पर अडिग था। सिखों की प्रतिक्रिया इससे भी अधिक महत्वपूर्ण थी। उन्होंने कहा कि इस योजना में केवल हिन्दुओं तथा मुसलमानों के हितों का ही ध्यान रखा गया था और सिखों का भविष्य ३६ सदस्यों की एक ऐसी संस्था को सौंपा गया था जिसमें २३ मुसलमान, ६ हिन्दू तथा केवल ४ सिख होंगे। ऐसी संस्था से न्याय, सहानुभूति अथवा निष्पक्षता की आशा किस प्रकार की जा सकती थी? हिन्दू महासभा की अखिल भारतीय समिति ने यह आक्षेप किया कि भारत की एकता तथा उसके संगठन को कैबिनेट मिशन ने केवल सिद्धान्त रूप में माना था, व्यवहार में नहीं। उसके अनुसार कैबिनेट मिशन योजना का प्रमुख दोष अन्य अल्पसंख्यकों का ध्यान न रखते हुए केवल मुस्लिम लीग को प्रसन्न करना था। प्रान्तों को वर्गों में विभाजित करने के सिद्धान्त का भी उसने विरोध किया क्योंकि महासभा का ध्येय अखण्ड भारत था। देशी राजाओं के दृष्टिकोण से योजना ठीक थी, किन्तु देशी रियासतों की जनता के प्रतिनिधियों ने आल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेन्स (All India States Peoples' Conference) में इस बात पर आश्चर्य तथा दुःख प्रकट किया कि योजना में देशी रियासतों की जनता के प्रतिनिधियों का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। साम्यवादी लेखक रजनी पामदत्त ने योजना की आलोचना इस प्रकार की : "सन् १६४६ ई० की वैधानिक योजना में भारतीय राजनैतिक जीवन के विभिन्न तत्वों के संतुलन की पुरानी प्रणाली का ही प्रयोग किया गया था। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य था प्रतिक्रियावादी देशी नरेशों की धुरी पर कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग का इस ढंग से संतुलन करना कि कार्य-रूप में तथाकथित स्वतन्त्रता का नाम भी न रह जाये और अन्तिम तथा वास्तविक शासन-अधिकार अँग्रेज़ों के हाथों में ही बना रहे[1]।"

इस प्रकार आलोचना करते हुये भी अन्तत: सभी दलों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। प्रत्येक दल इसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति का साधन बनाना चाहता

1. "The constitutional plan of 1946 contiuued the old method of elaborate balancing and counter-poise of the different elements in Indian political life, especially of building a political situation on communal antogonism, by balancing the Congress against the Muslim League, with the Princes as the reactionary pivotal force, in such a way as to nullify in practice the supposed offer of Indian freedom and retain effective final control in their hands." [R. Palme Dutt]

था। इसकी अनिवार्य वर्गीकरण प्रणाली में पाकिस्तान का आधार निहित था, अतएव ६ जून सन् १९४६ ई० को मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार कर लिया। १४ जून को कांग्रेस ने बताया कि वह अल्पकालीन प्रस्तावों से कभी सहमत नहीं हो सकती। तथापि वह दीर्घकालीन योजना को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर थी। सिखों ने आरम्भ में तो धारासभा में अपने प्रतिनिधि भेजना तक स्वीकार नहीं किया, परन्तु बाद में उन्होंने भी अपनी नीति बदल दी और योजना को कार्यान्वित करने के लिये तत्पर हो गये क्योंकि कांग्रेस ने उनके अधिकारों तथा हितों की रक्षा करने का आश्वासन दिया।

विधान-सभा निर्माण—उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि अब गतिरोध का अन्त अवश्य हो जायगा। परन्तु होना कुछ और ही था। कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई सन् १९४६ ई० में संविधान-सभा के निर्वाचन हुये। इनके फलस्वरूप २१० साधारण स्थानों में १९९ कांग्रेस को मिले। इसके अतिरिक्त चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित प्रदेशों में ४ में से ३ स्थानों में कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने गये और १ सिख तथा ३ मुसलमान स्थान भी कांग्रेस ने प्राप्त किये। अकाली दल तथा पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी के ५ प्रतिनिधि चुने गये। इस प्रकार सब मिलाकर २९६ सदस्यों की संविधान-सभा में २११ सदस्य कांग्रेस-पक्ष के हो गये। मुस्लिम लीग के केवल ७३ प्रतिनिधि निर्वाचित हुये थे। जिन्ना साहब ने इसे पशुबल का बहुमत बताया और शीघ्र ही विधान-सभा की सत्ता तथा 'स' वर्ग में आसाम की स्थिति के प्रश्नों पर विरोध करना आरम्भ कर दिया। कांग्रेस का कहना था कि विधान-सभा एक सर्वसत्तापूर्ण संस्था है, तथा योजना के अनुसार आसाम को अधिकार है कि यदि 'स' वर्ग का प्रस्तावित विधान उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल प्रतीत हो तो वह प्रारम्भिक अवस्था के बाद किसी समय वर्ग से बाहर आ सकता है। जिन्ना साहब दोनों प्रश्नों पर कांग्रेस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। अतः उन्होंने बम्बई में लीग-कार्यकारिणी की एक बैठक बुलाई और उसमें पूरी सुधार-योजना पर फिर विचार करने के बाद उसे अस्वीकार कर दिया गया। २९ जुलाई सन् १९४६ की इसी बैठक में लीग ने, पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये, मुसलमानों को 'प्रत्यक्ष आन्दोलन' (Direct Action) आरम्भ करने का आदेश दिया। यह निश्चय हुआ कि १६ अगस्त को समस्त देश में 'प्रत्यक्ष-आन्दोलन दिवस' मनाया जाय। इस प्रत्यक्ष आन्दोलन के फलस्वरूप कलकत्ता, पूर्वी बंगाल तथा पंजाब में विनाश का नग्न नृत्य आरम्भ हो गया। कलकत्ते में तीन दिन तक लीग मन्त्रिमण्डल की छत्रछाया में अमानुषीय रक्तपात हुआ। कलकत्ते से आग नोआखाली पहुँची जहाँ हिन्दुओं पर बर्बरतापूर्ण अत्याचार हुए। इन अत्याचारों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बिहार में हिन्दुओं ने मुसलमानों पर आक्रमण किए। इस प्रकार सारे देश में अशान्ति फैल गई और जन-धन की बड़ी हानि हुई।

अस्थायी सरकार—हम ऊपर बता चुके हैं कि कांग्रेस ने केबिनेट मिशन की योजना की संविधान सभा सम्बन्धी दीर्घकालीन योजना स्वीकार कर ली थी, परन्तु उसने मन्त्रिमण्डल मिशन की अस्थायी सरकार बनाने की अल्पकालीन योजना स्वीकार नहीं की थी। इसका मुख्य कारण जिन्ना साहब का हठ था। वे इस बात पर अड़े थे कि अस्थायी सरकार में कांग्रेस तथा लीग के सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर हो, कांग्रेस के प्रतिनिधियों में कोई मुसलमान न हो, तथा किसी एक सम्प्रदाय के विरोध करने पर उस विषय में सरकार कोई महत्वपूर्ण निर्णय न करे। कांग्रेस स्वभावत: इस व्यवस्था के विरुद्ध थी। अत: जब लार्ड वेवेल ने कांग्रेस अध्यक्ष के पास इस आशय का सुझाव भेजा जिसमें उन्होंने अस्थायी सरकार के निर्माण में कांग्रेस तथा लीग को बराबर प्रतिनिधित्व देने की बात कही, तो कांग्रेस अध्यक्ष ने वाइसराय को उत्तर दिया कि कांग्रेस ऐसा कोई भी सुझाव स्वीकार नहीं कर सकती क्योंकि वह हिन्दुओं के प्रति न्यायपूर्ण नहीं है और उसमें ग़ैरलीगी मुसलमानों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इस पर मिशन ने १६ जून १६४६ को एक घोषणा की जिसमें १४ सदस्यों की अन्तर्कालीन सरकार बनाने की एक योजना उपस्थित की गई। इस योजनामें देश के विभिन्न दलों को इस प्रकार प्रतिनिधित्व दिया गया—६ कांग्रेस (५ सवर्ण हिन्दू और १ हरिजन), ५ लीग, १ अकाली सिख, १ पारसी और १ ईसाई। १६ जून की घोषणा में यह भी बतलाया गया कि अन्तर्कालीन सरकार में देश के दोनों प्रमुख दलों, लीग तथा कांग्रेस, का रहना आवश्यक है। किन्तु यदि वे दोनों या उनमें से कोई एक अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित होने में अपनी असमर्थता प्रकट करेगा तो वाइसराय एक ऐसी अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना करेंगे जो १६ मई की घोषणा स्वीकार करने वालों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके। कांग्रेस ने १६ जून की घोषणा के अनुसार एक अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना का विरोध करते हुए कहा कि कांग्रेस किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण समझौता स्वीकार नहीं कर सकती और वह किसी साम्प्रदायिक वर्ग को 'वीटो' का अधिकार प्रदान करने के सिद्धान्त से भी सहमत नहीं है। १६ जून की योजना में मुसलमानों के पाँचों प्रतिनिधि लीगी थे। और जब कांग्रेस ने यह अधिकार माँगा कि वह अपने प्रतिनिधियों में चाहे जिसे नामज़द करे—और विशेषकर एक राष्ट्रीय मुसलमान को स्थान दे—तो उसकी बात अस्वीकार कर दी गई। इस प्रकार यह योजना कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट करने की एक चाल मात्र थी, किन्तु कांग्रेस उसमें न फँस सकी। चूंकि कांग्रेस ने १६ मई की दीर्घकालीन योजना को तो स्वीकार किया था और १६ जून की अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना सम्बन्धी योजना को अस्वीकार, अत: लार्ड वेवेल कुछ उलझन में पड़ गये और उन्होंने अन्तर्कालीन सरकार बनाने का निश्चय कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दिया। वाइसराय के इस निश्चय से लीग ने २६ जुलाई के अपने प्रस्ताव

द्वारा केबिनेट मिशन की दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही योजनाओं के प्रति अपने सहयोग की समाप्ति कर दी। अब अस्थायी सरकार बनाने की अधिकारिणी अकेली कांग्रेस ही रह गई। दोनों दलों की एक संयुक्त सूची बनाने के विषय में पं० जवाहरलाल नेहरू तथा जिन्ना साहब के बीच वार्तालाप भी चला, परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला। अन्त में लार्ड वेवेल ने अस्थायी सरकार बनाने के लिये कांग्रेस से नाम माँगे और ३ सितम्बर सन् १९४६ ई० को पं० नेहरू के मन्त्रिमण्डल ने पद की शपथ ली। इसमें ५ काँग्रेसी हिन्दू, १ काँग्रेसी तथा २ गैरकाँग्रेसी मुसलमान, १ अकाली सिख, १ गैरकाँग्रेसी भारतीय ईसाई, १ गैरकाँग्रेसी पारसी तथा १ काँग्रेसी अनुसूचित जाति, सब मिलाकर १२ सदस्य थे। परन्तु लार्ड वेवेल अब भी जिन्ना साहब से वार्तालाप कर रहे थे और अक्टूबर में उन्होंने मुस्लिम लीग को अस्थायी सरकार में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। परन्तु लीग से काँग्रेस के साथ सम्मिलित उत्तरदायित्व स्वीकार करने का वचन नहीं लिया गया था और न उससे संविधान निर्माण में सहयोग देने का ही वचन लिया गया था। जब लार्ड वेवेल लीगी सदस्यों को अन्तर्कालीन सरकार में लाने के लिये प्रस्तुत हुये तो पं० नेहरू लीग से यह आश्वासन चाहते थे कि वह सरकार तथा संविधान सभा के कार्यों में पूर्ण सहयोग देगी। इसके उत्तर में वाइसराय ने पं० नेहरू को लिखा था, "श्री जिन्ना ने मुझे यह आश्वासन दिया है कि लीग अन्तर्कालीन सरकार तथा संविधान सभा में सहयोग के उद्देश्य से ही सम्मिलित होना चाहती है।" किन्तु लीगी सदस्यों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने सरकार के भीतर अपना अलग गुट बनाया और ६ दिसम्बर को होने वाली संविधान सभा की पहली बैठक में भी मुस्लिम लीग ने कोई भाग नहीं लिया।

फिर गतिरोध—इन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड वेवेल के साथ दो काँग्रेसी, दो लीगी तथा एक अकाली प्रतिनिधियों को लन्दन में मन्त्रणा के लिये निमन्त्रित किया। काँग्रेस प्रतिनिधि लन्दन जाने के लिये प्रस्तुत न थे किन्तु प्रधानमन्त्री एटली के व्यक्तिगत अनुरोध तथा यह आश्वासन देने पर कि सरकार की इच्छा योजनाओं को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने की है, काँग्रेस की ओर से अकेले पं० नेहरू लन्दन गये। लीग की ओर से मि० जिन्ना तथा नवाबज़ादा लियाक़त अली खाँ ने और सिखों की ओर से सरदार बल्देवसिंह ने इस मन्त्रणा में भाग लिया। इन नेताओं से परामर्श करने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने ६ दिसम्बर सन् १९४६ ई० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें मन्त्रिमण्डल-मिशन-योजना के वर्गीकरण खंड के विषय में मुस्लिम लीग की व्याख्या का समर्थन किया गया। परन्तु लीग ने इतने पर भी ९ दिसम्बर को होने वाले विधान-सभा के उद्घाटन में भाग नहीं लिया। और ३१ जनवरी सन् १९४७ को लीग की कार्यकारिणी ने कहा कि संविधान-सभा का निर्वाचन और अधिवेशन आरम्भ से ही नियम-विरुद्ध तथा अमान्य था, अतएव ब्रिटिश

सरकार को इसका अविलम्ब विलयन (Dissolution) कर देना चाहिये। परन्तु विधान-सभा की कार्यवाही चलती रही और उसने दिसम्बर-जनवरी में लीग की अनुपस्थिति में ही उद्देश्य-प्रस्ताव (Objectives Resolution) स्वीकार करके अपना प्रारम्भिक कार्य समाप्त कर लिया।

गम्भीर साम्प्रदायिक परिस्थिति—इस बीच लीग की प्रत्यक्ष आन्दोलन की नीति के फलस्वरूप साम्प्रदायिक परिस्थिति वेगपूर्वक गम्भीर होती चली जा रही थी। कलकत्ता, नोआखाली, टिपरा, बिहार और पंजाबमें रक्त और आँसुओं से इतिहास लिखा जा रहा था। पंजाब में लीग ने संयुक्त मंत्रिमण्डल के विरुद्ध हिंसात्मक आन्दोलन आरम्भ कर दिया था और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में गुण्डेशाही चल रही थी। पश्चिमी पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश में फरवरी और मार्च के पूरे दो महीनों भर विस्तृत अव्यवस्था का राज्य रहा। नगरों तथा गावों में असहाय हिन्दुओं और सिक्खों पर मुसलमानों ने संगठित आक्रमण किये; घर लूट कर जला दिये गये, बच्चे और बूढ़े भी नहीं छोड़े गये और कहीं-कही तो पूरे-पूरे परिवारों को जीवित ही भून डाला गया।

अंग्रेजों के भारत छोड़ने का निश्चय—कैबिनेट मिशन के चले जाने के पश्चात् की घटनाओं ने, विशेषकर अन्तर्कालीन सरकार के निर्माण सम्बन्धी काँग्रेस-लीग झगड़ों ने, यह सिद्ध कर दिया कि स्थिति ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण के बाहर है तथा लार्ड वेवेल भारत के शासन के लिये अयोग्य हैं। भारत स्थित अंग्रेज़ी प्रतिनिधियों ने लंदन को समाचार भेजे कि परिस्थिति इतनी शोचनीय तथा शिथिल हो गई है कि शासन किसी समय छिन्न-भिन्न हो सकता है। देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक रक्तपात हो रहा था और अन्तर्कालीन सरकार के अन्दर काँग्रेस तथा लीग एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। काँग्रेस की इच्छा थी कि मुस्लिम लीग अन्तर्कालीन सरकार से निकल जाय क्योंकि वह संविधान सभा का वहिष्कार कर रही थी। दूसरी ओर, लीग चाहती थी कि काँग्रेस ही अन्तर्कालीन सरकार से निकल जाय और उसी का शासन पर पूर्ण प्रभाव रहे। देश में अव्यवस्था तथा अराजकता तो थी ही, साथ ही यह भी सत्य है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन विश्व शक्ति के स्तर से अमेरिका तथा रूस के सामने नीचे गिर गया था। वहाँ के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि वे अब पूरे साम्राज्य का भार संभालने में असमर्थ हैं। अत: ब्रिटिश मज़दूर सरकार ने यह निश्चय किया कि भारत की परिस्थिति सुधारने के लिये उन्हें भारत को सत्ता हस्तान्तरित करनी ही होगी। २० फरवरी सन् १९४७ ई० को प्रधान मंत्री एटली ने इङ्गलैंड की लोक सभा (House of Commons) में एक घोषणा की जिसमें लार्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटेन की नियुक्ति की बात कही गई तथा यह बताया गया कि अंग्रेज़ ३० जून सन् १९४८ ई० तक अवश्य भारत से चले जायँगे। घोषणा में यह भी बताया गया कि अंग्रेज़ी सरकार केवल

उसी विधान को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत होगी जो कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार बनाई गई संविधान सभा द्वारा बनाया गया हो। और, "यदि यह प्रतीत होगा कि निश्चित समय से पहले भारत के सभी प्रमुख दलों द्वारा स्वीकृत संविधान का निर्माण न हो सकेगा तो सम्राट् की सरकार को यह निश्चित करना पड़ेगा कि निश्चित समय पर सत्ता किसे हस्तान्तरित की जाय—ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को, प्रान्तीय सरकारों को अथवा किसी अन्य रीति से जो भारतीयों के हित में सब से अधिक उपयुक्त हो।" आशा की जाती थी कि अन्तिम तिथि की घोषणा से परिस्थिति की गम्भीरता समझ कर भारत के विभिन्न दल अंग्रेज़ों के जाने के पूर्व ही अपना मतभेद दूर कर लेंगे। परन्तु इसका प्रभाव उलटा ही पड़ा। घोषणा के पश्चात् मार्च-अप्रेल सन् १९४७ में पश्चिमी पंजाब तथा सीमाप्रान्त में साम्प्रदायिकता ने भयानक रूप धारण किया और मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ पाशविकता का व्यवहार किया। इस काल की लाहौर, रावलपिण्डी और मुल्तान की मारकाट की दुर्घटनायें अत्यन्त दुःखद हैं। इस पर महात्मा गाँधी ने अंग्रेज़ों को तुरन्त भारत छोड़ देने का परामर्श दिया। उन्होंने कहा कि अंग्रेज़ जाने का निश्चय तो कर ही चुके हैं, परन्तु शासन अब भी उनके हाथों में ही है। निष्पक्ष प्रेक्षकों के रूप में उनकी उपस्थिति अव्यवस्था को जन्म दे रही है और अस्थायी सरकार भी इस फैलते हुये विनाश को रोक नहीं पा रही है।

माउण्टबेटेन योजना और विभाजन—भारत के अन्तिम वाइसराय लार्ड माउण्टबेटेन मार्च सन् १९४७ ई० के अन्त में यहाँ आये। उन्होंने आते ही यहाँ की राजनैतिक परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उन्होंने सबसे पहले गाँधी जी से तथा उनके बाद अन्य नेताओं से मिल कर विचार-विनिमय किया। और शीघ्र ही वे इस निश्चय पर पहुँच गये कि इस असाध्य अवस्था में किसी तेज़ उपचार के बिना काम नहीं चलेगा। लीग के प्रतिनिधियों से वार्तालाप के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लीग स्वतंत्र और संयुक्त भारत के विधान निर्माण के लिये आयोजित संविधान सभा में किसी भी प्रकार से सहयोग देने के लिये तैयार नहीं है। अतः भारत की राजनैतिक समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिये देश के विभाजन को छोड़ कर अन्य कोई उपाय न था। काँग्रेस ने देखा कि यदि वह इस विभाजन को स्वीकार नहीं करती तो देश में गृह युद्ध छिड़ जाने की आशंका है जिसके परिणामस्वरूप देश की स्वतंत्रता की माँग बहुत दूर पटक दी जायेगी। अतः काँग्रेस देश के विभाजन के लिये तैयार हो गई, किन्तु उसकी यह शर्त थी कि पाकिस्तान जनसंख्या के आधार पर बने और पाकिस्तान के स्वतंत्र राज्य में पंजाब, बंगाल तथा आसाम के वे प्रदेश सम्मिलित न किये जायें जहाँ ग़ैर-मुस्लिम जनसंख्या का बाहुल्य हो। लार्ड माउण्टबेटेन को काँग्रेस का यह तर्क न्यायसंगत प्रतीत हुआ। अतः १८

मई को वे ब्रिटिश मंत्रिमण्डल से आवश्यक परामर्श करने वायुयान द्वारा लन्दन गये। वहाँ से लौट कर ३ जून को भारतवासियों के नाम रेडियो पर सन्देश देते हुये उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नई योजना की घोषणा की जिसमें भारत तथा पाकिस्तान नाम के दो उपनिवेशों को सत्ता सौंप कर जून सन् १९४८ ई० से बहुत पहले ही अंग्रेज़ों के भारत से चले जाने की व्यवस्था की गई थी।

इस योजना में भारत के विभाजन तथा दो औपनिवेशिक सरकारों को शीघ्राति-शीघ्र सत्ता हस्तान्तरित कर देने की विधि का विस्तारपूर्ण विवरण दिया गया था। विभाजन का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इसमें इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि प्रस्तावित पाकिस्तानी क्षेत्र इच्छानुसार अपने लिये अलग विधान-सभा का निर्माण कर सकें। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर लेने के बाद काँग्रेस तथा सिखों की बङ्गाल और पंजाब के विभाजन की माँगों को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। अतएव इन प्रान्तों की तात्कालिक विभाजन-व्यवस्था के उद्देश्य से इनकी धारासभाओं के दो-दो भाग किये गये। एक भाग में मुस्लिम बहु-संख्यक क्षेत्रों के सदस्य रखे गये तथा दूसरे में अन्य क्षेत्रों के। अन्तिम विभाजन के लिये समवर्ती बहुसंख्यक क्षेत्रों की सीमायें निर्धारित करने के उद्देश्य से प्रसिद्ध अंग्रेज़ न्यायशास्त्री सर सिरिल रैडक्लिफ के सभापतित्व में दो सीमा-कमीशन नियुक्त किये गये। जहाँ तक देशी राज्यों का सम्बन्ध था, उन पर ब्रिटिश राज्य-सत्ता के प्रभुत्व तथा इस सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले सारे अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का अन्त हो गया। अब उन्हें पूरी स्वतन्त्रता थी कि वे चाहे उत्तराधिकारी सरकारों की संघ-व्यवस्था में सम्मिलित हों, चाहे उनके साथ कोई दूसरी व्यवस्था करें।

माउन्ट बेटेन योजना से भारत के अधिकतर दलों को वास्तविक प्रसन्नता नहीं हुई। काँग्रेस की ओर से पं० नेहरू ने कहा "मैं इन प्रस्तावों को आपके सम्मुख मानने के लिए जब रखता हूँ तो हमारे हृदय में कोई प्रसन्नता नहीं होती।" सिक्खों की ओर सरदार बल्देव सिंह ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हुए कहा, "यह सत्य नहीं होगा यदि मैं यह कहूँ कि हम सब प्रसन्न हैं। यह योजना हर एक को प्रसन्न नहीं कर सकती, कम से कम सिक्ख जाति को तो नहीं।" इस योजना की तीव्र आलोचना करते हुए प्रसिद्ध साम्यवादी लेखक रजनी पामदत्त अपनी पुस्तक 'आज का भारत' (India Today) में लिखते हैं, "इस योजना के आधार पर देश का जो विभाजन हुआ उसमें अनेक बुराइयाँ थीं। प्रथम यह कि राज्यों की सीमायें भाषा, संस्कृति या राष्ट्रीयता के आधार पर निश्चित नहीं की गई थीं, अपितु इस विभाजन का आधार साम्प्रदायिक था। इससे अल्पसंख्यकों की दोनों देशों में सुरक्षा जाती रही।·········द्वितीय, दो राज्यों को सत्ता हस्तान्तरित करने के कारण देशी राज्यों

की स्थिति और भी जटिल हो गई। दोनों राज्य उन्हें अपने संघों में सम्मिलित करने का प्रयत्न करने लगे जिसके फलस्वरूप दोनों राज्यों में मतभेद तथा संघर्ष होने लगे।·········तृतीय, विभाजन का दोनों देशों की आर्थिक और राजनैतिक स्थिति पर भी हानिकर प्रभाव पड़ा।" आर्थिक दृष्टि से एक ओर भारत खाद्यान्नों के सम्बन्ध में परावलम्बी हो गया क्योंकि जूट तथा अन्न पैदा करने वाले अधिक क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए, दूसरी ओर ऊनी माल, कागज़, चीनी आदि के लिए पाकिस्तान भारत पर आश्रित हो गया क्योंकि इन वस्तुओं को तैयार करने के लिए आवश्यक लोहे और कोयले की पाकिस्तान में बहुत कमी है। राजनैतिक दृष्टि से भी विभाजन दोनों देशों के लिए हानिकर सिद्ध हुआ। विभाजन के कारण देश के लाखों नर नारियों को अपने पैतृक घर-बार से अलग होकर अनेक कष्ट सहन करने पड़े। लाखों की सम्पत्ति नष्ट हुई तथा लाखों निरपराध तथा निरीहों के प्राण गये।

योजना में इतने अधिक दोष होने पर भी इसे एक अनिवार्य बुराई के रूप में काँग्रेस ने स्वीकार कर लिया। लीग तथा देश के अन्य प्रमुख राजनैतिक दलों ने भी इसे मान लिया। अतएव ब्रिटिश लोकसभा द्वारा जुलाई सन् १९४७ ई० में स्वीकृत भारतीय स्वतन्त्रता कानून में इसका समावेश कर लिया गया। इस कानून में १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से भारत तथा पाकिस्तान नामक दो उपनिवेशों के निर्माण का विधान किया गया था। उक्त तिथि के पूर्व ही उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत, आसाम के सिलहट के जिले तथा बिलोचिस्तान ने मतगणना द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निर्णय कर लिया। इस प्रकार अब भारत निम्नलिखित चार भागों में विभक्त हो गया था—(१) उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान, जिसमें पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, सीमा-प्रान्त तथा बिलोचिस्तान सम्मिलित थे; (२) उत्तर-पूर्वी पाकिस्तान जो पूर्वी बङ्गाल तथा सिलहट को मिला कर बना था; (३) भारतीय संघ, जिसके अन्तर्गत शेष ब्रिटिश भारत था; और (४) देशी राज्य, जिन्हें इच्छानुसार किसी भी उपनिवेश में सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता थी। इस कानून के लागू होते ही, अर्थात् १५ अगस्त से, इन उपनिवेशों पर ब्रिटिश लोकसभा का कोई अधिकार नहीं रह जायगा। इन उपनिवेशों के गवर्नर जनरल वैधानिक प्रधानमात्र होंगे। उनको ब्रिटिश राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का पूरा अधिकार होगा।

इस प्रकार १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को ब्रिटिश साम्राज्यवाद, काँग्रेसी राष्ट्रवाद तथा लीगी सम्प्रदायवाद के त्रिभुजी संघर्ष का अन्त हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों ने अनुभव किया कि अडिग तथा अनवरत संघर्ष के विरुद्ध अधिक समय तक भारत पर अधिकार बनाये रखना असम्भव था। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी ऐसी हो गई थी कि इस उत्तरदायित्व का भार वहन करना तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता था। अतएव हमारे देश की विशाल शक्ति तथा हमारे अनन्त साधनों का विभाजन करने

के पश्चात् उन्होंने यहाँ से प्रस्थान किया। काँग्रेसी राष्ट्रवादियों ने अनुभव किया कि देश को अराजकता तथा साम्प्रदायिक उच्छृङ्खलता से बचाने के लिए विरोधियों को भारी मूल्य चुकाना आवश्यक है। अतएव अपने पवित्र आदर्शों के प्रतिकूल उन्होंने विभाजन स्वीकार कर लिया। और मुस्लिम लीग ने अपने हठ का पुरस्कार पाया। परन्तु जो पाकिस्तान उसे मिला वह जिन्ना साहब के स्वप्न से बहुत कम था और इतना वे बहुत पहले, और अधिक मैत्रीपूर्ण रीति से भी प्राप्त कर सकते थे।

आठवाँ अध्याय

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिक समस्या—भारतवर्ष के सम्प्रदायवादी अपने को भारतीय बाद में समझते हैं, हिन्दू या मुसलमान पहले। उनके मतानुसार राष्ट्रवाद का एकमात्र शुद्ध तथा पवित्र स्वरूप सम्प्रदायवाद होता है। वे अपने को कट्टर हिन्दू अथवा कट्टर मुसलमान समझने, और इस बात का प्रचार करने में, गर्व का अनुभव करते हैं, परन्तु वास्तव में धार्मिक आचार-विचार की दृष्टि से उनमें से अधिकतर जनता से बहुत दूर हैं। प्रत्येक सम्प्रदायवादी किसी न किसी धर्म में अवश्य विश्वास करता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी धर्म में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रदायवादी ही होता है। सम्प्रदायवादी धर्म को ही जीवन समझते हैं, और कोई-कोई तो मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को भी उचित महत्व नहीं देते। उनके जीवन-दर्शन में सबसे अधिक महत्व इस बात को दिया जाता है कि जनता की धार्मिक कट्टरता, उसका अन्धविश्वास, न नष्ट होने पाये। जनता की दुर्दशा एवं उसकी भूख-प्यास को यह लोग उतना महत्वपूर्ण नहीं समझते। सम्प्रदायवादी स्वभावत: राष्ट्रवाद, वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली, वस्तुवाद तथा मार्क्सवाद सरीखे सिद्धान्तों से घृणा करते हैं, परन्तु उनकी यह घृणा भय तथा निराशा का परिणाम होती है, गम्भीर अध्ययन का नहीं। वे "धर्म संकट में है" चिल्ला-चिल्ला कर जनता की मनोवैज्ञानिक स्थिति से लाभ उठाने में विश्वास करते हैं। भारत में धर्म सदा से जीवन का प्रधान अङ्ग रहा है, परन्तु पश्चिम में विज्ञान तथा दर्शन की प्रगति के साथ-साथ राजनीति के क्षेत्र में धर्म का महत्व कम होता गया। अतएव सम्प्रदायवाद को पश्चिम की अपेक्षा भारत में जनता की धर्म-भीरुता से खेलने का अधिक अवसर मिला। इस विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू की व्याख्या बड़ी सुन्दर है। वे लिखते हैं: "कुछ समय पूर्व से राजनैतिक क्षेत्र में धर्म का स्थान उस विचारधारा ने ले लिया है जिसे सम्प्रदाय कहा जाता है। सम्प्रदाय उस धार्मिक एकता पर आधारित वर्ग-भावना को कहते हैं जिसका वास्तविक उद्देश्य उस वर्ग-विशेष के लिये राजनैतिक शक्ति तथा अधिकारों की प्राप्ति होता है।" संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सम्प्रदायवाद तथा राष्ट्र के समस्त नागरिकों के लिए समान अधिकारों की निष्पक्ष व्यवस्था, यह दोनों विरोधी धारणायें हैं जिनका सामंजस्य कभी सम्भव नहीं।

हमारे देश में साम्प्रदायिक कलह के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की बहुत हानि हुई। सन् १९४७ ई० तक आधुनिक भारतीय जीवन की सबसे अधिक महत्व

पूर्ण तथा जटिल समस्या साम्प्रदायिकता ही थी। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इस समस्या का कोई समाधान ही नहीं है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता था परिस्थिति की जटिलता भी बढ़ती जाती थी; सुलझाने का प्रत्येक नया प्रयत्न इसे और अधिक उलझा कर छोड़ जाता था। कुछ राजनीति-विशारदों का कहना है कि यह समस्या अंग्रेज़ों की उत्पन्न की हुई थी और सदा उनकी "विभाजन-नीति" से प्रेरणा ग्रहण करती रही। दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में स्वयं महात्मा गाँधी ने कहा था कि भारत में हिन्दू-मुसलमानों की कलह "ब्रिटिश आगमन की समवयस्क थी," और भारत के स्वतन्त्र होते ही इसका भी अन्त हो जायेगा। गाँधी जी के अनुसार धार्मिक मतभेद की यह समस्या असाध्य नहीं थी और इसके रहते हुए भी भारतवासी राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर सकते थे। परन्तु एकता के मार्ग में अगम्य पर्वत की भाँति ब्रिटिश नीति खड़ी थी। गाँधी जी की यह धारणा सरलतापूर्वक सिद्ध की जा सकती है। परन्तु हमारा इतिहास बताता है कि अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व भी भारत में धार्मिक-संघर्ष हुआ करते थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी स्वीकार किया है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या सम्भवत: अंग्रेज़ों की सृष्टि नहीं थी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस खाई को चौड़ी करने में अंग्रेज़ों ने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग किया। इसमें मुख्य दोष हमारा ही है। विदेशियों के लिये तो अपने प्रभुत्व को स्थायी बनाने का प्रत्येक उपाय करना स्वाभाविक था। परन्तु पारस्परिक अविश्वास तथा विदेशियों में विश्वास करके हिन्दू-मुसलमान स्वयं इस जाल में क्यों फँसे? महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस सदा यही कहती रही कि हिन्दू-मुस्लिम एकता हमारे राष्ट्रीय जीवन की साँस है, और उसकी प्राप्ति के लिए गाँधी जी ने अपने प्राणों तक का दाँव लगा दिया। इसका कुछ प्रभाव भी हुआ, परन्तु जैसा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आज से कुछ समय पूर्व कहा था: "दुर्भाग्यवश देश अब भी सम्प्रदायवाद के परिणाम भोग रहा है।.........विदेशों में आज भी भारत की प्रतिष्ठा है, परन्तु ऐसा लगता है कि सम्प्रदायवाद की पुकार हमें संसार की दुर्गंध में गिरा कर रहेगी।"

मुस्लिम सम्प्रदायवाद का जन्म—स्वतन्त्रता के पथ पर हमने अनेक कठिनाइयों का सामना किया, परन्तु सबसे जटिल समस्या साम्प्रदायिक हितों के सन्तुलन की थी। इस दिशा में सबसे अधिक कठिनाइयाँ मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने उपस्थित की, अतएव सबसे पहले हम उसके इतिहास तथा कारणों की व्याख्या करेंगे। सन् १८५७ ई० के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों कन्धे से कन्धा भिड़ा कर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़े थे। यह एकता अंग्रेज़ों के लिए बड़ी भयानक थी, और सरकार ने शीघ्र ही इसका उपाय खोज निकाला। उसने भारतीय सेना के पुनर्संगठन में अपनी "विभाजन-नीति" के प्रयोग का आरम्भ किया। सन् ५७ के पूर्व भारतीय सेना सार्वदेशिक थी। उसमें सभी प्रान्तों तथा जातियों के संयुक्त दस्ते होते थे। परन्तु ऐक्य-

भावना का नाश करने के उद्देश्य से अब "वर्ग-आधार" पर उसका पुनर्संगठन किया गया। और भारतीयों का भारतीयों के साथ संतुलन करने की यह नीति सेना तक ही सीमित नहीं रही, उसके बाहर भी उसका पालन किया जा रहा था। परन्तु अंग्रेज़ी शासन की दासता के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता का अप्रत्यक्ष विकास भी स्वाभाविक ही था। इस सम्भावना से डर कर कुछ अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने यहाँ तक कहना आरम्भ कर दिया था कि एकता का सदा के लिए अन्त कर देने के उद्देश्य से भारतीयों को प्रान्तीय स्वराज्य दे दिया जाना चाहिये।

ब्रिटिश सरकार जानती थी कि सन् ५७ के विद्रोह के पीछे हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों का अधिक हाथ था। इसके अतिरिक्त मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा में भी रुचि नहीं दिखा रहे थे और हिन्दू उससे पूरा-पूरा लाभ उठा रहे थे। इन्हीं सब कारणों से विद्रोह के बाद कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार मुसलमानों से विशेष प्रसन्न नहीं रही। वास्तव में अंग्रेज़ी शिक्षा का बहिष्कार मुसलमानों के लिए भारी भूल सिद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप उनमें अपने को पिछड़ा हुआ समझने की भावना आ गई और वे सरकारी पदों, धारासभाओं, इत्यादि में अपने लिए आरक्षण की माँग करने लगे। जिस समय अंग्रेज़ों ने भारत में पदार्पण किया था, यहाँ का शासन, कम से कम कहने के लिए तो, मुसलमानों के हाथ में ही था। अतएव अंग्रेज़ों को भी इस प्रकार की नीति का पालन करना पड़ा कि सत्ता धीरे-धीरे मुसलमानों के हाथ से निकल कर उनके हाथ में आ जाये। इसके अतिरिक्त बङ्गाल के मुसलमानों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध वहाबी आन्दोलन शुरू किया। १८ वीं शताब्दी के अन्तिमकाल में अरब में वहाबी आन्दोलन आरम्भ हुआ था। बङ्गाल में इस आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। पंजाब में वहाबियों ने सिक्खों के विरुद्ध युद्ध किया। जब पंजाब को अंग्रेज़ों ने जीत लिया, तो इन्होंने अंग्रेज़ों के विरुद्ध भी विद्रोह खड़ा किया। परन्तु अंग्रेज़ी सरकार ने इस आन्दोलन को पूरी तरह दबा दिया। इस आन्दोलन से अंग्रेज़ों की यह धारणा और पुष्ट हो गई कि मुसलमानों में स्वामिभक्ति की कमी है। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के विरुद्ध पक्षपात की नीति का पालन करती रही।

परन्तु धीरे-धीरे अंग्रेज़ों के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। शिक्षित हिन्दू अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे थे और शीघ्र ही उनके राजनैतिक असन्तोष ने बढ़ कर काँग्रेस को जन्म दिया। काँग्रेस ने आरम्भ से ही राष्ट्रीय एकता को अपना मुख्य आदर्श बनाया था। उसका उद्देश्य सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन के साम्प्रदायिक भेद-भाव को मिटा देना था। यह सब देख कर ब्रिटिश सरकार को आशंका हुई और उसने बड़ी चतुराई से दोनों सम्प्रदायों को आपस में लड़ा कर

राष्ट्रीय एकता को सदा के लिए असम्भव बना देने का प्रयत्न आरम्भ किया। उसने देखा कि मुसलमानों को राजद्रोही हिन्दुओं के विरुद्ध रख कर सरलतापूर्वक सन्तुलन किया जा सकता है। अतएव साम्राज्य की नीति में परिवर्तन हुआ।

अब ब्रिटिश सरकार मुसलमानों का अधिक पक्ष लेने लगी। इस परिवर्तन का अधिक श्रेय सर सैयद अहमद खाँ को है। अंग्रेज़ों की इस नीति परिवर्तन के पीछे सर सैयद अहमद खाँ का बहुत बड़ा हाथ था। उनका दृढ़ विश्वास था कि मुसलमानों की उन्नति के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करना आवश्यक है। वे चाहते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण कर मुसलमान अपनी अज्ञानता तथा निर्धनता की दशा से ऊपर उठें। अतएव उन्होंने मुसलमानों को बताया कि मौलवी लोग अपने अज्ञान में चाहे जो कहते रहें, परन्तु वास्तव में पाश्चात्य शिक्षा का इस्लाम के सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं है। वे पुर्दा-प्रथा के तीव्र आलोचक तथा तुर्की खिलाफत से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने के विरोधी थे। उनके शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम की सफलता के लिए सरकार की सहायता अनिवार्य थी। और इधर काँग्रेस उसी सरकार के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ कर रही थी। अतएव सर सैयद ने आन्दोलन से दूर रहने का निश्चय किया। उनका कहना था कि किसी प्रकार भी राजनैतिक प्रचार सम्पूर्ण भारतवासियों, और विशेष कर मुसलमानों के लिए बहुत अहितकर होगा। उनका ध्यान अपनी नैतिक तथा मानसिक उन्नति की ओर से हट जायेगा जब कि उस समय इन्हीं दिशाओं में उन्नति करने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। उनके स्थापित किए अलीगढ़ कालेज के लिखित उद्देश्यों में से एक "भारत के मुसलमानों को अंग्रेज़ी सम्राट् की योग्य तथा लाभदायक प्रजा बनाना" भी था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक (Discovery of India) में ठीक ही कहा है:—"राष्ट्रीय काँग्रेस से सर सैयद के विरोध का मुख्य कारण काँग्रेस का हिन्दू संस्था होना नहीं था। वास्तव में वे इसका विरोध इसलिए करते थे कि उनके मतानुसार काँग्रेस राजनैतिक क्षेत्र में आवश्यकता से अधिक उग्र थी (वास्तव में उन दिनों काँग्रेस आवश्यकता से अधिक अनुदार थी) और वे स्वयं अंग्रेज़ों की सहायता और उनका सहयोग चाहते थे।" यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर सैयद अहमद खाँ अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रीय विचारों के थे। उनका विचार था कि सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में भारतीयों और अंग्रेज़ों में कोई भी अन्तर नहीं होना चाहिये। इसीलिए उन्होंने इलबर्ट बिल का समर्थन किया था। सन् १८८४ तक वे राष्ट्रीयता के पूर्ण समर्थक थे। उस वर्ष श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा सरकार की सिविल सर्विस सम्बन्धी तत्कालीन नीति के विरोध में दिए जाने वाले भाषण के लिए आयोजित सभा में उन्होंने सभापतित्व का आसन ग्रहण किया था। किन्तु जब सन् १८८५ ई० राष्ट्रीय काँग्रेस का जन्म हुआ उस समय सर सैयद अहमद खाँ अपने अनुयायियों

सहित काँग्रेस से पृथक रहे। सर सैयद के विचारों में इस महान् परिवर्तन का कारण उनके द्वारा संस्थापित अलीगढ़ कालेज के प्रधान अध्यापक श्री बेक (Mr. Beck) का उन पर प्रभाव था। श्री बेक ने सर सैयद को राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग करने तथा सरकार और मुसलमानों का निकट सम्पर्क स्थापित कराने का कठिन प्रयत्न किया और इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई। अलीगढ़ कालेज से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को अच्छी नौकरियाँ दी गईं। सरकार मुसलमानों का पक्ष करने लगी। अत: सर सैयद अंग्रेज़ों के परम भक्त हो गये और राष्ट्रीय आन्दोलन का घोर विरोध करने लगे। सन् १८८८ में सर सैयद ने यूनाइटेड इण्डियन पेट्रियाटिक एसोसिएशन (United Indian Patriotic Association) की स्थापना की जिसका उद्देश्य था भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की नींव दृढ़ करना तथा इङ्गलैंड वासियों को यह अवगत कराना कि भारत के कुलीन हिन्दू तथा मुसलमान कांग्रेस से दूर ही नहीं, उसके विरोधी भी हैं।

परन्तु इसके बाद भी कुछ समय तक मुसलमानों की कोई ऐसी अलग संस्था नहीं रही जिसका ब्रिटिश सरकार काँग्रेस के विरुद्ध प्रयोग कर सकती। ब्रिटिश सरकार ने सन् १८९३ ई० में 'एङ्गलो-ओरियण्टल डिफेन्स एसोसिएशन (Anglo Oriental Defence Association) नामक संस्था के निर्माण में मुसलमानों की सहायता की। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य भारतीय मुसलमानों को अंग्रेज़ी राज्य की स्वामिभक्त प्रजा बनाना था। इसके कुछ समय बाद 'एङ्गलो-मुस्लिम डिफेन्स एसोसिएशन' (Anglo-Muslim Defence Association) नाम की एक दूसरी संस्था की स्थापना काँग्रस का विरोध करने के निश्चित उद्देश्य से की गई। जिन परिस्थितियों में साम्प्रदायिक निर्वाचन तथा मुस्लिम लीग का जन्म हुआ उनसे अंग्रेज़ों की कुटिल नीति पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। इस नीति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तीकरण लार्ड कर्ज़न का बङ्गाल विभाजन था। मुसलमानों की एक सभा में भाषण देते हुये उन्होंने कहा भी था कि विभाजन के पीछे उनका उद्देश्य शासन को सुचारु बनाने के साथ-साथ एक ऐसे नए प्रान्त का निर्माण करना भी है जहाँ मुसलमान अपने बहुमत के बल पर राज्य कर सकें। बङ्गाल के इस नए प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर बैम्फील्ड फ़ुलर (Sir Bamphyld Fuller) ने अपने प्रिय "मुस्लिम पत्नी-सिद्धान्त" की सरकारी व्याख्या की। इस पक्षपात से प्रोत्साहित होकर मुसलमानों ने सन् १९०६ ई० में अपनी अलग संस्था 'मुस्लिम लीग' का संगठन किया।

मुस्लिम लीग का जन्म—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में मुसलमानों को संगठित करने की इस नीति का क्रमिक विकास हुआ। २८ मई सन् १९०६ ई० को लार्ड मिण्टो ने भारत मंत्री मारले को लिखा था : "जहाँ तक काँग्रेस का सम्बन्ध है......यह आन्दोलन अधिक सीमा तक विद्रोहात्मक है। और मुझे तनिक भी

सन्देह नहीं है कि आगे चलकर इस से भय की सम्भावना उत्पन्न होगी। इधर मैंने इस विषय में बहुत विचार किया है (और अन्त में इस निश्चय पर पहुँचा हूँ) कि काँग्रेस की प्रतिद्वन्दी संस्था की स्थापना सम्भव है[1]।" और उसी वर्ष १ अक्टूबर को इतिहास-प्रसिद्ध आगा खाँ प्रतिनिधि-मण्डल का आयोजन हुआ तथा वाइसराय लार्ड मिण्टो के समक्ष एक स्मृतिपत्र उपस्थित करके मुसलमानों के लिए विशेष अधिकारों तथा पृथक निर्वाचन की माँग की गई। प्रतिनिधिमण्डल ने वाइसराय से प्रार्थना की कि स्थानीय, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय निर्वाचनों के लिये मुसलमानों को पृथक सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया जाये। इस बात का लिखित प्रमाण उपलब्ध है कि इस प्रतिनिधिमण्डल के पीछे अँग्रेज़ अधिकारियों का हाथ था, और अलीगढ़ कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष आर्चबोल्ड महोदय ने इसे लिखा-पढ़ा कर भेजा था। मौलाना मोहम्मद अली के शब्दों में यह सारा तमाशा "सिखाया-पढ़ाया आज्ञापालन मात्र" (Command Performance) था। स्वयं वाइसराय ने जो पत्र लार्ड मार्ले के पास भेजा था उससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रतिनिधि-मण्डल को शिमले से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। और इस स्मृतिपत्र के उत्तर में लार्ड मिण्टो ने कहा "मैं आप लोगों से पूर्ण सहमत हूँ।" उसी दिन संध्या को लेडी मिण्टो के पास एक उच्च पदाधिकारी का पत्र आया जिसमें लिखा था : "आज एक महान कार्य हुआ है, ऐसा कूटनीति का कार्य जिसका प्रभाव भारतीय राजनीति पर बहुत दिनों तक रहेगा। ६२०,०००,०० व्यक्तियों को विद्रोही सेना में सम्मिलित होने से रोक लिया गया है[2]।"

शिमला प्रतिनिधि-मण्डल की सफलता से उसमें भाग लेने वाले मुसलमानों को अपनी अलग अलग संस्था बनाने का प्रोत्साहन मिला। ढाका के नवाब सलीमुल्ला खाँ ने इस प्रकार के संगठन की एक अल्पकालीन योजना बनाई जिसके फलस्वरूप अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। लीग का पहला अधिवेशन ३० दिसम्बर सन् १९०६ ई० को ढाका में हुआ। इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे :—

(१) ब्रिटिश सरकार के लिये मुसलमानों के हृदय में अधिकाधिक स्वामिभक्ति की भावना को जन्म देना ;

---

1. "As to the Congress......there is much that is absolutely disloyal in the movement and that there is danger for the future, I have no doubt. I have been thinking a good deal lately of a possible counterpoise to Congress aims." [Lord Minto]

2. "A very big thing has happened to-day, a work of statesmanship that will affect India and Indian history for many a long year. It is nothing less than the putting back of sixty-two millions of people from joining the ranks of the seditious opposition."

(२) "भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आवश्यकतायें तथा आकाँक्षायें सरकार के समक्ष संयत भाषा में उपस्थित करना ;

(३) "क्रमसंख्या (१) तथा (२) के अन्तर्गत उल्लिखित उद्देश्यों पर यथासंभव, विपरीत प्रभाव डाले बिना, भारत के अन्य सम्प्रदायों तथा मुसलमानों के बीच मैत्री भावना को बढ़ावा देना।"

इस प्रकार मुस्लिम लीग का जन्म हुआ और उसे आरम्भ में ही ब्रिटिश सरकार से पृथक निर्वाचन का आश्वासन प्राप्त हो चुका था। सन् १६०६ ई० के नये कानून में मुसलमानों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था भी कर दी गई। इस कानून के अन्तर्गत उन्हें पृथक निर्वाचन तो मिला ही, इसके साथ-साथ उनका साधारण क्षेत्रों में मताधिकार भी बना रहा। केन्द्रीय धारासभा में उन्हें पाँच पृथक स्थान मिले—बंगाल, बम्बई, बिहार-उड़ीसा, मद्रास तथा संयुक्त प्रान्त से एक-एक। प्रान्तीय धारासभाओं के लिये उन्हें मद्रास और आसाम में प्रत्येक को दो, बम्बई, बिहार-उड़ीसा तथा संयुक्त प्रान्त में प्रत्येक को चार और बंगाल को पाँच स्थान मिले। पंजाब में विशेष आरक्षण अनावश्यक समझा गया।

लीग की राजनीति १६०६-१५—अपने जन्म से सन् १६१३ ई० तक मुस्लिम लीग की नीति ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति की रही। वास्तव में इसकी स्थापना ही इस उद्देश्य को लेकर की गई थी। लीग के तत्कालीन स्थायी अध्यक्ष हिज़ हाइनेस आग़ा खाँ ने कहा था :—"धारासभाओं में हमारे प्रतिनिधि पहले सम्राट् के स्वामिभक्त प्रजाजन हैं, फिर मुसलमानों के विशेष हितों के रक्षक।" मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियावादी नीति सन् १६०६ तक बड़ी तीव्र रही। सन् १६०८ के अमृतसर के लीग अधिवेशन में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विस्तार तथा सरकारी पदों पर मुसलमानों की अधिकाधिक संख्या में नियुक्ति की माँग की गई। ये माँगे सन् १६०६ के अधिवेशन में भी दोहराई गईं। १६१० के बाद लीग का यह प्रतिक्रियावादी स्वरूप कुछ शिथिल पड़ गया। इस समय कुछ ऐसी घटनायें हुईं जिनसे लीग की नीति बदल गई। पहले लीग ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामिभक्ति में विश्वास करती थी परन्तु सन् १६१३ ई० से वह भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रयत्न करने लगी। योरोप की कुछ घटनाओं से इस प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में तुर्की साम्राज्य के योरोप-स्थित बल्कान प्रान्तों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में अँग्रेज़ों ने उनकी बहुत सहायता की। स्वयं तुर्किस्तान में भी सामन्तकालीन तुर्की साम्राज्य को एक शक्ति-

शाली आधुनिक राज्य बना देने के उद्देश्य से एक "नवयुवक तुर्क आन्दोलन" हुआ। अँग्रेज़ों को इस आन्दोलन से आशंका हुई क्योंकि शक्तिशाली तुर्किस्तान उनके एशिया-स्थित साम्राज्य के लिये भय का कारण बन सकता था। अतएव आन्दोलन का दमन करने में उन्होंने तुर्की सुल्तान की भरसक सहायता की। स्वयं भारत में भी मुसलमानों को नीचा देखना पड़ा था। १२ दिसम्बर सन् १६११ ई० को बंग-भंग का अन्त कर दिया गया था। इन घटनाओं के फलस्वरूप लीग कॉंग्रेस के निकट आती जा रही थी और सन् १६१३ ई० में उसका उद्देश्य भी बदल कर "ब्रिटिश शासन-सत्ता के अन्तर्गत भारत के लिये उचित स्व-शासन की प्राप्ति" कर दिया गया। सन् १६१४ के प्रथम महायुद्ध में अंग्रेज़ों के टर्की से लड़ने के कारण भारतीय मुसलमान अँग्रेज़ों के विरुद्ध होगये। इसी वर्ष के लीग अधिवेशन में डा० अन्सारी और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के प्रयत्नों के फलस्वरूप लीग-कॉंग्रेस सहयोग की भावना और दृढ़ हो गई।

काँग्रेस-लीग समझौता—उस समय जिन्ना साहब कट्टर कॉंग्रेसी तथा लीग-विरोधी थे। परन्तु लीग का विधान संशोधित हो जाने पर वे उसमें सम्मिलित हो गये। उनके प्रभाव से काँग्रेस तथा लीग के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर कम होता गया और सन् १६१६ के लखनऊ के समझौते के साथ दोनों दलों के बीच पूर्ण सहयोग स्थापित हो गया। इस समझौते की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) मुसलमानों का पृथक प्रतिनिधित्व पूर्ववत् बना रहेगा।

(२) परन्तु साधारण क्षेत्रों में मुसलमानों का मताधिकार नहीं रह जायेगा।

(३) समझौते में यह व्यवस्था की गई "कि कोई प्रस्तावित कानून, अथवा उसका कोई अंश, अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध रखनेवाला कोई प्रस्ताव, उस सम्प्रदाय के तीन-चौथाई सदस्यों के विरोध पर आगे नहीं बढ़ाया जायेगा।"

(४) केन्द्रीय धारासभा में निर्वाचित सदस्यों के $\frac{1}{3}$ मुसलमान सदस्य रखने का निश्चय किया गया तथा यह निश्चय हुआ कि प्रान्तों में मुस्लिम स्थानों की संख्या एक पूर्व-निश्चित अनुपात में रहे।

निम्नलिखित तालिका से लखनऊ समझौते तथा माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड सुधार-योजना के अन्तर्गत मुसलमान स्थानों की तुलनात्मक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है—

धारा-सभा	जनसंख्या का मुस्लिम % (१९२१)	लखनऊ समझौते के अनुसार निर्वाचित भारतीय सदस्यों का %	१९१९ की सुधार योजना के अनुसार निर्वाचित भारतीय सदस्यों का %
पंजाब	५५·२	५०	४८·५
संयुक्तप्रान्त	१४·३३	३०	३०
बङ्गाल	५४·६	४०	४०·५
बिहार-उड़ीसा	१०·९	२५	२५
मध्यप्रान्त	४·४	१५	१३
मद्रास	६·७	१५	१४
बम्बई	१९·८	३३·३	३५
आसाम	३२·३	कोई व्यवस्था नहीं	३५·५
केन्द्रीय	२४	३३·३	३४

लखनऊ का समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता का द्योतक था, परन्तु यह एकता राष्ट्रवाद के मूल सिद्धान्त की उपेक्षा करके प्राप्त की गई थी। काँग्रेस ने मुसलमानों की पृथक निर्वाचन सम्बन्धी माँग यह समझ कर स्वीकार कर ली थी कि थोड़े दिनों में मुसलमानों का सन्देह दूर हो जाने पर यह व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। परन्तु आज हम अनुभव करते हैं कि यह काँग्रेस की भारी भूल थी। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य बढ़ गया और साइमन कमीशन तक ने स्वीकार किया कि इस प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्र "समान नागरिकता की भावना के विकास में रोड़े हैं।" और वास्तव में आगे चलकर यही साम्प्रदायिक प्रश्न स्वराज्य की राह का सबसे बड़ा रोड़ा सिद्ध हुआ।

खिलाफ़त आन्दोलन—प्रथम महायुद्ध के समय इङ्गलैण्ड ने अपने इस निश्चय की घोषणा की कि युद्ध समाप्त होने पर भारत को अपने भविष्य के विषय में स्वयं निर्णय करने का अधिकार दे दिया जायेगा। अतएव जब सन् १९१८ ई० में महायुद्ध समाप्त हुआ, हिन्दू-मुसलमान सभी को बड़ी आशायें थीं। परन्तु दूसरी ओर नौकरशाही रौलट बिल के रूप में नई शृंखलाओं का निर्माण कर रही थी। उधर युद्ध के उपरान्त तुर्किस्तान के साथ जो व्यवहार किया जा रहा था उससे भारतीय मुसलमानों की भावना को भारी धक्का लगा। माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड योजना से लीग और काँग्रेस दोनों ही को असन्तोष हुआ था और इस प्रकार युद्ध के अन्त ने उक्त दोनों दलों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध तथा एक दूसरे के बहुत निकट कर दिया था।

अवसर अच्छा था। मुसलमानों ने मित्र राष्ट्रों द्वारा तुर्किस्तान के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार के विरोध में खिलाफ़त आन्दोलन आरम्भ कर दिया। इस आन्दोलन का मुख्य कारण मुसलमानों का यह धार्मिक विश्वास था कि "भौतिक एवं आध्यात्मिक संस्था के रूप में खिलाफ़त का अस्तित्व इस्लाम का आधार है," और तुर्की सम्राट् ही अकेला शासक था जो इस्लाम के धर्म-स्थानों की रक्षा करने का उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य उचित रीति से सम्पादन कर सकता था। जनवरी सन् १९२० ई० में डा० अन्सारी के नेतृत्व में मुसलमानों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने वाइसराय से मिलकर उन्हें "तुर्की साम्राज्य तथा सुल्तान की खिलाफ़त को बनाये रखने की आवश्यकता" समझाने का प्रयत्न किया। इसी वर्ष महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने भी अपने कलकत्ते के अधिवेशन में खिलाफ़त आन्दोलन का समर्थन किया। काँग्रेस के इसी अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया था। वास्तव में असहयोग और खिलाफ़त दोनों आन्दोलन साथ-साथ चलते रहे और दोनों आन्दोलनों के नेताओं की एक दूसरे से सहानुभूति थी। काँग्रेस ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के हित में खिलाफ़त आन्दोलन की सहायता करने का निश्चय किया और इसी प्रकार खिलाफ़त आन्दोलन के मुस्लिम नेताओं ने असहयोग आन्दोलन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण सहयोग दिया और उसमें सक्रिय रूप में भाग लेने के अपराध में मुहम्मदअली और शौकतअली के अतिरिक्त अन्य मुसलमान भी एक बड़ी संख्या में जेल गये। परन्तु सन् १९२१ ई० के मोपला विद्रोह से इस एकता को प्रबल आघात पहुँचा। मलाबार प्रान्त में मोपला नाम का मुसलमानों में एक कट्टर धार्मिक और पिछड़ा हुआ वर्ग था। सरकार चाहती थी, कि इन लोगों तक असहयोग आन्दोलन की चिनगारी न पहुँचने पावे। अतः सरकार ने उस प्रान्त पर जहाँ मोपला लोगों की आबादी अधिक थी १४४ धारा लगा दी। मोपला लोगों के धार्मिक नेताओं का अपमान किया गया, अतः उन्होंने विद्रोह कर दिया। विद्रोह आरम्भ में राजनैतिक था, अतः काँग्रेस ने उसका समर्थन किया। परन्तु बाद को विद्रोह ने साम्प्रदायिक और हिंसात्मक रूप धारण कर लिया और सैकड़ों निरपराध हिन्दू तलवार के घाट उतार दिये गये। अगले वर्ष के मध्य तक साम्प्रदायिक एकता समाप्त हो चुकी थी। दूसरी ओर असहयोग का अन्त हो चुका था और तुर्किस्तान द्वारा खलीफ़ा को पदच्युत कर स्वयं अपनी व्यवस्था सँभालने का निश्चय कर लेने के साथ खिलाफ़त आन्दोलन निराधार हो गया था। इन परिस्थितियों में अनेक मुसलमान काँग्रेस से निकल-निकल कर 'तंज़ीम' तथा 'तबलीग़' आन्दोलनों में सम्मिलित हो गये। इसके उत्तर स्वरूप अनेक हिन्दुओं ने भी 'संगठन' तथा 'शुद्धि' के आन्दोलनों को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। इन परस्पर-विरोधी आन्दोलनों से साम्प्रदायिक वैमनस्य की आग भड़क उठी, और सन् १९२२ से सन् १९३१ तक देश के विभिन्न भागों में भयानक साम्प्रदायिक दंगे हुये।

लीग में फूट—खिलाफ़त आन्दोलन के दिनों में मुस्लिम लीग का प्रभाव कम हो गया था। जमीयत-उल-उलमा तथा खिलाफ़त कमेटी आदि संस्थायें आगे आ गई थीं और मुस्लिम लीग एक प्रकार से पृष्ठभूमि में पड़ गई थी। सन् १९२३ ई० में लीग के लखनऊ अधिवेशन में इतने थोड़े व्यक्ति सम्मिलित हुये थे कि गणपूरक संख्या (quorum) न होने के कारण खुला अधिवेशन भी नहीं हो पाया। परन्तु अगले वर्ष जिन्ना साहब ने इसमें पुनर्जीवन भरने का प्रयत्न किया। साम्प्रदायिक निर्वाचन-व्यवस्था ने दोनों सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य उत्पन्न कर दिया था, जिन्ना साहब ने फिर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। मार्च सन् १९२७ ई० में उन्होंने दिल्ली में मुसलमान नेताओं का एक सम्मेलन किया, और इस सम्मेलन ने उनके प्रभाव से, दोनों सम्प्रदायों के संयुक्त निर्वाचन पर आधारित एक समझौता सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। परन्तु जिन्ना साहब स्वयं लीग में एकता बनाये रखने में सफल नहीं हो सके। संयुक्त निर्वाचन के प्रश्न पर मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न हो गया और सर मोहम्मद शफ़ी के नेतृत्व में पंजाब की मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया। साइमन कमीशन के भारत-आगमन ने इस मतभेद को और बढ़ा दिया। जिन्ना साहब और उनकी लीग ने कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया था परन्तु सर मोहम्मद शफ़ी उसका स्वागत करने के पक्ष में थे। इस प्रकार सन् १९२७ ई० में मुस्लिम लीग के दो विरोधी अधिवेशन हुये, एक सर मोहम्मद शफ़ी के नेतृत्व में लाहौर में तथा दूसरा जिन्ना साहब के सभापतित्व में कलकत्ते में। कलकत्ते के अधिवेशन में लार्ड बर्केनहेड की यह चुनौती भी स्वीकार कर ली गई कि भारतीय स्वयं कोई ऐसा संविधान नहीं बना सकते जिसमें किसी प्रकार का मतभेद न हो। सम्मेलन ने कांग्रेस तथा अन्य राजनैतिक दलों के साथ मिल कर ऐसा विधान तैयार करने के लिये एक उपसमिति की नियुक्ति की। उधर राष्ट्रवादी मुसलमानों ने लीग से बाहर निकलना आरम्भ कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि लीग पूर्णतया नरमदल के हाथों में आ गई और सन् १९३३ ई० के आरम्भ होते होते अपनी सन् १९१० से पूर्व की स्थिति में फिर पहुँच गई थी।

जिन्ना साहब का मत-परिवर्तन—सन् १९२८ ई० में सर्वदल सम्मेलन की विधान-उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस प्रस्तावित संविधान में पृथक् निर्वाचन को कोई स्थान नहीं दिया गया था। अतएव मुस्लिम लीग के शफ़ी दल ने आगाखाँ के सभापतित्व में दिल्ली में एक बैठक करके इस नेहरू कमेटी की रिपोर्ट का विरोध किया। उधर जिन्ना साहब भी पाँच महीने इङ्गलैंड में रहकर भारत लौटे और उन्होंने आते ही शफ़ी दल के साथ समझौता कर लिया। सन् १९२९ ई० में दिल्ली में लीग का एक विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें जिन्ना साहब ने अपना निम्नलिखित चौदह शर्तों वाला कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

(१) भावी संविधान का स्वरूप संघीय हो तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों के अधिकार में रहें।

(२) संघ के सभी प्रान्तों को समान स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

(३) सभी धारासभाओं में अल्पमतों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाये कि किसी प्रान्त विशेष में किसी वर्ग का बहुमत अल्पसंख्या अथवा समसंख्या में परिणत न होने पाये।

(४) केन्द्रीय धारा-सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व पूरी संख्या के एक तिहाई से कम न हो।

(५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पूर्ववत् पृथक् निर्वाचन प्रणाली के अनुसार रहे।

(६) ऐसा कोई प्रादेशिक पुनर्वितरण (territorial redistribution) न किया जाये जिसमें पंजाब, बङ्गाल अथवा उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश के मुस्लिम बहुमत पर प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो।

(७) सभी सम्प्रदायों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया जाये।

(८) यदि किसी संस्था में किसी सम्प्रदाय-विशेष के तीन-चौथाई प्रतिनिधि किसी प्रस्तावित कानून को अपने सम्प्रदाय के लिए अहितकर कह कर उसका विरोध करें, तो वह कानून किसी दशा में स्वीकार न किया जाये।

(९) सिन्ध बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया जाये।

(१०) अन्य प्रान्तों की भाँति सीमान्त प्रदेश तथा बिलोचिस्तान में भी सुधार लागू किये जायें।

(११) मुसलमानों को सभी सरकारी नौकरियों तथा स्व-शासित संस्थाओं में यथेष्ट प्रतिनिधित्व दिलाने की व्यवस्था संविधान में की जाये।

(१२) संविधान में मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा धर्म इत्यादि की रक्षा तथा उन्नति के लिए उचित अभिरक्षणों (Safeguards) की व्यवस्था की जाये।

(१३) प्रत्येक केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में मुसलमान सदस्यों का अनुपात पूर्ण संख्या के एक-तिहाई से किसी दशा में कम न हो।

(१४) भारतीय संघ के प्रान्तों की सम्मति लिये बिना केन्द्रीय धारासभा संविधान में कोई संशोधन न करे।

पाकिस्तान का बीज—सन् १९३० ई० में काँग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया, परन्तु लीग उससे तटस्थ ही रही। उसी वर्ष लीग के इलाहाबाद अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए डा० इकबाल ने कहा, "मैं तो चाहता हूँ कि पंजाब, सीमान्त प्रदेश, सिन्ध और बिलोचिस्तान को मिला कर एक

राज्य बना दिया जाये।" उन्होंने बताया कि मुसलमानों का हित "एक उत्तर पश्चिमी संयुक्त मुस्लिम राज्य के निर्माण" में ही है। लगभग इसी समय रहमत अली तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुछ अन्य मुसलमान विद्यार्थियों ने इङ्गलैंड में ही एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें कहा गया था कि मुसलमानों को अपना अलग संघ, 'पाक्स्तान' (Pokstan) बनाने का अधिकार मिलना चाहिये। उनके "पाक्स्तान" का अर्थ था—पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त अर्थात् अफ़गान प्रदेश, काश्मीर, सिन्ध और बिलोचिस्तान का संघ-राज्य। थोड़े ही समय में "पाक्स्तान" बदल कर "पाकिस्तान" (Pakistan) अर्थात् 'पवित्र जनों का देश' बन गया। परन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि पाकिस्तान की धारणा के जन्मदाता रहमत अली ने देश के सारे मुसलमानों के ऐक्य का प्रस्ताव नहीं किया था। उनकी माँग इतनी ही थी कि केवल उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों में रहने वाले मुसलमानों का अलग संघ-राज्य बनाया जाये। परन्तु उनकी इस योजना पर किसी ने गम्भीरता से विचार भी नहीं किया। यूसुफ़ अली साहब ने इसे "विद्यार्थी-मस्तिष्क की योजना" बताया और चौधरी जफ़रुल्ला खाँ को यह योजना अव्यावहारिक तथा मरीचिका-तुल्य (Impracticable and Chemirical) प्रतीत हुई।

साम्प्रदायिक परिनिर्णय (Communal Award)—सरकार अब भी मुस्लिम लीग का पक्ष ले रही थी। परन्तु सन् १९३० ई० के बाद कुछ वर्षों तक लीग ने भारतीय राजनीति में अधिक भाग नहीं लिया। इस बीच जिन्ना साहब अधिकतर इङ्गलैंड में रहे। वास्तव में वे वहीं रह कर वकालत आरम्भ करने का विचार कर रहे थे। परन्तु मार्च सन् १९३४ ई० में वे अचानक संयुक्त मुस्लिम लीग के सभापति बन कर भारत लौटे। उनके आते ही लीग में नये जीवन का संचार हुआ। लन्दन के पहले दो गोलमेज़ सम्मेलनों में साम्प्रदायिक समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। इस दिशा में स्वयं महात्मा गाँधी ने भी व्यक्तिगत प्रयत्न किया परन्तु सफलता नहीं मिली। तब अगस्त सन् १९३२ ई० में प्रधानमन्त्री रैमज़े मैकडानल्ड ने अपने परिनिर्णय की घोषणा की। इस परिनिर्णय में मुसलमानों और सिक्खों के साथ-साथ भारतीय ईसाई, एँग्लो-इण्डियन तथा योरुपीय सम्प्रदायों के लिए भी पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी और स्त्रियों, श्रमिकों, व्यापार-हितों, ज़मींदारों तथा विश्वविद्यालयों इत्यादि को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया था। मेहता और पटवर्धन के अनुसार "सन् १९०९ ई० में निर्वाचन क्षेत्रों के दस विभाग किये गये थे, अब (सन् १९३२ ई० में) उनके १७ असमान विभाग कर दिये गये। स्त्रियों तथा भारतीय ईसाइयों पर उनकी इच्छाओं के प्रतिकूल पृथक प्रतिनिधित्व लादा गया था। और हरिजनों को साम्प्रदायिक निर्वाचन का अधिकार देकर हिन्दू समाज को और अधिक नि:शक्त बना दिया गया। यह विभाजन जीविका एवं व्यवसाय के आधार पर किया

गया था तथा संघर्षपूर्ण विभाजन की कोई भी सम्भावना बचा कर नहीं रखी गई थी[1] ।"

साम्प्रदायिक निर्णय पर भाषण देते हुए रैमजे मैकडानल्ड ने कहा था कि योजना विभिन्न वर्गों के विरोधी तथा प्रतिस्पर्द्धी अधिकारों के बीच संतुलन का सच्चा प्रयत्न था। किन्तु सत्य यह है कि योजना के अन्तर्गत कुछ वर्गों का तो अत्यधिक पक्ष लिया गया था और कुछ की उपेक्षा की गई थी। योजना योरुपियनों, एङ्गलो इण्डियन तथा मुसलमानों के प्रति अधिकतर उदार थीं। किन्तु हिन्दुओं के प्रति अधिक अन्याय हुआ था। एटली ने ठीक ही कहा था कि साम्प्रदायिक निर्णय का आधार काम चलाऊ ही नहीं होना चाहिए। इस निर्णय ने मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है और हिन्दुओं के साथ अन्याय किया है। साम्प्रदायिक निर्णय तो केवल इसलिए होना चाहिये कि विभिन्न अल्पमत वालों को उचित संरक्षण मिल सके। लेकिन साम्प्रदायिक पृथक निर्वाचन से घोर साम्प्रदायिकता बढ़ेगी। संयुक्त निर्वाचन से ही साम्प्रदायिकता का विष बढ़ने और फैलने से रोका जा सकता है।" श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा "किसी भी दृष्टि से मैं इस निर्णय को सही, बुद्धिमत्तापूर्ण और न्यायपूर्ण नहीं मानता।.........मैं इस भयानक साम्प्रदायिक निर्णय का परिणाम अभी से देख रहा हूँ। इससे साम्प्रदायिक मनमुटाव बढ़ेगा। आई० सी० एस० (I. C. S.) के अफ़सरों के हाथ मज़बूत होंगे.........यह अफ़सर सदैव की भाँति अपने को सर्वशक्तिमान समझते रहेंगे।"

मुस्लिम लीग ने तुरन्त यह परिनिर्णय स्वीकार कर लिया। परन्तु गाँधी जी, ने जो उस समय यरवदा जेल में थे, हरिजनों के पृथक प्रतिनिधित्व का तीव्र विरोध करते हुए २० सितम्बर सन् १६३२ ई० से अनशन आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही श्री मदन मोहन मालवी, श्री वल्लभ भाई पटेल, श्री जयकर तथा श्री अम्बेदकर के प्रयत्नों से पूना का समझौता हो गया। इस समझौते में हरिजनों के लिए बनाई गई आरक्षण-प्रणाली का संशोधन किया गया। यह तय हुआ कि हरिजनों के लिए प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभा में कुछ स्थान रक्खे जायँ तथा उन्हें सरकारी नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व दिया जावे। इसके बदले में हरिजनों ने पृथक निर्वाचन की माँग त्याग दी। सरकार ने इस समझौते को मान लिया, अतः गाँधी जी ने अपना उपवास तोड़ दिया।

---

1 "The electorate in 1909 was broken up into 10 parts; now (in 1932) it is fragmented into 17 unequal bits. Separate electorates were thrust against their wishes, on women and Indian Christians. The Hindu community was further weakened by giving separate representation to the scheduled classes. Divisions on the basis of religion, occupation and service were made. Every possible cross division was introduced." [Mehta and Patwardhan]

"इस्लाम संकट में है"—इसके बाद सन् १६३५ ई० का सुधार-कानून आया जिसकी भारतीय राजनैतिक विचार-धारा के सभी वर्गों ने तीव्र आलोचना की। इस सुधार-योजना के संघीय-भाग को लीग तथा काँग्रेस दोनों ने ही अस्वीकार कर दिया था। परन्तु लीग इसके प्रान्तीय-भाग को कार्यान्वित करने के लिए सहमत थी। उधर काँग्रेस ने पूरी योजना को अस्वीकार करते हुए निश्चय किया था कि उसके प्रतिनिधि, भारतीय जनता के हित-साधन के लिए, निर्वाचन लड़ कर धारासभाओं में जायेंगे परन्तु उनका उद्देश्य संविधान को निष्क्रिय बना कर उसका अन्त कर देना होगा। सन् १६३६-३७ के शीतकाल में नये संविधान के अंतर्गत निर्वाचन हुये। उनके फलस्वरूप मद्रास, मध्यप्रांत, बम्बई, संयुक्त प्रांत, बिहार तथा उड़ीसा, इन ६ प्रांतों में काँग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। तीन अन्य प्रान्तों—उत्तर-पश्चिम सीमांत, बङ्गाल तथा आसाम—में उसे पूर्ण बहुमत तो नहीं प्राप्त हो सका परन्तु उसके निर्वाचन सदस्यों की संख्या अन्य दलों की संख्या से अधिक थी। मुस्लिम लीग को भी अच्छी सफलता मिली परन्तु उसे किसी प्रान्त में बहुमत नहीं प्राप्त हो सका। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि लीग को मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों की अपेक्षा अन्य क्षेत्रों में अधिक सफलता प्राप्त हुई। और जब काँग्रेस ने लीग के साथ मिलकर संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकार नहीं किया, तब लीगियों को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने मुसलमानों में काँग्रेस के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इसके कुछ समय बाद काँग्रेस ने अपना मुस्लिम जनसम्पर्क आंदोलन आरम्भ किया। इससे लीग को और अधिक रोष आया। इस समय लीग के स्थायी अध्यक्ष तथा सर्वेसर्वा जिन्ना साहब थे। उन्होंने सन् १६३७ ई० के लीग के लखनऊ अधिवेशन में कहा, "अभी हमें थोड़ा सा अधिकार तथा उत्तरदायित्व मिला है; परन्तु बहुसंख्यक सम्प्रदाय ने अभी से अपनी नीति का स्पष्टीकरण कर दिया है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिये है।"

जहाँ तक काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों का सम्बन्ध है, अल्पसंख्यकों का विश्वास प्राप्त करना उनके लिए लाभदायक होने के साथ ही साथ उनकी नीति के अनुरूप भी था। और उन्होंने उसके लिए प्रयत्न भी किया। हिन्दू महासभा ने तो यहाँ तक कह डाला कि काँग्रेस मुसलमानों का पक्ष लेकर अन्य सम्प्रदायों के साथ अन्याय कर रही है। परन्तु मुस्लिम लीग चिल्ला-चिल्ला कर कहती थी कि "इस्लाम संकट में है।" उपनिर्वाचनों में मुसलमान मतदाताओं को कुरान की शपथ दिला कर लीग पक्ष में मत देने के लिए कहा जाता था। दिन-रात चारों ओर यही ढिंढोरा पीटा जा रहा था कि काँग्रेसी सरकारें मुसलमानों के साथ अन्याय कर रही हैं। साधारणतया यह बताने का कष्ट नहीं किया जाता था कि यह अत्याचार क्या और किस प्रकार के हैं, और कभी-कभी किसी साधारण स्थानीय घटना को घुमा-फिरा एवं बढ़ा-चढ़ा कर अत्याचार का स्वरूप दे दिया जाता था। प्रोफ़ेसर हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक "Muslim

Politics" में मुस्लिम लीग के इन आरोपों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है: (१) धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप; (२) सांस्कृतिक परम्परा में हस्तक्षेप; (३) सरकारी नौकरियों तथा प्रतिनिधित्व में मुसलमानों का अनुपात कम करने का प्रयत्न; तथा (४) सामाजिक बड़प्पन का प्रदर्शन।" सन् १९३८-३९ ई० में लीग ने तीन प्रलेख प्रकाशित किए जिनमें काँग्रेसी प्रान्तों में हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों पर किये गये कथित अत्याचारों का वर्णन किया गया था। कुछ समय पूर्व अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने काँग्रेसी प्रान्तों में मुसलमानों के साथ किये गये दुर्व्यवहार एवं अन्यायों की जाँच-पड़ताल करने के लिए पीरपुर कमेटी नियुक्त की थी। इसकी रिपोर्ट नवम्बर सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुई जो असंख्य निराधार आरोपों का संग्रहमात्र थी। शरीफ़ कमेटी तथा फ़ज़लुल हक़ कमेटी की रिपोर्टें भी इसी प्रकार के निराधार आरोपों से भरी थीं। इन तीनों रिपोर्टों का आधार कोरी कल्पना थी जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। सम्भव है कि कुछ ऐसी समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में, जिनसे साधारणतया साम्प्रदायिक संघर्ष उत्पन्न होता है, काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने कुछ भूलें की हों। परन्तु प्रोफ़ेसर कूपलैंड तक ने स्वीकार किया है कि "सम्भव है कुछ ऐसी असम्बद्ध घटनायें हुई हों जिनमें हिन्दू ग्रामीणों ने अपने मुसलमान पड़ोसियों के साथ उद्दंडता का व्यवहार किया हो, परन्तु इसका अर्थ तो किसी प्रकार नहीं होता कि काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक अन्याय की नीति स्वीकार कर ली थी। फिर जानबूझ कर अत्याचार करना तो बहुत दूर की बात है[1]।" स्वयं काँग्रेसी सरकारों ने इस प्रकार के आरोप लगाने वालों को घटनाओं का पूर्ण विवरण देने अथवा सरकार की सहायता से उनकी जाँच करने के लिए निमन्त्रित किया। परन्तु लीग ने इन निमन्त्रणों से लाभ उठाने का कभी कष्ट नहीं किया, और उसका काँग्रेसी-विरोधी आन्दोलन पूर्ववत् चलता रहा। सन् १९४० के आरम्भ में काँग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने जिन्ना साहब को एक पत्र लिखकर मुस्लिम-लीग के आरोपों को जाँच तथा निर्णय के लिए संघीय न्यायालय (Federal Court) के समक्ष रखने को आमन्त्रित किया। परन्तु जिन्ना साहब ने यह निमंत्रण भी स्वीकार नहीं किया। ध्यान देने की बात है कि काँग्रेसी शासनकाल के कुछ अंग्रेज़ प्रांतीय गवर्नरों तक ने यह सार्वजनिक घोषणा की थी कि उन्होंने अल्पसंख्यकों के प्रति किए गये व्यवहार में कोई आपत्तिजनक बात नहीं देखी।

सन् १९३९ ई० में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने एक ऐसे राजनैतिक प्रश्न पर

---

1. "Although there might be isolated cases of high-handedness on the part of Hindu villagers against their Muslim neighbours, that does not mean that the Congress Ministries had lent themselves to a policy ofcommunal injustice, still less of deliberate persecution." [Coupland]

पद त्याग दिया जिसका मुस्लिम लीग तथा साम्प्रदायिक समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु इस बात से लीग का प्रतिक्रियावादी स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है कि जिन्ना साहब ने इस अवसर का प्रयोग काँग्रेस की अत्यन्त कटु आलोचना करने में किया। उन्होंने प्रान्तों में काँग्रेसी शासन का अन्त होने के उपलक्ष में मुसलमानों को "मुक्ति दिवस" (Day of Deliverance) मनाने का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राष्ट्रवादी मुसलमानों, और विशेष रूप से मौलाना आज़ाद को चुन-चुन कर गालियाँ सुनाईं। "मुक्ति-दिवस" के आयोजन ने वैमनस्य को बढ़ा कर इस विश्वास को और प्रबल बना दिया कि काँग्रेस के साथ किसी प्रकार का समझौता करने अथवा भारत की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करने की मुस्लिम लीग की तनिक भी इच्छा नहीं है। जिन्ना साहब ही इस समय लीग के सर्वेसर्वा थे। और वे पूर्णतया ब्रिटिश सरकार की ओर थे। अतएव काँग्रेस के पदत्याग कर देने पर बङ्गाल, सिन्ध, पंजाब तथा आसाम में अन्य काँग्रेस-विरोधी दलों के साथ मिल कर मुस्लिम लीग ने संयुक्त मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया। इस प्रकार उसने काँग्रेस के पदत्याग से रिक्तस्थानों की पूर्ति करने का यथासम्भव प्रयत्न किया, और कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकार भी उसके साथ थी।

पाकिस्तान की माँग—सन् १९३५ ई० से ही लीग ने एक प्रथक राज्य स्थापित करने को अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया था और इसके तीन वर्ष बाद, अर्थात् सन् १९३८ ई० में उसने देश के विभाजन की माँग उठाई। इसके पश्चात् मार्च सन् १९४० ई० लाहौर में लीग का एक अधिवेशन हुआ जिसमें विभिन्न प्रान्तों के लीगी प्रतिनिधियों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमें माँग की गई कि मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों का भारत से विच्छेद किया जाये। आगे चल कर यही पाकिस्तान प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें कहा गया था कि भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्रों में जहाँ मुसलमान जनसंख्या का बहुमत है, अलग-अलग वर्ग बना कर "स्वतन्त्र राज्यों" का निर्माण किया जाये तथा इन "स्वतन्त्र राज्यों" को रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, यातायात तथा पूर्ण सत्ताधिकार के लिये आवश्यक अन्य विषयों की पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हों। जिन्ना साहब ने अपने अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण में कहा: "मुसलमानों का अपना राष्ट्र है......उन्हें अपना देश, अपनी मातृभूमि तथा अपना राज्य भी मिलना चाहिये। मुस्लिम भारत ऐसे किसी संविधान को स्वीकार नहीं कर सकता जिसमें हिन्दू बहुमत का शासन अवश्यम्भावी हो। यदि अल्पसंख्यकों पर कोई जनतन्त्रवादी प्रणाली लाद कर हिन्दू-मुसलमानों को एक साथ रखा गया, तो इसका अर्थ होगा—हिन्दू राज्य।" इस प्रकार जिन्ना साहब ने अपने "द्विराष्ट्र सिद्धान्त" (Two Nation Theory) का प्रतिपादन किया। अगले वर्ष लीग के मद्रास अधिवेशन में

पाकिस्तान को लीग का मुख्य उद्देश्य स्वीकार कर लिया गया। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि पाकिस्तान की यह माँग पृथक प्रतिनिधित्व, आरक्षण तथा दीर्घानुपात की नीति का स्वाभाविक परिणाम थी। "अतएव पाकिस्तान के जन्मदाता लार्ड मिन्टो थे, इक़बाल अथवा रहमत अली अथवा जिन्ना नहीं[1]।"

पाकिस्तान की माँग पर सरकार तथा काँग्रेस की प्रतिक्रिया—सन् १९४१ ई० के आरम्भ में जापानी सेनायें भारत की ओर बढ़ती चली आ रही थीं, परन्तु भारतीय राजनीतिज्ञों पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। काँग्रेस ने अपनी माँगों में किसी प्रकार का संशोधन करना अस्वीकार कर दिया था। दूसरी ओर मुस्लिम लीग कह रही थी कि मुसलमानों के लिये भारत की वैधानिक समस्या का एकमात्र समाधान पाकिस्तान है। इन परिस्थितियों में इङ्गलैण्ड के युद्धकालीन मन्त्रि-मण्डल के सदस्य सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से ब्रिटिश नीति के प्रस्तावित घोषणा-पत्र पर वार्तालाप करने के लिये मार्च सन् १९४२ में भारत आये। इस घोषणा-पत्र में कहा गया था कि युद्ध के बाद शीघ्र ही एक पूर्ण औपनिवेशिक अधिकार प्राप्त भारतीय संघ के निर्माण की व्यवस्था की जायेगी तथा जो प्रान्त इस नये संविधान को स्वीकार करने में असमर्थ होंगे उन्हें अपना अलग संघ बनाने की स्वतन्त्रता होगी। युद्धोत्तर संविधान-निर्माण की इस ब्रिटिश योजना को सभी दलों ने अस्वीकार कर दिया। काँग्रेस की मुख्य आपत्ति यह थी कि इस योजना में प्रान्तों को संघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार देकर पाकिस्तान की संभावना उत्पन्न कर दी गई थी। इसके विपरीत लीग की मुख्य आपत्ति यह थी कि इस योजना के अन्तर्गत पाकिस्तान की सम्भावना मात्र थी, निश्चित व्यवस्था नहीं। इस प्रकार क्रिप्स मिशन के असफल हो जाने पर काँग्रेस ने अपना प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" प्रस्ताव स्वीकार किया, और जिन्ना साहब ने कहा कि इस प्रस्ताव के फलस्वरूप होने वाला आन्दोलन मुख्यतः मुसलमानों के विरुद्ध था, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध नहीं। यद्यपि वास्तव में "भारत छोड़ो" आन्दोलन से मुसलमानों का कोई अहित नहीं हुआ।

सन् १९४२ ई० से सन् १९४७ ई० तक काँग्रेस ने कई बार मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु जिन्ना साहब ने प्रत्येक अवसर पर उसका प्रस्ताव ठुकराते हुये यही कहा कि समझौते के पहले पाकिस्तान की स्वीकृति आवश्यक है। सन् १९४४ ई० में जेल से छूटने पर महात्मा गाँधी ने राजगोपालाचार्य-योजना के आधार पर काँग्रेस-लीग समझौते के लिये जिन्ना साहब से वार्तालाप की। इस योजना के अन्तर्गत पाकिस्तान को लगभग उतना ही प्रदेश दिया जा रहा था जितना

1. "The father of Pakistan is, therefore, not Iqbal or Rahmat Ali or Jinnah, but Lord Minto." [Rajendra Prasad]

आगे चल कर ३ जून की माउण्टबेटेन योजना के अनुसार उसे प्राप्त हुआ। शर्त केवल इतनी थी कि उस प्रदेश का भारत से विच्छेद केवल तभी होगा जब उसके समस्त निवासियों की मतगणना में बहुमत उसके पक्ष में हो। परन्तु जिन्ना साहब ने यह "कटा-पिटा, दीमक-लगा पाकिस्तान" (maimed, mutilated, moth-eaten Pakistan) स्वीकार नहीं किया।

इस बीच ब्रिटिश सरकार ने भी भारत के सामने कई योजनायें रक्खीं। सितम्बर सन् १९४५ ई० में इङ्गलैंड में मज़दूर दल की नई सरकार बनी। उसने भारतीय समस्या को सुलझाने का प्रयत्न आरम्भ करते हुये घोषणा की कि शीघ्र ही स्वयं भारतीयों द्वारा निर्मित संविधान के आधार पर भारत को पूर्ण स्वराज्य देने की व्यवस्था की जायेगी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं तथा देशी नरेशों से इस विषय में परामर्श करने के लिये मन्त्रिमंडल के तीन प्रमुख सदस्यों का एक प्रतिनिधि-मण्डल भारत भेजने का निश्चय किया। परामर्श के मुख्य विषय निम्नलिखित थे। (१) भारत के संविधान-निर्माण का सबसे अच्छा उपाय ; (२) उक्त उद्देश्य से भारत में एक विधान सभा की स्थापना ; तथा (३) सभी राजनैतिक दलों के सहयोग से एक अन्तर्कालीन (Interim) सरकार की स्थापना। मार्च सन् १९४६ ई० में, मन्त्रि-मण्डल मिशन भारत आगमन से कुछ समय पूर्व ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने अपनी ईमानदारी का प्रमाण देते हुये घोषणा की कि किसी अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को बहुमत की प्रगति में रुकावट डालने का अधिकार नहीं प्राप्त होगा।

लीग तथा काँग्रेस के साथ मन्त्रिमण्डल मिशन का वार्तालाप बहुत समय तक चलता रहा। यहाँ पर इस वार्तालाप का व्योरेवार वर्णन आवश्यक नहीं है। मई सन् १९४६ ई० में मिशन का प्रस्ताव प्रकाशित किया गया। इसमें पाकिस्तान के सिद्धांत को स्वीकार करते हुये कहा गया था कि कई अत्यन्त गम्भीर राजनैतिक आर्थिक तथा सैनिक कारणों से एक नये राज्य की स्थापना क्रियात्मक नहीं प्रतीत होती। तथापि, लीग की माँग का कुछ ध्यान रखना आवश्यक था क्योंकि ७ करोड़ जनता को अनिच्छित शासन स्वीकार करने पर विवश नहीं किया जा सकता था। अतएव मन्त्रिमंडल मिशन ने उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में (जिनमें उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश, पंजाब, सिन्ध, बंगाल तथा आसाम के प्रान्त सम्मिलित थे) लीग को यथेष्ट अधिकार देने की व्यवस्था की थी। इस व्यवस्था का आधार संविधान-निर्माण के लिये प्रान्तों का वर्गीकरण था। मिशन की योजना में इस प्रकार के तीन वर्गों की व्यवस्था की गई थी। 'अ' वर्ग में मद्रास, बम्बई, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा, यह ६ हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्त, 'ब' वर्ग में उत्तर पश्चिम के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त अर्थात सीमान्त प्रदेश, सिंध, पंजाब तथा बिलोचिस्तान, और 'स' वर्ग में उत्तर पूर्वी मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्त बंगाल, तथा आसाम रखे गये थे। यह वर्गीकरण विशेष रूप

से लीग को संतुष्ट करने के लिये किया गया था जो हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान अर्थात् हिन्दू बहुसंख्यक तथा मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों के लिये दो विधान-सभाओं को माँग कर रही थी। मन्त्रिमण्डल मिशन ने साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तों का वर्गीकरण करके तथा रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा यातायात के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के लिये एक के स्थान पर तीन-तीन विधान-सभायें बना कर पाकिस्तान का सारांश तो स्वीकार ही कर लिया था। इसके अतिरिक्त योजना में एक अस्थायी सरकार बनाने तथा ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों को मिला कर एक भारतीय संघ के निर्माण की व्यवस्था भी की गई थी। कहा गया था कि इस संघ की अपनी धारासभा तथा अपनी कार्य्य-पालिका होगी जिनमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे; परन्तु उपरोक्त धारासभा में किसी प्रमुख साम्प्रदायिक महत्व के प्रश्न का निर्णय तभी हो सकेगा जब दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित तथा मतदाता प्रतिनिधियों का, तथा सब उपस्थित तथा मतदाता सदस्यों का बहुमत उसके पक्ष में हो।

वास्तव में मन्त्रिमण्डल मिशन की यह योजना अपूर्ण थी। सभी दलों को सन्तुष्ट करने की उत्सुकता में मिशन किसी दल को पूर्ण सन्तोष नहीं दे पाया था। साम्प्रदायिक वर्गीकरण व्यवस्था के फलस्वरूप देश के तीन भाग होने की सम्भावना थी जिससे भारतीय एकता तथा जनतन्त्र का निश्चय ही अन्त हो जाता। इसके अतिरिक्त हिन्दू बहुसंख्यक आसाम का प्रान्त तथा राष्ट्रीय मुस्लिम बहुमत वाले सीमान्त प्रदेश को उनकी इच्छाओं के प्रतिकूल पाकिस्तानी 'स' और 'ब' वर्गों में रखा जा रहा था। मिशन के भारत से चले जाने के बाद वाइसराय लार्ड वेवेल ने अस्थायी सरकार के निर्माण में साम्प्रदायिक समानुपात का प्रस्ताव किया। इसे स्वीकार करना काँग्रेस के लिये नितान्त असम्भव था।

पाकिस्तान के लिये आन्दोलन—मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना से मुसलमान सम्प्रदायवादियों को सन्तोष नहीं हुआ था। वे समझते थे कि उसमें उनके साथ बहुत थोड़ा न्याय किया गया था। मिशन ने भारत उपमहाद्वीप में स्थित एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य के अर्थ में पाकिस्तान की स्वीकृति नहीं दी थी, परन्तु मुस्लिम राष्ट्र का अडिग उद्देश्य अब भी यही था। उधर, तीव्र आलोचना करने के बाद भी लीग तथा काँग्रेस दोनों ने मिशन की कई व्याख्याओं के आधार पर उसकी योजना के दीर्घकालीन अंग को स्वीकार कर लिया था। परन्तु अस्थायी सरकार के निर्माण में कठिनाइयाँ सामने आईं। काँग्रेस का कहना था कि वह ७५ प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है और लीग केवल २५ प्रतिशत का, अतएव इन दोनों दलों के समानुपात का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। काँग्रेस के समानुपात अस्वीकार करने पर परिस्थिति में गतिरोध आ गया। उधर जिन्ना साहब आशा कर रहे थे कि काँग्रेस द्वारा अल्पकालीन योजना अस्वीकार हो जाने के बाद इङ्गलैण्ड की मजदूर सरकार

उन्हें काँग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों के सहयोग से मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये निमन्त्रित करेगी। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने बिना काँग्रेस के मन्त्रिमण्डल बनाना उचित नहीं समझा। इससे जिन्ना साहब को बड़ा क्षोभ हुआ, और २६ जुलाई सन् १९४६ ई० को उन्होंने लीग का निश्चय बदलवा कर दीर्घकालीन योजना को भी अस्वीकार करवा दिया। इसके अतिरिक्त लीग ने अँग्रेज़ों के विरुद्ध आन्दोलन आरंभ करने का भी निश्चय किया। १६ अगस्त को उसका "प्रत्यक्ष आन्दोलन दिवस" (Direct Action Day) मनाया गया जिसमें कलकत्ता के मुसलमानों ने संगठित रूप से हिन्दुओं पर आक्रमण किया। यहाँ पर एक यह बात ध्यान देने की है कि यह आन्दोलन वास्तव में विदेशी शासन के विरुद्ध नहीं था, इसका उद्देश्य सरकार को विवश करके उससे पाकिस्तान छीन लेना नहीं था। वास्तव में यह आन्दोलन हिन्दुओं के विरुद्ध था। कलकत्ते के बाद अक्टूबर में नोआखाली में हत्याकाण्ड, लूटमार, अपहरण तथा अग्निकाण्ड की उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति हुई और उसके बाद पंजाब के सिखों तथा हिन्दुओं का जीवन ही नर्क बना दिया गया। इन हृदय-विदारक घटनाओं के विरुद्ध अस्थायी सरकार भी स्वयं विभाजित होने के कारण अपना कर्तव्य पालन करने में असमर्थ थी। और ध्यान देने की बात है कि मुस्लिम लीग के नेताओं ने अपने अनुयायियों के इन अमानुषिक अत्याचारों के विरुद्ध कभी एक शब्द भी नहीं कहा।

इन परिस्थितियों में २० फरवरी सन् १९४७ ई० को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की: "सम्राट् की सरकार अपनी यह निश्चित इच्छा स्पष्ट कर देना चाहती है कि उत्तरदायी भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित करने की व्यवस्था जून सन् १९४८ ई० की अन्तिम तिथि तक पूर्ण हो जानी चाहिये। पूर्ण सत्ता चाहे ब्रिटिश भारत की किसी संयुक्त केन्द्रीय सरकार को हस्तान्तरित की जाये, चाहे कुछ क्षेत्रों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को, अथवा भारतीयों के हित में किसी अन्य उचित प्रकार से।" जिन्ना साहब ने इस घोषणा के द्वितीय अंश में पाकिस्तान की स्वीकृति का अर्थ पढ़ा। कुछ भी हो, इस घोषणा से मुस्लिम विलगवाद को प्रोत्साहन अवश्य मिला। ब्रिटिश सरकार ने इसके थोड़े ही समय बाद लार्ड वेवेल को वापस बुला लिया और लार्ड माउण्टबेटेन को उनके स्थान पर वाइसराय बनाकर भेजा। नये वाइसराय ने शीघ्र ही स्थिति को समझ-बूझ कर, गतिरोध को शीघ्रातिशीघ्र दूर करने के उद्देश्य से, ३ जून सन् १९४७ को अपनी योजना प्रकाशित की। इस घोषणा में भारत का विभाजन कर दो उपनिवेश बनाने की व्यवस्था की गई थी, और लार्ड माउण्टबेटेन ने कहा कि विभाजन शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाना चाहिये क्योंकि काँग्रेस और लीग दोनों ने ही उनकी योजना स्वीकार कर ली थी।

विभाजन—इधर भारत में विभाजन की व्यवस्था हो रही थी, उधर ब्रिटिश

सरकार ने शीघ्रतापूर्वक सन् १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता कानून बना डाला। इसे कानून के अनुसार १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से देश को भारत तथा पाकिस्तान नाम के दो उपनिवेशों में विभाजित कर दिया गया। इस प्रकार जिन्ना साहब को उनका पाकिस्तान मिला और वे उसके पहले गवर्नर-जनरल बने। परन्तु यह वही "कटा-पिटा, दीमक लगा पाकिस्तान" था जिसे तीन वर्ष पूर्व उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। माँगे हुये ६ प्रान्तों में उन्हें तीन पूरे-पूरे (सीमान्त प्रदेश, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान), दो आधे-आधे (पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बङ्गाल) और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग मिला। बङ्गाल तथा पंजाब के विभाजन के लिये दो सीमा-कमीशन नियुक्त किये गये। इनके अध्यक्ष प्रसिद्ध अंग्रेज़ न्याय-शास्त्री सर सिरिल रैडक्लिफ थे तथा उनकी सहायता के लिये दो हिन्दू तथा दो मुसलमान न्यायाधीश नियुक्त किये गये थे। १८ अगस्त सन् १९४७ ई० को दोनों कमीशनों ने अपने परिनिर्णय दिये जिनके अनुसार बङ्गाल तथा पंजाब का विभाजन कर दिया गया।

विभाजन के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम समस्या का स्वरूप ही बदल गया। भारत के असाम्प्रदायिक संविधान ने घोषणा की कि इस देश में विभिन्न सम्प्रदायों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा और वास्तव में भारत ने सदा निष्पक्ष, असाम्प्रदायिक नीति का ही पालन किया है। भारत सरकार की नीति सदा यही रही है कि सम्प्रदायवाद शासन व्यवस्था में कोई विघ्न न डाल सके। परन्तु इसके विपरीत, पाकिस्तान की नीति सदा घोर साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत रही है। उसकी सरकार ही मुस्लिम धार्मिकता के आधार पर बनी है। इस नीति के फलस्वरूप पाकिस्तान के मुसलमानों में असहिष्णुता तथा संकीर्णता ने घर कर लिया है। पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था और उसके बाद भी वहाँ इसी मनोवृत्ति को प्रोत्साहन दिया गया है। संसार सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ रहा है, परन्तु पाकिस्तान अब भी उसी पर अड़ा है।

हिन्दू सम्प्रदायवाद—ग़ैरमुस्लिम सम्प्रदायवाद भारत में कभी अधिक महत्व नहीं प्राप्त कर सका। परन्तु यह सदा ही मुस्लिम सम्प्रदाय को उकसाता रहा है और इसकी उत्पत्ति सदैव मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुई है। यह निर्विवाद है कि हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदायवादों ने सदा एक दूसरे से बल प्राप्त किया है। मिण्टो-मार्ले सुधार योजना ने मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व देकर हिन्दुओं में प्रबल प्रतिक्रिया उत्पन्न की और अक्टूबर सन् १९०९ ई० में पंजाब के हिन्दुओं की हित-रक्षा के निश्चित उद्देश्य से एक प्रान्तीय हिन्दू सम्मेलन किया गया। हिन्दुओं के प्रतिष्ठित नेता भाई परमानन्द ने इसी सम्मेलन से हिन्दू महासभा का आरम्भ माना है। परन्तु इस विषय में मतभेद है और यह सत्य है कि सन् १९०९ ई० के बाद कई वर्षों तक हिन्दू महासभा ने कोई सक्रिय रूप नहीं धारण किया।

भारतीय राजनीति में इस समय इसे कोई मान्यता भी नहीं प्राप्त थी, और जिस समय सन् १९१६ ई० के समझौते के लिये कांग्रेस-लीग वार्तालाप हो रहा था, इसे पूछा तक नहीं गया। पंडित विष्णुनारायण दर, गंगा प्रसाद वर्मा, सर तेज बहादुर सप्रू आदि कुछ हिन्दू नेता हिन्दू सभाओं की स्थापना के समर्थक अवश्य थे, और उनके सदस्य भी बन चुके थे, परन्तु हिन्दू जनता इस प्रकार की संस्थाओं के प्रति उदासीन थी। इसका कारण सम्भवत: कांग्रेस की प्रतिद्वन्दता थी। कांग्रेस का संगठन बहुत अच्छा था और वह जनता की अच्छी सेवा कर रही थी।

हिन्दू महासभा—परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया और कांग्रेस मुसलमानों को अधिकाधिक सुविधायें देती गई, हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। सरकार साम्प्रदायिक दंगे करा कर राष्ट्रीय आन्दोलनों को निर्बल बनाने की नीति का पालन कर रही थी। इससे हिन्दू सम्प्रदायवाद को बल मिला। माण्टेग्यू चेम्सफर्ड सुधार-योजना के अन्तर्गत मुसलमानों का यथेष्ट लाभ हुआ था। यह देख कर हिन्दुओं ने भी अनुभव किया कि हिन्दू-हितों की रक्षा के लिये उनका अपना संगठन अति आवश्यक है। अतएव सन् १९२३ ई० में हिन्दू महासभा का पहला महत्वपूर्ण अधिवेशन बनारस में हुआ। इसके अध्यक्ष पंडित मदनमोहन मालवीय थे। इस सम्मेलन में महासभा के पुराने विषयों में परिवर्तन किया गया और इस समय से प्रान्तीय महासभाओं का संगठन आरम्भ हुआ।

अगले वर्ष बेलगाँव में कांग्रेस के पण्डाल में ही महासभा का अधिवेशन हुआ और इसमें मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, डा० महमूद, मौलाना आज़ाद इत्यादि कांग्रेस के प्रमुख मुसलमान नेताओं ने भी भाग लिया। सम्मेलन के अध्यक्ष पं० मदनमोहन मालवीय ने उच्च स्वर से घोषणा की कि महासभा साम्प्रदायिक संस्था नहीं है। उन्होंने कहा, "कोई हिन्दू कांग्रेस का विरोध करे, यह बड़ी लज्जा की बात होगी। हमारा उद्देश्य तो कांग्रेस के सहायक बन कर उसे अधिक बल देना है। महासभा के संगठन की आवश्यकता इसलिये अनुभव की गई कि राजनैतिक संस्था होने के कारण कांग्रेस उन प्रश्नों को हल नहीं कर सकती जो राजनैतिक क्षेत्र के बाहर, सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रों में, विभिन्न सम्प्रदायों के सामने आते रहते हैं।" मालवीय जी ने इस बात पर विशेष आग्रह किया कि महासभा वस्तुत: एक सांस्कृतिक संस्था है। परन्तु महासभा के उसी अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया था: "यह सभा अपना कार्यक्षेत्र हिन्दुओं के सामाजिक तथा धार्मिक उत्थान तक ही सीमित नहीं रखेगी; यह हिन्दुओं का ध्यान राजनैतिक प्रश्नों की ओर भी आकर्षित कर उनके जनमत का व्यक्तीकरण करेगी।" उस समय महासभा, अस्थायी रूप से, कांग्रेस की अहिंसात्मक नीति का ही पालन कर रही थी और सामाजिक तथा सांस्कृतिक विषयों की ओर विशेष ध्यान दे रही थी। लाला लाजपत

राय हिन्दू महासभा की राष्ट्रवादी नीति के प्रबल समर्थक थे। वे यह कभी नहीं चाहते थे कि हिन्दू काँग्रेस को छोड़ दें। महासभा के अध्यक्ष पद से दिये गये एक भाषण में उन्होंने कहा था; "जहाँ तक शुद्ध साम्प्रदायिक हित का कोई प्रश्न न उठे, हिन्दू महासभा को काँग्रेस के क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।"

परन्तु शीघ्र ही महासभा के विशिष्ट राजनैतिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। सन् १६२४ ई० के बाद देश के विभिन्न भागों, विशेषकर संयुक्त प्रात तथा दिल्ली में, साम्प्रदायिक दंगे होने के कारण हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में बहुत खिचाव आ गया था। मौलाना मोहम्मद अली तथा स्वामी श्रद्धानन्द के एकता-सम्मेलन में कहने को तो बहुत लोगों ने भाग लिया, परन्तु उसका फल कुछ भी नहीं निकला। महात्मा गाँधी तथा पं० मोतीलाल नेहरू ने भी साम्प्रदायिक एकता उत्पन्न करने तथा बढ़ाने के उपायों पर बहुत विचार किया परन्तु समस्या का समाधान नहीं हो सका। कलकत्ता (१६२६) तथा उसके बाद ढाका, बम्बई, कानपुर तथा संयुक्त प्रांत के अन्य कई स्थानों के दंगों से यह सिद्ध हो गया कि देश में साम्प्रदायिक एकता का नाम मात्र भी नहीं है। इन परिस्थितियों में दोनों सम्प्रदायवाद पनपे तथा राष्ट्रवाद की शक्ति क्षीण हुई। एक ओर मुसलमानों के 'तंजीम' और 'तबलीग' तथा दूसरी ओर हिन्दुओं के 'संगठन' और 'शुद्धि' ने इस खिचाव को और बढ़ा दिया। स्वामी श्रद्धानन्द का यह कथन ठीक ही था कि "हिन्दू-मुस्लिम एकता स्वतन्त्रता का परिणाम हो सकती है परन्तु उसका कारण नहीं बन सकती[1]।" परन्तु एक धर्मान्ध मुसलमान ने पूज्य स्वामी जी के घर में घुस कर उनकी हत्या केवल इसलिए कर डाली कि वे हिन्दू आदर्शों के उत्साही समर्थक थे। इस हत्या से हिन्दुओं के क्रोध की सीमा नहीं रही और उनकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पक्की हो गई। इन समस्याओं पर महासभा तथा काँग्रेस के दृष्टिकोण में सैद्धान्तिक मतभेद था, अतएव दोनों का विलग होना स्वाभाविक ही था। महासभा के दिल्ली अधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश तथा हिन्दू-हितों की रक्षा के लिये निर्वाचन में अपने प्रतिनिधि खड़े करने के प्रश्न पर एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया। महासभा की इस राजनैतिक मनोवृत्ति की तीव्र आलोचना करते हुए पंडित मोतीलाल नेहरू ने कहा कि महासभा के प्रतिनिधि अपने को हिन्दू-हितों का रक्षक कह कर निर्वाचन लड़ेंगे, किसी राजनैतिक आधार पर नहीं। और महासभा के नेताओं को वास्तव में राष्ट्र-हित की तनिक भी चिंता नहीं थी। वे पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव तो प्रति वर्ष स्वीकार करते थे, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिये कोई राजनैतिक कार्यक्रम बनाना नहीं जानते थे। कुछ वर्षों तक साइमन कमीशन के विरोध में उत्पन्न हुई उत्तेजना तथा सर्व-दल सम्मेलन के प्रयत्नों के फलस्वरूप महासभा पृष्ठभूमि में

1. "Hindu-Muslim unity may be the result but will not be the cause of Swaraj." [Swami Shraddhanand]

पड़ी रही। इसके पश्चात् सविनय अवज्ञा आंदोलन छिड़ गया जिसमें हिन्दू जनता ने हृदय से गाँधी जी का साथ दिया।

परन्तु सन् १६३२ ई० के साम्प्रदायिक परिनिर्णय के साथ हिन्दू महासभा का साम्प्रदायिक कार्यक्रम फिर सामने आया और महासभा ने काँग्रेस पर हिन्दू-हितों का बलिदान करते हुए मुसलमानों का पक्ष लेने का आरोप लगाना आरम्भ किया। महासभा ने जनता के समक्ष साम्प्रदायिक परिनिर्णय के विरोध का कार्यक्रम रखकर निर्वाचन में भाग लिया। सन् १६३३ ई० में महासभा का अधिवेशन अजमेर में हुआ। इसके सभापति पद से भाषण देते हुये भाई परमानन्द ने कहा : "मेरे हृदय में बार-बार यह भावना उठती है कि यदि भारत का सबसे बड़ा सम्प्रदाय होने के कारण देश की राजनैतिक संस्थाओं में हिन्दुओं की स्थिति तथा उनका उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया जाये तो वे अवश्य अंग्रेज़ों को अपना सहयोग प्रदान कर सकते हैं।" उनकी धारणा थी कि अपने समाज में एकता लाकर हिन्दू सरकार को यह स्वीकार करने पर विवश कर सकते हैं कि उनका भारत के सम्प्रदायों में सब से अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उक्त अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष महोदय ने तो यहाँ तक कह दिया कि काँग्रेस का साथ देकर हिन्दू अपने विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। जुलाई सन् १६३४ ई० में महासभा की कार्यकारिणी ने पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्री एम० एस० अणे को काँग्रेस पार्लामेण्टरी बोर्ड (Congress Parliamentary Board) से अलग होने के उपलक्ष में बधाई दी। अगले वर्ष कानपुर में महासभा ने ब्रिटिश लोकसभा को भारत के लिये संविधान बनाने में असमर्थ बताते हुये सम्राट् को इस महान् कार्य में भारतीय जनता की सहायता लेने का परामर्श दिया। सन् १६३७ ई० के अधिवेशन में श्री सावरकर ने महासभा के लक्ष्य की परिभाषा करते हुये कहा—"हमारा लक्ष्य हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सभ्यता की रक्षा, संधारण तथा उन्नति करना और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पूर्ण स्वराज्य, अर्थात् उचित साधनों के प्रयोग द्वारा भारत के लिये पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है[1]।" नागपुर के अगले अधिवेशन में अपने "हिन्दू-राष्ट्र" सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये श्री सावरकर ने कहा, "भविष्य में हमारी राजनीति हिन्दू तत्वों से निर्मित तथा प्रमाणित इस प्रकार की शुद्ध हिन्दू राजनीति होगी जो हमारे हिन्दू राष्ट्र के संगठन, स्वातन्त्र्य तथा जीवन-

---

1. "Our aim is the maintenance, protection and promotion of the Hindu race, Hindu culture and Hindu civilisation and the advancement of the glory of Hindu Rashtra, and with a view to secure them, the attainment of Purna Swaraj i. e. absolute political independence for Hindustan by legitimate means." [V. D. Savarkar]

विकास में सहायक सिद्ध हो[1] ।" उन्होंने हिन्दुओं को कांग्रेस से शक्ति छीन लेने का परामर्श दिया, क्योंकि कांग्रेस हिन्दू-विरोधी संस्था थी। ऐसा लगता था मानों जिन्ना साहब की भाँति श्री सावरकर भी अपनी संस्था के स्थायी सभापति होगये थे। अगले वर्ष उन्होंने फिर कांग्रेस की इसी प्रकार आलोचना की।

इस प्रकार हिन्दू महासभा कांग्रेस से बहुत दूर होती जा रही थी। अहिंसा में उसे तनिक भी विश्वास नहीं था, वह हिन्दुओं में सैनिक भावना का संचार करना चाहती थी। हिन्दू राज्य के स्वप्न दिखा कर वह प्राचीन हिन्दुओं के सैनिक वैभव को पुनर्जीवित करना चाहती थी। परन्तु सरकार तथा जनता, दोनों में ही उसकी विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी, अतएव निर्वाचनों में उसे सफलता नहीं मिल पाती थी। इसके अतिरिक्त, महासभा भी कहने भर को ही भारतीय स्वतन्त्रता की समर्थक थी। वास्तव में लीग की भाँति उसे भी विशेष चिन्ता अपने सहधर्मियों की रक्षा तथा उनके लिये विशेषाधिकारों की प्राप्ति थी। परन्तु इस प्रकार के विशेषाधिकारों के लिये दोनों साम्प्रदायिक संस्थाओं को ब्रिटिश सरकार का मुँह ताकना पड़ता था। और ब्रिटिश सरकार केवल मुसलमान सम्प्रदायवादियों का पक्ष ले रही थी, अतएव हिन्दू महासभा को किसी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं हो सकी।

महासभा भारत-विभाजन की विरोधी थी और विभाजन के पश्चात् तो उसने १५ अगस्त सन् १९४७ ई० के स्वतन्त्रता समारोह में भाग न लेने तक का निश्चय कर लिया। परन्तु जनता पर उसके विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और समारोह उत्साहपूर्वक मनाया गया। इसके पश्चात् महासभा ने संयुक्त प्रान्तीय सरकार की नीति के विरोध में आन्दोलन आरम्भ किया, परन्तु वह भी अधिक समय तक नहीं चल सका। गाँधी जी की हत्या के समय महासभा पर भी षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का सन्देह किया गया क्योंकि हत्याकारी तथा उसके सारे सहायक महासभा के सदस्य थे। अभियुक्तों में श्री सावरकर का नाम भी था, परन्तु वे निर्दोष छोड़ दिये गये। गाँधी जी की हत्या के बाद महासभा ने अपना राजनैतिक कार्यक्रम स्थगित कर पूर्ण सांस्कृतिक संस्था का रूप धारण कर लिया। परन्तु यह अधिक समय तक नहीं चल सका और महासभा ने एक बार फिर अपनी शुद्ध साम्प्रदायिक नीति के आधार पर हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास आरम्भ किया। इस प्रयास में भी अभी तक उसे सफलता नहीं मिली है। डा० एन० बी० खरे के सभापतित्व में होने वाले अपने मुरादाबाद अधिवेशन में महासभा ने अपने द्वार अन्य सम्प्रदायों के लिये भी खोल दिये, परन्तु यह नये ग़ैर हिन्दू सदस्य केवल राजनैतिक कार्यक्रम में ही भाग ले

1. "Our politics hereafter will be purely Hindu politics, fashioned and tested in Hindu terms only, in suchwise as will help the consolidation; freedom and life-growth of our Hindu nation." [Ibid]

सकते हैं। कुछ समय पूर्व थोड़े से मुसलमान इसमें सम्मिलित हुये थे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब महासभा के हृदय-परिवर्तन का सूचक है। मुस्लिम लीग की भाँति महासभा भी 'धर्मराज्य' में विश्वास करती है। डा० खरे ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि काँग्रेस का "लौकिक राज्य" (secular state) एक प्रकार से हिन्दू राष्ट्रवादियों को चुनौती है।" ऐसी तो कोई भारतीय सभ्यता अथवा संस्कृति ही नहीं है जो न हिन्दू हो न मुसलमानी। भारत की एकमात्र संस्कृति हिन्दू संस्कृति है।"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—कहने के लिये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हिन्दू महासभा से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु वास्तव में यह दोनों संस्थायें परस्पर बहुत निकट हैं। अपने नियमों के अनुसार संघ एक शुद्ध साँस्कृतिक संगठन है और राजनैतिक विषयों से कोई प्रयोजन नहीं रखता। इसके मूल सिद्धान्त महासभा के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। यह अखण्ड भारत का समर्थक है और हिन्दू संस्कृति पर आधारित शासन-व्यवस्था में विश्वास करता है। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दू कर्म और विचार की परम्पराओं की ओर नये ढंग से ध्यान आकर्षित कर हिन्दुत्व में नवजीवन का संचार करना है। संघ के प्रधान श्री गोलवालकर के मतानुसार हिन्दुत्व की भावना के समावेश से ही देशव्यापी एकता तथा सेवा और स्नेह की सच्ची प्रवृत्ति का जन्म सम्भव है। शक्ति, देशभक्ति तथा संयम के आधार पर ही भारत संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। जो हिन्दू साम्प्रदायिक आधार पर देश के अप्राकृतिक विभाजन अथवा अपने धर्म के कारण भारत के बाहर अन्याय सहन कर रहे हैं उनके हितों की रक्षा करने एवं अनावश्यक मत-परिवर्तन रोकने के लिये, हिन्दू धर्म का राज्य-धर्म होना आवश्यक है। सरकार की हिन्दू-नीति नागरिकों को जीवन का एक आदर्श देकर विदेशों में व्यक्तिगत एवं सामाजिक कुरीतियों को समाप्त कर हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने की दिशा में प्रोत्साहित करेगी। लौकिक राज्य में नागरिकों के समक्ष जीवन का कोई आदर्श नहीं रहता है। ऐसा राज्य अपने नागरिकों की आर्थिक समृद्धि भर का ध्यान रख सकता है और हमारा वर्तमान शासन इस दिशा में भी पूर्ण असफल रहा है। लौकिक राज्य में जीवन के विकास के लिये कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक आदर्श नहीं होते हैं। उसकी नीति अधिक से अधिक नकारात्मक (negative) हो सकती है।

गाँधी जी की हत्या के बाद सरकार ने संघ पर यह कहकर प्रतिबन्ध लगा दिये कि वह अपने प्रचार द्वारा जन-जीवन में विष भर रहा है। परन्तु थोड़े ही समय बाद सरकार के साथ इसका समझौता हो गया और संघ पर लगाये गये सारे प्रतिबन्ध उठा लिये गये। यह संस्था लगभग २५ वर्ष से कार्य करती आ रही है परन्तु देश की स्वतन्त्रता के बाद से इसके महत्व तथा समर्थकों की बहुत वृद्धि हुई है।

सिख सम्प्रदायवाद—सन् १६११ ई० की जनगणना तक सिख हिन्दू

सम्प्रदाय के ही एक अङ्ग माने जाते थे। परन्तु अंग्रेज़ी "विभाजन नीति" से मुसलमानों का लाभ होता देख कर कुछ राज्यभक्त सिखों ने भी अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल बना कर वाइसराय से भेंट की। और इसके थोड़े ही समय बाद सिखों को भी हिन्दू धर्म से अलग एक भिन्न सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया गया। 'माण्टफर्ड' सुधार-योजना के अन्तर्गत उन्हें पंजाब में पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त हुआ। असहयोग आन्दोलन के समय सिखों ने अपने गुरुद्वारों को महन्तों के चंगुल से छुड़ाने का प्रयत्न किया। उनमें बड़ी उत्तेजना फैली। परन्तु सरकार ने बड़ी कठोरता के साथ उनका दमन किया। दमन की पराकाष्ठा पर पहुँच कर अंग्रेज़ों ने नाभा के महाराज को सिंहासन छोड़ने पर विवश किया गया। परन्तु अडिग सिखों ने भी जत्थे पर जत्था भेजा। सरकार ने सिख संगठनों को गैरकानूनी घोषित करके मास्टर तारासिंह तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परन्तु संघर्ष अनवरत चलता रहा। अन्त में सरकार ने एक गुरुद्वारा कानून बना कर समझौते का प्रस्ताव उपस्थित किया। कुछ लोग इस प्रस्ताव को स्वीकार कर जेल से छूट आये, परन्तु मास्टर तारासिंह अब भी अडिग थे। बाद में सरकार को उन्हें भी छोड़ना ही पड़ा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि अब सिखों में दो दल हो गये थे—राज्यभक्त तथा उग्र-पन्थी। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट ने इस मतभेद को और अधिक स्पष्ट कर दिया। सिख यथेष्ठ दीर्घानुपात (Weightage) माँगते थे। उनका कहना था कि जब अन्य प्रांतों में मुसलमानों को दीर्घानुपात दिया गया है तो पंजाब में सिखों को भी मिलना चाहिये। नेहरू रिपोर्ट में उनकी माँग स्वीकार नहीं की गई थी। सरदार मङ्गल सिंह ने रिपोर्ट का समर्थन किया, परन्तु बाबा खड़्ग सिंह, ज्ञानी शेर सिंह तथा मास्टर तारासिंह विरोध-पक्ष में थे। परन्तु रिपोर्ट की अवधि समाप्त हो जाने पर मास्टर तारा सिंह ने बड़े उत्साह के साथ सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया और उनके नेतृत्व में अकालियों ने उत्पीड़ित पठानों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये अमृतसर से पेशावर तक की प्रसिद्ध यात्रा की। जिस समय मास्टर तारासिंह शिरोमणि प्रबन्धक समिति के प्रधान निर्वाचित हुये, वे जेल में ही थे।

साम्प्रदायिक परिनिर्णय ने एक बार फिर सिख राजनीति के शान्त वातावरण को अशान्त बना दिया। उन्हीं दिनों डा० अम्बेदकर ने अपने हरिजनों के साथ हिन्दू समाज से अलग होने के निश्चय की घोषणा की थी। एक समय तो सिखपन्थ के साथ उनकी इतनी अधिक सहानुभूति थी कि मास्टर तारा सिंह भी धोखा खा गये। सन् १९३६ ई० में सिखों ने डा० अम्बेदकर के कहने पर बम्बई में खालसा कालेज की स्थापना की। परन्तु इस धर्म प्रचार को आशातीत सफलता नहीं मिली। क्रिप्स-योजना में पाकिस्तान की संभावना होने के कारण मास्टर तारासिंह ने उसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु बाद में पाकिस्तान-आन्दोलन को बढ़ते देख कर उन्होंने सिखिस्तान की माँग उठाई। इस माँग के कारण कांग्रेस के साथ उनका मतभेद हो गया। वे

युद्धकाल में सिखों को अधिकाधिक संख्या में सेना में भरती होने का परामर्श देते रहे। राजगोपालाचार्य-योजना से उनके सिखिस्तान को और अधिक बल मिला। सन् १९४६ ई० के निर्वाचन में उन्होंने सिखों से धर्म की दुहाई देकर केवल अकाली प्रतिनिधियों को ही मत देने का आग्रह किया। इस निर्वाचन में कांग्रेसी सिखों तथा अकालियों का संघर्ष विशेष भयानक हो गया था। अन्त में अकालियों ने अधिक स्थान तथा ५३ प्रतिशत मत प्राप्त किये और काँग्रेस को ४७ प्रतिशत मत पाकर भी बहुत थोड़े स्थान मिले। सन् १९४६ ई० में काँग्रेस ने अकाली सिख सरदार बल्देव सिंह को अस्थायी मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिया और वे तब से बराबर काँग्रेस को पूर्ण सहयोग देते आये हैं। मास्टर तारासिंह के अनुयायियों की संख्या घटने लगी। परन्तु सन् १९४६ ई० के आरम्भ से ही पंजाब में अव्यवस्था फैलने लगी थी। अतएव बढ़ते हुए मुसलमान शासन के विरुद्ध अकालियों ने प्रांत भर से स्वयंसेवक लेकर एक अकाली फौज तैयार की। उनका कहना था कि किसी रूप में भी पाकिस्तान बनने के पूर्व पंजाब का विभाजन हो जाना आवश्यक था। बहुत अनिश्चय के बाद काँग्रेस को विवश होकर देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा। तब से पंजाब धारा-सभा के अधिकांश सदस्य काँग्रेस के साथ रहे हैं, परन्तु मास्टर तारासिंह अब भी अपना सिखिस्तान का पुराना राग अलाप रहे हैं।

सम्प्रदाय का भविष्य—अन्त में, हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र भारत की योजना में सम्प्रदायवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। पाकिस्तान में होने वाली घटनाओं को देख कर कुछ हिंदुओं के हृदय में यह भावना उठ सकती है कि हमारे देश में भी हिन्दू सरकार होनी चाहिये। परन्तु काँग्रेस के अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के मतानुसार इस दिशा में विचार करना भी आन्तरिक कलह को बढ़ा कर सरकार को निर्बल बना देगा। भारत के नये संविधान के अन्तर्गत बिना धर्म अथवा जातीय भेदभाव के सब नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने ठीक ही कहा है: "हमारा उद्देश्य है कि हिन्दू, मुसलमान, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी तथा ईसाई, सभी परस्पर एकता के सूत्र में बँध कर एक राष्ट्र के अङ्ग बनें, तथा हमारे देश में, स्थानीय अन्तर होते हुए भी, मूलत: एक ही संस्कृति हो, और उसे स्वरूप देने तथा निखारने में सभी सम्प्रदाय सहायक हों। मेरा निवेदन है कि हमारा देश कभी धर्म के साथ संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ने की भारी भूल न करे। विभिन्न मतावलम्बियों की एक संस्कृति हो सकती है, क्योंकि उसका सम्बन्ध स्थान विशेष की भूमि, जलवायु तथा वातावरण से होता है।" तथापि यदि हमारी सरकार ने पाकिस्तान के प्रति दुर्बलता की नीति का पालन किया अथवा आर्थिक संकट की गम्भीरता को बढ़ने से न रोका, तो इसकी बड़ी आशंका है कि सम्प्रदायवाद को एक बार फिर उठने का इच्छित अवसर प्राप्त हो जायगा।

नवाँ अध्याय

भारत की आधुनिक राजनैतिक विचारधारा के निर्माता

पिछले अध्यायों में हमने कुछ राजनैतिक आन्दोलनों का वर्णन किया है। परन्तु उस वर्णन में सजीवता उत्पन्न करने के लिये इन आन्दोलनों का नेतृत्व करने वाले महापुरुषों के जीवन की संक्षिप्त झाँकी भी अत्यन्त आवश्यक है। अतएव अब हम कुछ ऐसे नेताओं के कार्यों तथा विचारों का वर्णन करेंगे, जो आधुनिक भारत के प्रमुख राजनैतिक दलों तथा विभिन्न विचारधाराओं का यथेष्ट प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारत के मध्यकालीन दार्शनिकों में राजनैतिक चिन्तन का प्रायः अभाव था। वास्तव में उस समय जाग्रत जनमत का ही अभाव था और राजनीति को शासकों का विशेष क्षेत्र समझा जाता था। ग्राम-पंचायतें स्वतन्त्र तथा स्व-शासित संस्थायें अवश्य थीं, परन्तु ग्रामवासियों का दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित था। इसके पश्चात् साम्राज्यवादी अंग्रेज़ देश में आये। उन्होंने इन प्राचीन संस्थाओं का विनाश कर दिया तथा देश का राजनैतिक एवं आर्थिक शोषण आरम्भ किया। इधर भारतीय नेताओं ने विदेशी शासन के दोषों को देखा और समझा, और वे भारत की स्वतंत्रता के स्वप्न देखने लगे। देश में राजनैतिक एवं आध्यात्मिक पुनर्जागरण हुआ। आधुनिक भारत की राजनैतिक आकांक्षाओं तथा राष्ट्रीय कार्य-कलापों का उचित मूल्यांकन आध्यात्मिक पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न सत्य, न्याय तथा प्रेम की भावनाओं के अध्ययन के बिना असम्भव है। भारतीय नवजागरण के प्रमुख नेताओं की संख्या बहुत बड़ी है। परंतु इस युग की ध्यानपूर्ण विवेचना के पश्चात् कहा जा सकता है कि राजा राम मोहन राय उनमें अग्रणी थे।

अग्रदूत

राजा राममोहन राय—आधुनिक भारत का धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक नवजागरण राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) के महान् व्यक्तित्व के साथ आरम्भ हुआ। वे एक महान् सुधारक थे तथा उनके चलाये विश्व-धर्म 'ब्रह्म समाज' में इस्लाम के एकेश्वरवाद, ईसाई धर्म की नैतिकता तथा हिन्दुओं के जीवन दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। राजा राममोहन राय असाधारण समाज-सुधारक थे और उन्होंने भारतीय नारीत्व की दशा सुधारने का अथक प्रयत्न किया। उन्होंने साहसपूर्वक सती प्रथा का विरोध किया और यह उनके प्रयत्नों का ही फल था कि

सन् १८२६ ई० में सरकार ने इस प्रथा के विरुद्ध कानून बनाया। उन्होंने हिन्दू-विधवाओं के लिये पुनर्विवाह के अधिकार की माँग की, बहुविवाह तथा दहेज प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया और वर्ण-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की। सन् १८३० ई० में समुद्र पार कर विलायत जाने वाले वे पहले कुलीन हिन्दू थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीयों को पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और हमारे देश में इस शिक्षा-प्रणाली का प्रचार मुख्यत: उन्हीं की सूझ और सक्रिय सहायता का परिणाम था। परन्तु उनके इन धार्मिक तथा सामाजिक विचारों का आधार भारत के राजनैतिक नवजागरण का आदर्श था। उन्होंने एक बार कहा था: "मेरी धारणा है कि हिन्दुओं के राजनैतिक लाभ तथा उनकी सामाजिक सुविधा के लिये उनके धर्म में कुछ परिवर्तन आवश्यक है।" राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश संविधान की मूल-भावना को भली प्रकार समझा था। इसीलिये तो वे भारतीयों के लिये भी वही स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते थे जो अंग्रेज़ों को अपनी विधि व्यवस्था (Rule of Law) के अन्तर्गत प्राप्त थी। वास्तव में कानून का नैतिकता तथा सामाजिक परम्पराओं से गहरा सम्बन्ध होता है। इस विषय में राजा राममोहन राय के विचार उतने ही प्रौढ़ थे जितने स्वयं सेविंनी (Savigny) अथवा आस्टिन (Austin) के। उन्होंने ही भारत में सबसे पहले न्यायिक तथा अधिशासी प्रकार्यों (judicial and executive functions) के विभाजन का प्रश्न उठाया। ब्रिटिश लोक-सभा की एक समिति के समक्ष साक्ष्य देने वाले वे पहले भारतीय थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि भारतीयों को शनै: शनै: शासन के विश्वस्त तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रखना चाहिये। वे पूर्ण विधानवादी थे और भारत में अंग्रेज़ी राज्य को विधाता का वरदान समझते थे। वे सरकार के कार्यों का विरोध आलोचनाओं, भाषणों या हिंसात्मक कार्यों द्वारा नहीं करते थे अपितु इस कार्य के लिये वे सुप्रीम कोर्ट, प्रिवी कौंसिल तथा ब्रिटिश सम्राट् के पास आवेदन-पत्र भेजना अधिक उपयुक्त समझते थे। राजा राममोहन राय को भारत की स्वतन्त्र पत्रकारिता का जन्मदाता भी कहा जाता है। समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता वैसे तो उनकी मृत्यु के बाद सन् १८३५ ई० में स्थापित हुई, परन्तु सभी भारतीयों तथा अंग्रेज़ों ने इसका श्रेय राजा राममोहन राय को ही दिया है। मैकनिकल ने ठीक ही कहा है कि "वे एक नये युग के प्रवर्तक थे।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती—आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३) का भारतीय स्वराज्य के विकास पर राजा राममोहन राय से अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। आर्यसमाज के प्रभाव का क्षेत्र थोड़े से अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित न था क्योंकि वे अपने व्याख्यान हिन्दी में देते थे जिसे आम जनता भली-भाँति समझ सकती थी। स्वामी दयानन्द का मत था कि अनेक देवी-देवताओं में विश्वास, मूर्तिपूजा तथा वर्ण-व्यवस्था के प्रतिबन्ध अवैदिक हैं। वे भारत में आर्यों

के शुद्ध वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना चाहते थे। उनके द्वारा की गई वेदों की व्याख्या हमें कुछ नई भले ही प्रतीत हो, परन्तु इसमें किंचित् संदेह नहीं कि आर्यसमाज का उद्देश्य भारत को राष्ट्रीय, धार्मिक तथा सामाजिक एकता के सूत्र में बाँधना था। इस आन्दोलन ने 'भ्रष्ट' हिन्दुओं का उत्थान करके देश तथा समाज की भारी सेवा की। इसके उद्देश्य थे—जाति तथा वर्गगत समस्त भेदभाव का नाश, अनेक धर्मों के स्थान पर एक आर्य धर्म की प्रतिष्ठा, तथा भारत में विदेशी शासन का उन्मूलन। इस प्रकार आर्य समाज के प्रभाव से जनता की इस धारणा का अन्त हो गया कि गोरी जातियाँ अजेय तथा उच्च हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्य समाज आन्दोलन केवल धार्मिक आन्दोलन ही न था अपितु यह एक सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलन भी था। इसने देश में एक नवीन चेतना फैलाई तथा हिन्दुओं में आत्मसम्मान की भावना जाग्रत की। स्वामी दयानन्द जी द्वारा संस्थापित आर्य समाज ने वर्ग व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार किया और इस प्रकार हिन्दू समाज की एकता को दृढ़ किया। डाक्टर ग्रिसवोल्ड (Griswold) के कथनानुसार "पं० दयानन्द सरस्वती एक अत्यन्त उदार विचार के व्यक्ति थे। उनके स्वप्न महान् थे। वे एक ऐसे आदर्श भारत की कल्पना करते थे जो अन्धविश्वासों से मुक्त हो, वैज्ञानिक आविष्कारों से फला-फूला हो, एकेश्वरवाद का अनुयायी हो, स्वशासन की योग्यता रखता हो, जिसे विश्व के राष्ट्रों में एक सम्मानित पद प्राप्त हो और जिसने अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त कर लिया हो।[1]

महादेव गोविन्द रानडे—पश्चिमी भारत में नवजागरण के जन्मदाता महादेव गोविन्द रानडे (१८४२-१९०१) थे। सरकारी न्याय-विभाग के उच्च पदाधिकारी होने के कारण आपको अन्य कोई कार्य करने की अपेक्षाकृत बहुत कम सुविधा थी। तथापि आपकी गणना देश के महान् सुधारकों तथा उच्चकोटि के शिक्षा-विशारदों में की जाती है। आपके ही प्रयत्नों से दक्षिण शिक्षा संस्था (Deccan Educational Society) की स्थापना हुई। आपसे प्रेरणा प्राप्त कर पश्चिमी भारत के निवासियों ने सारे देश को नवजागरण का संदेश दिया। आपकी प्रवृत्ति धार्मिक थी परन्तु पाखण्ड आपसे कोसों दूर था। आप गम्भीर विचारक तथा समाज-सुधार में रत सच्चे एवं उत्साही देशभक्त थे। आपने समाज-सुधार सम्मेलन का आयोजन किया जिसका अधिवेशन काँग्रेस अधिवेशन के साथ होता था और जिसमें, आप

1. "Pandit Dayanand Saraswati was a man of large views. He was a dreamer of splendid dreams. He had a vision of India purged of her superstitions, filled with the fruits of science, worshipping one God, fitted for self-rule, having a place in the sisterhood of nations, and restored to her ancient glory." [Dr. Griswold]

जबतक जीवित रहे, बराबर भाग लेते रहे। आप पूना की "सार्वजनिक सभा" तथा उसके "त्रैमासिक पत्र" के प्राण थे और महाराष्ट्र के सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों पर इस सभा का गहरा प्रभाव पड़ा। काँग्रेस की स्थापना के लिये उपयुक्त मानसिक वातावरण रानडे ने ही बनाया था। गोखले उन्हें अपना राजनैतिक तथा आध्यात्मिक गुरु मानते थे। अपने राजनैतिक विचारों में रानडे राजा राममोहनराय की भाँति अँग्रेज़ी राज्य को एक दैवदत्त अनुशासन मानते थे। वे लोकतंत्रात्मक संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में होते हुये भी, इङ्गलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद करने के विरुद्ध थे। वे सच्चे देशभक्त थे। उनके सम्बन्ध में मि० ह्यूम का कहना था कि, "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता था तो वह व्यक्ति मि० रानडे थे।"

काँग्रेस के जन्मदाता

ए० ओ० ह्यूम—काँग्रेस के संस्थापकों में सबसे पहले ए० ओ० ह्यूम का नाम आता है। वे अवकाश प्राप्त एक अँग्रेज़ सरकारी पदाधिकारी थे। परन्तु भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना में प्रमुख कार्य उन्होंने ही किया। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था उन्होंने काँग्रेस के शैशवकाल में देश भर में घूम-घूम कर उसके आदर्शों का प्रचार किया तथा देश के शिक्षित नवयुवकों को देश सेवा की दिशा में अग्रसर होने का सन्देश दिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि इङ्गलैण्ड के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में भारत का हित है। लाला लाजपतराय के शब्दों में "उन्हें स्वतंत्रता अधिक प्रिय थी। भारत में फैली हुई निर्धनता तथा दीनता को देख देख कर उनका हृदय रक्त के आँसू रोता था।......भारतीयों के प्रति अपने देश-वासियों द्वारा किये जाने वाले कायरतापूर्ण व्यवहार को देख कर वे क्रोध से जलने लगते थे।......अतएव उनकी धारणा थी कि यदि भारतीय अपनी स्वतन्त्रता चाहते हों तो उसकी प्राप्ति के लिये संघर्ष आरम्भ करें। (संघर्ष का) पहला क़दम संगठन था। अत: उन्होंने संगठन की सलाह दी।" इसी उद्देश्य से ह्यूम महोदय ने एक ऐसे अखिल भारतीय संगठन की रूपरेखा बनाई जो राजनैतिक प्रगति का साधन बन कर भारत के सामाजिक नवजागरण के लिये कार्य कर सके। कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम अपना प्रसिद्ध पत्र लिखकर उन्होंने शिक्षित वर्गों को इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

सर विलियम वेडरबर्न—सर विलियम वेडरबर्न की सेवाओं से कौन परिचित नहीं होगा। काँग्रेस के शैशवकाल में उसकी ओर से इङ्गलैण्ड में जो कुछ प्रचार-कार्य हुआ उसका मुख्य श्रेय आपको ही है। आपने कई वर्षों तक ब्रिटिश काँग्रेस कमेटी का संचालन कर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की अमूल्य सेवा की। आपने बम्बई

(१८८६) तथा इलाहाबाद (१६१०) के अधिवेशनों में दो बार कांग्रेस का सभापतित्व किया। ए० ओ० ह्यूम तथा सर हेनरी काटन की भाँति आपका भी शिक्षित भारत की विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन सभी अँग्रेज़ों के हृदय में भारत के लिये असीम प्रेम तथा भारतीय प्रगति की अदम्य आकाँक्षा थी। सर विलियम वेडरबर्न ने तो अपना अधिक से अधिक समय तथा धन भारतीयों की उन्नति के प्रयत्नों में ही व्यय किया। उनके विषय में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि वे "एक अँग्रेज़ अधिकारी के रूप में सच्चे भारतीय देशभक्त" थे। श्री बनर्जी के मतानुसार "ब्रिटिश लोकसभा के भारत-पक्षी सदस्यों में वे सबसे अधिक प्रभावशाली थे। उनके शिष्ट तथा मनोहारी आचरण की शान्त दृढ़ता, उनके आदर्शों की झलकती हुई पवित्रता, भारत तथा भारतवासियों के प्रति प्रेम-भावना पर आधारित उनके दृढ़ विश्वासों की अबाध शक्ति, और उनका भारतीय समस्याओं का पूर्ण ज्ञान, इन सब गुणों से उनके तर्क में इतना बल आ जाता था कि उसे अस्वीकार करना असम्भव हो जाता था" गोखले के हृदय में उनके प्रति असीम श्रद्धा थी।

पूर्वकालीन उदारवादी नेता

हम पहले ही देख चुके हैं कि आरम्भ में काँग्रेस पर उदारवादियों का एकाधिपत्य था। वे बहिष्कार, असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे अँग्रेज़ों के प्रति स्वामिभक्ति तथा सहयोग के समर्थक थे क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं था और ब्रिटिश शासन भारत में यथेष्ठ सफलता प्राप्त कर चुका था। यह नेतागण मानसिक क्षेत्र में बहुत समृद्ध थे, उनकी वाणी तथा लेखनी में बल था, और उन्हें पाश्चात्य विचारधारा तथा संस्कृति का गम्भीर ज्ञान था। उनमें से कुछ तो प्रत्येक पाश्चात्य वस्तु के इतने प्रबल प्रशंसक थे कि उन्हें कोई पूर्वात्य वस्तु रुचती ही नहीं थी। अँग्रेज़ों द्वारा भारत पर किये उपकारों का गुणगान करते हुये वे कहा करते थे कि अँग्रेज़ों से ही हमें समान शासन-व्यवस्था, समान शिक्षा, यातायात के समान साधन तथा समान राष्ट्रीय चेतना की प्राप्ति हुई है। इन नेताओं के लिये ब्रिटिश शासन वरदान-तुल्य था और उसकी प्रजा होना अत्यन्त गर्व का विषय। वे कहा करते थे कि भारतीयों की स्वामिभक्ति के पुरस्कारस्वरूप उन्हें अधिकाधिक अधिकार मिलने चाहिये।

काँग्रेसी नेताओं की इस पहली पीढ़ी का विश्वास था कि अंग्रेज़ों की जाति न्यायप्रिय है, अतएव ज्यों ही ब्रिटिश लोक सभा को भारतीयों की योग्यता का विश्वास हो जायेगा वह भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता देने में तनिक भी संकोच नहीं करेगी। इसीलिये यह नेता कभी वैधानिक पथ से विचलित होने अथवा प्रचलित न्याय-व्यवस्था के विरुद्ध चलने का स्वप्न भी नहीं देखते थे। क्रान्ति तथा हिंसा के विचार

भी उनके मस्तिष्क से कोसों दूर रहते थे। वे भारत सरकार की नौकरशाही शासन प्रणाली से असंतुष्ट अवश्य थे, और उसकी आलोचना करने से भी नहीं चूकते थे, परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद की धारणा उनके हृदय में कभी नहीं आई। वे स्वतन्त्रता के आकाँक्षी थे परन्तु योरोपीय शासन-प्रणाली की आकाँक्षा तथा अँग्रेज़ों के प्रति स्वामिभक्ति में किसी प्रकार का विरोध नहीं समझते थे। वे केवल इतना चाहते थे कि शासन का आधार थोड़ा विस्तृत कर दिया जाय तथा भारतीय जनता को उसमें उचित भाग प्राप्त हो। उनके मतानुसार स्वराज्य धीरे-धीरे ही प्राप्त हो सकता था। गोखले के शब्दों में : "साम्राज्य के अन्य भागों में प्रचलित स्वराज्य की भारत द्वारा प्राप्ति हमारी जनता की औसत चरित्र शक्ति तथा क्षमता पर निर्भर है। और यहाँ पर हमें खेदपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि आज हमारी औसत शक्ति अँग्रेज़ों की अपेक्षा बहुत कम है।"

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह पूर्वकालीन उदारवादी नेता विद्वान् देशभक्त तथा स्वतंत्रता एवं जनतंत्रवाद के समर्थक थे। परन्तु वे विचार-प्रधान थे, कर्म-प्रधान नहीं। उनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—

दादाभाई नौरोजी (१८२५-१९१७)—काँग्रेस के प्रारम्भिक बीस वर्षों के अग्रणी नेताओं में सबसे प्रमुख दादाभाई नौरोजी थे। वे तीन बार काँग्रेस के सभापति निर्वाचित हुये—१८८६, १८९३ तथा १९०६। उन्होंने सदा भारत तथा इङ्गलैंड दोनों देशों में काँग्रेस का झण्डा ऊँचा रखा। उनको अंग्रेज़ों की न्याय-परायणता में पूर्ण विश्वास था। सन् १८८६ में काँग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "यह हमारा सौभाग्य है कि हम एक ऐसे शासन में हैं जो हमारा इस प्रकार एकत्र होना संभव बना देता है। हम महारानी और अंग्रेज़ों के राज्य में ही इस प्रकार बिना रोक टोक के आपस में मिल सकते हैं और बिना किसी भय और संकोच के अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। ऐसा केवल अंग्रेज़ी शासन में और अंग्रेज़ी शासन में ही संभव है।" दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश लोकसभा के पहले भारतीय सदस्य थे और वहाँ भी वे अपने देश की आकांक्षाओं का प्रचार करने से नहीं चूकते थे। वे भारत की उन्नति के लिए अकथ परिश्रम करते थे और उनकी लेखनी ने तो कभी विश्राम ही नहीं जाना। काँग्रेस के पूर्वकालीन नेतागण वास्तव में एक राष्ट्रीय संस्था थे, उनमें भारतीय जनसंख्या के सभी वर्ग सम्मिलित थे। परन्तु उनमें भी दादाभाई नौरोजी ही एक ऐसे थे जिन्होंने आर्थिक समस्या को भी उचित महत्व दिया। उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक 'Poverty and un-British Rule in India' से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भविष्य के सार्वजनिक आंदोलन की धारायें उन्होंने निर्धारित कीं। इस पुस्तक में राजनैतिक परतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले आर्थिक शोषण का विस्तृत वर्णन किया गया है। काँग्रेस के

जन्म से ४० वर्ष पूर्व से आरम्भ कर पूरे ६१ वर्ष तक वे मातृभूमि की सेवा करते रहे और आज भी "भारत के वयोवृद्ध महापुरुष" (The grand old man of India) की श्रद्धापूर्ण उपाधि से याद किये जाते हैं। आरम्भ में कुछ समय तक उनके व्याख्यानों की भाषा बड़ी संयत रही परन्तु अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में, बार-बार की निराशा के कारण उनमें अधिकाधिक कटुता का समावेश होता गया। वे अत्यधिक वृद्धावस्था में सन् १९०६ ई० की महत्वपूर्ण कलकत्ता काँग्रेस के सभापतित्व करने के लिये इङ्गलैंड से चल कर आये और इस अवसर पर उन्होंने अपने विचारों का स्पष्ट व्यक्तीकरण किया। इङ्गलैंड में लोकसभा के सदस्य होने के नाते अनेक बार उनकी व्यक्तिगत आलोचना की गई थी, और उन्होंने सदा हँस कर उसका खण्डन किया। परन्तु भारत-सरकार के बङ्ग-भङ्ग सम्बन्धी दृष्टिकोण से वे झुँझला उठे। उन्होंने कहा, "हम कोई भीख नहीं माँगते हम केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक होने के नाते हमारे क्या अधिकार हैं इसकी मीमांसा किये बिना ही केवल एक शब्द 'स्वराज्य' में सब कुछ व्यक्त किया जा सकता है—वैसा ही स्वराज्य जैसा इङ्गलैंड अथवा अन्य उपनिवेशों में प्रचलित है।" इस प्रकार दादाभाई नौरोजी ने लोकमान्य तिलक की सरल उक्ति को आगामी पीढ़ियों का रणघोष बना दिया। वास्तव में वे केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं, भविष्यद्रष्टा भी थे। उन्होंने जनता के क्लेश तथा उसके प्रति किये गये अन्याय को अपना क्लेश तथा अपने प्रति किया गया अन्याय समझा। उनके इस उच्च आदर्श को ग्रहण करने वालों में अपने समय के सर्वोत्कृष्ट वक्ता सर फिरोजशाह मेहता, उच्चकोटि के पत्रकार सर दिनशा वाचा तथा उदार आदर्शवादी गोपालकृष्ण गोखले के नाम प्रमुख हैं।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—उदारवादियों में दूसरा प्रमुख नाम सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का है। उन्होंने सन् १८७५ ई० में 'इण्डियन एसोसिएशन' की नींव डाली और यह निस्संदेह अखिल भारतीय काँग्रेस के संगठन की दिशा में पहला क़दम था। काँग्रेस के पहले अधिवेशन के लिए जो निमंत्रण-पत्र निकाला गया था उस पर भी ए० ओ० ह्यूम तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हस्ताक्षर थे। बनर्जी महोदय अद्भुत वक्ता थे। काँग्रेस के जितने अधिवेशनों में उन्होंने भाग लिया, श्रोताओं पर सबसे अधिक उन्हीं का प्रभाव पड़ा। सर हेनरी काटन ने 'New India' में उनके विषय में लिखा है: "सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपनी वक्तृत्व शक्ति से मुल्तान से लेकर चटगाँव तक विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित कर सकते थे और बुझा भी सकते थे।" काँग्रेस के अध्यक्ष पद से अपने दोनों भाषण उन्होंने बिना किसी तैयारी के दिये थे, और इङ्गलैंड तक के योग्यतम व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की। वे सरलतापूर्वक विरोधियों को भी अपने पक्ष में कर लेने की शक्ति रखते थे। लार्ड कर्जन के बङ्ग-भङ्ग ने उन्हें अत्यन्त सुन्दर अवसर प्रदान किया और वे एक अग्रदूत के अदम्य उत्साह के

साथ उच्च स्वर में बंगवासियों के अविभाजित जीवन व्यतीत करने के अधिकार की घोषणा करने लगे। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार को विभाजन-विरोधी आंदोलन का उचित साधन बना कर उसका समर्थन किया। परन्तु वे अराजकता के समर्थक नहीं थे और अव्यवस्था की निर्भय होकर निन्दा करते थे। माण्टफर्ड सुधार योजना के अन्तर्गत उन्होंने बङ्गाल में मंत्रिपद स्वीकार कर लिया था और तभी उन्हें 'सर' की उपाधि मिली थी। उन्होंने पूरे ५० वर्षों तक जनता की सेवा की और आधुनिक बङ्गाल के निर्माण में उनका बड़ा हाथ था। भारत की राजनैतिक एवं राष्ट्रीय प्रगति के किसी इतिहास में उनके नाम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे शिक्षित मध्यवर्गीय नेताओं की पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि थे। "ब्रिटिश सम्बन्ध के प्रति अडिग स्वामिभक्ति की भावना के साथ कार्य करना" उनका आदर्श था; क्योंकि उनका उद्देश्य भारत से ब्रिटिश शासन को निर्मूल करना न होकर उसके आधार को विस्तृत करना, उसकी आत्मा को अधिक उदार बनाना, उसके चरित्र को ऊपर उठाना तथा उसे राष्ट्र के स्नेह की दृढ़ नींव पर स्थापित करना था।" परन्तु उस समय के नेताओं का जनता से विशेष सम्पर्क न था। वे अंग्रेजों द्वारा जनता के शोषण तथा उसकी बढ़ती हुई निर्धनता तथा कठिनाइयों की ओर ध्यान नहीं देते थे। यह अदूरदर्शिता सन् १८६५ ई० में पूना कांग्रेस के सभापति-पद से दिये गये बनर्जी महोदय के भाषण में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। "मुझे ध्यान तक नहीं आता कि किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कांग्रेसी ने कभी हमारी स्त्रियों अथवा हमारे जनसमूह के लिये प्रतिनिधि-संस्थाओं की माँग की हो। अपनी संस्कृति तथा विद्या के कारण, अंग्रेज़ी विचारधारा हृदयंगम करने तथा अंग्रेज़ी शासन प्रणाली से पूर्णतया परिचित होने के कारण हमारा शिक्षित वर्ग ऐसे वरदान के योग्य समझा जा सकता है। हमें उसके लिए संशोधित प्रतिनिधि संस्थायें प्राप्त कर संतुष्ट हो जाना चाहिये।" जिस कांग्रेस के श्रोतागण इस प्रकार के विचारों की प्रशंसा कर सकते थे, उसका तथा आज की कांग्रेस का अन्तर स्पष्ट है।

गोपालकृष्ण गोखले—उदार दल के नेताओं में गोपालकृष्ण गोखले का प्रमुख स्थान है। उन्होंने भारतीय राजनीति को आध्यात्मिकता का रंग दिया। उनमें पौरुष का अभाव नहीं था और न वे उन व्यक्तियों में ही थे जो शारीरिक बल को उचित महत्व नहीं देते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में आध्यात्मिकता की उत्कृष्टता में किसी विवाद अथवा मतभेद की सम्भावना नहीं थी। रानडे उदार राष्ट्रवाद के जन्मदाता थे परन्तु उनके योग्य शिष्य गोखले ने अपने गुरु की आशाओं से भी अधिक सफलता प्राप्त की। वे एक महान् रचनात्मक कार्यकर्ता थे। उनकी धारणा थी कि सुखी जीवन के मार्ग में बाधक सारी रुकावटें दूर हो जानी चाहिये और सभी को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होना चाहिये। इसी कारण वे नमक-कर के

उन्मूलन, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रसार, सरकारी नौकरियों के चुनाव में समता तथा स्वतन्त्र भारतीय अर्थ-व्यवस्था आदि की माँगों के समर्थक थे। इसके साथ ही वे भारतीय शासन व्यवस्था में जनता का अधिकाधिक सम्पर्क भी चाहते थे। मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना के निर्माण में उनका बड़ा हाथ था। इसी योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं का विस्तार किया गया था और देश को पहली बार प्रतिनिधि शासन के तत्व प्राप्त हुए थे। वैधानिक उपायों में गोखले का अडिग विश्वास था और उनके राष्ट्रवाद में अवैधानिक आन्दोलनों के लिये तनिक भी स्थान नहीं था। वे उदारपंथी नेताओं में सबसे अधिक बुद्धिमान तथा स्पष्टदर्शी और हिंसात्मक एवं अवैधानिक साधनों के विरोधी थे। औद्योगिक वहिष्कार के पीछे विरोधी पक्ष को हानि पहुँचाने वाली प्रतिशोध की भावना होने के कारण वे उसके पक्ष में नहीं थे। और सरकारी नौकरियों के वहिष्कार को वे कोरी मूर्खता समझते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने देश में सार्वजनिक चेतना के अभाव का अनुभव किया। अतएव वे उत्साही कार्यकर्ताओं की एक छोटी सी ऐसी सेना का निर्माण करना चाहते थे जो देश के लिये अपना सब कुछ बलिदान करने को तत्पर रहे। उनकी धारणा थी कि जन-साधारण को सदा अपने नेताओं का अनुसरणमात्र करना चाहिये, हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना होनी चाहिये, तथा भारत को स्व-शासन की शिक्षा देने के लिये अंग्रेज़ों का यहाँ रहना आवश्यक है। उनके कुछ विचारों से हम भले ही सहमत न हों, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गोखले ने भारतीय राजनीति को अपने विचारों तथा कर्मों द्वारा एक ऊँचा नैतिक स्तर प्रदान किया। और यही उनकी सबसे बड़ी देन थी। वे स्वयं जो कुछ कहते थे वही करते भी थे। वे सांसारिक प्रलोभनों से बहुत ऊपर थे, तथा निर्धनता, सच्चरित्रता और सहिष्णुता के सिद्धान्तों का सदा पूर्ण रूप से पालन करते थे। इसीलिये तो स्वयं महात्मा गाँधी तक उन्हें अपना राजनैतिक गुरु मानते थे।

गोखले के विषय में बहुधा बहुत भ्रामक प्रचार किया गया है। उदाहरण के लिये, उग्रपंथियों ने उन्हें "दुर्बल-हृदय उदारवादी" (faint-hearted Moderate) कहा, तथा प्रतिक्रियावादियों ने "छिपे हुये राजद्रोही" (Seditionist in disguise) की उपाधि से विभूषित किया है। परन्तु यह दोनों धारणायें असत्य हैं। वास्तव में वे एक रचनात्मक प्रवृत्ति के राजनीतिज्ञ थे तथा जानते थे कि द्वेष एवं घृणा से भारत और इङ्गलैंड दोनों का अहित होगा तथा मैत्री एवं सहयोग से दोनों का हित। कठिनाइयों के समय वे सदा सरकार का साथ देते थे, परन्तु साथ ही साथ सदा आग्रह भी करते रहते थे कि उसे प्रगतिशील नीति का पालन करना चाहिये। वे शासन-व्यवस्था की आलोचना करते थे। और उसकी कमियों को विकेन्द्रीयकरण द्वारा दूर करने के लिये आन्दोलन भी करते थे। सन् १९१४ ई० में उन्होंने भारतीय

आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से एक सुधार-योजना का निर्माण भी किया था।

सन् १९०५ ई० में गोखले ने "सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी" की स्थापना की जिसका लक्ष्य मातृभूमि के प्रति लोगों के हृदय में ऐसी गम्भीर भक्ति की भावना का संचार करना था कि उसका स्पर्शमात्र लोगों को अहमत्व से ऊपर उठा दे। इस संस्था ने राष्ट्र की स्मरणीय सेवा की है तथा श्रीनिवास शास्त्री और पं० हृदयनाथ कुंजरू सरीखे विद्वान् इसके सदस्य रहे हैं। गोखले के विद्वान् जीवनी लेखक प्रो० साहनी ने लिखा है "उनका सार्वजनिक जीवन भारतीय राजनीति के आधुनिक उदारवाद का विस्तृत इतिहास है, जिसे उन्होंने आकार दिया, जिसके संगठन के पीछे उनकी प्रेरणा काम कर रही थी, जिसका समर्थन करने में उन्होंने कभी शान्तिप्रिय भारतीय बहुमत की उपेक्षा तथा हिंसाशील, अराजकताप्रिय उग्रवाद, अथवा हठपूर्ण एवं सहानुभूति-रहित नौकरशाही, अथवा इङ्गलैंड के क्रुद्ध विरोध की चिन्ता नहीं की[1]।" आदर्श उदारवादी सी० वाई० चिन्तामणि ने कहा है: "वे आदर्श देशभक्त तथा हममें से बहुतों के लिये वीर नायक के समान थे।" परन्तु गोखले जनप्रिय नेता नहीं थे। अपने सहयोगियों की अपेक्षा वे जनजीवन के अधिक निकट अवश्य थे, तथापि वे नई पीढ़ी का नेतृत्व कभी नहीं कर सके।

उग्र राष्ट्रवादी

उपरोक्त उदारवादी विचारकों के विरोध में उग्रपन्थावलम्बी राष्ट्रवाद के नेतागण थे जो वैधानिक आन्दोलन की उपादेयता में तनिक भी विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि याचना का समय बीत चुका है और संघर्ष का युग सामने है। १९वीं शताब्दी के अन्त तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में प्रमुख उग्रपन्थी नेता लोकमान्य तिलक जनता को शिक्षा दे रहे थे कि हमें प्रत्येक भारतीय वस्तु से प्यार तथा प्रत्येक विदेशी वस्तु से घृणा करना चाहिये। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष, सभी ने भारत के धार्मिक नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त की थी। आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विवेकानन्द अपने-अपने ढङ्ग से पाश्चात्य सभ्यता के विरुद्ध हिन्दू वैदिक धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध

1. "His public life was a comprehensive record of modern moderate school of politics in India, largely shaped and influenced by him in its formation and vigorously upheld by him in the face of disconcerting conditions created by either the apathetic, easy-going majority of Indians or by the wild, anarchic, extremists or the obstinately unsympathetic bureaucrats of India or the sullenly hostile Greater Britain."

—*Professor Sahani.*

कर चुके थे। और राजनैतिक क्षेत्र में वही प्राचीन भारतीय संस्कृति की गरिमा इन उग्रपन्थियों के लेखों में अभिव्यक्त हुई। उग्रपन्थियों की दृष्टि में राष्ट्रवाद केवल एक राजनैतिक उद्देश्य अथवा भौतिक उन्नति का साधन न होकर एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्त था। उनकी विचारधारा गीता तथा वेदों पर आधारित थी। वे पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल विरोधी थे तथा उनका आदर्श था "स्व-शासित, स्वतन्त्र भारत जो अपनी प्राचीन पवित्रता, महत्ता तथा समृद्धि को पुन: प्राप्त कर चुका हो।" और इस आदर्श की प्राप्ति के लिये वे राजनैतिक भिक्षा-याचना तथा निष्फल वैधानिक उपायों को व्यर्थ बता कर आत्म-निर्भर संघर्ष नीति का प्रचार करते थे। उन्होंने प्राचीन शाक्त मत (Sakti cult) की पुनर्स्थापना करके हिन्दू धर्म के प्रतीकवाद (symbols of Hindu worship) की नई राजनैतिक व्याख्या की। उदार मत के विरुद्ध इन लोगों की धारणा थी कि अंग्रेज़ों के साथ किसी प्रकार का सहयोग नैतिक तथा भौतिक क्षेत्रों में भारतीय-हितों के लिये हानिकारक होगा। उनका कहना था कि हमारी माँगों को उचित तथा न्यायसंगत स्वीकार कर लेने पर भी अंग्रेज़ सत्ता हस्तान्तरित करने को कभी तैयार नहीं होंगे। वास्तव में राजनीति के क्षेत्र में परोपकार नाम की कोई वस्तु नहीं होती। स्वराज्य उपहार के रूप में कभी नहीं मिलेगा। इसे आन्दोलन तथा संघर्ष से प्राप्त करना होगा।

सन् १६०५ ई० में बङ्ग-भङ्ग हुआ और उसी समय से उग्रपंथियों ने वहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के साधनों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। उनका विश्वास था कि वहिष्कार के पश्चात् सरकारी पदाधिकारियों तथा उपाधि-प्राप्त लोगों को अपनी हीनता का ज्ञान होगा तथा ब्रिटिश शासन-व्यवस्था असम्भव हो जायेगी। स्वदेशी का प्रोत्साहन और भी अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। जिसके फलस्वरूप एक ओर तो देशी उद्योगों का पुनरुत्थान होगा और दूसरी ओर बिदेशी व्यापार-हितों को भारी धक्का लगेगा। और राष्ट्रीय संस्थायें भारतीय नवयुवकों को नागरिकता की शिक्षा देकर उन्हें स्वतन्त्रता-प्राप्ति की क्षमता प्रदान करेंगी।

परन्तु उग्रवादी उपरोक्त अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग अथवा समर्थन केवल नीति-रूप में ही करते थे। वास्तव में उनके हृदय में अपने उद्देश्यों को प्राप्ति के लिये बल तथा हिंसा के प्रयोग की भावना थी। और सम्भवत: इसीलिये वे जनता को उपदेश देते थे कि विदेशियों को भारत से बाहर निकालने तथा वाह्य आक्रमणों से स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये समुचित शक्ति का संगठन आवश्यक है। अधिकतर आतंकवादी तथा क्रांतिकारी भी इन्हीं लोगों से प्रेरणा ग्रहण करते रहे। वे लोग भी अत्यधिक धार्मिक तथा देशभक्त थे और स्वयं लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'Young India' में उनकी बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु वरीन्द्रकुमार घोष सरीखे शारीरिक बल में विश्वास करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी तथा सुचारु शासन

की शक्ति के विरुद्ध उनकी असफलता अवश्यम्भावी थी। उग्रपन्थी राष्ट्रवादियों में निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

लोकमान्य तिलक—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की गणना उन नेताओं में है जिन्होंने अपने समय के कार्यों तथा विचारों का पूर्ण रूप से संचालन किया। पिछली शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में वही अकेले कॉंग्रेसी नेता थे जिनका जनता से सीधा सम्पर्क था। वे रणोन्मुख राष्ट्रवाद के अग्रदूत थे। उनका राष्ट्रवाद हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित था, तथा वे विदेशियों से किसी प्रकार का सहयोग नहीं चाहते थे। वे सबसे पहले सन् १८६१ ई० में जनता के सामने आये, जब उन्होंने कहा था कि विदेशी नौकरशाही के हाथों में हिन्दू धर्म संकट में है। तत्पश्चात् उन्होंने हिन्दू नवयुवकों में सैनिक भावना का संचार करने के उद्देश्य से गणपति (१८६३) तथा शिवा जी (१८६५) उत्सवों की प्रतिष्ठा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने महाराष्ट्र में हिन्दू अखाड़े तथा लाठी-दल खोलकर जनता को धर्म तथा मातृभूमि के आदर्शों की रक्षा के लिये सबल तथा सशक्त बनाया। उनका मूल उद्देश्य जनता में राष्ट्रीय उत्साह की प्रेरणा भर कर भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति गर्व की भावना का सृजन करना था।

सर वेलेन्टाइन शिरोल (Sir Valentine Chirol) ने अपनी पुस्तक 'Indian Unrest' में लोकमान्य तिलक को "भारतीय अशान्ति का जनक" (father of Indian unrest) कहा है। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से इसका अर्थ यह हुआ कि वे देशभक्तों के सरताज थे। अँग्रेज़ लेखकों की तो हमारे प्रिय नेताओं पर राजद्रोह का आरोप लगाने की मनोवृत्ति सदैव रही है। अतएव जब तिलक ने उनके इस मत का खण्डन किया कि अफ़ज़ल खाँ की हत्या करके शिवा जी ने महान् पाप किया था, तब अँग्रेज़ों ने इसको राजद्रोह का प्रचार समझा। परन्तु लोकमान्य तिलक आदर्श मराठे तथा जन्मजात सैनिक थे। स्वतन्त्रता की साधना उनके जीवन का मुख्य आदर्श थी। उनकी धारणा थी कि भारतीयों को प्रत्येक अँग्रेज़ी वस्तु के विरुद्ध सदा संघर्ष करते रहना चाहिये। और अपने इस प्रिय आदर्श की प्राप्ति के प्रयत्न में उन्होंने अपना जीवन ही लगा दिया। इसीलिये अँग्रेज़ों ने जानबूझ कर उनकी महत्ता को घटाने का प्रयत्न किया। परन्तु यह निर्विवाद है कि अपने अविजित गुणों तथा अपनी जीवन भर की सेवाओं के द्वारा तिलक ने वास्तविक स्वराज्य की नींव डाली। वे एक महान् राष्ट्र-निर्माता थे। नवीन भारत की सृष्टि का मुख्य श्रेय उन्हीं को है।

सन् १८६८ ई० में जिस समय देश दुर्भिक्ष से पीड़ित था, लोकमान्य तिलक ने जनता की सहायता के लिये एक लगान-बन्दी आन्दोलन आरम्भ किया। दुर्भिक्ष के बाद देश में भयानक महामारी फैली और जनता के इस विश्वासपात्र नेता ने एक बार फिर उनकी सहायता का प्रबन्ध किया। उधर सरकार अपने स्वास्थ्य सम्बन्ध

नियमों का कठोरता के साथ पालन करा रही थी। चारों ओर कृमि-नाशक पदार्थों के प्रयोग में नृशंसता का प्रदर्शन किया जा रहा था और रोगियों को बलपूर्वक बस्ती से बाहर निकाला जा रहा था। अँग्रेज़ सैनिक रोग की आशंकामात्र पर पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों की परीक्षा करने के लिये घरों में घुस जाते थे। पुराने विचारों के लोगों को अपने निजी जीवन में इस प्रकार का हस्तक्षेप होते देख कर बड़ा क्षोभ हुआ, परन्तु सरकार ने जनता के विरोध की तनिक भी चिन्ता नहीं की। इससे उत्तेजित होकर एक नवयुवक ने पूना के प्लेग कमिश्नर मि० रैण्ड (Rand) तथा लेफ्टीनेण्ट आयर्स्ट (Ayerst) की हत्या कर डाली। इस घटना के फलस्वरूप महाराष्ट्र भर में कठोर दमन प्रारम्भ होगया। सरकार ने लोकमान्य तिलक पर भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का अभियोग लगाकर उन्हें १८ मास के कारावास का दण्ड दिया। इतना ही नहीं, उन्हें प्रिवी कौंसिल में अपील करने की अनुमति भी नहीं दी गई। इसके फलस्वरूप भारतीय जनमत के सभी वर्गों के क्षोभ की सीमा नहीं रही तथा जन-आन्दोलन का रूप अधिकाधिक उग्र होने लगा। गणपति तथा शिवा जी उत्सवों की लोकप्रियता भी बढ़ गई।

लोकमान्य तिलक जन्मजात पत्रकार थे और उनका "केसरी" थोड़े ही समय में प्रचार का प्रबल माध्यम बन गया। वे सरकार की सामाजिक एवं राजनैतिक सुधार सम्बन्धी नीति के तीव्र आलोचक थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि विदेशी शासन चाहे जितना अच्छा हो, फिर भी बुरा है, और स्वराज्य, अर्थात् अपने देशवासियों का शासन, चाहे जितना बुरा हो, फिर भी अच्छा है। सबसे पहले लोकमान्य तिलक ने ही यह सगर्व घोषणा की थी कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर ही रहेंगे।" भारतीय जनता की निर्धनता, पतन तथा अज्ञान को देख-देख कर उनका हृदय रोता था। और धार्मिक दृष्टिकोण को भारतीय स्वराज्य के आदर्श के लिये हितकर समझकर उन्होंने यह पथ ग्रहण किया था। राजनीति के क्षेत्र में वे इस प्राचीन सिद्धान्त के समर्थक थे कि साध्य की प्राप्ति में प्रत्येक साधन का प्रयोग उचित है। अतएव वे भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये प्रत्येक साधन का प्रयोग ठीक समझते थे। और ध्यान देने की बात यह है कि तिलक की आलोचना करने वाले पाश्चात्य विचारकों ने भी इसी मार्ग को अपनाया है। सम्भव है तिलक के कार्यक्रम से विभिन्न सम्प्रदायों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा खिंचाव आ गया हो, परन्तु उसका अधिक स्थायी तथा महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि देश के राजनैतिक जीवन में एकता तथा शक्ति आ गई। लोकमान्य तिलक ने हिन्दुओं को आत्म-निर्भरता, कार्यपरता तथा आत्म बलिदान आदि उत्तम गुणों की शिक्षा दी।

लोकमान्य तिलक आरम्भ में महाराष्ट्र के नेता थे, परन्तु सन् १६०५ ई० में ये सम्पूर्ण राष्ट्र के नेता हो गये थे। उनके नाम के साथ जोड़ा जाने वाला शब्द

'लोकमान्य' उनके प्रति जनता की श्रद्धा का सूचक है। काँग्रेस की नई पीढ़ी पर उनकी विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा और भविष्य ने सिद्ध कर दिया कि उनका ही मार्ग ठीक था, उदारवादियों का नहीं। तिलक ने अपने जीवन में जितनी यातना झेली उतनी उनके समकालीन किसी दूसरे नेता को नहीं भुगतनी पड़ी। उन्हें तीन बार कारावास हुआ और अन्तिम बार ६ वर्ष की लम्बी अवधि के लिये। भारतमन्त्री मान्टेग्यू से लेकर साधारण अँग्रेज़ तक उन्हें भारत में ब्रिटिश राज्य का सबसे बड़ा शत्रु समझता था। स्वयं भारत में भी उदारवादी उनके कटु आलोचक थे। उन्होंने तिलक को ६ वर्षों तक काँग्रेस में नहीं घुसने दिया। परन्तु तिलक के विचारों में दृढ़ता थी और वे अपने पथ से डिगे नहीं। अतएव काँग्रेस से अलग होते हुए भी वे नवयुवकों के हृदय-सम्राट् थे। उन्होंने 'होमरूल' आन्दोलन में श्रीमती एनी बेसेण्ट को अपना पूर्ण सहयोग दिया। सन् १६१६ में काँग्रेस में उनका पुनर्प्रवेश मानों उदारवादियों के लिये संस्था से अलग होने का संकेत था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोकमान्य तिलक ने महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन को आशीर्वाद दिया। वे खिलाफ़त आन्दोलन में मुसलमानों की सहायता करने के लिये भी तत्पर थे परन्तु इसी बीच सन् १६२० में अचानक उनकी मृत्यु हो गई।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लोकमान्य तिलक प्रत्येक दृष्टिकोण से जनता के नेता थे। धर्म-प्रधान, रणोन्मुख राष्ट्रवाद के अग्रदूत के रूप में उनका नाम भारत में सदा अमर रहेगा। वे एक महान् क्रान्तिकारी विचारक थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने ऐसे समय जन-आन्दोलन का नेतृत्व किया जब देश का बुद्धिवादी वर्ग आगे नहीं बढ़ रहा था तथा याचना में विश्वास करता था। इसके अतिरिक्त वे एक महान् विद्वान् भी थे और उनकी मनुष्यता का स्तर उनकी विद्वता से भी ऊँचा था। वे सच्चे तथा स्पष्टवादी थे, अत: उन्होंने यह निस्संकोच स्वीकार कर लिया कि राजनीति में सभी साधन क्षम्य होते हैं। वे अपने समय के सबसे अधिक लोकप्रिय नेता थे और जनता आँख मूँद कर उनका अनुसरण करती थी। डा० पट्टाभि सीतारमैय्या ने अपनी पुस्तक "काँग्रेस का इतिहास" में गोखले तथा तिलक के विषय में गाँधी जी के विचार दिये हैं। उन्होंने लिखा है:—

"उनको (गाँधी जी को) तिलक हिमालय-तुल्य प्रतीत होते थे—उच्च तथा महान्, परन्तु अगम्य—और गोखले गङ्गा जी की पवित्र लहरों के समान, जिनमें वे निस्संकोच होकर डुबकी लगा सकते थे। तिलक और गोखले दोनों महाराष्ट्रीय थे, दोनों ब्राह्मण थे, दोनों चित्तपावन गोत्र के थे। दोनों ही उच्चकोटि के देशभक्त थे, दोनों ने जीवन में भारी बलिदान किये थे। परन्तु उनकी प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर था। उस समय की प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करते हुये कहा जा सकता है कि गोखले 'उदार' थे तथा तिलक 'उग्र'। गोखले प्रस्तुत संविधान में संशोधन करना चाहते थे,

तिलक उसके पुनर्निर्माण में विश्वास करते थे। गोखले को विवश होकर भी नौकर-शाही के साथ कार्य करना पड़ता था, तिलक के लिये उसके विरुद्ध लड़ना आवश्यक था। गोखले की नीति यथासंभव सहयोग तथा आवश्यकता पड़ने पर विरोध करने की थी, तिलक को अवरोध की नीति प्रिय थी। गोखले को शासन-व्यवस्था तथा उसके सुधार की विशेष चिन्ता थी, तिलक को राष्ट्र तथा उसके निर्माण की। गोखले का आदर्श था प्यार तथा सेवा, तिलक का सेवा और त्याग। गोखले के साधनों का उद्देश्य था विदेशी-हृदय पर विजय प्राप्त करना, तिलक विदेशियों को पदच्युत करना चाहते थे। गोखले दूसरों की सहायता पर आश्रित थे, तिलक आत्म-निर्भरता पर विश्वास करते थे। गोखले उच्च तथा बुद्धिवादी वर्गों का सहयोग चाहते थे, तिलक जनता का। गोखले का क्षेत्र धारासभा का भवन था और तिलक का गाँव का मण्डप। गोखले की अभिव्यक्ति का माध्यम अँग्रेज़ी भाषा थी, तिलक की मराठी। गोखले का लक्ष्य ऐसा स्वराज्य था जिसके लिये भारतीयों को अँग्रेज़ों द्वारा ली जाने वाली परीक्षा में उत्तीर्ण होकर अपनी क्षमता का परिचय देना आवश्यक था, तिलक का लक्ष्य वह स्वराज्य था जो प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है, जिसे वे विदेशियों के विरोध की चिन्ता न करके प्राप्त ही कर लेंगे। गोखले अपने युग के साथ थे, तिलक उससे आगे।"

लाला लाजपतराय—इस धर्मप्रधान उग्रपंथी राष्ट्रवाद के दूसरे महत्वपूर्ण नेता लाला लाजपतराय थे। वे आर्य समाज के भारी भक्त, महान् शिक्षाशास्त्री तथा उत्साही समाज-सुधारक थे। लाला लाजपतराय पंजाब के सार्वजनिक जीवन के प्राण थे। वे सन् १८८८ ई० में इलाहाबाद में होने वाले चौथे अधिवेशन के समय काँग्रेस में सम्मिलित हुये और शीघ्र ही नवयुवक वर्ग के लोकप्रिय नेता बन गये। सन् १९०५ ई० में वे काँग्रेस का प्रचार करने के उद्देश्य से इङ्गलैण्ड गये। परन्तु वहाँ से लौटकर उन्होंने निराशा भरे स्वर में अपने देशवासियों को बताया कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये आत्म-निर्भरता अत्यन्त आवश्यक है। दिसम्बर सन् १९०५ ई० में बनारस के काँग्रेस अधिवेशन में पुरानी पीढ़ी के विरुद्ध झण्डा ऊँचा कर उग्रवादियों का समर्थन करने वालों में लाला लाजपतराय सबसे आगे थे। सन् १९०६-७ ई० में उन्होंने पंजाब सरकार द्वारा किसान-असन्तोष के कुप्रबन्ध की तीव्र आलोचना की। इसके फलस्वरूप सरदार अजीत सिंह के साथ उन्हें भी देश निकाले का दण्ड मिला। इस घटना से देश भर में बड़ा क्षोभ फैला और जनता उग्रवाद की ओर झुकने लगी। परिस्थिति की गम्भीरता देखकर सरकार ने सन् १९०७ ई० के अन्त में लाला जी को मुक्त कर दिया। अब पंजाब में फिर शान्ति स्थापित हो चली थी। परन्तु अगले वर्ष सरकार ने लाला लाजपतराय पर प्रान्त में अराजकता फैलाने के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का आरोप लगाते हुये कहा कि उनका घर प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल का

अड्डा था जहाँ वे नवयुवकों को अराजकता की दीक्षा देते थे। यह आरोप पूर्णत: निराधार था। सत्य केवल इतना था कि लाला लाजपतराय ने जनता को सरकार के अत्याचार के विरुद्ध उकसाया था।

तिलक की भाँति लाला लाजपतराय को भी सरकार की क्रोधाग्नि का शिकार होना पड़ा। महायुद्ध की पूरी अवधि भर, तथा उसके बाद भी डेढ़ वर्ष तक, उन्हें अमेरिका में निर्वासित जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़ा। उन्होंने अमेरिका में ही अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Young India' प्रकाशित की जिस पर भारत तथा इङ्गलैंड दोनों देशों में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। निर्वासन के पश्चात् देश लौट कर उन्होंने फिर अपना नियमित कार्य आरम्भ किया। सितम्बर सन् १६२० ई० में वे काँग्रेस के विशेष अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुये। उस समय काँग्रेस के सामने अपने भावी कार्यक्रम के निश्चय का प्रश्न था। लाला लाजपतराय की धारणा थी कि देश के लिये असहयोग की अपेक्षा कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम अन्तत: अधिक हितकर सिद्ध होगा। अगस्त सन् १६२३ ई० में वे केन्द्रीय धारासभा के सदस्य निर्वाचित हुये, परन्तु इसी समय उन्होंने स्वराज्य दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर एक नये "राष्ट्रीय दल" का संगठन किया। लाला लाजपतराय तथा काँग्रेस के अन्य नेताओं में मुख्य अन्तर यह था कि वे हिन्दू-हितों का आत्मसमर्पण कभी नहीं कर सकते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता में वे भी विश्वास करते थे, परन्तु ऐसी एकता में नहीं जिससे हिन्दुओं के हित में हानि हो। उन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन तथा अल्पसंख्यकों के दीर्घानुपात का आरम्भ से ही विरोध किया। हिन्दू-हितों के प्रश्न पर अपनी इस दृढ़ता के कारण ही वे सन् १६२३ ई० के बाद हिन्दू महासभा की ओर आकृष्ट होने लगे थे। सन् १६२८ ई० में लाहौर में साइमन कमीशन विरोधी प्रदर्शन का नेतृत्व करते हुये लाला लाजपतराय पुलिस की लाठियों से घायल हो गये और इसके एक पखवारे के भीतर उनका देहान्त हो गया।

लाला लाजपतराय को पंजाब का शेर कहा जाता है और वास्तव में उनके रिक्त स्थान की पूर्ति असम्भव थी। वे एक महान नेता तथा सफल वक्ता थे। उनके उर्दू के भाषण सुन कर जनता में उत्साह उमड़ने लगता था। लाहौर के दयानन्द एँग्लो वैदिक कालेज को अपना सर्वस्व अर्पित कर उन्होंने हिन्दू समाज तथा देश की अमूल्य सेवा की।

अरविन्द घोष—बङ्गाल में धर्मप्रधान उग्र राष्ट्रवाद के मुख्य स्तम्भ श्री अरविन्द घोष थे। सन् १६०५ ई० के बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन के साथ उनका नाम अभिन्न रूप से गुँथा हुआ है। बड़ौदा कालेज के उपप्रधानाध्यापक का पद त्याग कर उन्होंने अपना जीवन राष्ट्रीय उत्थान के प्रयत्न में अर्पित कर दिया। बाद में आपने नाममात्र के वेतन पर, कलकत्ते के एक राष्ट्रीय कालेज के अध्यक्ष पद पर

कार्य किया। कुछ समय तक आपने 'बन्दे मातरम्' का सम्पादन भी किया। उनके लिये राष्ट्रवाद केवल एक राजनैतिक उद्देश्य अथवा भौतिक उन्नति का साधनमात्र न था। उन्होंने कहा है: "राष्ट्रवाद एक धर्म है, जिसका उद्गम स्वयं ईश्वर से होता है। राष्ट्रवाद अमर है, क्योंकि बङ्गाल में ईश्वर ही तो कार्य कर रहा है।" उनका यह विचार युग-भावना का प्रतीक है। सन् १६०५ से सन् १६०६ ई० तक भारतीय राष्ट्रवाद का मूलमन्त्र यही था। श्री अरविन्द गुप्त रूप से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये क्रान्तिकारी आन्दोलन चला रहे थे, परन्तु दिखाने के लिये असहयोग तथा सत्याग्रह के पथ पर जनता का संगठन कर रहे थे। अन्त में वे गिरफ्तार कर लिये गये और उन पर क्रान्तिकारी होने का अभियोग लगाया गया, परन्तु अभियोग सिद्ध न हो सका और वे मुक्त कर दिये गये। सन् १६१० में वे ब्रिटिश भारत छोड़ कर पाण्डुचेरी चले गये और वहाँ संसार प्रसिद्ध श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना कर विरक्त जीवन व्यतीत करने लगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनका राजनैतिक जीवन बहुत थोड़ा था। श्री जी० एन० सिंह के शब्दों में "श्री अरविन्द ज्योतिग्रह की भाँति राजनैतिक आकाश पर प्रकट हुये और अदृश्य हो गये[1]।

विपिनचन्द्र पाल—बङ्गाल में उग्रवाद के दूसरे ज्योति-वाहक श्री विपिनचन्द्र पाल थे। उनका प्रभाव विशेष कर नवयुवक समाज पर बहुत अधिक था। श्री अरविन्द की अपेक्षा इनका नेतृत्व काल भी अधिक था और भविष्य के राष्ट्रीय आन्दोलन पर इनके विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। विपिनचन्द्र पाल औपनिवेशिक स्वराज्य में विश्वास नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि पूर्ण स्वराज्य में अंग्रेज़ों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखने की सम्भावना नहीं है। इस दिशा में वे तिलक से भी बहुत आगे थे। उनका कहना था कि स्वराज्य जनता के प्रयत्न द्वारा प्राप्त करना चाहिये, सरकार के उपहार अथवा पुरस्कार स्वरूप नहीं। उन्होंने कहा था: "यदि सरकार आज आकर मुझसे कहे, 'लो, स्वराज्य ले लो', तो मैं उत्तर दूँगा, 'उपहार के लिये धन्यवाद, परन्तु मुझे ऐसा कुछ स्वीकार नहीं है जो मैंने अपने बाहुबल से न लिया हो'। हम देश में इस प्रकार कार्य करेंगे, जनता के साधनों को इस प्रकार संयोजित करेंगे, राष्ट्र की शक्तियों का ऐसा संगठन करेंगे, जाति की स्वातन्त्र्य-भावना का इस प्रकार विकास करेंगे, कि प्रत्येक विरोधी शक्ति को अपनी इच्छाओं के सम्मुख अवश्यमेव झुका लें। यह हमारा कार्यक्रम है।" वहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा तथा सत्याग्रह, यही पाल महोदय के साधन थे। 'अक्रिय विरोध' (Passive resistance) के जन्मदाता के रूप में उनका नाम सदा अमर रहेगा। वे एक अच्छे वक्ता थे तथा योरोप और अमरीका भ्रमण कर चुके थे। बहुत काल

---

1. "Arabindo shot into the political firmament and also disappeared from it like a rocket."—*G. N. Singh.*

तक उग्रवादी नीति का पालन करने के पश्चात् अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपना पथ बदल दिया। मांटेग्यू चेम्सफर्ड सुधार योजना के पश्चात् गाँधी जी के असहयोग सिद्धांत से सहमत न होने के कारण विपिनचन्द्र पाल काँग्रेस से अलग होकर उदार दल में सम्मिलित हो गये थे। सन् १६२८ ई० में लखनऊ में सर्वदल-सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने अन्तिम बार सार्वजनिक जीवन में भाग लिया।

महात्मा गाँधी

जिस समय योरोप में पहला महायुद्ध चल रहा था और काँग्रेसी नेता 'होम रूल' आन्दोलन में व्यस्त थे, एक प्रबल शक्ति ने भारतीय राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। यह शक्ति ऊपर से उतर कर नहीं आई थी, यह भारत के कोटि-कोटि जन समुदाय की सामूहिक शक्ति थी और उसी की भाषा में उसकी हृदयविदारक दुर्दशा की ओर देश का ध्यान आकर्षित कर रही थी। यह शक्ति महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की थी। उन्होंने सन् १६१५ ई० में काँग्रेस में प्रवेश किया और थोड़े समय में संस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उनके आते ही स्वराज्य की धारणा को एक नया स्वरूप, एक नया अर्थ मिला। समस्त जातियों तथा धर्मों के भारतवासियों की आत्मा तथा उनके चरित्र से जितना गाँधी जी परिचित थे उतना सम्भवत: कभी कोई नहीं रहा होगा। उन्होंने अपनी युवावस्था दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय हितों की स्मरणीय सेवा करते हुये वर्ण-भेद के विरुद्ध संघर्ष में व्यतीत की थी। उस दूर देश में ही उनके सत्याग्रह का जन्म हुआ था तथा जब तक भारतीयों के पक्ष में सम्मानपूर्ण समझौता नहीं हो गया वे रणक्षेत्र में जमे रहे। भारत लौट कर उन्होंने चम्पारन के किसानों तथा अहमदाबाद के श्रमिकों की ओर से सफल अहिंसात्मक आन्दोलनों का संचालन किया। इस प्रकार प्रयोग होते-होते उनका सत्याग्रह अस्त्र अब भली प्रकार मँज गया था। रौलट कानून तथा भारतीय जनता की निपट निस्सहाय अवस्था ने उन्हें भारतीय रंगमंच पर आगे आने को विवश किया। उन्होंने अपने देशवासियों को असहाय अवस्था से ऊपर उठाने का उपाय बताया। उन्होंने उस भयानक व्यूह का ध्वंस कर दिया जिसमें पड़ कर भारतीय नेता किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। उन्होंने एक नये मार्ग का निर्देशन किया और अन्तत: इसी मार्ग पर चल कर हमारी पराधीनता की कड़ियाँ टूटीं तथा देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

उनके राजनैतिक आदर्श—महात्मा गाँधी भारत के राजनैतिक इतिहास की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभूति तथा उसके मुख्य अभिनेता थे। हम पहले ही देख चुके हैं कि सन् १६१६ ई० से सन् १६४८ ई० में अपनी असमयिक मृत्यु तक वे भारतीय राजनीति के सर्वेसर्वा रहे। हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति का जितना श्रेय उनको है उतना किसी दूसरे एक व्यक्ति को नहीं। वास्तव में वही हमारी स्वतन्त्रता के निर्माता

थे और जनता द्वारा उन्हें दी गई "राष्ट्र पिता" की स्नेहसूचक उपाधि बहुत अंश में सार्थक थी। संसार के इतिहास में सम्भवत: किसी महापुरुष को जनमत पर ऐसा एकाधिपत्य प्राप्त नहीं हुआ होगा जैसा गाँधी जी को प्राप्त था। भारतीय राजनीति में प्रवेश करते ही गाँधी जी ने देखा कि जनता अंग्रेज़ों की नीति से बहुत क्षुब्ध है। वह एक भयानक व्यूह में फँसी है और स्वराज्य का विचार भी स्वप्न प्रतीत होता है। परन्तु गाँधी जी के हाथों में नेतृत्व की बागडोर आते ही व्यूह टूट गया। उन्होंने भारतीय राजनीति को नवीनता तथा गति दी। उन्होंने सोती हुई जनता में नवजीवन का संचार किया और उसे अपनी महत्ता का भान कराया। और उन्होंने जनता को बताया कि सहनशक्ति तथा आत्मबलिदान की भावना के सहारे, शस्त्रास्त्रों के अभाव में भी, संगठित, ऐक्यपूर्ण तथा दृढ़ संघर्ष द्वारा अन्याय और अत्याचार का विरोध किया जा सकता है। अब राजनीति आराम के साथ मनबहलाव की वस्तु नहीं रह गई थी। अब वह पूरे राष्ट्र का धर्म-युद्ध बन गई थी और इस सब का श्रेय महात्मा गाँधी को था।

महात्मा गाँधी के राजनैतिक जीवन के दो पहलू थे। एक ओर तो वे भारत में अंग्रेज़ी शासन के घोर विरोधी थे। उन्होंने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अपनी शैली से अनवरत संघर्ष किया और अन्त में अपने देशवासियों को विदेशी दासता के बन्धनों से मुक्त कर लिया। परन्तु उन्होंने अंग्रेज़ों की मैत्री का पूर्ण महत्व समझ कर सदा उस महान् राष्ट्र के साथ भारत के सम्मान का ध्यान रखते हुये सहयोग बनाये रखने का प्रयत्न भी किया। अपनी सन् १६२० ई० की "प्रत्येक अंग्रेज़ के नाम अपील" में उन्होंने कहा था: "मेरा सहयोग तुम्हारे कानूनों अथवा अन्य स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों द्वारा निर्धारित दण्ड-व्यवस्था के भय से नहीं उत्पन्न हुआ था। यह स्वतन्त्र तथा स्वेच्छापूर्वक दिया गया सहयोग था, जिसका आधार मेरा यह विश्वास था कि ब्रिटिश शासन समष्टि रूप में भारत के हित में है।"

दूसरी ओर वे एक नई सभ्यता एवं एक नये सामाजिक जीवनदर्शन के प्रवर्तक थे। वे एक महात्मा थे जिन्होंने आध्यात्मिक नियमों के अन्वेषण में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग किया। वें सुधारकों के भी सुधारक थे परन्तु उनका सुधार स्वयं उनके हृदय से निकल कर व्यक्ति के माध्यम से जनसमूह तक पहुँचता था। वे समाज-शुद्धि के लिये पहले आत्मशुद्धि आवश्यक समझते थे। वे कहते थे: "पूर्ण पवित्रता प्राप्त करने के लिये मन, वचन तथा कर्म से पूर्णतया रागमुक्त होना पड़ता है, प्यार और घृणा, आकर्षण और विकर्षण की विरोधी धाराओं से ऊपर उठना पड़ता है।" वे स्वयं भी बिना फल की चिन्ता किये निष्काम भाव से कार्य करते थे, और फल उन्हें अपने आप प्राप्त हो जाता था। उनके विचारों को गीता, ईसामसीह के शिखरोपदेश (Sermon on the Mount), टाल्स्टाय, रस्किन तथा स्वयं अपने मनन और

प्रयोगों से प्रेरणा मिली थी। वे सच्चे अर्थ में महात्मा थे, तथापि सदा जनता के बीच में रहकर जनता के ही बने रहे। उनका सम्पूर्ण जीवन मानवता की सेवा तथा दीन-दुखियों की सहायता में व्यतीत हुआ।

गाँधी जी की त्याग-वृत्ति अत्यन्त बलवती थी। वे स्वयं भौतिक संपत्ति से दूर रहते थे और उन्हें इस बात का महान् संतोष था कि उनके पास सब कुछ होते हुये भी उनका कुछ नहीं था। उनकी धारणा थी कि "मत भले ही अनेक हों परन्तु धर्म एक ही है।" वे कहा करते थे: "मेरा हिन्दुत्व सम्प्रदायवादी नहीं है। मुझे इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म तथा पारसीक धर्म में जो भी कुछ अच्छा लगता है वह सब मेरे हिन्दू धर्म में सम्मिलित है।" गाँधी जी जाति, धर्म, तथा राष्ट्र की दीवारों को नहीं मानते थे। उनका सिद्धान्त था कि मनुष्य को सत्य की प्रतिष्ठा के लिये अपने प्राण तक उत्सर्ग करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। उन्होंने स्वयं भी यही शपथ ली थी और जीवन पर्य्यन्त उस पर दृढ़ रहे। उनका राजनीति-क्षेत्र में प्रवेश भी इसी शपथ का परिणाम था। उनके लिये सारा जीवन एकता के सूत्र में बँधा था। इसीलिये तो उन्होंने कहा है: "सत्य की सार्वभौम, सर्वव्यापक आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये सृष्टि के निम्नतम जीव को भी अपने ही समान प्यार कर सकने की क्षमता आवश्यक है। और जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसी आकाँक्षा है वह जीवन के किसी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। इसीलिये तो मेरा सत्य-प्रेम मुझे राजनीति के क्षेत्र में घसीट लाया है, और मैं निस्संकोच होकर, परन्तु पूर्ण विनम्रता के साथ, कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे धर्म का अर्थ ही नहीं जानते।.........मेरे लिये तो धर्म के बिना राजनीति का कोई अस्तित्व ही नहीं है। राजनीति का स्थान धर्म से नीचा है। बिना धर्म के राजनीति मृत्यु का जाल है क्योंकि वह आत्मा की हत्या कर देती है।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी जी के राजनैतिक निर्णयों की आधार-शिला उनकी आध्यात्मिकता थी। वे राजनैतिक प्रश्नों को सुविधा अथवा समयानुकूलता के वाह्य मापदण्ड से नहीं तौलते थे। अतएव गाँधी जी के कुछ आलोचकों का यह तर्क कि वे एक चतुर कूटनीतिज्ञ थे, निराधार सिद्ध हो जाता है।

गाँधी जी के जीवन-दर्शन में सत्य तथा अहिंसा मुद्रा के दो पक्षों की भाँति परस्पर सम्बन्धित हैं। सत्याग्रह अथवा अहिंसा केवल निषेधात्मक दृष्टिकोण नहीं है। वह क्रियात्मक तथा गतिशील है। सत्याग्रह स्नेह के द्वारा पाप का विरोध सिखाता है, उसे आत्मसमर्पण करना नहीं। सत्याग्रह में शत्रु से भी स्नेह किया जाता है। महात्मा गाँधी ने अनेक बार अपने क्रोधोन्मत्त देशवासियों को निर्दयतापूर्वक हत्यायें करते देखा था, परन्तु उन्होंने उस समय भी अपने प्रेम की शक्ति का ही प्रयोग किया, और आवश्यकता पड़ने पर, अपने देशवासियों के पाप का प्रायश्चित करने के लिये,

उपवास करके अपना प्रेम व्यक्त किया। और इस अस्त्र के प्रयोग से गाँधी जी ने उनका हृदय जीत कर उनका स्नेह प्राप्त किया। वे सदा के लिये गाँधी जी के अनुयायी बन गये। उनकी डाँडी-यात्रा (१९३०), साम्प्रदायिक कलह के भयानक दानव का दमन (१९४६), हिन्दुओं को मुसलमानों के साथ न्याय करने पर विवश करना तथा स्वयं एक मुसलमान के घर में निवास (१९४७), आदि घटनायें प्रेम-व्यवहार की सफलता प्रमाणित करती हैं। उपवास महात्मा जी के सत्याग्रह का एक आवश्यक अंग था। उनका महत्व आत्म-शुद्धि तथा धर्म-भावना जाग्रत करने की शक्ति में निहित था। इन उपवासों का उद्देश्य लोगों पर दबाव डालना कभी नहीं था। वे तो पथभ्रान्त मानवता के हितार्थ उच्चकोटि की तपसाधना के समान थे। महात्मा जी स्वयं कहा करते थे कि "सत्याग्रही को तो सदा हँसते हुये, बिना प्रतिशोध अथवा द्वेष की भावना हृदय में लाये, मरने के लिये तत्पर रहना चाहिये। जनता पर उनके विचारों का अधिक प्रभाव इसलिये पड़ता था कि वे स्वयं भी उसी प्रकार का आचरण करते थे और हिंसा अथवा असत्य के जाल में कभी नहीं फँसते थे। पं० नेहरू ने कहा है: "उन्होंने जिस सुधार का सुझाव उपस्थित किया, दूसरों को जो परामर्श दिया, उसका प्रयोग पहले अपने ऊपर अवश्य किया। (प्रत्येक बात का) आरम्भ वे सदा अपने से ही करते हैं और उनके वचन और कर्म सदा हाथ और दस्ताने के समान एक रहते हैं। अतएव चाहे जो कुछ हो जाये, उनकी ईमानदारी में कभी अन्तर नहीं आता और उनके जीवन तथा कार्यों में सदा एक गतिशील पूर्णता होती है। उनकी महानता असफलताओं में भी दिखाई पड़ती है।"

महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन का मुख्य निष्कर्ष उनके सत्याग्रह में निहित था। डा० जी० एन० धवन ने अपनी पुस्तक "महात्मा गाँधी का राजनैतिक दर्शन" (Political Philosophy of Mahatma Gandhi) में कहा है कि सत्याग्रह तथा अहिंसा राजनैतिक विचारधारा तथा कार्य के क्षेत्रों में भारतवर्ष की अत्यन्त मौलिक देन हैं। गाँधी जी स्वयं अहिंसा के सिद्धान्त का पालन बड़ी कठोरता के साथ करते थे और चाहते थे कि उनके अनुयायी भी इसी प्रकार का व्यवहार करें। परन्तु उनकी अहिंसा कायरता से बहुत दूर थी। उन्होंने आग्रह के साथ कहा था: "सत्याग्रह में कायरता अथवा दुर्बलता के लिये कोई स्थान नहीं है।... यदि हम अपनी स्त्रियों तथा अपने धर्मस्थानों की रक्षा कष्ट साधना, अर्थात् अहिंसा के द्वारा नहीं कर सकते तो हमें निश्चय ही—यदि हममें कुछ भी पुरुषत्व है—लड़ कर ही उनकी रक्षा करनी चाहिये।" एक और स्थल पर, 'यङ्ग इण्डिया' में आपने लिखा है: "स्वयं जीवन में थोड़ी-बहुत हिंसा निहित है और हमें कम से कम हिंसा की राह खोजनी होती है।...मैं अपने भीतर वह शान्त साहस उत्पन्न करने का प्रयत्न करता हूँ जिसमें दूसरों को न मारकर स्वयं मर सकने की क्षमता हो। परन्तु जिसके हृदय

में ऐसा साहस न हो उसके लिये मेरा परामर्श है कि वह आपत्ति को निर्लज्जतापूर्वक पीठ दिखाने की अपेक्षा मारे तथा मर जाये[1] ।" गाँधी जी चाहते थे कि भारत अपने को दुर्बल समझ कर अहिंसा का अभ्यास न करे। उन्होंने राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों का प्रयोग किया, यही उनकी मौलिकता थी। इसी सिद्धान्त के प्रयोग से उन्होंने निःशस्त्र जनसमूह को आत्मबल प्रदान किया तथा विदेशी शासन के दासों को स्वाधीन मनुष्य बना दिया। भारतवासियों के हृदय में भय का लेशमात्र नहीं रह गया और एक नवीन आत्म-सम्मान की भावना का उदय हुआ। अपने आत्मबल से ही महात्मा जी ने सहस्रों स्त्री-पुरुषों को कारावास का आवाहन करने, लाठियों की बौछार सहने तथा सभी प्रकार के बलिदान करने की क्षमता प्रदान की। उनके सत्याग्रह ने एक मध्यवर्गीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन में परिवर्तित कर महान् आश्चर्य का कार्य किया। और यह जन-आन्दोलन भी इतना प्रबल था कि शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य भी भारत को छोड़ने पर विवश हो गया। यह संसार के इतिहास की सबसे महान् क्रान्ति थी।

भारत के इस स्वातन्त्र्य-संग्राम में जितना कम रक्तपात हुआ, जितनी कम कटुता उत्पन्न हुई, यह युगों के लिये आश्चर्य की बात होगी। संसार के किसी देश में कभी ऐसा संघर्ष नहीं हुआ। और इस सब का श्रेय महात्मा गाँधी को है। उन्होंने कहा था : "मेरे लिये तो साधनों का ज्ञान यथेष्ट है। मेरे जीवन-दर्शन में साधन साध्य बन जाते हैं तथा साध्य साधन।" अतएव उनका आदेश था कि स्वराज्य-प्राप्ति के साधन भी उद्देश्य के अनुरूप होने चाहिये। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि असत् साधनों के द्वारा सदुद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। हिंसा मार्क्सवाद की आवश्यक अङ्ग बन चुकी थी, इसीलिये वे मार्क्सवाद से शंका खाते थे। उन्होंने हमें जो कार्य-प्रणाली दी वह सर्वथा मौलिक तथा नैतिक थी। यह स्नेह भावना के विकास द्वारा प्राप्त, तथा व्यक्तित्व-विकास के हेतु अर्पित, क्रान्ति की नवीन प्रणाली थी। उन्होंने प्रत्येक कांग्रेसजन को रचनात्मक कार्य, सत्य के अनुसन्धान तथा निष्कलंक राष्ट्रीय चरित्र के विकास की प्रेरणा दी।

इसके अतिरिक्त, महात्मा गाँधी की दृढ़ धारणा थी कि उनके सिद्धान्तों का प्रयोग संसार में कहीं कभी भी किया जा सकता है। वे स्वस्थ राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद से विलग नहीं समझते थे। यदि कोई शान्तिवादी युद्ध की समस्या का क्रिया-

---

1. "Life itself involves some kind of violence, and we have to choose the path of least violence......I cultivate the quiet courage of dying without killing. But to him who has not this courage I advise that of killing and being killed rather than that of shamefully fleeing from danger."—*M. K. Gandhi.*

त्मक समाधान, विश्वशान्ति की सफल योजना अथवा सामाजिक संघष की संगत प्रणाली खोजना चाहता है तो उसे गाँधी जी के सत्याग्रह की शरण आना पड़ेगा। वे बीसवीं शताब्दी के महात्मा थे जिन्होंने अपने आचरण तथा उपदेश से संसार को मुक्ति का मार्ग दिखाया, और संसार यदि उनके बताये मार्ग पर न चला तो वह निश्चय अपना विनाश स्वयं करेगा। डा० राधाकृष्णन ने कहा है : "भ्रान्त तथा काल की मृगतृष्णा से आक्रान्त मानवता को गाँधी जी ने यह संदेश दिया कि उचित मानवीय सम्बन्धों की स्थापना के एकमात्र आधार मानवमात्र से स्नेह तथा ईश्वरीय सत्य के सर्वकालीन सिद्धान्त ही हो सकते हैं[1]।" इसी सम्बन्ध में मि० जार्ज कैटलिन (George Catlin) ने लिखा है : "आर्थिक कारणों को प्रत्येक वस्तु का मूल आधार बताने वाली व्याख्या के विरुद्ध उन्होंने मनुष्यों को युद्ध का मुख्य कारण अपने ही भीतर, अपनी ही प्रवृत्तियों में, अथवा हिंसाप्रिय व्यक्तियों की असंयमित आत्म-तुष्टि में खोजना सिखाया। जो मार्क्सवाद वर्ग-वैमनस्य सिखा रहा था, तथा जो और लोग अन्य प्रकार की धर्म, जाति तथा वर्ण की उपवर्गीय घृणा का प्रचार कर रहे थे, उनके विरुद्ध गाँधी जी ने दूसरा मार्ग दिखाया जिस पर चलकर मानवता अपनी शक्तियों के विकास में उन्नतिशील हो सकेगी।" मि० राय वाकर (Roy Walker) ने कहा है : गाँधी जी पूर्वात्य देशों के नहीं, विश्व मानव हैं, उनका दर्शन तथा आदर्श या तो सारी मानवता के लिये ग्राह्य है अथवा किसी के लिये नहीं, क्योंकि उनका प्रभाव उस स्तर से बहुत अधिक गहरा है जहाँ साँस्कृतिक, सामाजिक अथवा औद्योगिक विभिन्नताओं का निष्कर्षात्मक महत्व होता है[2]।"

उनका सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम—महात्मा गाँधी का संघर्ष भारत को केवल विदेशी शासन से मुक्त करने के लिये ही नहीं था, उसके पीछे देश को सामाजिक भ्रष्टाचार तथा साम्प्रदायिक संघर्षों से मुक्त करने का उद्देश्य भी था। उनके नेतृत्व में काँग्रेस ने विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के बीच मैत्री स्थापित करने तथा देश में असाम्प्रदायिक जनतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य उनके कार्यक्रम का सबसे बड़ा महत्वपूर्ण अङ्ग था।

---

1. "To a world lost in error and beset by the illusions of time, Gandhi announces the value of the timeless principles of the truth of God, and love of fellowmen as the only basis for establishing right human relationship."—*Dr. Radhakrishnan.*

2. "Gandhi is not so much an Eastern as a universal figure; his philosophy and example are essentially valid for all humanity or none, because they work at a level deeper than that at which cultural, social and technological variations are of conclusive importance."—*Roy Walker.*

कभी-कभी तो मुसलमानों को प्रसन्न करने के प्रयत्न में वे हिन्दू काँग्रेसजनों को रुष्ट तक कर देते थे। वास्तव में इस विषय में गाँधी जी ने कभी कट्टर हिन्दू दृष्टिकोण के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। सम्प्रदायवादी हिन्दुओं ने अत्यधिक रुष्ट होकर कई बार उनकी हत्या का भी प्रयत्न किया। २० जनवरी सन् १९४८ ई० को गाँधी जी की प्रार्थना-सभा में बम-विस्फोट हुआ और इसके दस दिन पश्चात् ३० जनवरी को धर्मान्ध नाथूराम गोडसे ने गोली मार कर उनकी हत्या कर डाली।

गाँधी जी के सामाजिक कार्यक्रम में उनके हरिजनोद्धार कार्य का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। आधुनिक काल में वे निस्संदेह हरिजनों के सबसे बड़े मित्र थे। उन्होंने इन दलित तथा उत्पीड़ित जनों की यथासम्भव और सफलतापूर्वक सहायता की। उनके आन्दोलन के फलस्वरूप कुलीन भारतीयों का ध्यान इन दीन-हीन हरिजनों की दुर्दशा की ओर आकर्षित हुआ। गाँधी जी स्वयं गाँवों में हरिजनों से मिलते तथा उनके साथ रहते थे। अतएव हरिजनों का दूसरे नेताओं की अपेक्षा उनमें अधिक विश्वास रखना भी स्वाभाविक ही था। सन् १९३५ ई० के बाद से काँग्रेस की साधारण सदस्यता से त्यागपत्र देकर महात्मा जी ने अपना जीवन हरिजनोद्धार-कार्य में ही अर्पण कर दिया था। आज हमारे गणतन्त्र के संविधान में अस्पृश्यता निषिद्ध है और हरिजन भी शीश उठाकर चल सकते हैं। इसका सारा श्रेय महात्मा गाँधी को ही है।

महात्मा गाँधी ने स्त्रियों के उद्धार के लिये भी महान् प्रयत्न किया। वे स्त्रियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में थे तथा अनिवार्य वैधव्य के विचार-मात्र से काँप उठते थे। वास्तव में स्त्रियों तथा हरिजनों के उद्धार के लिए अकेले गाँधी जी ने जितना कार्य किया उतना पिछले १०० वर्षों के सारे समाज सुधारकों ने मिलकर भी नहीं किया होगा।

मद्य-निषेध महात्मा जी द्वारा की गई भारतीय समाज की दूसरी महान् सेवा थी। उन्होंने मद्यालयों के सामने धरना देना अपने शासन-विरोधी कार्यक्रम का एक आवश्यक अङ्ग बना लिया था। सन् १९३७ ई० के बाद से काँग्रेसी सरकारों ने भी मद्य-निषेध को अपनी सामाजिक नीति का एक अङ्ग बनाकर निर्धन जनता को नारकीय जीवन से बचाया है। यह भी गाँधी जी की प्रेरणा का ही प्रभाव है। वे वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से भी सहमत नहीं थे तथा उसे निष्प्रयोजन एवं अनैतिक कहा करते थे। वर्धा योजना में व्यक्त उनके अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का उद्देश्य जनसाधारण का साँस्कृतिक पुनरुत्थान था। वे शिक्षा तथा जीवन के बीच की दीवार को हटाकर शिक्षा को ठोस कार्य का आधार देना चाहते थे। इस प्रकार गाँधी जी ने अपने आपको आधुनिक काल के सभी सामाजिक आन्दोलनों का केन्द्र बना लिया

था। उन्होंने सम्प्रदायवाद, स्त्रियों की पराधीनता, अज्ञान, अस्पृश्यता, मद्यपान, भिक्षावृत्ति आदि समस्त सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया।

गाँधी जी ने भली भाँति समझ लिया था कि सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा। यदि भारत के कोटि-कोटि जनोंको अपनी बेकारी का उचित समाधान न मिला, यदि अस्सी प्रतिशत ग्रामवासी आधे वर्ष भर बेकार बैठने के लिये विवश रहे, तो ऐसी स्वतन्त्रता निस्संदेह निरर्थक सिद्ध होगी। गाँधी जी का विचार था कि जनसमूह की सहायता करने का एकमात्र उपाय यह है कि भूली हुई हाथ की कताई-बुनाई को फिर प्रचलित करके आय का एक नया साधन उत्पन्न किया जाये। दीनबन्धु एण्ड्रूज के शब्दों में : "जिन दो बातों से गाँधी जी का नाम शताब्दियों तक अमर रहेगा वे हैं—(१) उनका खादी कार्यक्रम और (२) उनका सत्याग्रह। गाँधी जी संसार के पहले व्यक्ति थे जिनके हृदय में इस बात का अदम्य विश्वास था कि आज भी सभी प्रकार के ऐसे गृह-उद्योगों की पुनर्प्रतिष्ठा संभव है जिनके द्वारा ग्रामीणजन नैतिक तथा शारीरिक क्षुधा-यातना से अपनी रक्षा कर सकते हैं।"

महात्मा गाँधी की दृढ़ धारणा थी कि आधुनिक युग वास्तव में प्रगतिशील युग नहीं है और विज्ञान के आविष्कारों ने हमारा कष्ट कम करने के स्थान पर और बढ़ा दिया है। चारों ओर बेकारी और त्राहि-त्राहि फैल रही है। अतएव समाज तथा स्वराज्य की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकार्जन के लिये उपयुक्त कार्य तथा इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। मानव समाज को उद्योगवाद तथा पूंजीवाद के दुर्गुणों से त्राण मिलना चाहिये। गाँधी जी के उपरोक्त विचारों से हमारा मतभेद हो सकता है, तथापि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि शान्ति तथा सुव्यवस्था के दृष्टिकोण से उनका आदर्श अत्यधिक वांछनीय है। वे सरलता, अहिंसा और श्रम तथा मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा को आदर्श अर्थ-व्यवस्था के चार स्तम्भ समझते थे। उन्होंने सदा प्राचीन भारत की स्वतन्त्र संस्थाओं की पुर्नस्थापना का प्रयत्न किया। गाँधी जी जीवन को यन्त्रमय बनाने के विरोधी थे, परन्तु उन्होंने वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाने का विरोध कभी नहीं किया। उन्होंने हरिजन में लिखा था : "यदि बिजली गाँव के प्रत्येक घर तक पहुँच सके और उस समय ग्रामवासी अपने यन्त्रों को चलाने में उसका उपयोग करें तो मुझे तनिक भी आपत्ति न होगी।" संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी निर्धन ग्रामीणजनों के सबसे बड़े मित्र थे और सदा उनकी आर्थिक दशा सुधारने के प्रयत्न किया करते थे। उन्होंने किसानों तथा श्रमिकों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया और उनके आन्दोलनों को प्रगति दी। उनका रचनात्मक कार्यक्रम

सर्वतोमुखी था और अधिकतर काँग्रेसजन आज भी उसे समस्त दुर्गुणों का एकमात्र तथा अचूक उपचार मानते हैं।

उनके स्वराज्य का आदर्श—गाँधी जी के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विचार भारतवर्ष की स्वराज्याकांक्षा की पराकाष्ठा हैं। देश की वर्तमान सरकार तथा उसके विरोधी सभी श्रद्धा एवं स्नेहपूर्वक इन विचारों का उल्लेख करते हैं। सरकार प्रचार करती है कि गाँधी जी के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का यथासम्भव प्रयत्न किया जा रहा है। दूसरी ओर सरकार के विरोधी कहते हैं कि सरकार की वर्तमान नीति गाँधी जी के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। आचार्य कृपलानी सरीखे गाँधीवादी जब-तब चेतावनी देते रहते हैं कि राष्ट्रपिता द्वारा निर्धारित मार्ग से विचलित होकर राष्ट्र पतन की ओर जा रहा है। इस स्थल पर हम इस विवाद की विवेचना अनावश्यक समझते हैं। परन्तु हमारी धारणा है कि गाँधी जी के स्वराज्य के आदर्श का स्पष्ट चित्र प्रत्येक भारतवासी के सम्मुख होना चाहिये। बिना उसके वर्तमान का मूल्यांकन असम्भव है। हमारे राष्ट्रपिता तथा राष्ट्रनिर्माता अहिंसा पर आधारित, अगणित स्वशासित ग्राम जनतन्त्रों के माध्यम से कार्य करने वाले तथा विकेन्द्रीकृत जनतन्त्र के समर्थक थे। उनकी धारणा थी कि हिंसा पर आधारित जनतन्त्र निर्बलों के पालन अथवा रक्षण में कभी सफल नहीं हो सकता। उन्होंने कहा है: "जिस प्रकार का जनतन्त्रवाद योरोप में प्रचलित है वह वास्तव में अधिपतिवाद (Fascism) अथवा नात्सीवाद (Nazism) का ही एक स्वरूप है[1]।" गाँधी जी का विकेन्द्रीकरण केवल राजनैतिक अथवा आर्थिक लाभ के लिये नहीं था, वे उसे सरल जीवन तथा उच्च सांस्कृतिक आदर्शों का समर्थक तथा परिपोषक मानते थे।

स्वयं गाँधी जी ने २२ जून सन् १९४५ ई० को 'हिन्दू' समाचारपत्र में एक वक्तव्य देते हुये अपने आदर्श रामराज्य का वर्णन इस प्रकार किया था: "धार्मिक दृष्टिकोण से इसे पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य कहा जा सकता है, राजनैतिक दृष्टिकोण से यह वह जनतन्त्र है जिसमें सम्पत्ति, वर्ण, जाति, धर्म तथा लिंग के भेद पर आधारित सारी असमानताओं का लोप हो चुका हो। इसके अन्तर्गत धरती तथा राज्य सभी कुछ जनता का होगा। न्याय अविलम्ब, पूर्ण तथा सस्ता होगा और इसके फलस्वरूप (देश में) धार्मिक कृत्यों, अभिव्यक्ति तथा समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता होगी—और इस सब का आधार नैतिक अनुशासन के स्वयं-नियोजित नियम का नियन्त्रण होगा। ऐसा राज्य निश्चय ही सत्य तथा अहिंसा पर आधारित होगा और निस्संदेह

---

1. "Western democracy, as it functions to-day, is diluted Nazism or Fascism."—*Mahatma Gandhi.*

समृद्ध, सुखी तथा स्वयं-सम्पूर्ण ग्रामों तथा ग्राम-समाजों का समूह होगा[1]।"

डा० पट्टाभि सीतारमैय्या ने अपनी पुस्तक "Gandhi and Gandhism" में महात्मा जी द्वारा कल्पित स्वराज्य के अन्तर्गत भविष्य के भारत का सजीव वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि गाँधी जी का स्वराज्य परिणाम कम है, प्रणाली अधिक, और उसके स्थापित हो जाने पर सरकार का पहला कर्तव्य यह होगा कि वह देश से अन्न का निर्यात तथा देश में वस्त्र का आयात बन्द करे और चरखा-करघा के प्राचीन महत्व को पुन: स्थापित करे। इससे सूत कातने वालों तथा जुलाहों की बेकारी कम हो जायेगी, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा तथा उन्हें पेट भर भोजन प्राप्त हो सकेगा। ग्राम्य-स्वराज्य की पुनर्स्थापना होगी और इस प्रकार सारी स्थानीय समस्याएँ वहीं सुलझ जाया करेंगी। गृह-उद्योग तथा हस्त-कलाओं की समृद्धि होगी और बेकार पड़े भूमि-खण्डों में खेती आरम्भ होगी। ग्राम्य यातायात का सुधार होगा तथा स्वास्थ्य की समस्या का उचित समाधान खोजा जायेगा। मुकदमेबाज़ी की बुराई दूर होगी। जन-शिक्षा अविलम्ब आरम्भ होगी और इस दिशा में चलते-फिरते सिनेमा, प्रदर्शिनियाँ तथा पुस्तकालय उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षालय। परीक्षा प्रणाली का अन्त होगा। आज नगरों की शिक्षा में ग्रामीण विद्यार्थियों के धन तथा स्वास्थ्य का अपव्यय हो रहा है, इनका जनता के हितार्थ उचित प्रयोग होना चाहिये। प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला तथा एक सहकारी समिति का होना आवश्यक है। साहित्यिक शिक्षा तथा भौतिक ज्ञान के स्थान पर हमें विद्यार्थियों की अन्तवृ ति तथा कल्पना शक्ति का विकास करना चाहिये। राष्ट्रीय परम्परा, जीवन-दर्शन, धार्मिक विश्वास तथा साम्प्रदायिक एकता की प्राप्ति के लिये समझौता-समितियों की स्थापना आवश्यक है। स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का प्रचार करने के लिये चिकित्सालय तथा उपचारगृह खुलेंगे तथा भूमि-व्यवस्था में संशोधन करके निर्धन किसानों का भार हल्का किया जायेगा। कर लगाने के सिद्धान्त अधिक न्यायसंगत होंगे तथा सरकार साधारण बीमा को प्रोत्साहन देकर सम्पूर्ण देश को एक सहकारी समिति में परिणत करने का प्रयत्न करेगी। हस्तकलाओं तथा गृह-

1. "It can be religiously translated as Kingdom of God on earth. Politically translated, it is perfect democracy in which inequalities based on possession and non-possession, colour, race or creed or sex vanish. In it land and state belong to the people. Justice is prompt, perfect and cheap and, therefore, there is freedom of worship, and of speech and the Press—all this because of the reign of the self-imposed law of moral restraint. Such a state must be based on truth and non-violence and must consist of prosperous, happy and self-contained villages and village communities."—*Gandhiji on Ramrajya.*

उद्योगों पर सामूहिक नियंत्रण होगा तथा काम करने के समय, प्रतियोगिता तथा कार्य-कौशल सम्बन्धी नियमों का प्रचार किया जायेगा। प्रान्तों में भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषायें शासन-व्यवस्था तथा शिक्षा का माध्यम बनेंगी, परन्तु देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी होगी। स्वयं जनता की ओर से भ्रातृभाव तथा सहयोग की भावनाओं पर आधारित तथा मतभेदरहित सुझाव उपस्थित किये जाने पर भाषा के अनुसार प्रान्तों का पुनर्विभाजन भी सम्भव होगा। अस्पृश्यता का उन्मूलन किया जायेगा तथा मन्दिर प्रवेश का अधिकार सभी सम्प्रदायों को प्राप्त होगा। वर्तमान हिंसामूलक सेना का स्थान एक शान्ति-सेना ले लेगी तथा इस प्रकार अहिंसा प्रधान राज्य की स्थापना सम्भव हो सकेगी। वाणिज्य जहाजी बेड़े (mercantile marine) पर भारतीय पूँजी का आधिपत्य होगा। प्रधान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होगा तथा गृह-उद्योगों की पुनर्स्थापना एवं आधुनिक भारी उद्योगों की स्थापना द्वारा बेकारी की समस्या का निराकरण किया जायेगा। भूमिहीन किसानों को भूमि तथा जनता को कम से कम एक निश्चित आय का आश्वासन दिया जायेगा। भारतीय समाज पर किसी विदेशी लोकसभा का आधिपत्य नहीं रह जायेगा। शासन नारियों की समस्या का समाधान करेगा तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद की व्यवस्था भी की जायेगी। विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दिया जायेगा तथा स्त्रियों को अपने पति तथा पिता की सम्पत्ति में उचित भाग मिलेगा। बालकों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार बन्द होगा तथा अपराधियों के साथ घृणा के स्थान पर दया का व्यवहार किया जायेगा। अपराधों की संख्या घटाने और जनता की नैतिक उन्नति करने के उद्देश्य से मद्य-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, संस्कृति तथा शिक्षकों एवं विद्वानों के आदान-प्रदान को राष्ट्र के लिये हितकर समझ कर बढ़ावा दिया जायेगा। इस व्यवस्था में अंग्रेज़ भी अनुभव करने लगेंगे कि उनकी भारत में लगी पूँजी सुरक्षित है, परन्तु वे यहाँ भारतीयों के साथ भाई बन कर रह सकते हैं, स्वामी बन कर नहीं।

इस प्रकार गाँधी जी का स्वराज्य एक ऐसे नये युग और नई समाज-व्यवस्था की कल्पना है जिसमें धन के साथ शासन का कोई सम्बन्ध नहीं होगा और जनतन्त्र-वाद का अर्थ यह होगा कि राज्य प्राचीन राजवंशों की सम्पत्ति नहीं है। सेना को व्यायाम देने अथवा देश की प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिये युद्ध आरम्भ नहीं किये जायेंगे। शासन पर केवल शान्ति और सुव्यवस्था का ही उत्तरदायित्व नहीं होगा, वह जनता के भोजन का प्रबन्ध भी करेगा और श्रम के साथ भोजन का ऐसा समन्वय करेगा कि कोई श्रमिक कभी भूखा न रहे। शासन तथा समाज के सभी अङ्ग राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधि होंगे, उनके भावों की अभिव्यक्ति करेंगे तथा उसके क्लेष मिटाने, अन्याय-अत्याचार का नाश करने और घर-घर में स्वास्थ्य तथा सुख फैलाने की उचित

व्यवस्था करेंगे। स्वयं महात्मा जी ने कहा है: "राजनैतिक स्वतन्त्रता से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि हम ब्रिटिश लोकसभा अथवा रूस की साम्यवादी व्यवस्था, अथवा इटली की अधिनायक प्रणाली अथवा जर्मनी के नात्सी शासन की नकल करें। उन देशों की व्यवस्था उनके जातीय गुणों के अनुरूप है। हमें भी ऐसी व्यवस्था चाहिये जो हमारे राष्ट्रीय गुणों के अनुरूप हो। वह व्यवस्था कैसी होगी यह मैं भी नहीं बता सकता हूँ। मैंने उसे रामराज्य कहा है जिसका अर्थ है पूर्ण नैतिक अधिकारों पर आधारित जनता का स्वत्व।" परन्तु क्रियात्मक आदर्शवादी होने के नाते गाँधी जी भली प्रकार जानते थे कि मानव समाज की नैतिक अपूर्णता के कारण ऐसे आदर्श समाज की स्थापना शीघ्र सम्भव नहीं है।

गाँधी जी की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विचारधारा के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें मानव की शक्तियों में अटूट विश्वास था। उनका जीवन इस बात का प्रतीक है कि मानव अपनी इच्छा शक्ति के बल पर महान् संगठित शक्तियों का सामना कर सकता है। उन्होंने मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति के विकास पर ज़ोर देकर मानवता का बड़ा उपकार किया। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में गाँधी जी की महत्ता उनके वीरत्वपूर्ण संघर्षों से कहीं अधिक उनके पवित्र जीवन में है। उनकी सफलता का रहस्य उनकी आध्यात्मिक शक्ति है। उनका विश्वास था कि विनाशकारी तत्वों के उत्थानकाल में आध्यात्मिक शक्ति के ही द्वारा विश्व का कल्याण हो सकता है। वे एक आदर्श महात्मा तथा सुधारक थे; उन्होंने अपने जीवन में, तथा अपने मरण द्वारा, हमें भावी आदर्श मानवता का क्रियात्मक स्वरूप दिखाया। उन्होंने कुतर्क तथा अत्याचार के तत्वों से लड़ते हुये अपने प्राणों का उत्सर्ग किया और मर कर भी प्रकाश, स्नेह तथा तर्क के तत्वों को बल दिया। उनकी मृत्यु के तीन दिन बाद भारतीय संसद में बोलते हुये पं० नेहरू ने कहा था: "आज से सैकड़ों, सम्भवत: हजारों वर्ष बाद भी, आगामी युगों में लोग हमारी इस पीढ़ी की याद करेंगे जब यह ईश्वरीय मानव इस धरती पर अवतीर्ण हुआ और लोग हमारी भी याद करेंगे, क्योंकि हम चाहे जितने महत्वहीन क्यों न हों परन्तु उस महान् पुरुष के बताये पथ पर चले हैं और बहुत सम्भव है, उस पवित्र भूमि पर चले हों, जिस पर उनके पावन चरण-चिन्ह अंकित हैं। हम महात्मा जी के योग्य बनें! यही हमारी आकांक्षा है।"

गाँधी-युग के अन्य नेतागण

मोतीलाल नेहरू—गाँधी-युग के राष्ट्रीय नेताओं में पं० मोतीलाल नेहरू का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपने जीवन के अन्तिम १२ वर्षों में अर्थात् सन् १९३१ ई० तक वे काँग्रेस के मानसिक शक्ति के प्रबलतम स्तम्भ थे। वे निस्सन्देह

अपने प्रान्त के सबसे बड़े नेता थे। वे ब्रिटिश चरित्र के भारी प्रशंसक थे और काँग्रेस का नेतृत्व करते हुये भी ब्रिटिश अधिकारियों में उनकी प्रतिष्ठा कभी कम नहीं हुई। सन् १९१९ ई० में उन्होंने अपनी समृद्ध वकालत छोड़ दी, योरोपीय वेषभूषा तथा रहन-सहन का परित्याग कर दिया, अपने प्रासाद-तुल्य भवन को काँग्रेस का प्रधान कार्यालय बना लिया और महात्मा गाँधी का नेतृत्व स्वीकार कर सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया। इस प्रकार एक बार निश्चय कर लेने के पश्चात् उन्होंने अपना सब-कुछ राष्ट्र को अर्पण कर दिया। असहयोग आन्दोलन में उन्हें कारावास का दण्ड मिला परन्तु जेल से छूटने के बाद उन्होंने कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम अपनाया। स्वराज्य दल के नेता के रूप में उन्होंने केन्द्रीय धारासभा में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। उनकी इस अवरोध-नीति ने सरकार की नाक में दम कर दिया। अन्य काँग्रेसी नेता भी प्रान्तीय धारासभाओं में उन्हीं का अनुकरण कर रहे थे। परन्तु स्वराज्य दल काँग्रेस की नरम विचारधारा का प्रतिनिधि था और उसका जनता के साथ विशेष सम्पर्क नहीं था। तथापि उसने एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। नौकर-शाही ने संविधान के चारों ओर आकर्षण का जो ताना-बाना बुन रखा था उसे स्वराज्य दल के कार्यक्रम ने विध्वंस कर दिया। इसके पश्चात् पं० मोतीलाल नेहरू ने साइमन कमीशन के बहिष्कार में पूर्ण रूप से काँग्रेस का साथ दिया और केन्द्रीय धारासभा में इस आशय का एक प्रस्ताव उपस्थित किया कि यह सभा कमीशन में अविश्वास प्रकट करते हुये उस पर होने वाले व्यय का उत्तरदायित्व अस्वीकार कर दे। सन् १९२७ ई० के बाद उन्होंने भारत के लिये एक संविधान का प्रारूप निर्माण किया और विशेष महत्व की बात यह थी कि इस संविधान को अधिकतर राजनैतिक दलों ने स्वीकार कर लिया था। परन्तु अंग्रेज़ों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर सन् १९२९ ई० में काँग्रेस ने भी नेहरू रिपोर्ट पर आधारित अपनी माँगें बदल दीं। तथापि इस संविधान के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह वास्तव में अपने निर्माता की रचनात्मक राजनीति का परिचायक था। इसमें कल्पना की गई थी कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही रहेगा और उसकी शासन-व्यवस्था इङ्गलैंड अथवा अन्य उपनिवेशों के समान होगी। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों के शेष भारत के साथ मिल कर एक संघ-राज्य स्थापित करने की आशा भी की गई थी। साम्प्र-दायिक समस्या के निराकरण के लिये वयस्क मताधिकार, स्थानों के आरक्षण तथा प्रान्तों के पुनर्विभाजन की व्यवस्था की गई थी।

काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन के पहले तथा बाद में पंडित मोतीलाल नेहरू ने काँग्रेस तथा सरकार के बीच समझौता कराने का महान् प्रयत्न किया। परन्तु सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ होते ही वे प्राणपण से उसमें जुट गये तथा वृद्धावस्था में भी कारावास यातना के लिये सहर्ष तत्पर हो गये। परन्तु इसके फलस्वरूप उनका

स्वास्थ्य गिर गया, वे बीमार पड़े तथा अच्छे से अच्छा उपचार करने पर भी नहीं बच सके। जेल से छूटने के कुछ ही महीनों के भीतर उनका देहान्त हो गया।

देशबन्धु चित्तरंजनदास—अपने समय के बङ्गाल के सबसे प्रमुख नेता तथा काँग्रेस द्वारा कौंसिल-प्रवेश के प्रबल समर्थक देशबन्धु चित्तरंजनदास इस युग के दूसरे महापुरुष थे। माण्टेग्यू की घोषणा से प्रभावित होकर देशबन्धु चित्तरंजनदास ने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया था। वे सबसे पहले सन् १९१७ ई० की कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर जनता के सम्मुख आये। और आते ही उन्होंने माँग की कि भारत को उसकी रुचि के अनुकूल संविधान मिलना चाहिये। इसी आधार पर उन्होंने सन् १९१८ ई० की प्रस्तावित सुधार-योजना भी अस्वीकार कर दी। परन्तु सितम्बर सन् १९२० ई० में कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में उन्होंने गाँधी जी के असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया। तथापि उनका यह विरोध स्थायी नहीं था और उसी वर्ष दिसम्बर में काँग्रेस के नागपुर अधिवेशन में उन्होंने गाँधी जी का पक्ष लेकर असहयोग का समर्थन किया। पंडित मोतीलाल नेहरू की भाँति उन्होंने भी अपनी समृद्ध वकालत बन्द कर दी थी और अपने जीवन का विलायती रंग ढंग बदल कर राजनैतिक एवं आध्यात्मिक ऋषियों का सा जीवन अपना लिया था। उनके इस आदर्श जीवन का बङ्गाल के साथ-साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जेल-यात्रा की तो उनके सारे सगे-सम्बन्धी तथा बङ्गाल के सहस्रों उत्साही युवक उनके पीछे चल पड़े। उनके प्रमुख शिष्य सुभाषचन्द्र बोस तथा प्रफुल्लचन्द्र घोष थे। आगे चल कर श्री चित्तरंजनदास ने कौंसिल प्रवेश के कार्यक्रम का समर्थन आरम्भ किया और आपके ही प्रस्ताव पर दिल्ली में सितम्बर सन् १९२३ ई० में होने वाले विशेष अधिवेशन में काँग्रेस ने अपना पूर्व निश्चय बदल कर कौंसिल-प्रवेश पर प्रतिबन्ध उठा लिया। उनकी धारणा थी कि "समान, अनवरत तथा अटूट व्यवधान उपस्थित करने" के लिये काँग्रेस द्वारा कौंसिल-प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है। सन् १९२५ ई० में अपनी मृत्यु के समय तक देशबन्धु चित्तरंजनदास का देश की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा।

पं० मदनमोहन मालवीय—पं० मदनमोहन मालवीय मानसिक विचारों में उदारवादी, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से हिन्दू महासभा के समर्थक तथा हृदय से काँग्रेसी थे। उन्होंने सन् १८८६ ई० में काँग्रेस में प्रवेश किया और उस समय से लेकर अन्त तक उनका राजनैतिक जीवन महत्वपूर्ण घटनाओं से भरा रहा। वे कट्टर ब्राह्मण थे और प्राचीन हिन्दू परम्पराओं को पुनर्जीवित करना चाहते थे; इसके साथ ही साथ वे कट्टर राष्ट्रवादी भी थे और देश की स्वतन्त्रता के लिये अपना सब कुछ न्यौछावर कर सकते थे। वास्तव में यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि एक ही व्यक्ति दो बार काँग्रेस का (१९०९ और १९१८) और तीन बार हिन्दू महासभा का (१९२३, १९२४

और १९३६) सभापति निर्वाचित हुआ। परन्तु मालवीय जी में हिन्दुत्व तथा राष्ट्रवाद का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। उनकी प्रकृति धार्मिक थी, अतएव जब कभी सरकार ने प्राचीन हिन्दू रीति-रिवाज के विरुद्ध कोई कार्य किया, मालवीय जी ने उसका विरोध अवश्य किया। संयुक्त प्रान्त की सरकार द्वारा प्रयाग में कुम्भ-स्नान पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के विरोध में उन्होंने त्रिवेणी-तट पर सफल सत्याग्रह किया था। इसके अतिरिक्त मालवीय जी ने केन्द्रीय धारासभा में हिन्दू बाल-विवाह-विरोधी कानून की भी बड़ी तीव्र आलोचना की थी। दूसरी ओर राष्ट्रवादी कांग्रेस के साथ भी उनका अटूट सम्बन्ध रहा और देश की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने वृद्धावस्था में भी अनेक यातनायें सहन कीं। सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध में वे अंग्रेज़ों की सहायता करने के पक्ष में थे, परन्तु केन्द्रीय धारासभा में वे रौलट कानून अथवा जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड में अभिव्यक्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नग्न स्वरूप की तीव्रतम आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे। वास्तव में अमृतसर के राष्ट्रीय अपमान का विस्तृत वर्णन संसार को सबसे पहले मालवीय जी से ही सुनने को मिला। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में भाग लेते हुये वे कुछ हिचक रहे थे परन्तु चौरीचौरा की घटना के बाद आन्दोलन ही स्थगित हो गया और मालवीय जी ने संतोष की साँस ली। हिन्दू महासभा के साथ भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनके लिये अपनी हिन्दुत्व की भावना का स्वराज्यवादियों के राष्ट्रवाद के साथ सामञ्जस्य करना अत्यन्त कठिन था। परन्तु सन् १९३० ई० में जब महात्मा गाँधी ने अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया, मालवीय जी अपना सारा अनिश्चय छोड़ कर उसमें सम्मिलित हुये और कई बार जेल भी गये। सन् १९३३ ई० में कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिये कलकत्ता जाते हुये वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये और कई दिन तक कारागृह में बन्द रहे। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक मालवीय जी ने कांग्रेस का साथ नहीं छोड़ा, यद्यपि कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वे कभी कांग्रेस के साथ थे ही नहीं।

मालवीय जी मुख्यत: सामाजिक तथा धार्मिक कार्यकर्ता थे। वे स्वदेशी प्रचार के प्रबल समर्थक थे। आपने कई वर्षों तक इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड का सुचारु तथा योग्यतापूर्ण कार्य-संचालन किया। परन्तु अपने देशवासियों को उनकी सबसे बड़ी देन बनारस का हिन्दू विश्वविद्यालय है। वास्तव में उनका उद्देश्य एक ऐसी संस्था की नींव डालना था जहाँ "वैज्ञानिक, प्राबैधिक (Technical) तथा औद्योगिक प्रशिक्षण का धार्मिक शिक्षा तथा प्राचीन संस्कृति के साथ सम्मिश्रण किया जा सके।" अपनी इस योजना को कार्यान्वित करने में मालवीय जी के सामने अनेक कठिनाइयाँ आईं, परन्तु उन्होंने भी महान् कष्ट झेलते हुये देश भर का भ्रमण किया और द्वार-द्वार पर भिक्षा याचना की। हिन्दू नरेशों ने हृदय खोल कर उनकी सहायता

की और अन्त में मालवीय जी ने दृढ़ आधार पर एक महान् तथा अद्भुत विश्व-विद्यालय की स्थापना करके ही विश्राम लिया। उनमें मस्तिष्क तथा हृदय के अनेक सद्गुण थे। कहा जाता है कि जो व्यक्ति एक बार भी उनके सम्पर्क में आया, उनके उदार तथा दयालु स्वभाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रहा। उनका जीवन सरलता तथा संयम का आदर्श था, और उनके जीवन का मूलमंत्र निस्वार्थ-वृत्ति में निहित था। वे केवल काँग्रेस की पुरानी पीढ़ी के एक सम्मानित नेता अथवा उत्साही महा-सभाई ही नहीं थे, उनकी गणना उन इने-गिने भारतीय महापुरुषों में की जाती है जिन्होंने देश की धार्मिक, राष्ट्रीय तथा शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का भगीरथ प्रयत्न किया।

श्रीमती एनी बेसेण्ट—श्रीमती एनी बेसेण्ट एक आयरलैण्ड की प्रसिद्ध महिला थीं। उन्होंने प्रथम महायुद्ध के समय भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में नया उत्साह भरा और काँग्रेस के उग्र तथा उदार पक्षों के बीच समझौता कराने का भारी प्रयत्न किया। राजनैतिक विचारों में वे न तो पूर्ण नम्र थीं और न पूर्ण उग्र। उनमें नम्रता और उग्रता का सुन्दर सम्मिश्रण था। एक ओर तो उन्होंने नम्र दल की राजभक्ति का उपहास किया दूसरी ओर उन्होंने उग्र दल की क्रान्तिकारी नीति का विरोध कर उसे वैधानिक पथ को अपनाने के लिये प्रोत्साहित किया। वे सन् १८९३ ई० में भारत आई थीं और २० वर्षों तक राजनैतिक संघर्ष से दूर रहकर प्राणपण से थियो-सोफिकल सोसाइटी (Theosophical Society) का कार्य करती रहीं। परन्तु सन् १९१४ ई० में उन्होंने काँग्रेस में प्रवेश किया और उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा जादू था कि शीघ्र ही उनकी गणना काँग्रेस के महारथियों में होने लगी। उनकी ख्याति का एक मुख्य कारण यह भी था कि उन्होंने काँग्रेस में आते ही भारत के लिये अविलम्ब स्वराज्य की माँग की। अपने साप्ताहिक "Common Weal" तथा दैनिक "New India" पत्रों के माध्यम से उन्होंने काँग्रेस के दोनों पक्षों को एकता का संदेश देना आरम्भ किया। सन् १९१५ ई० में उन्होंने अपने 'होमरूल' के प्रचार के लिये देश भर का तूफानी दौरा किया और उसी वर्ष काँग्रेस के बम्बई अधिवेशन में एक 'होमरूल लीग' की स्थापना का प्रस्ताव भी उपस्थित किया। इस 'होमरूल लीग' की स्थापना इस समय से लगभग नौ मास बाद हुई। काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन से पूर्व ही श्रीमती एनीबेसेण्ट देश के राजनैतिक जीवन तथा राष्ट्रीय विचारधारा के सबसे अधिक प्रभावशाली नेताओं में स्वीकार कर ली गईं। सन् १९१७ ई० में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष पद से उन्होंने अपने विचारों की स्पष्ट घोषणा की। "युद्ध का परिणाम चाहे जो कुछ हो, परन्तु भारत का स्वतन्त्रता प्राप्ति का अधिकार तुरन्त स्वीकार कर लिया जाना चाहिये। यहाँ पर मैं यह और कह देना चाहती हूँ कि साम्राज्य से भारत को केवल

उस दशा में किसी प्रकार का लाभ हो सकता है जब भारत को पहले स्वतन्त्रता दे दी जाय।...शान्तिकालीन समृद्धि तथा युद्धकालीन सुरक्षा के लिये भारत को भी इङ्गलैण्ड की उतनी ही आवश्यकता है जितनी इङ्गलैण्ड को भारत की। मि० माण्टेग्यू ने बुद्धिमानी की बात कही है कि युद्ध की सामग्री जुटाने के लिये प्रत्येक राष्ट्र के लिये स्वतन्त्रता तथा शांति परम आवश्यक हैं। अतएव मैं कहती हूँ कि दोनों देशों को समान रूप से, इस महायुद्ध से एक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये—और वह शिक्षा है, भारत के लिये स्वराज्य[1]।"

माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारों का उल्लेख करते हुये श्रीमती बेसेण्ट ने कहा कि यह योजना "न तो अँग्रेज़ों की ओर से देने योग्य थी, और न भारतीयों की ओर से स्वीकार करने योग्य।" परन्तु जब सन् १९२० ई० में काँग्रेस ने महात्मा गाँधी द्वारा प्रस्तावित प्रगतिशील तथा अहिंसात्मक असहयोग की नीति स्वीकार कर ली तब श्रीमती एनी बेसेण्ट काँग्रेस से निकल कर उदार-दल में सम्मिलित हो गईं। इसके पश्चात् उन्होंने भारत के सब राजनैतिक दलों द्वारा स्वीकृत एक "भारतीय माँग" इङ्गलैण्ड की लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न आरम्भ किया। अपने इस प्रस्ताव के लिये काँग्रेस की स्वीकृति प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने सन् १९२४ ई० के काँग्रेस अधिवेशन में भी भाग लिया। परन्तु काँग्रेस ने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट निराश होकर सन् १९२५ ई० में इङ्गलैण्ड चली गईं। परन्तु उनका "भारतीय माँग" (Indian Demand) का कार्य वहाँ भी बन्द नहीं हुआ। ब्रिटेन के मज़दूर दल ने उनका प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया था। परन्तु इस बीच इङ्गलैण्ड में मन्त्रिमण्डल परिवर्तन हुआ और अनुदार दल ने पद ग्रहण किया। इङ्गलैण्ड में अनुदार मन्त्रिमण्डल और भारत में काँग्रेस की अस्वीकृति, श्रीमती बेसेण्ट के प्रस्ताव की असफलता के लिये यथेष्ट थे। परन्तु उन्होंने भारत तथा इङ्गलैण्ड के बीच औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर समझौता कराने का प्रयत्न नहीं छोड़ा।

श्रीमती एनीबेसेण्ट के प्रभाव से भारत में थियासफी (Theosophy) हिन्दू पुनरुत्थान की पर्यायवाची हो गई थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लिया था कि वेदों तथा उपनिषदों की भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से कहीं अधिक ऊँची है। पं० नेहरू ने अपनी पुस्तक 'Discovery of India' में लिखा है: "हिन्दू

---

1. "......Great Britain needs India as much as India needs England for prosperity in peace as well as for safety in war. Mr. Montagu has wisely said that for equipment in war a nation needs freedom in peace. Therefore I say that for both countries alike the lesson of the war is Home Rule for India."—*Mrs. Annie Besant.*

मध्यवर्ग को अपने आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय गौरव का भान कराने में श्रीमती एनी बेसेण्ट का प्रभाव विशेष शक्तिशाली था।"

नेता जी सुभाषचन्द्र बोस—गाँधी युग के उपरोक्त नेतागण काँग्रेस के उग्र-पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इस पक्ष के प्रमुख नेता जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस थे। यह दोनों नेता नवयुवकों के हृदयसम्राट् तथा काँग्रेस की विकासोन्मुख वामपक्षी विचारधारा के समर्थक रहे हैं। सुभाषचन्द्र बोस सन् १६२१ ई० से देशबन्धु चित्तरंजन दास की मृत्यु तक उनके प्रमुख सहायक रहे। असहयोग आन्दोलन में उन्होंने जेल यात्रा की। तत्पश्चात् उन्होंने बंगाल के नवयुवकों का संगठन किया, एक समाचार-पत्र चलाया और कलकत्ता कारपोरेशन के मेयर बनकर जनता की स्मरणीय सेवा की। वास्तव में, उनके भीतर काम करने की असीम शक्ति थी और वे जितने दिन जेल से बाहर रहते थे दानव की भाँति कार्यरत रहते थे। परन्तु अपने जीवन का अधिकांश भाग उन्होंने जेल में ही व्यतीत किया। सन् १६२८ ई० में कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर वे सबसे पहले एक अखिल भारतीय नेता के रूप में जनता के सामने आये। इस अवसर पर उन्होंने एक अद्भुत स्वयंसेवक दल का संगठन किया तथा अधिवेशन के सामने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव का समर्थन पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया। यह ध्यान देने की बात है कि श्रीनिवास आयंगर तथा सुभाषचन्द्र बोस ने उस समय काँग्रेस से पूर्ण स्वराज्य को अपना उद्देश्य स्वीकार कर लेने का आग्रह किया था जब अन्य नेतागण ३१ अक्टूबर सन् १६२६ ई० की घोषणा में व्यक्त बेन इरविन (Benn Irwin) नीति को भारत के लिये हितकर समझने की भूल में पड़े थे। सुभाष बाबू का गाँधी जी के साथ सैद्धान्तिक मतभेद था। वे भारत से अँग्रेजों को बाहर निकालने के लिये हिंसा के साधनों में विश्वास करते थे। गाँधी जी 'साधन' तथा 'साध्य' शब्दों को पर्यायवाची मानते थे। परन्तु सुभाष बाबू का विश्वास था कि उद्देश्य प्राप्ति की आशा होने पर प्रत्येक साधन का प्रयोग उचित है। उनका विश्वास था कि गाँधी जी का असहयोग आंदोलन भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य में इस कारण विफल रहा कि वे इस कार्य में अन्य राष्ट्रों से सहायता के लिये कोई उद्योग नहीं करते थे। सुभाष बाबू भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये हिंसा का प्रयोग उचित समझते थे, पर गाँधी जी अहिंसा के अनन्य पुजारी थे।

सन् १६३८ ई० में सुभाष बाबू काँग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुये। उनका निर्वाचन निश्चय ही इस बात का द्योतक था कि भारतीय जनमत वामपक्ष की ओर झुक रहा है और अगले वर्ष उनका पुनर्निर्वाचन उनकी लोकप्रियता का प्रमाण था। इस अवसर पर स्वयं गाँधी जी को कहना पड़ा: "यह स्पष्ट है कि काँग्रेस के प्रतिनिधि मेरे सिद्धान्तों तथा मेरी नीति का समर्थन नहीं कर रहे हैं।" इस विषय में

टिप्पणी करते हुये 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने लिखा था : "श्री बोस का निर्वाचन निश्चय ही काँग्रेस की वामपक्षी प्रवृत्ति का द्योतक है।" परन्तु पं० नेहरू इस मत से सहमत नहीं हैं। महात्मा गाँधी ने उसी वर्ष त्रिपुरी के काँग्रेस अधिवेशन में अपने नेतृत्व तथा अपनी नीति का समर्थन प्राप्त कर लिया और बोस महोदय को आदेश दिया गया कि वे अपनी कार्यकारिणी का निर्माण गाँधी जी की इच्छा के अनुसार करें। इस विषय में होने वाले गाँधी-बोस वार्तालाप का कोई फल नहीं निकला। अतएव अप्रैल सन् १९३९ ई० में सुभाष बाबू ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर काँग्रेस के भीतर ही 'अग्रगामी दल' (Forward Bloc) के नाम से नया संगठन बनाया जिसका उद्देश्य "काँग्रेस के भीतर सुधारवादी तथा साम्राज्य-विरोधी तत्वों को संगठित" करना था। पं० नेहरू ने अपनी पुस्तक 'Discovery of India' में लिखा है : "काँग्रेस कार्यकारिणी तथा सुभाष बोस के बीच, आन्तरिक तथा वैदेशिक दोनों ही क्षेत्रों में, दृष्टिकोण का भारी अन्तर था, और इसका परिणाम विच्छेद हुआ।" इस विच्छेद के थोड़े ही समय बाद बंगाल की सरकार ने सुभाष बाबू पर राजद्रोह का अभियोग लगाया। अभियोग सिद्ध नहीं किया जा सका और वे मुक्त कर दिये गये, तथापि सरकार ने उन्हें अपने ही घर में नज़रबन्द कर दिया। २६ जनवरी सन् १९४१ ई० को गुप्त रूप से वे घर से निकल पड़े और अफ़गानिस्तान तथा रूस होते हुये बर्लिन जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिये लड़ने के उद्देश्य से भारतीय युद्धबन्दियों का संगठन किया। और जापान के इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के पश्चात् सुभाष बाबू सुदूरपूर्व (Far East) के क्षेत्र में आ गये। यहाँ आकर उन्होंने आज़ाद हिन्द फ़ौज तथा स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार का संगठन किया। यह फ़ौज डेढ़ वर्ष तक अँग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ती रही परन्तु जापान की पराजय के बाद इसे भी आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसमें लेशमात्र संदेह नहीं है कि सुभाष बाबू की इस असफलता में भी देश की सफलता छिपी थी, क्योंकि भारत अब स्वतन्त्रता के लक्ष्य के बहुत समीप आ गया था। उन्होंने पूर्वी एशिया के तीस लाख भारतीयों के जीवन में एक राजनैतिक तथा सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उनके नेतृत्व में यह भारतीय जाति तथा धर्म का सारा भेदभाव भूल गये थे और हिन्दू, मुसलमान, सिख तथा ईसाई सभी हृदय से विश्वास करने लगे थे कि वे पूर्णतया भारतीय हैं और अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये एक भयानक संघर्ष में रत हैं। अगस्त सन् १९४५ में एक वायुयान दुर्घटना के फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई। परन्तु अपने असीम उत्साह, निर्भय आत्म-बलिदान तथा आश्चर्यजनक संगठन शक्ति के कारण नेता जी सुभाषचन्द्र बोस सदा-सर्वदा अपने देशवासियों को प्रेरणा देते रहेंगे।

जवाहरलाल नेहरू—गाँधी जी के बाद आधुनिक भारत के सबसे अधिक

लोकप्रिय नेता भारतीय गणतन्त्र के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। पिछले तीस वर्षों से वे नवयुवक भारत के हृदय-सम्राट् रहे हैं और उनकी बढ़ती हुई अवस्था भी उनके युवकोचित उत्साह में कमी नहीं कर सकी है। राजसी ठाठ-बाट में परिपोषित, इङ्गलैंड के सबसे अधिक राजसी स्कूल में शिक्षित तथा पाश्चात्य जीवन से भलीभाँति परिचित, पंडित नेहरू ने सन् १६१६-१७ ई० के 'होमरूल' आन्दोलन में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। इसके कुछ समय बाद रौलट कानून के विरोध में आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस समय तक पंडित नेहरू पर गाँधी जी का यथेष्ट प्रभाव भी पड़ चुका था। अतएव वे प्राणपण से देश-सेवा में लग गये। हम पूर्व अध्यायों में देख चुके हैं कि असहयोग से लेकर 'भारत छोड़ो' तक, गाँधी जी के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के प्रत्येक युद्ध में पंडित नेहरू ने सदा प्रमुख भाग लिया। उन्होंने कांग्रेस को पूर्ण रूप से अपना लिया है, वास्तव में कांग्रेस ही उनका जीवन बन गई है। ऐसे भी अवसर आये हैं जब कांग्रेसी नीति तथा निर्णयों से उनका मतभेद रहा है, परन्तु एक बार कोई निश्चय हो जाने पर उन्होंने सदा एक सैनिक का सा संयमित व्यवहार किया है।

हमारे प्रधानमन्त्री महोदय की गणना युग की महान् विभूतियों में की जाती है। वे संसार के प्रत्येक भाग की दलित जातियों के मित्र, जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों के प्रबल समर्थक तथा अदम्य उत्साह की मूर्ति हैं। उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व, गहरे देशप्रेम तथा राष्ट्रीय कर्तव्य के अडिग ध्यान ने उन्हें देश के नवयुवकों का पूज्य बना दिया है। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनके विषय में कहा है: "राजनैतिक अव्यवस्था के बीच जहाँ आत्म-छलना कपट बहुधा कर्तव्यपरायणता की हत्या कर देता है, जवाहरलाल ने सदा पवित्रता का झंडा ऊँचा रखा है। उन्होंने कभी सत्य की अवहेलना नहीं की, भले ही उस सत्य के पीछे संकट भी छिपा रहा हो; और न उन्होंने कभी असत्य के साथ समझौता किया, भले ही इस प्रकार का समझौता अधिक सुविधापूर्ण रहा हो। उनका प्रखर मस्तिष्क कूटिनीति के पथ की, जिसकी सफलता जितनी सहज होती है उतनी ही ओछी भी, सदा स्पष्ट घृणा के साथ उपेक्षा करता रहा है[1]।"

---

1. "Jawaharlal has upheld the standard of purity in the midst of political turmoil where deception, including self-delusion, so often destroys integrity. He has never evaded truth when it brought danger in its wake, nor has he made alliance with falsehood when it would have been convenient to do so. His brilliant mind has always turned away in outspoken disgust from the path of diplomacy where success is as easy as it is mean."—*Dr. Rabindra Nath Tagore.*

पंडित नेहरू के जीवन का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। वे दीर्घकाल से कांग्रेस कार्यसमिति के सबसे अधिक प्रभावशाली सदस्य रहे हैं। कांग्रेस के ऐसे अध्यक्ष भी, जिनका पंडित नेहरू के साथ सदा मतभेद रहा हो, उनके बिना अपनी कार्यकारिणी बनाने की कल्पना तक नहीं कर सकते हैं। पंडित नेहरू ने नेशनल प्लानिंग कमेटी (National Planning Committee) के सभापति के रूप में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके अतिरिक्त, उन्हें सदा से वैज्ञानिक अन्वेषण की प्रगति में विशेष रुचि रही है। वे बहुत दिनों तक देशी राज्यों की प्रजा कांग्रेस (States' Peoples Congress) के अध्यक्ष भी रहे हैं। उन्हें संसार के इतिहास का अच्छा ज्ञान है, उनके सामने देश के भविष्य की स्पष्ट रूपरेखा है, और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनमें वास्तविकताओं का सामना करने का साहस है। साम्प्रदायिक दंगों के समय तथा हैदराबाद की अव्यवस्था के समय उन्होंने वास्तविकताओं का सामना किया और सदा विजय प्राप्त की। काश्मीर के सम्बन्ध में उन्होंने सदा दृढ़ नीति का पालन किया है। कहीं-कहीं हम उनसे पूर्णतया सहमत भले ही न हों, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि पंडित नेहरू के सामने धर्मनिरपेक्ष एवं जनतन्त्रवादी भारतीय संघ के स्वप्न की स्पष्ट रेखायें हैं और उनका दृढ़ विश्वास है कि उचित मूल्य चुकाये बिना यह स्वप्न कभी सत्य नहीं बन सकता है।

पंडित नेहरू किसी समाजवादी दल के सदस्य न होते हुये भी देश के समाजवादी तथा क्रान्तिकारी नेताओं में अग्रणी हैं। इसी कारण भारत का नवयुवक वर्ग उनकी पूजा करता है। उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को आधुनिक विचारधारा के समकक्ष लाकर उसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन के साथ स्थापित किया। वे अपने को समाजवादी मानते हैं, परन्तु उनके राजनैतिक कार्यक्रम का आधार सदा पाश्चात्य जनतन्त्रवाद के सिद्धान्तों में निहित रहा है। पंडित नेहरू को वैज्ञानिक समाजवाद का समर्थक कहा जा सकता है, परन्तु उन्होंने मार्क्स अथवा लेनिन की कही हुई सब बातों को कभी वेदवाक्य नहीं समझा। उनकी धारणा है कि ठोस सत्य सदा सिद्धान्तों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। इधर कुछ समय से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा प्रधानमन्त्री के भारी उत्तरदायित्व के कारण वे अधिक गम्भीर तथा सतर्क हो गये हैं और अब पहले की भाँति समाजवाद के सिद्धान्तों का उत्साहपूर्ण प्रतिपादन नहीं करते हैं। महात्मा गाँधी ने उनके विषय में ठीक ही कहा है: "पक्के समाजवादी होने के नाते वे अपने देश के लिये ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसकी व्यवस्था केवल यही देश कर सकता है। वे एक क्रियात्मक राजनीतिज्ञ हैं और उन्होंने अपने आदर्शों को परिस्थितियों के अनुरूप बना लिया है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से वे एक आदर्शवादी हैं और सदा अपने आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।.........देश के नवयुवकों के पास अपने प्रतिनिधि पर गर्व करने के यथेष्ट

कारण हैं और राष्ट्र को तो जवाहरलाल के रूप में ऐसा कुलीन तथा योग्य पुत्र पाकर प्रसन्न ही होना चाहिये[1] ।"

हमारे देश में अकेले पंडित नेहरू ही एक विचारशील अन्तर्राष्ट्रवादी हैं। जिस समय काँग्रेस के अन्य नेतागण आन्तरिक समस्याओं में उलझे थे, पंडित नेहरू ने अधिक विस्तृत क्षितिज का अवलोकन किया, अधिक उदार धारणायें बनाईं और सदा घटनाओं तथा तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया का ध्यान रखा है। सन् १६२० ई० से ही वे काँग्रेस की वैदेशिक नीति का संचालन करते रहे हैं। काँग्रेस में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्धित सभी प्रस्ताव साधारणतया उन्होंने ही प्रस्तुत किये हैं और आज भी उनके समान पैनी तथा अचूक दृष्टि से विश्व-राजनीति के भविष्य को पढ़ सकने वाला सम्भवतः अन्य कोई नहीं है। संसार के सभी देशों—योरोप, अमरीका तथा एशिया—में उनके मित्र फैले हुये हैं। नवजागृत एशिया के सच्चे प्रतिनिधि होने के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) के क्षेत्रों में उन्हें असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त है। वे आधुनिक राजनीति की गुटबन्दियों से तटस्थ रह कर अपनी स्वतन्त्र नीति के पालन में विश्वास करते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह अन्तर्राष्ट्रीयकरण इस सत्य का द्योतक है कि उन्होंने अपने देश के लिये भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। यदि यह कथन सत्य है कि महात्मा गाँधी ने अपने जन-आन्दोलन से संसार का ध्यान भारतीय परिस्थिति की ओर आकर्षित किया तो यह कहना भी उचित होगा कि महात्मा जी के सच्चे शिष्य तथा उत्तराधिकारी पं० नेहरू की प्रेरणा से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में रुचि लेना आरम्भ किया और संसार के प्रगतिशील तत्वों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया।

पं० नेहरू इस समय भी कार्यरत हैं और देश की बागडोर उनके हाथ में है। वह हमारे साथ हैं और हमें विश्वास है कि अभी उन्हें भारत तथा मानवता के लिये बहुत कुछ करना है। उनका जीवन उत्कर्ष की सीमा पर है और उनके सामने अभी सार्वजनिक कार्य के लिये बहुत समय है। भविष्य को राष्ट्रोत्थान की दिशा में उनसे बहुत लाभकर तथा रचनात्मक कार्य की आशा है। अतएव हम अभी उनकी सफलताओं की विस्तृत व्याख्या उचित नहीं समझते हैं।

जयप्रकाश नारायण—श्री जयप्रकाश नारायण की गणना आधुनिक भारत

---

1. "A confirmed Socialist, he wants for his country what only the country can manage. He is a practical statesman tempering his ideals to suit his surroundings. But for himself he is an idealist, who would ever strive to live up to his ideals......The youth of the country has every reason to be proud of their representative; the nation may well rejoice to find in Jawaharlal such a noble and worthy son."—*Mahatma Gandhi.*

के सबसे अधिक लोकप्रिय, प्रभावशाली तथा महत्वपूर्ण नेताओं में की जाती है। वे स्वयं एक किसान के पुत्र हैं, तथा किसानों की दशा सुधारने के लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन अर्पण कर दिया है। अपनी युवावस्था के आठ वर्ष उन्होंने अमरीका में व्यतीत किये जहाँ वे कभी खेतों में काम करते थे और कभी विश्वविद्यालय में अध्ययन। आरम्भ में वे विज्ञान के विद्यार्थी थे परन्तु विस्कांसिन विश्वविद्यालय (Wisconsin University) के एक प्रसिद्ध समाजवादी अध्यापक की प्रेरणा से उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन आरम्भ किया। और सन् १६२६ ई० में भारत लौटने पर वे कोरे विद्यार्थी नहीं रह गये थे जिसकी एकमात्र आकाँक्षा सुखी तथा सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करने की होती है। उन्होंने जीवन का निकट से अध्ययन किया था और अपना समय सार्वजनिक कार्यों में लगाने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनकी योग्यता देख कर उन्हें कांग्रेस के श्रम अन्वेषण विभाग (Labour Research Department) का अध्यक्ष नियुक्त किया। सन् १६३२ ई० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय वे कांग्रेस के प्रधानमन्त्री नियुक्त किये गये। इसी आन्दोलन में उन्हें कारावास का दण्ड भी मिला और नासिक जेल में अपने कुछ सहयोगियों के साथ उन्होंने कांग्रेस समाजवादी दल का उद्देश्य पत्र तैयार किया। सन् १६३३ ई० में जेल से छूटते ही उन्होंने इस दल का कार्य आरम्भ कर दिया और अगले वर्ष उसकी स्थापना भी हो गई। जयप्रकाश नारायण कई वर्षों तक इस दल के प्रधानमन्त्री रहे परन्तु लखनऊ में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य बनाये जाने पर उन्हें इस पद से त्यागपत्र देना पड़ा। थोड़े ही समय बाद कांग्रेस की कार्यसमिति का पद त्याग कर वे फिर अपने दल के कार्य में लग गये। सन् १६३८ ई० में एक राजद्रोहात्मक व्याख्यान देने के अभियोग में उन्हें एक वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड मिला। अवधि समाप्त होने पर जेल से बाहर निकलते हुये उन्हें फाटक पर ही फिर गिरफ्तार कर लिया गया और इस बार उन्हें दूरस्थ देवली के नज़रबन्द कैम्प (Deoli Concentration Camp) में रखा गया। वहाँ उन्होंने नज़रबन्दों की एक भूख-हड़ताल का नेतृत्व किया। यह भूख-हड़ताल इतनी पूर्ण तथा सफल हुई कि सारे देश में उत्तेजना फैल गई और अन्त में सरकार को झुकना पड़ा। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय वे जेल में ही थे। परन्तु शीघ्र ही वे हज़ारीबाग सेण्ट्रल जेल से निकल भागे और देश भर में घूम-घूम कर सन् '४२ की क्रान्ति का संचालन करने लगे। सरकार ने उनकी गिरफ्तारी के लिये पहले पाँच हज़ार और फिर दस हज़ार रुपये के पारितोषिक की घोषणा की। इसके कुछ समय बाद वे नैपाल में पकड़े गये, परन्तु उनके क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं ने उन्हें फिर छुड़ा लिया। अन्त में वे पंजाब में गिरफ्तार हो गये और लाहौर के किले में उन पर अवर्णनीय यातनाओं का प्रयोग किया गया। २२ अप्रैल सन् १६४६ ई० को भारतीय जनता की एक स्वर

माँग के फलस्वरूप इङ्गलैंड के समाजवादी शासन ने उन्हें मुक्त कर दिया। अगले वर्ष कानपुर के समाजवादी सम्मेलन में काँग्रेस समाजवादियों ने अपने नाम से 'काँग्रेस' शब्द निकाल देने का निश्चय किया और तब से जयप्रकाश नारायण काँग्रेस की आलोचना करते हुये अपने दल के संगठन में व्यस्त हैं।

आज जयप्रकाश नारायण भारत के समाजवादी आन्दोलन के प्राण हैं। वे चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं कि वही स्वतन्त्रता सार्थक है जो जनता का पेट भरने की व्यवस्था कर सके, क्योंकि जनता के जीवन की मुख्य आवश्यकता रोटी है। यदि स्वतन्त्रता से मनुष्य को रोटी नहीं मिलती तो और सब व्यर्थ है। वे काँग्रेस सरकार की वैदेशिक नीति से सहमत नहीं हैं, क्योंकि वर्तमान नीति नकारात्मक तथा जनमत की अवहेलना करके चलने वाली है। वास्तव में जयप्रकाश नारायण कोई साधारण नेता नहीं हैं। उनके विषय में महात्मा गाँधी तक ने कहा है: "समाजवाद पर उनका अधिकार है। कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समाजवाद के विषय में वे जो कुछ नहीं जानते वह भारत में कोई नहीं जानता। वे जन्मजात सैनिक हैं। उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिये अपना सब कुछ बलिदान कर दिया है। उनकी कार्यपरता अथक और उनकी सहनशक्ति अनुपम है[1]।"

मोहम्मद अली जिन्ना—राष्ट्रवाद के विरोधियों में हमारा ध्यान सबसे पहले मोहम्मद अली जिन्ना की ओर जाता है। उनकी विचारधारा तथा उनकी अवरोध-नीति अन्ततः हमारे देश का एक महत्वपूर्ण भाग हमसे छीन कर पाकिस्तान का नया राज्य बनाने में सफल हुई। पिछले अध्याय में हम इसका विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। यहाँ पर हम केवल उस विचारधारा की व्याख्या करेंगे जो हमारे राजनैतिक जीवन के इस विष का आधार थी। ध्यान देने की बात है कि यही जिन्ना साहब अपने राजनैतिक जीवन के आरम्भ में कट्टर राष्ट्रवादी तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। स्वयं गोखले ने उन्हें "हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुन्दरतम प्रतीक" बताया था। परन्तु आज यदि गोखले जीवित होते तो यह देख कर उनके आश्चर्य की सीमा न रहती कि इसी व्यक्ति ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच गहरी खाई खोद कर देश का विभाजन कराया।

अपने प्रारम्भिक जीवन में जिन्ना साहब का हृदय देशप्रेम से ओत-प्रोत था और, अपने ही शब्दों में, उनकी महत्वाकाँक्षा "भारत के मुसलमान गोखले"

1. "He is an authority on Socialism. It may be said that what he does not know of Western Socialism, nobody else in India does. He is a born fighter. He has forsaken all for the sake of the deliverance of his country. His industry is tireless. His capacity for suffering is not to be excelled."—*Mahatma Gandhi*.

बनने की थी। मुस्लिम लीग पूर्णत: सम्प्रदायवादी संस्था थी, उसका उद्देश्य केवल मुसलमानों की उन्नति तथा समृद्धि के लिये प्रयत्न करना था। अतएव जिन्ना साहब लीग में सम्मिलित नहीं हुये। सन् १९२५ ई० में भी उन्होंने कहा था : मैं पहले राष्ट्रवादी हूँ, बाद में राष्ट्रवादी हूँ और अन्त में भी राष्ट्रवादी हूँ[1]।" और उन्होंने केन्द्रीय धारासभा के सदस्यों से साम्प्रदायिक प्रश्नों को सभा से बाहर ही रखने का अनुरोध किया था। उनकी धारणा थी कि इस धारासभा को राष्ट्रीय लोकसभा में परिणत हो जाना चाहिये। वे लीग में उस समय सम्मिलित हुये जब उसका विधान संशोधित हो गया था और उसके लक्ष्य काँग्रेस के उद्देश्यों के स्तर पर आ गये थे। सन् १९१६ ई० में वे पहली बार मुस्लिम लीग के अध्यक्ष निर्वाचित हुये। इन दिनों थोड़े समय तक लीग तथा काँग्रेस के सम्बन्ध बड़े घनिष्ठ रहे। परन्तु जिन्ना साहब गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन की क्रान्तिकारी नीति से सहमत नहीं थे। तथापि तीसरी दशाब्दी के उत्तरार्ध तक वे राष्ट्रवादी ही थे। वे साइमन कमीशन के बहिष्कार के पूर्ण समर्थक थे। वे लीग के शफीदल से उसके साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण असंतुष्ट थे। परन्तु सन् १९२९ ई० में उनका मत परिवर्तन हुआ और वे काँग्रेस के कट्टर शत्रु तथा सम्प्रदायवाद के प्रबल समर्थक बन गये। इस राजनैतिक कलाबाजी के कारणों का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। बहुत सम्भव है जिन्ना साहब के अहंभाव ने उन्हें काँग्रेस से अलग होने पर विवश किया हो। कुछ भी हो उनके स्वभाव में नेता बन कर कार्य करने का अहंकार तो था ही। एक समय था जब वे अपनी चौदह शर्तों पर अड़े थे, परन्तु हमारी धारणा है कि सन् १९३७ ई० तक वे स्वयं अपनी राजनैतिक विचारधारा की कोई निश्चित दिशा नहीं बना पाये थे। सन् १९३७ ई० में उन्होंने अनुभव किया कि अंग्रेज़ों की 'विभाजन-नीति' का प्रयोग उन उच्चवर्गीय मुसलमानों के हित-साधन के लिये भी किया जा सकता है जो उन्हें अपना नेता स्वीकार करने के लिये तत्पर थे। पाश्चात्य तर्कवाद के अनुयायी जिन्ना साहब को कट्टर इस्लाम के संरक्षकों के साथ तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। दूसरी ओर इस प्रकार के मुसलमान भी जिन्ना साहब की जीवन-चर्य्या से संतुष्ट नहीं थे। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ऐसे व्यक्ति ने, जो वास्तव में इस्लाम के सिद्धान्तों से तनिक भी प्रभावित नहीं था, संसार के सबसे बड़े शरीयत-राज्य की स्थापना की।

सन् १९३९ ई० में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ और काँग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से अपने युद्धोद्देश्यों की घोषणा करने का आग्रह करते हुये भारत के लिये एक संविधान-सभा बनाने का सुझाव उपस्थित किया। परन्तु जिन्ना साहब ने काँग्रेस के इस सुझाव का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि भारत के लिये कोई नया संवि-

1. "I am a nationalist first, a nationalist second and a nationalist last"—*Mr. Jinnah in 1925.*

धान केवल दो राष्ट्रों के आधार पर बन सकता है। सन् १९४० ई० में मुस्लिम लीग ने अपना प्रसिद्ध लाहौर प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें जिन्ना साहब के इसी 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' के आधार पर पाकिस्तान की माँग की गई थी। जिन्ना साहब का तर्क था कि भारत के मुसलमान हिन्दुओं से पृथक एक राष्ट्र हैं, अल्पसंख्यक-मात्र नहीं। भिन्न धर्म, भिन्न भाषा तथा भिन्न संस्कृति के कारण मुसलमान हिन्दुओं से भिन्न हैं। अतएव जिस राज्य में हिन्दुओं का बहुमत हो वहाँ रहने से मुसलमानों का राष्ट्रीय अहित होगा। हिन्दू सदा ही उन पर अत्याचार किया करेंगे, उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का नाश करने का प्रयत्न करेंगे। अतएव मुसलमानों को अपने शासन का स्वरूप स्वयं निर्धारित करने का अधिकार मिलना चाहिये। हमारे विचार से जिन्ना साहब की यह विचारधारा अधोगतिशील थी क्योंकि इसमें भारतीय एकता तथा जनतन्त्रवाद दोनों का विरोध निहित था। वे कहते थे : "वे (मुसलमान) किसी ऐसी शासन प्रणाली के अन्तर्गत नहीं रह सकते जो पाश्चात्य जनतन्त्रवाद के मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित हुई हो।" ऐसा कहते समय वे भूल जाते थे कि स्वयं उनके जीवन का अधिकांश भाग इन्हीं सिद्धान्तों के समर्थन में व्यतीत हुआ था जो इस समय उन्हें मूर्खतापूर्ण लग रहे थे। अस्तु, जिन्ना साहब अब यही ढिंढोरा पीट रहे थे कि हिन्दू-मुसलमानों का विरोध स्वाभाविक है। दोनों सम्प्रदायों को निकट लाने के सारे प्रयत्न उनके हठ की चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो गये, क्योंकि वे तो अपनी पूरी शक्ति से मुसलमानों की रक्षा करने में लगे थे। सन् १९३७ ई० के पूर्व वे मुसलमानों के लिये कुछ वैधानिक आरक्षण पाकर संतुष्ट हो जाते थे। परन्तु अब वे कहने लगे थे : "बिना सत्ता का आधार मिले सारे समझौते तथा आरक्षण कागज़ के टुकड़े मात्र हैं। राजनीति का अर्थ है शक्ति; केवल न्याय तथा औचित्य के नारे लगाने से कुछ नहीं होता।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने इसी धारा में बोलते हुये कहा था : "यह बताना बड़ा कठिन है कि हमारे हिन्दू मित्र हिन्दुत्व तथा इस्लाम का ठीक ठीक अर्थ क्यों नहीं समझते। यह दोनों शब्द दो धर्मों के नाम नहीं हैं, वास्तव में यह दोनों स्पष्टतया भिन्न सामाजिक व्यवस्थायें हैं। और यह विचार करना कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर एक राष्ट्रीयता का विकास करेंगे, कोरा स्वप्न है[1]।"

जिन्ना साहब अपनी पाकिस्तान की माँग पर हठपूर्वक अड़े रहे। उन्होंने कभी यह भी नहीं सोचा कि उनकी इस नीति का स्वयं उनके सहधर्मियों के लिये क्या परि-

1. "It is extremely difficult to appreciate why our Hindu friends fail to understand the real nature of Islam and Hinduism. They are not religions in the strict sense of the term, but are in fact different and distinct social orders and it is a dream that the Hindus and Muslims can evolve a common nationality."—*Mr. Jinnah in 1940.*

णाम होगा। यह तो एक प्रकार से निश्चित ही था कि उनके नये राज्य में भारत के सारे मुसलमान नहीं समा सकेंगे। महात्मा गाँधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेता सन् १६४० से १६४७ तक बराबर जिन्ना साहब को समझाने का प्रयत्न करते रहे, परन्तु माँगें कम करना तो दूर रहा, समझौते के प्रत्येक नये प्रयत्न से जिन्ना साहब का हठ और बढ़ता ही गया। सन् १६४४ ई० में उन्होंने राजगोपालाचार्य योजना का "कटा-पिटा, दीमक लगा" पाकिस्तान अस्वीकार कर दिया—सम्भवत: इसलिये कि प्रस्ताव काँग्रेस की ओर से किया गया था। सन् १६४७ ई० में उन्होंने वही पाकिस्तान स्वीकार कर लिया—सम्भवत: इसलिये कि यह अंग्रेज़ों का उपहार था और जिन्ना साहब उन्हीं के संकेतों पर नाचने वाले व्यक्ति थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिन्ना साहब का राजनैतिक जीवन आधुनिक राजनीति की एक अत्यधिक दु:खान्त घटना है। आरम्भ में राष्ट्रवाद को उनसे बड़ी-बड़ी आशायें हुई थीं परन्तु वे सब शून्य में विलीन हो गईं और मि० जिन्ना अन्त में भारतीय राष्ट्रवाद के सबसे बड़े विरोधी हो गए। वे पुराने प्रकार के सांसारिक सफलता-प्राप्त वकील-राजनीतिज्ञ थे, और उनकी प्रकृति में भावनाओं, उदारतापूर्ण भावोद्रेक अथवा देशभक्ति के प्रबल उत्साह के लिये कोई स्थान नहीं था। उनके जीवन में हमें किसी नैतिक क्रान्ति अथवा ज्वलंत आत्म-बलिदान के दर्शन नहीं होते। उनके अन्दर आत्मा की उस चिनगारी का पूर्ण अभाव था जो उन्हें अपने समकालीन राष्ट्रवादियों की नैतिकता तथा देशप्रेम की ऊँचाइयों तक उठा सकती।

विनायक दामोदर सावरकर—जिन्ना साहब के मुस्लिम सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू सम्प्रदायवाद का विकास हुआ और पिछले कुछ वर्षों में श्री० विनायक दामोदर सावरकर जिन्ना साहब के प्रतिरूप हो गये थे। सावरकर का प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त घटनापूर्ण तथा राष्ट्रवादी ही नहीं, आतंकवादी भी था। उन्होंने अपना सब कुछ बलिदान कर देश की स्वतन्त्रता के लिये अनेक यातनायें झेली थीं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में सावरकर की दृढ़ धारणा थी कि भारत की स्वतन्त्रता का सबसे सरल मार्ग हिंसा और रक्तपात है। वे सन् १६०६ ई० में इङ्गलैण्ड गये और वहाँ के भारतीय विद्यार्थियों को बम तथा अन्य विस्फोटक बनाने की कला सीखने की प्रेरणा देने लगे। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांस तथा जरमनी में गुप्त समितियों की स्थापना हुई। स्वयं भारत में भी कई वर्षों तक नव भारत समितियाँ इस महान् क्रान्तिकारी के संचालन में कार्य करती रहीं। सन् १६०६ ई० में सावरकर को गिरफ्तार करके इङ्गलैण्ड से बम्बई भेजा गया। परन्तु वे मार्सेल (Marseilles) में ही जहाज से बच निकले। फ्रान्स पहुंच कर उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत प्रवासी राजनैतिक बन्दियों के अधिकारों की माँग की। परन्तु वे फिर गिरफ्तार करके बम्बई लाये गये। यहाँ उन पर भयानक राजद्रोह का अभियोग लगा कर उन्हें

आजीवन कालेपानी का दण्ड दिया गया। इस समय से सन् १९३६ ई० तक उनका जीवन यातना की एक लम्बी गाथा बना रहा।

परन्तु सन् १९३७ ई० से सावरकर ने हिन्दुओं को भी वही उपदेश देना आरम्भ किया जो जिन्ना साहब मुसलमानों को दे रहे थे। इस बीच वे लगातार कई वर्षों तक हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रहे और अब उन्होंने भी यह कहना आरम्भ कर दिया था कि भारत को एक संगठित राष्ट्र स्वीकार करना भूल है। उनकी भी अब यह धारणा हो गई थी कि भारत में दो भिन्न राष्ट्र, हिन्दू तथा मुसलमान, बसते हैं। हिन्दू महासभा के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुये उन्होंने बताया कि यह संस्था "हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सभ्यता के संधारण, संरक्षण तथा प्रवर्तन, और हिन्दुओं के राष्ट्रीय वैभव के विकास" के लिये जीवित है। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, जिन्ना साहब की भाँति सावरकर का हठ भी बढ़ता गया। वे शुद्ध हिन्दू राजनीति तथा हिन्दुओं की राष्ट्रीय एकता में विश्वास करते थे। उन्होंने काँग्रेस पर हिन्दू-विरोधी होने का आरोप लगाकर हिन्दुओं को उसके बहिष्कार का परामर्श दिया। जिन्ना साहब ने एक बार अपने विषय में कहा था : "एक समय था जब मैं शुद्धतम राष्ट्रवादी समझा जाता था; परन्तु अपने सम्प्रदाय की पुकार सुने-समझे बिना कोई सच्चा राष्ट्रवादी नहीं हो सकता।" जिन्ना साहब का यह कथन वास्तव में सावरकर के विचारों की भी सुन्दर तथा संक्षिप्त व्याख्या करता है। गाँधी-हत्याकाण्ड के अभियोग से छूटने के बाद से सावरकर महोदय ने सक्रिय राजनीति से अवकाश ले लिया है।

द्वितीय भाग

भारत की वैधानिक प्रगति

(१८५८-१९४७)

दसवाँ अध्याय

सन् १९१९ ई० के पूर्व की प्रतिनिधि-संस्थाओं का सिंहावलोकन

आधुनिक संसार के उन्नत राष्ट्रों का इतिहास आरम्भ होने के बहुत पूर्व भारतवर्ष सुसंगठित सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं की दृढ़ नींव पर निर्मित सामाजिक स्थिरता प्राप्त कर चुका था, परन्तु चौथी शताब्दी के बाद से ही हमारे देश पर हूण, शक, बर्बर, तुर्क तथा मंगोल आदि जातियों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। इनके फलस्वरूप देश में एक प्रकार की अव्यवस्था फैल गई और अनेक प्राचीन संस्थाओं का नाश हो गया। परन्तु कुछ संस्थायें बहुत काल तक जीवित रहीं और कुछ आज भी प्रचलित हैं।

साधारणतया यह समझा जाता है कि भारतवर्ष में जनतन्त्रात्मक संस्थाओं का विकास गत ६० वर्षों में ही हुआ है। परन्तु हमें यह धारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत होती है। यह सत्य है कि प्राचीन भारत में शासन का प्रचलित स्वरूप अधिकतर निरंकुश तथा एकतन्त्रात्मक था। परन्तु हमारे इतिहास के पूर्व-बौद्ध तथा बौद्ध-कालों में प्रजातन्त्रात्मक समाज के अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। जातीय पंचायतों की कार्य-प्रणाली से यह स्पष्ट हो जाता है कि जातिगत सामाजिक जीवन तथा व्यवहार के क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक संस्थायें एवं विधियाँ लगभग सभी स्थानों में प्रचलित थीं। बौद्ध संघ स्वयं एक प्रजातन्त्रात्मक संगठन था। मौर्य्य-काल की समितियों तथा विभागों पर आधारित सुचारु शासन-व्यवस्था इतिहास-विदित है। ग्राम्य-पंचायतें प्राचीन काल से ही हमारे स्थानीय स्व-शासन का महत्वपूर्ण अङ्ग रही हैं। वास्तव में यह ग्राम-पंचायतें मध्य-युग में ही विकास की सीमा प्राप्त कर चुकी थीं। परन्तु जिस समय १६वीं शताब्दी में भारतवर्ष की वर्तमान शासन-व्यवस्था का निर्माण हुआ, यह प्रजातन्त्रात्मक संस्थायें जन-जीवन से सम्पर्क खोकर निर्जीव हो चुकी थीं।

आधुनिक प्रजातन्त्र उस शासन-प्रणाली को कहा जाता है जिसके अन्तर्गत जनता स्वयं, प्रत्यक्ष अथवा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से, शासन-सत्ता का प्रयोग करती है। इस प्रकार का प्रजातन्त्रवाद भारत में आज से थोड़े समय पूर्व ही प्रचलित हुआ और इसके प्रचार तथा विकास का श्रेय ब्रिटिश सरकार को है। इसके दो मुख्य कारण थे: (१) अंग्रेज़ों की प्रजातन्त्रात्मक परम्परा; और (२) भारत के पाश्चात्य-शिक्षा प्राप्त वर्ग का अंग्रेज़ी राजनैतिक आदर्शों तथा संस्थाओं से परिचय।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारत में प्रजातन्त्रवाद का आरम्भ अंग्रेज़ों अथवा अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों की प्रजातन्त्रवादी मनोवृत्तियों का परिणाम था। वास्तव में अंग्रेज़ों ने परिस्थितियों से विवश होकर इसका प्रचार आरम्भ किया था। सन् '५७ की क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि शासन-व्यवस्था में भारतीयों का सहयोग प्राप्त किये बिना भारत पर शासन असम्भव है। अतएव ब्रिटिश सरकार ने १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से कई भारतीय कौंसिल कानून बनाये।

सन् १८५८ का भारत कानून—इस कानून में व्यवस्था की गई थी कि भविष्य में भारत सरकार का संचालन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट् (Crown) द्वारा किया जायेगा। अभी तक भारत-सरकार का सारा प्रबन्ध कम्पनी के 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' तथा संचालन समिति (Court of Directors) के हाथों में रहता था, अब सारे अनुशासन तथा नियंत्रण का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार के भारत मन्त्री को सौंप दिया गया। परन्तु भारत मन्त्री केवल ब्रिटिश लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी था। उसकी सहायता के लिये १५ सदस्यों की एक भारत कौंसिल का निर्माण किया गया। इनमें से ८ सदस्यों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट् द्वारा होती थी और शेष ७ के लिये आरम्भ में कम्पनी की संचालन समिति द्वारा नामज़दगी की व्यवस्था थी, परन्तु रिक्त स्थानों की पूर्ति का अधिकार स्वयं कौंसिल को था। भारत की शासन-व्यवस्था का पूर्ण अधिकार, पहले की भाँति, गवर्नर-जनरल तथा उनकी कौंसिल के आधीन था परन्तु अब गवर्नर-जनरल के साथ वाइसराय, अर्थात् देशी राज्यों के संदर्भ में ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि का पद भी जोड़ दिया गया। भारतीयों को इस सुधार कानून की सूचना सबसे पहले महारानी विक्टोरिया के १ नवम्बर, सन् १८५८ ई० के घोषणा-पत्र द्वारा प्राप्त हुई। इस घोषणा-पत्र में विद्रोह-काल के उन सारे अपराधियों को क्षमादान दिया गया था जिनके विरुद्ध हत्या अथवा अन्य किसी हिंसात्मक कार्य का अभियोग नहीं था। यह घोषणा की गई थी कि अब अंग्रेज़ भारत में अपने राज्य का और विस्तार नहीं करना चाहते, और आश्वासन दिया गया था कि सरकार धार्मिक तटस्थता की नीति का पालन करती हुई भारतीयों के हित में निष्पक्ष शासन करेगी। महारानी ने कहा था: "उनकी (भारतवासियों की) समृद्धि में ही हमारी शक्ति, उनके सन्तोष में हमारी सुरक्षा तथा उनकी कृतज्ञता में हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार निहित होगा[1]।"

सन् १८६१ का भारतीय कौंसिल कानून—सन् १८५८ ई० के कानून की

1. "In their (Indian peoples) prosperity shall be our strength, in their contentment our security and in their gratitude our best reward."
—*Queen Victoria.*

उद्देश्य कम्पनी से शासन-अधिकार लेकर उसे ब्रिटिश शासन सत्ता के हाथों में सौंपना था। उसमें भारतीयों को किसी प्रकार का अधिकार देने की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार की व्यवस्था सबसे पहले सन् १८६१ ई० के भारतीय कौंसिल कानून में की गई। निर्वाचन का सिद्धान्त तो इसमें भी नहीं स्वीकार किया गया था, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इतना मान लिया था कि भारतीयों को अपनी धारासभाओं में स्थान मिलेगा। सन् '५७ के विद्रोह से शासन तथा शासित वर्गों के बीच की खाई यथेष्ट स्पष्ट हो गई थी और अंग्रेज़ इसे दूर करने के साधन खोज रहे थे। सन् १८६१ ई० के कानून के पीछे यही उद्देश्य था। ब्रिटिश लोकसभा के समक्ष विधेयक (Bill) उपस्थित करते हुये सर चार्ल्स वुड (Sir Charles Wood) ने अपने भाषण में स्वीकार किया था कि विद्रोह के कारण भारत तथा इङ्गलैंड के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे नहीं रह गये थे। अतएव ब्रिटिश अधिकारियों के पास अब भारतीय जनमत जानने का कोई साधन नहीं रह गया था। इन परिस्थितियों में उचित विधिनिर्माण असम्भव थी। अतएव, इस दोष के उपचार स्वरूप, सन् १८६१ ई० में प्रथम बार धारासभाओं में थोड़े से ग़ैरसरकारी सदस्यों की व्यवस्था की गई। इसी उद्देश्य से एक बार फिर विधायी शक्ति का विकेन्द्रीकरण हुआ और जो प्रान्तीय धारासभायें सन् १८३३ ई० में समाप्त कर दी गईं थीं उनकी पुनर्स्थापना हुई।

सन् १८६१ ई० के कानून में गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी कौंसिल का संशोधन तथा केन्द्रीय धारासभा का पुनर्निर्माण किया गया। गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक पाँचवे साधारण सदस्य की वृद्धि की गई। परन्तु इन पाँच साधारण सदस्यों में से तीन के लिये भारत में कम से कम १० वर्ष का प्रशासन-अनुभव आवश्यक था। विधि-निर्माण के क्षेत्र में, गवर्नर-जनरल की कौंसिल में कम से कम ६ तथा अधिक से अधिक १२ और सदस्यों को सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। परन्तु इन सदस्यों को नामज़द करने का अधिकार स्वयं गवर्नर-जनरल को दिया गया था। इस नई धारा-सभा का कार्य विधि-निर्माण तक ही सीमित था। लोक-राजस्व, ऋण, धर्म, थल सेना अथवा नौसेना से सम्बन्धित विषयों अथवा वैदेशिक सम्बन्धों पर किसी प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित करने के पूर्व गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त इस धारासभा द्वारा स्वीकृत प्रत्येक कानून के लिये गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। धारासभा जनता की असुविधाओं पर विचार नहीं कर सकती थी और न उसे कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने अथवा उसके कार्यों की जाँच पड़ताल करने का ही अधिकार था। परन्तु इन सीमाओं के भीतर भी इस कानून में प्रजातन्त्रवादी तत्वों की झलक स्पष्ट है। इसके अन्तर्गत जनमत के प्रतिनिधियों को देश की धारासभाओं के कार्य में भाग लेने का पहली बार अवसर मिला। उनके अधिकार बहुत सीमित थे, तथापि न होने से तो अच्छे ही थे।

सन् १८९२ का भारतीय कौंसिल कानून—सन् १८९२ ई० में एक और भारतीय कौंसिल कानून बनाया गया। इसमें सन् १८६१ ई० के कानून की त्रुटियों को दूर करने का स्पष्ट प्रयत्न किया गया तथा इसके अन्तर्गत धारासभाओं के आकार तथा कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया। माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट के शब्दों में: "सन् १८६१ में अंग्रेज़ लोग कहते थे, 'हम देखना चाहते हैं कि हमारी पसन्द के थोड़े से भारतीय हमारे कानूनों के विषय में क्या कहते हैं।' सन् १८९२ ई० में वे कहने लगे थे: 'भारतीयों के परामर्श तथा उनकी आलोचना से हमारे कानूनों को निश्चित लाभ हुआ है। हम उसकी वृद्धि चाहते हैं और यदि सम्भव हो सके तो भारतीयों को ही उन व्यक्तियों को निर्वाचित करने का अधिकार भी दिया जाये जिन्हें वे हमें परामर्श देने के लिये भेजते हैं[1]।" इस कानून के फलस्वरूप मुख्यत: तीन दिशाओं में परिवर्तन हुआ—

(१) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों प्रकार की कौंसिलों को सरकार की आर्थिक व्यवस्था की आलोचना का अधिकार दिया गया।

(२) धारासभाओं में प्रश्न उपस्थित करने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

(३) सभी कौंसिलों की सदस्य-संख्या में यथेष्ट वृद्धि की गई। केन्द्रीय धारासभा में १० से १६ तक और प्रान्तीय सभाओं में ८ से २० तक सदस्य बढ़ाये गये।

यह कानून सन् १८६१ ई० के कानून से दो दिशाओं में बहुत आगे था। (१) कानून की किम्बर्ले धारा (Kimberley clause) की भाषा कुछ ऐसी थी कि निर्वाचन की स्पष्ट व्यवस्था न होते हुये भी, यदि सरकार चाहती तो अतिरिक्त सदस्यों की स्थान-पूर्ति के लिये निर्वाचन प्रणाली का प्रयोग कर सकती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस कानून ने पहली बार निर्वाचन का सिद्धान्त कम से कम क्रियात्मक रूप में स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त कुछ ग़ैरसरकारी सदस्यों को ज़िला-बोर्डों, नगर-बोर्डों तथा व्यापार-सदनों द्वारा सिफ़ारिश किये गये व्यक्तियों में से नामज़द करने की व्यवस्था भी की गई थी। (२) कौंसिलों में प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने के अधिकार भी स्वीकार कर लिये गये थे। पलाण्डे ने लिखा है: "अब आय-व्यय का वार्षिक विवरण अर्थात् बजट, नियमित रूप से धारासभा के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक हो गया था और सदस्यों को उस पर साधारण बहस करने तथा सम्पूर्ण

---

1. "Whereas in 1861 men said, 'we had better hear what a few Indians of our own choosing have to say about our laws', they said in 1892; 'our laws have positively benefitted by Indian advice and criticism. Let us have more of it and, if possible, let the people choose the men they send to advise us."—*Montagu Chelmsford Report.*

बजट के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अधिकार था। परन्तु बजट सम्बन्धी कोई प्रस्ताव उपस्थित करने अथवा विभाजन की माँग करने का अधिकार नहीं दिया गया था।" वास्तव में हमारे देश में जनता के प्रतिनिधित्व का आरम्भ इसी कानून से हुआ। परन्तु कौंसिलों का आकार अब भी बहुत छोटा था और उनमें बहुमत सरकारी सदस्यों का ही होता था। इन संकुचित सीमाओं के भीतर देश के विभिन्न वर्गहितों को प्रतिनिधित्व देना सम्भव नहीं था।

सन् १६०६ ई० की मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना—इस सुधार-योजना का जन्म अनेक बाह्य तथा आन्तरिक कारणों का परिणाम था। सन् १८६२ ई० के सुधारों का चौदह वर्ष का अनुभव बहुत संतोषजनक हुआ था। धारासभाओं में सरकार की आलोचना का स्वर बहुत संयत रहा था। जनता के नेताओं के सम्पर्क से सरकार को बहुधा लाभदायक जानकारी तथा अमूल्य सुझावों की प्राप्ति होती रहती थी और शासन-व्यवस्था में इन नेताओं का सीमित योग भी जनता को सन्तुष्ट करने तथा शासन-कला की शिक्षा देने के लिये यथेष्ट था। दूसरी ओर कौंसिलों के ग़ैर-सरकारी सदस्य तथा कांग्रेसी वक्ता और सुधारों की माँग कर रहे थे। इस समय देश की आन्तरिक दशा अत्यधिक असन्तोषपूर्ण थी। रूस और जापान के युद्ध तथा लार्ड कर्ज़न के 'यूनीवर्सिटीज़ ऐक्ट' और बङ्ग-भङ्ग इत्यादि लोकविरोधी कार्यों के कारण जनता बहुत क्षुब्ध थी। क्रान्तिकारी अपराधों की संख्या बढ़ रही थी और राजनैतिक विचारधारा तीव्रगति से उग्रवाद की ओर अग्रसर थी। इन परिस्थितियों में उदार विचार-धारा को अभिव्यक्ति का अवसर देकर संतुष्ट करने के उद्देश्य से मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना का निर्माण हुआ था। योजना के निर्माताओं को आशा थी कि इसके द्वारा वे देश की उदार विचारधारा को सरकार के पक्ष में करके कांग्रेसी उग्रवाद का संतुलन कर सकेंगे।

यह सुधार-योजना सन् १६०६ ई० के भारतीय कौंसिल कानून के रूप में भारत के सामने आई। इस कानून में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं के यथेष्ट विस्तार की व्यवस्था की गई थी। केन्द्रीय सभा की सदस्य-संख्या १६ से बढ़ाकर ६०, बङ्गाल, मद्रास और बम्बई की प्रान्तीय सभाओं की २० से ५० तथा संयुक्त प्रान्त की १५ से ५० कर दी गई। कौंसिल की सदस्यता के लिये निर्वाचन के सिद्धान्त को वैधानिक स्वीकृति सबसे पहले इसी कानून में प्राप्त हुई। परन्तु सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी सदस्यों की नामज़दगी की व्यवस्था का अभी अन्त नहीं हुआ था। विशेष वर्ग-हितों के प्रतिनिधित्व के लिये ग़ैरसरकारी सदस्यों की नामज़दगी की व्यवस्था इस कानून में भी थी। निर्वाचित सदस्यों के लिये नगर तथा ज़िलाबोर्ड, विश्वविद्यालय, व्यापार-सदन, ज़मींदारों इत्यादि के निर्वाचन-क्षेत्र बनाये गये। मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई। इस कानून के अन्तर्गत सभी प्रान्तीय धारा-

सभाओं में ग़ैरसरकारी बहुमत की व्यवस्था की गई, परन्तु केन्द्रीय धारासभा में सरकारी बहुमत ही रखा गया। इसके अतिरिक्त, कौंसिलों का अधिकार-क्षेत्र भी बढ़ा दिया गया। अब उनके सदस्य बजट तथा सर्वसाधारण महत्व के सभी विषयों पर प्रस्ताव उपस्थित कर सकते थे तथा विभाजन की माँग कर सकते थे। परन्तु सरकार के लिये इन प्रस्तावों के अनुसार आचरण करना आवश्यक नहीं था। इसके अतिरिक्त इस कानून में मद्रास, बम्बई तथा ब्रिटिश भारत के अन्य प्रान्तों में कार्यकारिणी कौंसिलों के निर्माण की व्यवस्था भी की गई थी। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भारत-मन्त्री की कौंसिल तथा वाइसराय की कार्यकारिणी में एक-एक भारतीय सदस्य बढ़ा दिया गया था। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस कानून में सबसे पहले मुसलमानों को कौंसिलों में पृथक प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया था। यह वैमनस्य का बीज-वपन था और इसी ने आगे चलकर हमारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को विषाक्त बना दिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना में भी भारतीयों को अपनी धारासभाओं में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ। परन्तु साम्प्रदायिक तथा वर्गीय निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। अतएव भारतीय जनमत ने इस योजना की एक स्वर से निन्दा की। वास्तव में इस योजना के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण सांसद शासन की सम्भावना भी नहीं थी। योजना के निर्माता लार्ड मार्ले ने स्वयं ब्रिटिश लोकसभा में घोषणा की थी: "यदि यह कहा जा सकता कि सुधारों का यह अध्याय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भारत में सांसद शासन का कारण बन सकता है, तो कम से कम मैं तो इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रख सकता था।" इस योजना की वास्तविकता का ठीक-ठीक वर्णन माण्टेग्यू चेम्सफर्ड रिपोर्ट में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है: "हमारे विचार से मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना उस पुरानी धारणा का अन्तिम परिणाम है जिसने भारत सरकार को एक ऐसे उदार निरंकुश शासन का स्वरूप दिया जो आवश्यकतानुसार अपनी जानकारी के लिये अपनी प्रजा की इच्छायें भी सुन सकता है[1]।"

सन् १८६१ ई० में जो कार्य आरम्भ हुआ था वह इस योजना के साथ पूर्ण हुआ। सन् १६०९ के कानून ने कौंसिलों का विस्तार किया, और सभी प्रान्तीय कौंसिलों में सरकारी बहुमत का अन्त कर दिया। परन्तु केन्द्रीय कौंसिल में सरकारी बहुमत पूर्ववत् बना रहा। इसके अतिरिक्त, अब निर्वाचन के सिद्धान्त को

---

1. "The Morley-Minto Reforms in our view are the final outcome of the old conception which made the Government of India a benevolent despotism which might, as it saw fit for purposes of enlightenment, consult the wishes of its subjects."—*Montagu Chelmsford Report.*

कानूनी स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। परन्तु क्रियात्मक रूप में यह सिद्धान्त सन् १८६३ ई० में ही स्वीकार किया जा चुका था। नये कानून में कौंसिलों को बजट की विवेचना तथा प्रस्तावों को उपस्थित करने आदि के कुछ नये अधिकार प्रदान किये गये थे। परन्तु कार्यकारिणी पर उनका अब भी कोई अंकुश नहीं था। संकुचित मताधिकार तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन के कारण सदस्यों में जनता के प्रति किसी प्रकार के उत्तर-दायित्व की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती थी। शासन-व्यवस्था का उत्तरदायित्व अब भी अविभाजित तथा पूर्णतया सरकार के हाथों में था। कौंसिलों का मुख्य कार्य केवल आलोचना करना था। सर बार्ट्ल फ्रेयर (Sir Bartle Frere) के शब्दों में: "भारत सरकार अब भी अपने दरबार में विराजमान राजा की भाँति थी जो अपने दरबारियों का मत सुन सकती थी, परन्तु उस पर आचरण करने के लिये बाध्य नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप दरबारी असंतुष्ट तथा क्षुब्ध होने लगे और शासन कमजोर तथा धीमा हो गया[1]।" माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट में भी उपरोक्त विचार की पुष्टि की गई थी। "आज भारतवर्ष में न तो पुरानी प्रणाली (अर्थात् उदार निरंकुश शासन) की अच्छाइयाँ हैं और न नई (अर्थात् प्रतिनिधि शासन-प्रथा) की[2]। उत्तरदायित्व जनतन्त्रवाद का सौरभ है और (भारत की) प्रतिनिधि कौंसिलों में इस सौरभ का पूर्ण अभाव है।.........उन्हें करने के लिये ठोस कार्य मिलना चाहिये और उन्हें ऐसे ठोस व्यक्ति मिलने चाहिये जो उनसे उनके कार्यों का व्यौरा ले सकें।"

इस योजना से गोखले सरीखे उदारपन्थियों की आशायें भी पूरी नहीं हो सकीं। इसके अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं को यथेष्ट विकास नहीं मिला, प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था पर पूर्ववत् सरकार का पूर्ण अधिकार बना रहा, और सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व भी नहीं दिया गया। इसका मूल कारण यह था कि ब्रिटिश लोकसभा ने भारत सरकार के ऊपर अपने नियंत्रण में किसी प्रकार की कमी नहीं की थी। अतएव भारत सरकार प्रान्तीय सभाओं के ऊपर और प्रान्तीय-सभायें स्थानीय संस्थाओं के ऊपर अपने नियन्त्रण में किसी प्रकार की कमी नहीं कर सकती थीं।

राजनैतिक असन्तोष भी पूर्ववत् बना रहा। सन् १६१४ ई० में योरोप में पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ और इङ्गलैंड तथा अन्य मित्रराष्ट्रों ने घोषणा की कि

---

1. "The Government of India still remained a monarch in Durbar, which could hear its Councillors, but was not compelled to follow their advice. The result was that the Councillors had become uneasy and discontented and the administration timid and slow."—*Sir Bartle Frere.*

2. "We have in India neither the best of the old system (benevolent despotism) nor the best of the new (representative Government.)"
—*Montagu Chelmsford Report.*

जर्मनी के विरुद्ध यह युद्ध "संसार को जनतन्त्रवाद के लिये सुरक्षित बनाने के उद्देश्य से" लड़ा जा रहा है। इस आश्वासन से प्रभावित होकर भारतवर्ष ने स्वेच्छापूर्वक मित्रराष्ट्रों के साथ पूर्ण सहयोग किया। स्वयं इङ्गलैंड ने भारतीय सहायता के महत्व को स्वीकार किया। २७ अगस्त सन् १९१७ ई० को ब्रिटिश सरकार ने अपनी भारत-सम्बन्धी नीति की घोषणा करते हुये बताया कि वह "शासन-व्यवस्था की प्रत्येक शाखा में भारतीयों का अधिकाधिक योग तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की क्रमिक प्राप्ति के उद्देश्य से स्व-शासित संस्थाओं का उत्तरोत्तर विकास" चाहती है। इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न आगामी सुधार-योजना में किया गया।

ग्यारहवाँ अध्याय

सन् १६१६ की माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड सुधार योजना

योजना का जन्म—अँग्रेज़ एक ओर तो उदारपंथियो को संतुष्ट करने के लिये सुधार की नीति का पालन कर रहे थे और दूसरी ओर क्रान्तिकारी आन्दोलन के दमन में प्रयत्नरत थे। परन्तु उनकी यह दोहरी नीति सफल नहीं हो सकी। मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना से उदारपंथियों को बड़ा असन्तोष हुआ था और प्रेस कानून (Press Act, 1910), राजद्रोही सभा कानून (Seditious Meetings Act, 1911) तथा फौजदारी कानून संशोधन (Criminal Law Amendment Act, 1913) इत्यादि दमनकारी कानूनों के फलस्वरूप क्रान्तिकारी आन्दोलन बल प्राप्त कर रहा था। सन् १६०७ ई० में विकेन्द्रीकरण कमीशन (Decenralisation Commission) तथा इसके पाँच वर्ष पश्चात् लोक-सेवा आयोग (Public Services Commission, 1912) की नियुक्ति से भारतवासियों के हृदय में आशा उत्पन्न हुई थी, परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अँग्रेज़ों की आन्तरिक इच्छा भारत में स्थानीय स्वराज्य को प्रोत्साहन देने की नहीं है और न वे भारतीयों को प्रमुख सैनिक अथवा असैनिक (civil) पद देना चाहते हैं। इससे भारतीयों की आशा का ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ और ऐसे कारण भी थे जिनसे देश में राजनैतिक असन्तोष बढ़ रहा था। उदाहरण के लिये शस्त्रास्त्र रखने के अनुमति-पत्र 'गोरे' अँग्रेज़ों को स्वतन्त्रतापूर्वक दिये जा रहे थे, परन्तु भारतीयों के साथ जातीय भेदभाव का प्रदर्शन किया जा रहा था। दक्षिणी अफ्रीका के भारतीय प्रवासी इसी जातीय भेदभाव के कारण अनेक कष्ट भोग रहे थे और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों में भी भारतीयों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। इन परिस्थितियों में मुस्लिम लीग तथा काँग्रेस का एक हो जाना स्वाभाविक ही था और शीघ्र ही भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया।

सन् १६१४ ई० में जब पहला महायुद्ध आरम्भ हुआ, भारतीय जनता तथा देशी नरेशों ने हृदय से अँग्रेज़ों की सहायता की। परन्तु साथ ही साथ उनकी स्वराज्य की माँग अधिक बल ग्रहण करती जा रही थी। युद्ध के फलस्वरूप विश्व-राजनीति में भारत का स्थान ऊँचा हो गया था और देश में जन-जागरण को प्रोत्साहन मिला था। अब भारतीयों में आत्म-सम्मान के भाव जाग्रत हो चुके थे और वे अन्य उपनिवेशों के साथ बराबरी की अत्यन्त उचित आकाँक्षा करने लगे थे। अप्रैल सन् १६१६ ई० में लोकमान्य तिलक ने बम्बई में एक 'होमरूल लीग' की स्थापना की और

इसी वर्ष सितम्बर में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने मद्रास में अपनी अलग 'होम रूल लीग' बनाई। इन दोनों संस्थाओं ने मिलकर देश भर में अविलम्ब स्वराज्य-प्राप्ति के पक्ष में तूफ़ानी प्रचार-कार्य किया।

उधर प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारत की युद्धकालीन सहायता की सराहना की तथा भारतीय प्रतिनिधियों को युद्ध सम्मेलनों और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया। यह सब देखकर भारतीयों के हृदय में आशा का संचार होने लगा कि भारत की स्वामिभक्ति तथा वीरता की इस सफल परीक्षा के बाद अब निकट भविष्य में ही देश की राजनैतिक प्रगति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण क़दम अवश्यम्भावी है। राजनैतिक सिद्धान्तवादियों तथा संस्थाओं ने अपनी-अपनी योजनायें बनाना आरम्भ कर दिया था। इनमें सबसे पहली गोखले की योजना थी जो सन् १९१७ में उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित हुई। इस योजना में प्रान्तों को पूर्ण स्वराज्य देने की सिफ़ारिश करते हुये केन्द्र में इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि संशोधित भारतीय धारासभा तथा कार्यकारिणी के बीच वैसा ही सम्बन्ध हो जैसा साम्राज्यवादी संविधान के अन्तर्गत जर्मनी की 'रीशटाग' (Reichstag) का कार्यकारिणी के साथ था। इससे पूर्व सन् १९१६ ई० में भारतीय धारासभा के उन्नीस निर्वाचित सदस्यों ने प्रस्तावित सुधारों का एक स्मृतिपत्र तैयार किया था। इसी वर्ष दिसम्बर में काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने लखनऊ वार्तालाप के पश्चात् राजनैतिक सुधार के लिये संयुक्त प्रयत्न करने का निश्चय करते हुये एक संयुक्त सुधार-योजना भी बनाई थी जिसे हम काँग्रेस-लीग योजना के नाम से पुकारते हैं।

काँग्रेस-लीग योजना में धारासभा के उन्नीस सदस्यों के प्रस्तावों को विस्तृत रूप दिया गया था और मुस्लिम हितों की रक्षा के लिये उचित व्यवस्था की गई थी। इसके अतिरिक्त काँग्रेस तथा लीग दोनों ने श्रीमती एनी बेसेण्ट की 'होमरूल लीग' के प्रचार-कार्य में सहयोग देना स्वीकार किया था। इस योजना में कहा गया था कि प्रान्तीय तथा केन्द्रीय कौंसिलों में पूरी संख्या के $\frac{4}{5}$ सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होने चाहिये और यद्यपि कार्यकारिणी को हटाना कौंसिलों के अधिकार में नहीं होगा तथापि कार्यकारिणी के लिये उनके प्रस्तावों पर आचरण करना अनिवार्य था। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं:—(१) प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन, (२) पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्य, (३) प्रान्तीय कौंसिलों के प्रस्ताव गवर्नर के लिये अनिवार्य हों, (४) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं में पूरी संख्या के $\frac{4}{5}$ सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों, और (५) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी सभाओं के आधे सदस्य भारतीय हों एवं तत्सम्बन्धित धारासभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों।

काँग्रेस तथा लीग ने एक साम्प्रदायिक समझौता भी कर लिया था जिसके

अनुसार पंजाब तथा बंगाल के अतिरिक्त सभी प्रान्तों में मुसलमानों को दीर्घानुपात दिया गया था। उपरोक्त दोनों प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत होने के कारण उन्हें क्रमशः ५०% तथा ४०% प्रतिनिधित्व दिया गया था। केन्द्रीय धारासभा में भी उन्हें ३०% प्रतिनिधित्व का आरक्षण मिला था। इस प्रकार इस कांग्रेस-लीग योजना ने मुसलमानों का पृथक निर्वाचन तथा स्थानों के आरक्षण का अधिकार स्वीकार कर लिया था। माण्टेग्यू चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट के निर्माताओं ने पूरी योजना का खण्डन किया। उनके मतानुसार यह योजना अव्यावहारिक तथा असम्भव थी और इसे कार्यान्वित करने में पग-पग पर गतिरोध उत्पन्न होने की आशंका थी। फिर भी आगामी सुधार योजना ने कांग्रेस तथा लीग के साम्प्रदायिक समझौते को अपना लिया।

यहाँ पर मि० लायोनेल कर्टिस (Lionel Curtis) की योजना का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अन्ततः इसी के आधार पर माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड-सुधार योजना का निर्माण हुआ। मि० कर्टिस ने पहली बार सन् १९१६ ई० में भारतीय परिस्थिति के संदर्भ में "उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार" शब्दों का प्रयोग किया था। उनकी धारणा थी कि भारत में किसी सुधार-योजना की सफलता के लिये उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार एक अनिवार्य आवश्यकता है। अतएव उन्होंने सुझाव दिया था कि प्रान्तीय सरकार के जिन विभागों में बिना किसी आशंका के इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता हो, उनमें प्रतिनिधि सरकार से भिन्न उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार के किसी स्वरूप की अविलम्ब स्थापना हो जानी चाहिये; और शेष विभागों का प्रशासन वर्तमान (अर्थात् पूर्व-सुधार) प्रणाली के अनुसार चलता रहे, और पहली दशा में वैधानिक शासक तथा दूसरी में वास्तविक प्रशासक के कर्तव्य गवर्नर के व्यक्तित्व में घुलमिल जायें। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार के जो विभाग इस प्रकार प्रान्तीय धारासभा के अधीन कर दिये जायें उनके विषय में उसका अधिकार वास्तव में सर्वोच्च हो और उन विभागों का प्रशासन धारासभा के सदस्यों में से निर्वाचित तथा उसी के प्रति उत्तरदायी कार्य-कारिणी द्वारा किया जाये।" इन्हीं सुझावों के फलस्वरूप प्रान्तों में द्वैध शासन की उस प्रणाली का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय कार्यकारिणी का दो भागों में विभाजन हो गया और एक भाग भारतीय निर्वाचकों तथा दूसरा ब्रिटिश लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हुआ।

माण्टेग्यू की घोषणा—इसी बीच भारतमन्त्री के कार्यालय तथा भारत सरकार के बीच महत्वपूर्ण लिखापढ़ी चल रही थी और २० अगस्त सन् १९१७ ई० को ब्रिटिश लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुये भारतमन्त्री माण्टेग्यू ने निम्नलिखित ऐतिहासिक घोषणा की: "सम्राट् की सरकार की नीति है, और भारत सरकार इससे पूर्णतया सहमत है, कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का अधिकाधिक योग होना चाहिये और भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरदायित्व-

पूर्ण शासन की उत्तरोत्तर प्राप्ति के लिये स्व-शासित संस्थाओं का क्रमिक विकास आवश्यक है।...मैं इतना और कहना चाहूँगा कि केवल क्रमिक विकास द्वारा ही इस दिशा में उन्नति संभव हो सकेगी। प्रगति की प्रत्येक सीढ़ी के उचित अवसर तथा परिमाण का निर्णय ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार ही कर सकती है, जिन पर भारतीय जनता की समृद्धि तथा उन्नति का उत्तरदायित्व है, और वे भी यह निर्णय जिन लोगों को इस प्रकार सेवा का नया अवसर प्राप्त हो उनके सहयोग द्वारा इस बात को ध्यान में रखकर करेंगी कि भारतीयों को किस सीमा तक उत्तरदायित्व प्रदान करना उचित है[1]।"

बाद में यही घोषणापत्र प्रस्तावना (Preamble) के रूप में सन् १९१९ ई० के भारत सरकार कानून में सम्मिलित कर लिया गया। विवेचना के पश्चात् इस घोषणा तथा प्रस्तावना से तीन मुख्य सिद्धान्त प्राप्त होते हैं : (१) भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार का क्रमिक विकास था। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि यह पहला अवसर था जब भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने का अधिकृत रूप से आश्वासन दिया जा रहा था। दस वर्ष पूर्व लार्ड मिण्टो तथा लार्ड मार्ले कह चुके थे कि भारत में संसद शासन की न योजना थी और न सम्भावना। (२) इस नीति का विकास ब्रिटिश लोकसभा द्वारा निर्धारित क्रम के अनुसार होगा। भारतीय जनमत को इससे विशेष असन्तोष हुआ क्योंकि भारतीय राजनीतिज्ञ भारत को राजनैतिक दृष्टि से परिपक्व समझते थे। (३) इस दिशा में महत्वपूर्ण क़दम उठाने का समय आ गया था। इसका निश्चय करने के लिये माण्टेग्यू महोदय ने स्वयं भारत आकर देश का दौरा किया और सरकारी तथा ग़ैर सरकारी जनता के प्रतिनिधियों तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का साक्ष्य संग्रह किया।

1. "The policy of His Majesty's Government, with which the Government of India are in complete accord, is that of the increasing association of Indians in every branch of administration and the gradual development of self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible Government in India as an integral part of the British Empire......I would add that progress in this policy can only be achieved by successive stages. The British Government and the Government of India, on whom the responsibility lies for the welfare and advancement of Indian peoples, must be the judges of time and measure of each advance and they must be guided by the co-operation received from those upon whom new opportunities of service will thus be conferred and by the extent to which it is found that confidence can be reposed in their sense of responsibility."—*Montagu.*

माण्टेग्यू चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट—इस सब के परिणामस्वरूप जुलाई सन् १६१८ ई० में भारत के लिये वैधानिक सुधार की प्रसिद्ध माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में सुधार के मोटे-मोटे प्रश्नों पर विचार किया गया था। इसमें निम्नलिखित चार मुख्य सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे :—

(१) स्थानीय स्वराज्य के क्षेत्र में, यथासम्भव, पूर्णतया जनता का नियन्त्रण हो और स्थानीय संस्थाओं को बाह्य नियन्त्रण से अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

(२) उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की क्रमिक प्राप्ति का पहला क़दम प्रान्तों के क्षेत्र में उठाया जाये। थोड़ी मात्रा में उत्तरदायित्व अविलम्ब दे दिया जाना चाहिये और ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य परिस्थितियों के अनुकूल होते ही पूर्ण उत्तरदायित्व दे देना हो। इसका अर्थ था कि प्रान्तों को अविलम्ब विधि-निर्माण, प्रशासन तथा अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्रों में भारत सरकार के नियन्त्रण से अधिकतम, परन्तु इस सीमा तक कि भारत सरकार के उत्तरदायित्व-पालन में बाधा न पड़े, स्वतन्त्रता प्रदान की जाये।

(३) भारत सरकार को पूर्णतया लोकसभा (British Parliament) के प्रति उत्तरदायी बनी रहना चाहिये और इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त उसका अधिकार सभी आवश्यक विषयों में उस समय तक निर्विवाद बना रहना चाहिये जब तक प्रान्तों में प्रचलित होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव का अनुभव प्राप्त न हो जाये। इसी बीच भारतीय धारासभा का आकार बढ़ाकर उसे अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाना चाहिये तथा उसे सरकार पर प्रभाव डालने के अधिक अवसर मिलने चाहिये।

(४) जैसे-जैसे उपरोक्त परिवर्तन लागू होते जाएँ उसी अनुपात में भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों पर से भारत-मन्त्री (Secretary of State for India) का नियन्त्रण भी कम होता जाना चाहिये।"

माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट में मताधिकार, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों के बीच कार्य-विभाजन, गृह शासन में संपरिवर्तन तथा केन्द्र और प्रान्तों के आर्थिक सम्बन्ध आदि कतिपय प्राविधिक (Technical) प्रश्नों के अध्ययन के लिये कई विशेष समितियों की नियुक्ति की सिफारिश की गई थी। मताधिकार समिति (Franchise Committee) ने लार्ड साउथबरो (Lord South Borough), कार्य विभाजन समिति (Committee on Division of Functions) ने मि० रिचर्ड फीथम (Richard Feetham), गृह शासन समिति (Committee on Home Administration) ने लार्ड क्रू (Crewe) तथा आर्थिक सम्बन्ध समिति (Financial Relations Committee) ने लार्ड मेस्टन (Lord Meston) के सभापतित्व में कार्य किया। इन समितियों की रिपोर्टों तथा मान्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट के आधार पर ही भारत सरकार कानून का निर्माण किया गया।

प्रान्तों में द्वैध शासन—सन् १६१६ ई० के भारत सरकार कानून द्वारा

प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण सरकारों की स्थापना का निश्चय किया गया था। इसके लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के कार्य-क्षेत्रों का विभाजन आवश्यक था। इसकी निश्चित व्यवस्था करने के उद्देश्य से कार्य-विभाजन समिति ने अधिकारों की दो सूचियाँ बनाईं। अधिकारों का विभाजन इस सिद्धान्त के अनुसार किया गया था कि जिन विषयों में एकरूपता वांछनीय हो वे केन्द्रीय सरकार को तथा जिनमें विशेष प्रान्तों की अपनी आवश्यकतायें हों वे प्रान्तीय सरकारों को दिये जायें। प्रमुख केन्द्रीय विषय निम्नलिखित थे:—जल, स्थल तथा वायु सेना सम्बन्धी प्रश्न, वैदेशिक तथा देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध, रेल, डाक और तार, चलार्थ तथा मुद्रा निर्माण (currency and coinage), व्यवहार तथा दण्ड विधि एवं प्रक्रिया (civil and criminal law and procedure), निराक्रम्य कर (customs), व्यापार, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान, धार्मिक संस्थाओं का प्रशासन और अखिल भारतीय नौकरियाँ। प्रान्तीय विषयों में निम्नलिखित विशेष महत्वपूर्ण थे: स्थानीय स्वशासन, स्वास्थ्य, शिक्षा, भैषजिक प्रशासन (medical administration), लोक निर्माण (public works), भूमिकर, कृषि, सहकारी संस्थायें, वन, आबकारी, न्याय-प्रशासन, पुलिस, कारागार तथा मुद्रणालय नियंत्रण (control of the press)। कुछ अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) जो इन दोनों में से किसी सूची में सम्मिलित नहीं थीं, इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रान्तों तथा केन्द्र के बीच विभाजित कर दी गई थीं। परन्तु यह विभाजन स्पष्ट नहीं था और न इस प्रकार विभाजित विषय स्वतन्त्र ही थे। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय प्रशासन के कई विषय ऐसे भी थे जिनके लिये विधि-निर्माण का अधिकार प्रान्तीय धारासभाओं के हाथ में नहीं था। उदाहरण के लिये स्थानीय स्वशासित संस्थाओं को कर लगाने तथा ऋण लेने की शक्ति, औद्योगिक प्रश्न तथा विवाद, विद्युत्शक्ति, प्रामाणिक भार तथा मापदण्ड (weights and measures) इत्यादि कुछ ऐसे विषय थे जिनका विधि-निर्माण भारतीय धारासभा के अधीन था। विवादग्रस्त अवशिष्ट-विषयों के निर्णय का अधिकार गवर्नर जनरल को था।

इस प्रकार कुछ विषय प्रान्तों को हस्तान्तरित कर देने के पश्चात् यह देखना भी आवश्यक हो गया था कि आर्थिक क्षेत्र में प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार पर निर्भर न रहना पड़े। इसके पूर्व केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय प्रशासन की छोटी-छोटी बातों में भी हस्तक्षेप करती रहती थी। माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट में इस प्रथा का अन्त कर प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था पर से केन्द्र का अंकुश पूर्णतया उठा लेने की सिफारिश की गई थी। परन्तु मेस्टन कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार कानून में जो व्यवस्था की गई थी उसमें केवल प्रान्तीय आय के साधनों तथा कर लगाने के अधिकारों का क्षेत्र निर्धारित किया गया था और शेष सारे अधिकार केन्द्रीय सरकार के

हाथ में छोड़ दिये गये थे। प्रान्तों को भूमिकर, सिंचाई, मादक पदार्थों पर आबकारी, मुद्रांक शुल्क (stamps), पंजीयन शुल्क, (registration fees), वन तथा खनिज पदार्थ आदि प्रान्तीय विषयों से होने वाली आय दी गई थी। केन्द्रीय आय के साधनों का उल्लेख नहीं किया गया था। परन्तु पूर्वोक्त सूची के आधार पर कहा जा सकता है कि निराक्रम्य (customs), नमक, अफीम, आयकर, अमादक पदार्थों पर आबकारी, रेलवे, डाक, तार, चलार्थ (currency), मुद्रा-निर्माण तथा देशी राज्यों से प्राप्त भेंट आदि केन्द्रीय विषय उसके अन्तर्गत थे। इस योजना के अनुसार केन्द्रीय बजट में घाटे की संभावना थी जिसे पूरा करने के लिये माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट में प्रान्तों द्वारा केन्द्रीय सरकार को अंशदान (contributions) की व्यवस्था की गई थी। इस उत्तरदायित्व के बदले में प्रान्तों को अब एक सीमित क्षेत्र में, बिना भारत सरकार की पूर्व अनुमति प्राप्त किये, कर लगाने तथा अन्य कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया था। अभी तक ऋण लेने का अधिकार केवल भारत सरकार को ही था परन्तु अब प्रान्त भी अपने आय-साधनों की प्रतिभूति (security) पर ऋण ले सकते थे। मेस्टन कमेटी ने केन्द्रीय सरकार को दिये जाने वाले अंशदान में प्रत्येक प्रान्त का भाग निर्धारित करने के साथ-साथ यह भी निश्चित कर दिया था कि अवसर पड़ने पर यह भाग किस अनुपात में घटाये जा सकते हैं। परन्तु यह अंशदान निर्धारण किसी न्यायसंगत आधार पर नहीं किया गया था और न संभव ही था, अतएव प्रान्तीय सरकारें इससे संतुष्ट नहीं थीं। और सन् १९२८ ई० में अर्थ-सदस्य सर बेसिल ब्लैकेट (Sir Basil Blackett) ने इस प्रथा का अन्त कर दिया।

कानून में प्रान्तीय विषयों का उप-विभाजन भी किया गया था। आरक्षित विषयों (Reserved Subjects) का पहला वर्ग अब भी सरकारी नियन्त्रण में था परन्तु हस्तान्तरित विषयों (Transferred Subjects) का दूसरा वर्ग सार्वजनिक शासन के अन्तर्गत कर दिया गया था। इसी व्यवस्था को "द्वैध शासन प्रणाली" कहा जाता है। हस्तान्तरित सूची में ऐसे विषय सम्मिलित थे जिनमें स्थानीय जानकारी अथवा समाज सेवा की सम्भावना थी और जिनमें भूलों से भी ब्रिटिश सरकार की अधिक हानि नहीं हो सकती थी। परन्तु नियम तथा सुव्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले विषय, जिनका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, आरक्षित रखे गये थे। इस प्रकार भूमिकर, सिंचाई, दुर्भिक्ष साहाय्य, शांति तथा सुव्यवस्था, औद्योगिक प्रश्न, समाचारपत्र, मुद्रणालय, तथा ऋण लेना इत्यादि विषय आरक्षित, और स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई, शिक्षा (योरोपीय तथा एँग्लो-इण्डियन शिक्षा के अतिरिक्त), सार्वजनिक निर्माण, कृषि तथा सहकारी समितियाँ इत्यादि हस्तान्तरित थे। किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में मतभेद होने पर गवर्नर का निर्णय मान्य रखा गया था। हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में भारत सरकार अभी तक अधी-

तथा, निर्देशन तथा नियन्त्रण के जिन अधिकारों का प्रयोग करती आई थी अब उनको सीमित कर दिया गया था और अब केन्द्र केवल उस दशा में हस्तक्षेप कर सकता था जब केन्द्रीय विषयों के उचित प्रशासन, दो प्रान्तों के बीच विवाद के समाधान, साम्राज्य-हितों के संरक्षण और सरकारी नौकरियों की अधिकार रक्षा के लिये इस प्रकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो।

आरक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों के लिये अलग-अलग आय-साधनों की व्यवस्था नहीं की गई थी। साधारणतया सरकार के दोनों विभाग आपस में ही प्रति वर्ष आय-साधनों का विभाजन कर लेते थे, परन्तु उनके बीच किसी प्रकार का मतभेद उत्पन्न हो जाने पर गवर्नर को प्रत्येक वर्ग के विषयों के लिये साधनों का विभाजन करने का अधिकार था। परन्तु सरकार का अर्थ-विभाग आरक्षित विषयों के अन्तर्गत था और सम्पूर्ण बजट तथा पूरक आगणनों (supplementary estimates) का पूर्ण दायित्व उस पर था। बिना कार्यकारिणी की अनुमति के कोई सदस्य और बिना गवर्नर की आज्ञा प्राप्त किये कोई मन्त्री अर्थ-विभाग की मन्त्रणा के विरुद्ध नहीं जा सकता था। हस्तान्तरित विषयों के लिये अलग अधिशासी कर्मचारी भी नहीं थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में महत्वपूर्ण पदों पर अखिल भारतीय सेवा-वर्ग के कर्मचारी कार्य कर रहे थे जिन पर मन्त्रियों का तनिक भी अंकुश नहीं था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि हस्तान्तरित विषयों की स्थिति अपेक्षाकृत गौण हो गई।

प्रान्तीय कार्यकारिणी—प्रान्तीय कार्यकारिणी दो भागों में विभाजित थी। आरक्षित विषयों के प्रशासन का उत्तरदायित्व गवर्नर तथा उनकी कौंसिल पर था और हस्तान्तरित विषय गवर्नर तथा उनके मन्त्रियों के अधिकार में थे। कौंसिल में चार से अधिक सदस्य नहीं हो सकते थे, परन्तु वास्तव में बंगाल, मद्रास तथा बम्बई को छोड़ कर शेष प्रान्तों में केवल दो-दो सदस्य ही होते थे। साधारणतया पूरी संख्या के आधे सदस्य भारतीय होते थे। उनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा पाँच वर्ष की अवधि के लिये होती थी और उनका वेतन कानून में ही निश्चित कर दिया गया था। परन्तु यह वेतन प्रान्तीय कोष से ही दिया जाता था। कौंसिल के सदस्य अपने पद के नाते प्रान्तीय धारा-सभा के सदस्य भी होते थे, परन्तु सभा के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं था और सभा उनके वेतन इत्यादि को छू भी नहीं सकती थी। आरक्षित विषयों के क्षेत्र में कौंसिल सहित गवर्नर सीधे भारत सरकार तथा भारतमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होता था। कौंसिलों के निर्णय साधारणतया बहुमत द्वारा किये जाते थे और गवर्नर को निर्णायक-मत (casting vote) का अधिकार होता था। परन्तु जिन बातों में "गवर्नर के निर्णयानुसार उसके प्रान्त अथवा प्रान्त के किसी भाग की सुरक्षा, शान्ति और हितों पर आघात होता हो, या होने की संभावना हो," वह कौंसिल के

बहुमत निर्णय की अवहेलना भी कर सकता था।

मन्त्रियों की संख्या पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु कार्यरूप में साधारणतया बड़े प्रान्तों में तीन तथा छोटों में दो मन्त्री होते थे। मन्त्रियों के लिये नियुक्ति की तिथि से छः मास के भीतर प्रान्तीय विधान सभा का सदस्य बन जाना अनिवार्य था। उनकी नियुक्ति गवर्नर करता था और उनका पदभार-वहन गवर्नर की इच्छा पर निर्भर होता था। परन्तु उनका वेतन बजट के उस आगणन (estimate) में सम्मिलित होता था, जिस पर प्रति वर्ष मतदान का अधिकार विधानसभा को प्राप्त था। अपने मन्त्रियों के साथ गवर्नर का सम्बन्ध एक वैधानिक प्रधान का सा नहीं होता था। उसे नियन्त्रण की सर्वोच्च शक्ति प्राप्त थी, परन्तु आशा यह की जाती थी कि साधारणतया वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के अनुसार ही कार्य करेगा क्योंकि मन्त्रियों को विधानसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त था। गवर्नर केवल उन्हीं परिस्थितियों में मन्त्रियों की मन्त्रणा के विरुद्ध कार्य करता था, जिनमें उसे कार्यकारिणी कौंसिल की अवहेलना करने का अधिकार प्राप्त था। निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) में इन परिस्थितियों का उल्लेख करते हुये गवर्नर को यह आदेश दिया जाता था कि वह अपने अनुभवहीन मन्त्रियों को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्रणाली की शिक्षा दे। परन्तु गवर्नर के कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी रहते थे, जिनके प्रशासन में वह मन्त्रियों तथा कौंसिल की अवहेलना कर सकता था। यह विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे:—

(१) प्रान्त के सभी भागों में शान्ति तथा सुव्यवस्था का संधारण और धार्मिक तथा जातीय कलह का निवारण।

(२) भारतमन्त्री तथा कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल की सभी आज्ञाओं का पालन।

(३) मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों और पिछड़ी हुई जातियों के ऐसे वर्गों के सामाजिक हितों का रक्षण जो संख्या अथवा शिक्षा में अन्य वर्गों से पीछे हों।

(४) योरोपीय तथा ऐंग्लो-इण्डियन जातियों के उचित हितों का आरक्षण।

(५) सार्वजनिक कर्मचारी वर्गों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का आरक्षण।

(६) व्यापारिक अथवा औद्योगिक हितों से सम्बन्धित प्रश्नों में अनुचित भेद-भाव का निवारण।

ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १६१६ के कानून के निर्माता मन्त्रिमण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। परन्तु गवर्नर की वास्तविक शक्ति के कारण तथा प्रधान मन्त्री जैसे किसी पदाधिकारी की अनुपस्थिति में, यहाँ ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की कार्यप्रणाली का अनुसरण सम्भव नहीं था। संविधान-निर्माता यह

भी चाहते थे कि कार्यकारिणी के दोनों भाग साथ-साथ मिल कर कार्य करें और संयुक्त निर्णय भले न हो, परन्तु संयुक्त विचार-विनिमय की व्यवस्था अवश्य हो। गवर्नरों को दिये जाने वाले निर्देश-पत्र में यह स्पष्ट आदेश रहता था कि वे संयुक्त विचार-विनिमय को प्रत्येक प्रोत्साहन दिया करें। विशेष रूप से नये कर लगाने के प्रस्तावों, ऋण खड़ा करने तथा आय-विभाजन के प्रश्नों के लिये संयुक्त मन्त्रणा की व्यवस्था की गई थी। परन्तु कार्यरूप में यह व्यवस्था अधिक सफल नहीं हुई।

किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जब किसी हस्तान्तरित विषय की देखरेख करने वाला कोई मन्त्री नहीं होता था तब गवर्नर उस विषय का उत्तरदायित्व किसी दूसरे मन्त्री को सौंप सकता था और यदि यह भी सम्भव न हो तो वह उस विषय का प्रशासन स्वयं अपने हाथ में ले सकता था। परन्तु यह अस्थायी व्यवस्था उसी समय तक चल सकती थी जब तक शीघ्र ही विभाग का भार सँभालने के लिये किसी नये मन्त्री के मिल जाने की आशा हो। मन्त्रियों द्वारा हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन असम्भव हो जाने पर गवर्नर-जनरल प्रान्त को सब अथवा कुछ विषयों का हस्तान्तरण खण्डन (revoke) अथवा स्थगन (suspend) कर सकता था। ऐसी दशा में इन विषयों का प्रशासन कौंसिल-सहित गवर्नर के हाथ में चला जाता।

प्रान्तीय विधानसभा—प्रान्तीय कार्यकारिणी के पश्चात् हम प्रान्तीय विधानसभा के विषय में विचार करेंगे। नये विधान में इन सभाओं की सदस्य-संख्या यथेष्ट बढ़ा दी गई थी और इस प्रकार अब मद्रास में १२७, बम्बई में १११, बङ्गाल में १३९, संयुक्त प्रान्त में १२३, पंजाब में ९३, बिहार-उड़ीसा में १०३, मध्यप्रान्त में ७० तथा आसाम में ५३ सदस्य कर दिये गये थे। इनमें से अधिक से अधिक २० प्रतिशत सरकारी सदस्य हो सकते थे परन्तु कम से कम ७० प्रतिशत का निर्वाचन होना आवश्यक था। इस प्रकार प्रत्येक प्रान्तीय धारासभा में निर्वाचित सदस्यों के यथेष्ट बहुमत की व्यवस्था की गई थी। सरकारी तथा निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त कुछ गवर्नर द्वारा नामज़द गैर-सरकारी सदस्य भी होते थे। यह व्यवस्था दलित वर्गों, पिछड़े हुये प्रदेशों, श्रमिकों, योरोपीय जातियों, ऐंग्लो-इण्डियन तथा भारतीय ईसाइयों को नामज़दगी द्वारा प्रतिनिधित्व देने के लिये की गई थी। निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा होता था और सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को थोड़ा गिरा कर मताधिकार का क्षेत्र बढ़ा दिया गया था। परन्तु वास्तव में यह क्षेत्र भी थोड़े से लोगों तक सीमित था। इस कानून में भी सन् १९०९ के कानून की भाँति, किन्तु उससे अधिक विस्तृत क्षेत्र में, साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की गई थी। इस बार मुसलमानों के अतिरिक्त भारतीय ईसाइयों, ऐंग्लो-इण्डियनों, योरोपीय जातियों, सिखों और विश्वविद्यालय, व्यापार-उद्योग तथा ज़मींदारी इत्यादि विशेष हितों के लिये भी पृथक निर्वाचन का प्रबन्ध किया गया था। प्रो० काले के शब्दों में "अब हमारी राजनीति

राष्ट्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय न रह कर साम्प्रदायिक हो गई[1] ।"

इस कानून में प्रान्तीय धारासभाओं के अधिकारों तथा प्रकार्यों में भी महत्व-पूर्ण परिवर्तन किये गये थे। सभाओं के अधिकार बढ़ा दिये गये थे और अब वे सम्पूर्ण प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये मनचाहे कानून बना सकती थीं। उन्हें सन् १९१९ ई० के कानून से पूर्व प्रान्त के लिये ब्रिटिश भारत की किसी भी शक्ति द्वारा निर्मित कानून में परिवर्तन करने अथवा उसका पूर्ण विखण्डन करने का भी अधिकार था। हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में प्रान्तीय सरकार के मन्त्रियों पर नीति, कार्य तथा अर्थ-व्यवस्था आदि के सभी प्रश्नों में प्रान्तीय विधान सभाओं का पूर्ण अनुशासन था। उन्हीं के प्रति मन्त्री उत्तरदायी थे और यदि विधान सभा किसी मन्त्री के कार्यों की निन्दा का प्रस्ताव पास कर दे तो उसका त्यागपत्र देना आवश्यक हो जाता था। परन्तु आरक्षित विषयों के क्षेत्र में परिस्थिति भिन्न थी। कार्यकारिणी के सदस्यों के लिये विधानसभा द्वारा निन्दा के प्रस्ताव पास किये जाने पर भी त्यागपत्र देना आवश्यक नहीं था। उन पर कौंसिल सहित गवर्नर-जनरल तथा भारत मन्त्री का नियन्त्रण था, प्रान्तीय विधानसभाओं का नहीं। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय विधानसभाओं को गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त किये बिना निम्न-लिखित विषयों पर कोई कानून बनाने अथवा किसी बने हुये कानून पर विचार करने का अधिकार नहीं था:—(१) जहाँ कोई नया कर लगाने का प्रश्न हो, परन्तु यदि इस कानून के अन्तर्गत निर्मित नियमों के अनुसार कोई कर इस प्राविधान (provision) से मुक्त हो तब इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। (२) जहाँ भारत के सार्व-जनिक ऋण अथवा निराक्रम्य कर (customs duties) अथवा केन्द्रीय धारासभा द्वारा स्थापित किसी अन्य कर पर प्रभाव पड़ता हो। (३) जल, स्थल अथवा वायु सेनाओं से सम्बन्धित विषय। (४) जिन विषयों में भारत सरकार के विदेशी शासकों के साथ स्थापित सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता हो। (५) किसी केन्द्रीय विषय का नियमन। (६) किसी ऐसे प्रान्तीय विषय का नियमन जिस पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय धारासभा को प्राप्त हो चुका हो। (७) कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल के लिये आरक्षित किसी विशेष अधिकार पर प्रभाव डालने वाला विषय। (८) सन् १९१९ ई० के बाद केन्द्रीय धारासभा द्वारा निर्मित किसी ऐसे कानून का परिवर्तन अथवा विखण्डन जो नये विधान के अनुसार पूर्व अनुमति के अभाव में विखण्डित न किया जा सकता हो। (९) किसी ऐसे कानून का परिवर्तन अथवा विखण्डन जिसका निर्माण सन् १९१९ ई० के पूर्व प्रान्तीय विधानसभा के अतिरिक्त किसी अन्य अधिकारी द्वारा हुआ हो, और जो नियमानुसार पूर्व अनुमति बिना परवर्तनीय न हो। और प्रान्तीय

1. "Instead of national and provincial or local politics, we now have communal politics."—*Kale*.

विधानसभायें कोई ऐसा कानून भी नहीं बना सकती थीं जिसका प्रभाव ब्रिटिश लोकसभा द्वारा निर्मित किसी कानून पर पड़ता हो।

इसके अतिरिक्त, प्रान्तीय गवर्नरों को 'प्रमाणपत्र देने' का विशेषाधिकार भी दिया गया था जिसके प्रयोग द्वारा वे विधानसभा द्वारा अस्वीकृत विधेयकों को कानून बना सकते थे और सभा द्वारा की गई बजट की कटौतियों की पूर्ति कर सकते थे। परन्तु हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में गवर्नरों को इस प्रकार का विशेषाधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त किसी विधेयक को अनुमति देने, अथवा न देने, अथवा विधान सभा द्वारा पुनर्विचार के लिये लौटा देने का अधिकार भी गवर्नर को दिया गया था। यह विश्वास हो जाने पर कि किसी विधेयक के खण्डन अथवा संशोधन से प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की शान्ति और सुरक्षा भङ्ग होने की आशंका है, गवर्नर उसकी आगे की कार्यवाही रोक सकता था। प्रान्तीय विधान सभाओं पर लगे हुये उपरोक्त प्रतिबन्धों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सभायें अब भी केवल "विधि निर्माण के उद्देश्य से कार्यकारिणी का विस्तार मात्र थीं और उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी।"

केन्द्र में परिवर्तन—प्रान्तीय क्षेत्र में द्वैध शासन तथा अंशत: उत्तदायित्व-पूर्ण सरकार का उपरोक्त प्रयोग हो रहा था, परन्तु भारत की केन्द्रीय कार्यकारिणी में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था। वह अब भी पूर्ण निरंकुश तथा केवल ब्रिटिश लोकसभा के प्रति उत्तरदायी थी। परन्तु अब विधान सभा में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो गया था। अतएव ब्रिटिश सरकार ने विशेष परिस्थितियों में विधान सभा के दोनों सदनों की अनुमति प्राप्त किये बिना कानून बना लेने की व्यवस्था भी कर दी थी। ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा, शान्ति अथवा हितरक्षा के लिये गवर्नर-जनरल द्वारा आवश्यक "प्रमाणित" किया हुआ कोई भी विधेयक गवर्नर-जनरल के अपने अधिकार से कानून बन सकता था। इस प्रकार कार्यकारिणी के ऊपर विधान सभा का कोई प्रत्यक्ष अंकुश नहीं रह गया था। सन् १९१९ ई० के कानून का उद्देश्य वास्तव में कार्यकारिणी को अधिक शक्तिशाली बनाना था। तथापि यह दिखाने के लिये कि केन्द्रीय कार्यकारिणी भारतीय जनमत के प्रति उत्तरदायी हो गई है, अब उसकी सदस्य संख्या की कोई वैधानिक सीमा नहीं रक्खी गई थी और उसमें अधिक भारतीयों को सम्मिलित करने की व्यवस्था कर दी गई थी।

परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका (Legislature) में अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे। अब केन्द्रीय व्यवस्थापिका मण्डल द्वि-आगारिक बना दिया गया था और उसके दो आगार राज्य-परिषद (Council of State) तथा विधान सभा (Legislative Assembly) कहलाते थे। प्रत्येक आगार में निर्वाचित

सदस्यों का बहुमत कर दिया गया था और निर्वाचन की प्रत्यक्ष प्रणाली का प्रयोग आरम्भ हो गया था। राज्य-परिषद् व्यवस्थापिका सभा का उच्च-आगार (upper or second chamber) था। उसमें ३४ निर्वाचित तथा २६ नामज़द, सब मिला कर ६० सदस्य होते थे। नामज़द सदस्यों में अधिक से अधिक २० सरकारी पदाधिकारी हो सकते थे और निर्वाचित सदस्यों में २० साधारण, १० मुसलमान, १ सिख तथा ३ योरोपीय क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित होते थे। परिषद का जीवन-काल साधारणतया ५ वर्ष का था। मताधिकार ऊँची सम्पत्ति-योग्यता के आधार पर निश्चित किये जाने के कारण अत्यन्त सीमित था। इसके अतिरिक्त मताधिकार किसी स्थानीय संस्था के पूर्व अथवा वर्तमान पदाधिकारी होने, किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्धित पूर्व अथवा वर्तमान विशेष योग्यता रखने, सहकारी-निधि-समाज (Co-operative Banking Society) में पदाधिकार अथवा साहित्यिक योग्यता के आदर स्वरूप प्राप्त उपाधिधारी होने आदि पर भी निर्भर था। सन् १९२५ ई० में भी राज्य-परिषद् के लिए सब मताधिकारियों की संख्या १७,००० से अधिक नहीं थी। गवर्नर-जनरल परिषद के सदस्यों में से किसी एक को उसका सभापति नियुक्त करता था।

विधान सभा (Legislative Assembly) व्यवस्थापिका सभा का निम्न आगार (lower or popular chamber) थी। इसमें १०४ जनता द्वारा निर्वाचित, २६ सरकारी पदाधिकारी तथा १५ नामज़द गैरसरकारी, इस प्रकार सब मिला कर १४५ सदस्य होते थे। निर्वाचित सदस्यों में ५२ साधारण, ३० मुसलमान, २ सिख, ९ योरोपियन, ७ ज़मींदार तथा भारतीय व्यापार-हितों के प्रतिनिधि होते थे। नामज़द गैरसरकारी सदस्यों में दूसरों के अतिरिक्त, दलित जातियों, ऐंग्लो-इण्डियनों, भारतीय ईसाइयों, सम्मिलित व्यापार-सदनों (associated chambers of commerce) तथा श्रमिक हितों के भी एक-एक प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। प्रत्येक प्रान्त के सदस्यों की संख्या शासकों की दृष्टि में उस प्रान्त के महत्व को ध्यान में रख कर की गई थी, प्रान्त की जनसंख्या के आधार पर नहीं। छोटे प्रान्तों को दीर्घानुपात (weightage) दिया गया था। केन्द्रीय विधान सभा के लिये मताधिकार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था और मताधिकारियों के लिये प्रान्तीय विधान सभा की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति-योग्यता आवश्यक थी। परन्तु राज्य-परिषद (Council of State) के मताधिकारियों की अपेक्षा इसका स्तर फिर भी नीचा था। धारा सभा का जीवन-काल साधारणतया तीन वर्ष का था। धारासभा अपना सभापति स्वयं निर्वाचित करती थी, यद्यपि सुधार-योजना के पश्चात् पहली अवधि भर गवर्नर-जनरल द्वारा नामज़द सभापति ही कार्य करता रहा।

भारतीय व्यवस्थापक मण्डल को पूरे भारतवर्ष के लिये कानून बनाने का

अधिकार था। व्यवस्थापक मण्डल के दोनों आगारों की स्वीकृति तथा गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त कर लेने के बाद ही कोई विधेयक कानून माना जा सकता था। अर्थ-विधेयकों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के विधेयक व्यवस्थापिका के किसी आगार में पहले उपस्थित किये जा सकते थे। दोनों आगारों के बीच गतिरोध हो जाने पर गवर्नर-जनरल को दोनों की संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार प्राप्त था, परन्तु इस अधिकार का कभी प्रयोग नहीं किया गया। वास्तव में भारतीय व्यवस्थापिका कोई सम्पूर्ण सत्ताधारी विधि-निर्मात्री संस्था नहीं थी और उसके समस्त अधिकार प्रतिबन्धों से जकड़े हुये थे। यह सत्य है कि उसे ब्रिटिश भारत के भीतर सब व्यक्तियों, न्यायालयों तथा स्थानों और वस्तुओं के लिये कानून बनाने का अधिकार था। यह भी सत्य है कि वह भारतवर्ष के अन्य भागों में बसने वाले साम्राज्य के कर्मचारियों तथा प्रजाजनों के लिये भी कानून बना सकती थी। परन्तु प्रान्तीय विषयों से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर विचार करने अथवा प्रान्तीय धारासभा के किसी कानून का विखण्डन अथवा संशोधन करने के लिये उसे गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। भारत के लोक-ऋण (public debt) अथवा आगम (revenues), धर्म अथवा धार्मिक कृत्य, सरकार के विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध तथा सम्राट् की सेना के अनुशासन एवं संधारण से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों के लिये भी गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। सन् १८६० ई० के उपरान्त ब्रिटिश लोकसभा ने कई ऐसे कानून बनाये थे जो ब्रिटिश भारत में प्रचलित थे। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल इनका निर्माण, परिवर्तन अथवा विखण्डन ब्रिटिश लोकसभा से प्राधिकार प्राप्त किये बिना नहीं कर सकता था। व्यवस्थापक मण्डल भारत मन्त्री द्वारा इङ्गलैंड में भारत के लिये ऋण खड़ा करने के अधिकार को भी नहीं छू सकता था। यह ब्रिटिश सम्राट् अथवा लोक-सभा द्वारा स्वयं अपने ऊपर लगाये गये नियन्त्रणों को भी नहीं कम कर सकता था। उसे सम्राट् के योरोप में उत्पन्न हुये प्रजाजनों, अथवा उनके पुत्र-पुत्रियों को मृत्यु दण्ड देने का अधिकार उच्च न्यायालय (High Court) से नीचे किसी न्यायालय को देने की शक्ति नहीं प्राप्त थी। और अन्त में, वह किसी उच्च न्यायालय का उन्मूलन नहीं कर सकता था।

व्यवस्थापिका सभा स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) अथवा निन्दासूचक मत (vote of censure) उपस्थित करके, अथवा प्रश्नों और पूरक प्रश्नों द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण रखती थी। परन्तु ऐसे प्रस्तावों के लिये कम से कम पन्द्रह दिन की पूर्व सूचना आवश्यक होती थी। और यदि गवर्नर-जनरल किसी प्रस्ताव को जनहित के प्रतिकूल समझता हो तो वह उसे उपस्थित किये जाने से रोक भी सकता था। व्यवस्थापिका सभा के निम्न आगार (Lower House, Legislative Assembly) को विशेष रूप से कुछ आर्थिक अधिकार भी प्राप्त थे।

राज्य-परिषद् (Council of State) को बजट संपरिवर्तित अथवा अस्वीकार करने का अधिकार था, परन्तु वह उस पर बहस नहीं कर सकती थी। और न वह विभिन्न विभागों के अध्यक्षों द्वारा माँगे गये अनुदानों (grants) पर मत ही दे सकती थी। यह अधिकार केवल निम्न आगार को प्राप्त था। विधान सभा को, पहले की भाँति बजट तथा सरकार की अर्थनीति दोनों पर बहस करने का अधिकार तो था ही, अब वह बजट के अनुदानों पर अपना मत भी दे सकती थी। सरकार के आगम-नियोजन (appropriation of revenues) सम्बन्धी प्रस्तावों को दो वर्गों में बाँट दिया गया था। पहला वर्ग उन प्रस्तावों का था जिन पर विधान सभा अपना मत प्रकट कर सकती थी, और दूसरा उनका जो सभा के सम्मुख बहस अथवा मतदान के लिये उपस्थित ही नहीं किये जाते थे। दूसरे वर्ग में निम्नलिखित प्रकार के प्रस्ताव सम्मिलित थे:—(१) ऋणों पर ब्याज तथा प्रतिस्थापन कोष सम्बन्धी प्रभार (sinking fund charges) (२) ऐसा व्यय जिसकी पूर्ण राशि (amount) कानून द्वारा निर्धारित हो चुकी हो; (३) सम्राट् अथवा कौंसिल-सहित भारत मन्त्री द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों का वेतन तथा उत्तर-वेतन (pensions); (४) चीफ़ कमिश्नरों तथा न्यायिक कमिश्नरों का वेतन; और (५) ऐसा व्यय जिसे कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने धर्मार्थ एवं राजनैतिक अथवा रक्षा विभागों की कोटि में रखा हो। कोई व्यय उक्त कोटियों के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं इसका पूर्ण निर्णय गवर्नर-जनरल के हाथ में था। बिना उसकी सिफ़ारिश के किसी कार्य के लिये किसी आगम राशि के नियोजन का प्रस्ताव नहीं रखा जा सकता था।

विधान सभा को अधिकार था कि वह चाहे गवर्नर-जनरल की माँगों को स्वीकार करे चाहे अस्वीकार और चाहे घटाये, परन्तु गवर्नर-जनरल किसी माँग को अपने दायित्व-पालन के लिये आवश्यक घोषित करने के पश्चात् माँगी हुई धनराशि को स्वीकृत समझ कर प्रयोग कर सकता था। वह किसी व्यय को देश की शान्ति तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक बता कर प्राधिकार दे सकता था। वह व्यवस्थापिका सभा से किसी कानून को एक निर्धारित स्वरूप में स्वीकार करने की सिफारिश भी कर सकता था, और यदि व्यवस्थापिका सभा इतने पर भी उसका कहना न माने तो उसे यह "प्रमाणित" करने का अधिकार था कि अमुक विधेयक की स्वीकृति ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति, सुरक्षा अथवा हित-रक्षा के लिये आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में वह विधेयक गवर्नर-जनरल द्वारा "प्रमाणित" होते ही कानून बन जाता था, परन्तु ऐसे कानून ब्रिटिश लोकसभा के सम्मुख अवश्य भेजे जाते थे। गवर्नर-जनरल को किसी विधेयक अथवा संशोधन की कार्यवाही रोक देने का अधिकार भी दिया गया था। ऐसा करने के लिये उसे केवल यह प्रमाणपत्र देना होता था कि अमुक विधेयक अथवा संशोधन ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति

अथवा सुरक्षा के लिये घातक है। व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत प्रत्येक विधेयक के लिये गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। बिना इस अनुमति के वह कानून का रूप धारण नहीं कर सकता था। परन्तु अनुमति देने अथवा न देने के स्थान पर गवर्नर-जनरल किसी विधेयक को व्यवस्थापिका सभा द्वारा पुनर्विचार के लिये वापस भेज सकता था। उसे यह भी अधिकार था कि किसी विधेयक को सम्राट् के विचारार्थ रोक ले। गवर्नर-जनरल भारत की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये अधिक से अधिक ६ मास की अवधि तक के लिये अध्यादेश (Ordinances) भी जारी कर सकता था।

गृह-सरकार में परिवर्तन—सन् १६१६ के कानून में गृह-सरकार के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे। इसके पूर्व विधि-निर्माण, अर्थ-व्यवस्था तथा प्रशासन के क्षेत्रों में भारत सरकार पर भारत-मन्त्री का पूर्ण अंकुश रहता था। परन्तु सुधार के पश्चात् स्थिति बदल गई थी। भारतवर्ष में राजनैतिक आन्दोलन के फल-स्वरूप एक नई जागृति उत्पन्न हो रही थी और ब्रिटिश लोकसभा के सदस्य इस ओर अधिक रुचि लेने लगे थे। इसके फलस्वरूप भारतीय प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक संयुक्त सांसद समिति (Joint Parliamentary Committee) की स्थापना हुई। इधर प्रान्तों में आंशिक उत्तर-दायित्व के प्रचार और केन्द्र में निर्वाचित बहुमत वाली विधान सभा की स्थापना के कारण भारत मन्त्री के नियन्त्रणाधिकारों में संपरिवर्तन आवश्यक हो गया था। इस प्रकार सन् १६१६ के कानून के अन्तर्गत हस्तान्तरित विषयों (Transferred Subjects) के क्षेत्र में से भारत मन्त्री को केवल निम्नलिखित विषयों में ही हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया था:—(१) केन्द्रीय विषयों के प्रशासन का अभिरक्षण, (२) दो प्रान्तों के बीच विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय, (३) साम्राज्य-हितों का अभिरक्षण, (४) भारत तथा साम्राज्य के अन्य भागों के बीच उत्पन्न होने वाले प्रश्नों में भारत सरकार की स्थिति का मूल्यांकन, और (५) 'हाई कमिश्नर', तथा सार्वजनिक कर्मचारी वर्गों से सम्बन्धित अपने अधिकारों का अभिरक्षण। केन्द्रीय तथा आरक्षित विषयों के क्षेत्र में ऐसा कोई स्पष्ट परिसीमन (limitation) नहीं था, परन्तु पुरानी परम्परा पर आधारित एक ऐसी संप्रतिज्ञा (convention) अवश्य बन गई थी जिसके अनुसार सारे महत्वपूर्ण विधेयक तथा कुछ विशेष प्रकार के व्यय के प्रस्ताव अब भी भारत मन्त्री की स्वीकृति के लिये उसके पास भेजे जाते थे। भारत सरकार के प्रशासन-सम्बन्धी अधिकारों पर किसी प्रकार के प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध नहीं थे, परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न अब भी आदेश तथा निर्देशन के लिये भारत मन्त्री के पास भेजे जाते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत सरकार तथा उसके आगम-साधनों और सभी कार्यों पर भारत-मन्त्री का अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण का अधिकार सन् १६१६ ई० के कानून से ज्यों का

त्यों बनाये रखा। परन्तु भारत मन्त्री का उत्तरदायित्व भारतवासियों के प्रति न होकर ब्रिटिश लोकसभा के प्रति था। उसके प्रत्यक्ष नियन्त्रण की सीमा कुछ कम अवश्य हो गई थी परन्तु अप्रत्यक्ष नियन्त्रण की सीमा अब भी बहुत विस्तृत थी।

क्रू (Crewe) कमेटी ने भारत-कौंसिल के उन्मूलन की सिफारिश की थी, परन्तु इसका पालन नहीं किया गया। कौंसिल का विधान पहले से अधिक संपरिवर्तनशील अवश्य बना दिया गया था और भारत मन्त्री का उत्तरदायित्व भी अब अधिक वास्तविक हो गया था। अब भारतमन्त्री तथा उसके कार्यालय का वेतन ब्रिटिश राज्य-कोष से दिया जाने लगा। कौंसिल के संपरिवर्तित विधान के अनुसार अब उसमें कम से कम ८ और अधिक से अधिक १२ सदस्य होते थे और इनमें से कम से कम आधे सदस्यों के लिये नियुक्ति से पूर्व कम से कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में राज्यसेवा-कार्य अथवा निवास आवश्यक था। कौंसिल की सदस्यता की अवधि ७ वर्ष से घटा कर ५ वर्ष कर दी गई थी और उसमें भारतीय सदस्यों की वृद्धि की गई थी। परन्तु कौंसिल केवल एक मन्त्रणादात्री संस्था थी और वास्तविक शक्ति भारत मन्त्री के हाथ में ही थी। सन् १६१६ ई० के कानून में इङ्गलैंड में भारत के 'हाई कमिश्नर' की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गई थी और भारत मन्त्री के सारे एजेंसी प्रकार्य (agency functions) उसे सौंप दिये गये थे।

बारहवाँ अध्याय

द्वैध शासन-प्रणाली तथा देश की वैधानिक प्रगति

(१९२१-३५)

द्वैध शासन-प्रणाली के अनुभव—परिस्थितियाँ अनुकूल होते ही प्रान्तों को पूर्ण उत्तरदायित्व दे देने के उद्देश्य से सन् १९१९ ई० के कानून में द्वैध शासन-प्रणाली की व्यवस्था की गई थी। यह भारतवासियों को उत्तरदायित्वपूर्ण स्व-शासन कला की शिक्षा देने की दिशा में पहला क़दम था। वास्तव में यह एक नया तथा बेजोड़ प्रयोग था और इसकी सफलता के विषय में इसके निर्माताओं को भी सम्भवतः विशेष आशा न रही होगी। परन्तु भारतीय राष्ट्रवाद की माँगों को बहला कर टालने का दूसरा उपाय भी तो नहीं था। इसी प्रणाली के अन्तर्गत आरक्षित विषयों का प्रशासन कर्मचारी वर्ग के हाथों में सौंपा गया था और ये कर्मचारी गवर्नर जनरल तथा भारतमन्त्री के माध्यम से पूर्णतया ब्रिटिश लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते थे। परन्तु हस्तान्तरित विषयों के प्रशासक, लोकप्रिय मन्त्रीगण, प्रान्तीय धारासभा के प्रति उत्तरदायी थे। यह विभाजन कार्यरूप में तभी सफल हो सकता था जब कर्मचारी वर्ग तथा जननायक मन्त्री पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना के साथ कार्य कर सकते। परन्तु योजना के अन्तर्गत यह सम्भव ही नहीं था। अतएव द्वैध शासन प्रणाली प्रान्तों में पूर्ण असफल रही और इस असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) शासन-शक्तियों की एक पूर्णता होती है और वे एक दूसरी में ऐसी गुँथी रहती हैं कि पूर्णतया विलग नहीं की जा सकतीं। अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन-प्रणाली के अन्तर्गत अधिशासी एवं विधायी प्रकार्यों को पृथक करने का प्रयास किया जा चुका है, परन्तु इसमें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। फिर केवल अधिशासी प्रकार्यों का दो पूर्ण-विलग वर्गों में उप-विभाजन किस प्रकार सफल हो सकता था? और जब सन् १९१९ ई० के कानून के अन्तर्गत भारतीय प्रान्तों में द्वैध-शासन आरम्भ हुआ तब इस प्रणाली के दोष उभर कर सामने आने लगे। हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में मन्त्रियों की कोई योजना अर्थ तथा शान्ति-सुव्यवस्था विभागों के प्रशासकों के सक्रिय सहयोग और सहायता बिना आगे नहीं बढ़ सकती थी। दोनों प्रकार के अधिशासी वर्गों के प्रकार्य-क्षेत्रों को पृथक करने का प्रयास संघर्ष का कारण बन जाता था। मद्रास के भूतपूर्व मन्त्री सर के० वी० रेड्डी ने सुधार परिपृच्छा कमेटी (Reforms Enquiry Committee) के सम्मुख अपने स्मृति-पत्र में कहा था : "मैं विकास-

मन्त्री था, परन्तु बन मेरे अधिकार में नहीं थे; मैं कृषिमन्त्री था परन्तु सिंचाई पर मेरा अधिकार नहीं था।...मैं उद्योग मन्त्री था, परन्तु कल-कारखानों, वाणिकों, विद्युत-शक्ति, जल शक्ति, खनिज पदार्थों तथा श्रम पर मेरा कोई अधिकार नहीं था। यह सब आरक्षित विषय थे।" संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व मन्त्री श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने भी उक्त कमेटी के सम्मुख इसी बात पर ज़ोर दिया कि अधिक महत्वपूर्ण विषय आरक्षित सूची में होने के कारण इस विभाजन में हस्तान्तरित विभागों की स्थिति आरक्षित विभागों के अधीन होगई थी।

(२) गवर्नर को अपने मन्त्रियों पर वास्तविक तथा निरंकुश अधिकार प्राप्त थे। यदि वह वैधानिक प्रधान का-सा व्यवहार करता और केवल ऐसी बातों में हस्तक्षेप करता जहाँ मन्त्रियों द्वारा किसी के अधिकारों पर गम्भीर आघात हुआ हो, तो सुधार-योजना को कार्यान्वित करने में कुछ सफलता प्राप्त हो सकती थी। परन्तु व्यवहार-रूप में सारी शक्तियाँ उसी के हाथों में केन्द्रित थीं और वह हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में नीति-विषयक तथा विस्तार-सम्बन्धी दोनों प्रकार के प्रश्नों में हस्तक्षेप करता था। इन परिस्थितियों में मन्त्रियों के सारे अधिकार नाममात्र के ही थे। गवर्नर से आशा की जाती थी कि वह मन्त्रियों तथा परिषद् के सदस्यों के बीच संतुलित न्याय की व्यवस्था करेगा। परन्तु वह बहुधा परिषद् का ही पक्ष लेता था। मन्त्री अपने पद-निर्वाह के विशेष इच्छुक होते थे और धारासभा के नामज़द सदस्यों की सहायता तथा आरक्षित विभागों और कर्मचारियों के सहयोग के लिये उन्हें गवर्नर की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता था। अतएव उनकी स्थिति धीरे-धीरे सचिवों (glorified secretaries) की सी रह जाना स्वाभाविक ही था। बहुधा मन्त्रियों को ही बाद में आरक्षित विषयों के अधिशासक मंडल के सदस्य बना लिया जाता था। इससे जनता की यह धारणा और भी दृढ़ होती गई कि मन्त्री लोग सदा सरकार के आदमी हो जाते हैं। इस प्रकार यह मन्त्री अपने देश तथा प्रान्त की जनता से दूर हो जाते थे। एक प्रावधान इस आशय का भी था कि उत्तरदायी मन्त्री तथा कौंसिल के सदस्य संकेत अथवा मतदान द्वारा एक दूसरे का विरोध नहीं कर सकते थे। परन्तु वास्तव में इस प्रावधान का प्रभाव उल्टा ही हुआ और प्रशासी वर्ग तथा धारासभा के बीच की खाई और चौड़ी हो गई। मन्त्रियों को विवश होकर कौंसिल के सदस्यों की नीति का समर्थन करना ही पड़ता था।

(३) लोकप्रिय मन्त्रियों की एक और भारी असमर्थता थी जिसके कारण वे शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि राष्ट्र-निर्माणकारी सेवाओं का विस्तार नहीं कर पा रहे थे। प्रान्त की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था अर्थ-सदस्य के हाथों में रहती थी और कौंसिल का सदस्य होने के नाते उसे इस बात की विशेष चिन्ता रहती थी कि सबसे पहले आरक्षित विभागों को इच्छित धन मिल जाये। और अन्य विभागों की बारी आते-आते

यथेष्ट धन भी शेष नहीं रह जाता था। हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रान्त की आय के साधन अत्यन्त संकुचित थे। इसके अतिरिक्त प्रान्त केन्द्रीय सरकार को प्रति वर्ष अंशदान के रूप में धन देते थे। इन सब बातों के फलस्वरूप प्रान्तों में सदा आर्थिक कठिनाई ही बनी रहती थी। बहुधा ऐसा हो जाता था कि अर्थ-विभाग धनाभाव के कारण मन्त्रियों की निर्माण-योजना पर विचार भी नहीं करता था। कभी-कभी अर्थ-विभाग नीतिवश भी अनुदान अस्वीकार कर देता था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-विभाग मन्त्रियों को मनचाहा नाच नचा सकता था। आरक्षित विभागों को धन की कमी नहीं रहती थी परन्तु मन्त्रीगण सदा धनाभाव से पीड़ित रहते थे।

(४) मन्त्रियों तथा सरकारी कर्मचारियों के पारस्परिक सहयोग के बिना कोई शासन सफल नहीं हो सकता। परन्तु द्वैधशासन प्रणाली के अन्तर्गत इस सहयोग का पूर्ण अभाव था। वास्तव में इस प्रणाली में सहयोग सम्भव ही नहीं था, क्योंकि दोनों पक्षों के दृष्टिकोण में धरती-आकाश का अन्तर था। दोनों वास्तविक अधिकार के लिये प्रयत्नशील रहते थे और प्रतिद्वन्दिता तथा संघर्ष प्रतिदिन की बात हो गई थी। मन्त्री कहते थे कि कर्मचारी वर्गों को उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिये और कर्मचारीगण अपने आपको अनुभवहीन मंत्रियों से अधिक कार्यकुशल समझकर मंत्रियों का निर्देशन करना चाहते थे। प्रशासी कार्यवाही के नियमों के अनुसार मंत्री तथा किसी सचिव अथवा विभागाध्यक्ष के बीच मतभेद होने पर वह प्रश्न गवर्नर के अन्तिम निर्णय के लिये भेज दिया जाता था। सचिवों को बहुधा गवर्नर से प्रत्यक्ष सम्पर्क के अवसर प्राप्त होते रहते थे। वास्तव में बम्बई, मद्रास और बगाल के अतिरिक्त शेष प्रान्तों में अधिकतर गवर्नर तथा सचिव एक ही कर्मचारीवर्ग के होते थे। अतएव सचिवगणों का गवर्नर पर अधिक प्रभाव रहता था। यह स्थिति मन्त्रियों के लिये विशेष अपमानजनक थी क्योंकि उनका अखिल-भारतीय कर्मचारी वर्गों पर कोई प्रभुत्व नहीं होता था। वास्तव में उन्हें किसी पद विशेष का उन्मूलन अथवा प्रान्तीयवर्ग में स्थानान्तरण करने तक का अधिकार नहीं था। इस प्रकार कर्मचारीवर्ग नियमानुसार मन्त्रियों के अधीन होते हुये भी वास्तव में स्वतन्त्र तथा भारतमन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होते थे।

(५) अधिशासक कौंसिल के सदस्य आरक्षित विषयों का प्रशासन करते थे। परन्तु विधानसभा चाहते हुये भी उन्हें हटा नहीं सकती थी। अतएव वे अपने आपको मन्त्रियों से ऊँचा समझकर उनके साथ संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करने के लिये तैयार नहीं थे। वे कभी मन्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं करते थे और स्वयं गवर्नर भी इस प्रकार की भावना को प्रोत्साहन नहीं देते थे। मन्त्रिगण स्वयं किसी एक राजनैतिक दल से सम्बन्धित नहीं होते थे। वास्तव में गवर्नर धारासभा के 'हाँ-हुजूरी' करने वाले सदस्यों को छाँट-छाँट कर मन्त्री बनाया करते थे। अतएव

मन्त्रिगण सदा कौंसिल पर निर्भर रहते थे। गवर्नर उनसे व्यक्तिगत परामर्श करते थे और सामूहिक मन्त्रणा का कभी अवसर ही नहीं आता था। अतएव मन्त्रियों में एकता अथवा सामूहिक भावना का अभाव स्वाभाविक था। नौकरशाही का प्रभुत्व संयुक्त उत्तरदायित्व अथवा मन्त्रिमण्डल प्रणाली के सिद्धान्त की स्वीकृति द्वारा कम किया जा सकता था। परन्तु लोगों को सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि प्रान्तों में मन्त्रिगण होते थे, मन्त्रिमण्डल नहीं। कभी-कभी तो दो विरोधी दलों के सदस्य भी मन्त्री हो जाते थे और वे अपने आपको एक दूसरे का समर्थन करने के लिये भी बाध्य नहीं मानते थे। साम्प्रदायिक भेदभाव से इस प्रकार का द्वेष अधिक तीव्र हो जाता था।

(६) विधानसभा के अनेक साम्प्रदायिक तथा वर्ग-हितप्रधान दलों में विभाजित रहने के कारण अधिकतर मन्त्रियों को परिषद् के आरक्षित वर्गीय सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। विधानसभा में केवल एक सुसंगठित राजनैतिक दल स्वराज्यवादियों का था परन्तु वे संविधान को विध्वंस करने पर तुले थे। इन परिस्थितियों में पदाकाँक्षी सदस्यों के लिये नामज़द तथा सरकारी सदस्यों का वर्ग विशेष महत्वपूर्ण हो गया था। नियमानुसार मन्त्रिगण धारासभा के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु वास्तव में वे सभा के निर्वाचित सदस्यों की अवहेलना कर सकते थे। सरकारी सदस्यों के समर्थन बिना उनका कार्य नहीं चल सकता था।

प्रणाली के उपरोक्त स्वभावगत दोषों तथा भारतीय काँग्रेस के विरोध के फलस्वरूप, द्वैध-शासन प्रणाली लगभग समाप्त हो गई। उसे अपने निर्माताओं का प्रमुख उद्देश्य प्राप्त करने में भी सफलता नहीं मिली, क्योंकि यह न तो उत्तरदायी शासन की वास्तविक शिक्षा दे सकी और न निर्वाचक मण्डल को राजनैतिक जागरण का प्रकाश ही। स्वराज्यवादियों के अतिरिक्त किसी शक्तिशाली राजनैतिक दल की स्थापना नहीं हुई। स्वराज्यवादियों ने लगभग सभी प्रान्तों में यथेष्ट स्थान प्राप्त कर लिये थे। बङ्गाल और मध्यप्रान्त में उन्होंने मन्त्रियों के वेतन सहित समस्त प्रदायों (supplies) की स्वीकृति ही असम्भव कर दी थी और उक्त प्रान्तों के गवर्नरों को द्वैध-प्रणाली का स्थगन कर हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन अपने हाथ में लेने पर विवश होना पड़ा। शासन सभी स्थानों में एक संयुक्त इकाई के रूप में था और एक दूसरे की सहायता पर निर्भर आरक्षित तथा हस्तान्तरित विभाग गवर्नर के अभिरक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण में चलते थे। द्वैध शासन तथा विभाजित उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों की सभी ओर अवहेलना हो रही थी और शासन के दोनों भागों की संयुक्त मन्त्रणा एक साधारण बात हो गई थी। मन्त्रिगण स्वयं नौकरशाही के एक आवश्यक अंग तथा कार्यकारिणी कौंसिल सभा के सदस्यों की भाँति अनुत्तरदायी बन गये थे। और इस प्रकार द्वैध शासन-प्रणाली वास्तव में "एक असंगत आधारवाली, बोझिल, दुरूह तथा अस्तव्यस्त प्रणाली सिद्ध हुई जिसका आधार समझौता था और जिसके पक्ष में केवल

इतना कहा जा सकता है कि यह एक संक्रांति-कालीन उपायमात्र थी[1]।"

इतना होने पर भी प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं ने थोड़ा बहुत रचनात्मक कार्य अवश्य किया। उन्होंने स्थानीय स्व-शासन, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा, गृह-उद्योग, ग्राम्य सहकारिता, तथा कृषि-विकास, आदि दिशाओं में नीति निर्धारित करने का भारी प्रयत्न किया। सन् १६२१ ई० के बाद से प्रान्तीय विधि-निर्माण की साधारण प्रवृत्ति स्थानीय स्वशासन की विभिन्न संस्थाओं के अधिक लोकतन्त्रात्मक पुनर्निर्माण की ओर होने लगी। मतदान की सीमा बढ़ाकर ऐसी संस्थाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। सुधार योजना के पूर्व स्थानीय स्वशासित संस्थाओं का सभापति अधिकतर ज़िलाधीश ही होता था। परन्तु अब सरकारी नियन्त्रण के स्थान पर ग़ैर सरकारी नियन्त्रण स्थापित करने की ओर बराबर प्रगति हो रही थी। शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जा रहा था और भारत के प्रत्येक प्रान्त के कुछ क्षेत्रों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रचार हो रहा था। परन्तु उन्नति की गति बहुत धीमी थी और जन-साधारण की आर्थिक समृद्धि के लिये विशेष कुछ नहीं किया जा रहा था। तथापि प्रत्येक प्रान्त ने औद्योगिक प्रशिक्षण तथा नवीन-धन्धों को प्रोत्साहन देकर औद्योगिक उन्नति का श्रीगणेश किया। कृषि के क्षेत्र में भी भूमि-स्वामित्व कानून के सुधार का प्रयत्न हो रहा था, परन्तु साधारणतया परिस्थिति संतोषजनक नहीं थी। सहकारी समितियों के माध्यम से थोड़ा बहुत ग्राम-सुधार का कार्य भी हुआ था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र-निर्माणकारी विभागों के मन्त्रियों ने कुछ कार्य अवश्य किया परन्तु एक वस्तुतः जनतन्त्रवादी तथा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली के अन्तर्गत जो कुछ किया जा सकता था उसकी तुलना में यह सब छायामात्र था।

मुडीमैन कमेटी—द्वैध शासन-प्रणाली 'माण्टफर्ड' सुधार-योजना की मुख्य विशेषता थी। अतएव उसके इस प्रकार असफल सिद्ध हो जाने पर भारतीय जनमत के सभी पक्ष सुधार-योजना को अपूर्ण, असन्तोषप्रद तथा निराशाजनक समझने लगे। सन् १६२१ ई० से सन् १६२३ ई० तक भारतीय जनता विशेष क्षुब्ध रही और कुछ ऐसे कारण उठ खड़े हुये (जिनका उल्लेख हम राष्ट्रीय आन्दोलन के अध्याय में कर चुके हैं) जिनके फलस्वरूप भारतीयों में विरोध-भावना का जन्म हुआ और स्वराज्य के पक्ष में किये जाने वाले प्रचार को बल मिला। परन्तु असहयोग आन्दोलन की स्पष्ट असफलता से राष्ट्रवादियों की सरकार-विरोधी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन आवश्यक हो गया था। चितरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य दल की स्थापना की

1. Dyarchy as such proved "a combrous, complex and confused system, having no logical basis, rooted in compromise and defensible only as a transitional expedient."

और धारासभाओं को सुधारने अथवा ध्वंस करने का उद्देश्य लेकर उनमें प्रवेश किया। फरवरी सन् १६२४ ई० में केन्द्रीय धारासभा में भारत की वैधानिक प्रगति पर एक महत्वपूर्ण विवाद हुआ जिसमें मोतीलाल नेहरू ने भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना तथा उसकी योजना बनाने के लिये एक प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन बुलाये जाने की माँग की। नेहरू जी का यह प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकार किया गया। इस पर भारत सरकार ने सन् १६१६ ई० के कानून द्वारा प्रचलित शासन प्रणाली के व्यावहारिक अनुभव का अध्ययन करने तथा उसके दोषों को दूर करने की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिये सर अलेक्ज़ाण्डर मडीमैन के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने दो रिपोर्टें दीं। पहली रिपोर्ट बहुमत पक्ष की थी और इस पर तीन अँग्रेज़ तथा दो भारतीय सदस्यों ने हस्ताक्षर किये थे। इसमें कहा गया था कि प्रान्तों को महत्वपूर्ण राजनैतिक अनुभव प्राप्त कराने में सन् १६१६ के कानून को यथेष्ट सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त इस रिपोर्ट में द्वैध-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत प्रशासन-व्यवस्था को सुधारने के लिये सुझाव भी उपस्थित किये गये थे। दूसरी रिपोर्ट अल्पमत पक्ष की थी, जिस पर सर तेजबहादुर सप्रू तथा तीन अन्य भारतीय सदस्यों ने हस्ताक्षर किये थे। इसमें कहा गया था कि द्वैध-प्रणाली वास्तव में कार्यान्वित होने योग्य नहीं है। इसमें अनेक स्वाभाविक दोष हैं और प्रान्तीय व्यवस्था का सुधार उसी दशा में सम्भव है जब परिस्थिति में पूर्ण तथा सैद्धान्तिक परिवर्तन हो। द्वैध शासन-प्रणाली की इस निन्दा का भारतीय जनमत के सभी पक्षों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। काँग्रेस ने यह राष्ट्रीय माँग ऊँची की कि शीघ्र ही भारतवर्ष के लिये पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर संविधान बनाने के लिये एक गोलमेज़ सम्मेलन बुलाया जाय। और सरकार के विरोध करने पर भी केन्द्रीय धारासभा ने यह माँग भारी बहुमत से स्वीकार कर ली। जहाँ तक द्वैध शासन का सम्बन्ध है, अब इङ्गलैण्ड के अनुदार राजनीतिज्ञ भी इस प्रणाली को व्यर्थ तथा निष्प्रयोजन समझने लगे थे। सन् १६२५ ई० में तत्कालीन भारतमन्त्री लार्ड बर्कनहेड ने स्वयं स्वीकार किया कि द्वैध शासन-प्रणाली वास्तव में एक आडम्बरपूर्ण व्यवस्था है। उन्होंने कहा कि यह प्रणाली अँग्रेज़ों के अनुकूल न होने के कारण उन जातियों के अनुकूल भी नहीं हो सकती है जिनपर इङ्गलैण्ड की राजनैतिक विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ चुका हो[1]।

साइमन कमीशन—उस समय ब्रिटिश सरकार ने भारत की केन्द्रीय धारासभा द्वारा स्वीकृत राष्ट्रीय माँग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु इसके दो

1. "Dyarchy was a pedantic arrangement unsuited to Anglo-Saxons and, therefore, to those whose polititai ideas were based on Anglo-Saxon ideas."—*Lord Birkenhead.*

वर्ष पश्चात् सन् १९२७ ई० में उसने सन् १९१९ ई० के कानून द्वारा प्रस्तावित दस वर्ष की अवधि के पूर्व ही परिपृच्छा (Enquiry) कमीशन की नियुक्ति के लिये ब्रिटिश लोकसभा की अनुमति माँगी। ८ नवम्बर सन् १९२७ ई० को इस कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई। इसमें अध्यक्ष सर जान साइमन को मिला कर कुल ७ अँग्रेज़ सदस्य थे। इसका उद्देश्य सन् १९१९ ई० की सुधार-योजना के अनुभवों की विवेचना करते हुये इस विषय में मत प्रकट करना था कि "उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सिद्धान्तों की स्थापना किस सीमा तक वाँछनीय होगी।" भारतीय जनता चाहती थी कि इस कमीशन के सदस्यों में कुछ भारतीय भी हों, परन्तु जनमत की अव-हेलना कर इस "सम्पूर्ण गौरांग कमीशन" (All White Commission) की नियुक्ति की गई थी। इसके परिणाम स्वरूप भारत के सभी राजनैतिक दलों ने कमीशन की अत्यन्त तीव्र आलोचना की। काँग्रेस, उदारवादी, मुस्लिम लीग आदि सभी दल कमीशन के निर्माण से असंतुष्ट थे और उसके गौरांग स्वरूप को भारत के राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का अपमान समझ कर उसके साथ सहयोग करना अस्वीकार कर चुके थे। इतना ही नहीं, भारतीय नेताओं ने एक उद्देश्य-पत्र भी निकाला जिसमें उपरोक्त असहयोग की घोषणा करते हुये कहा गया था कि कमीशन के सदस्यों का चुनाव इस प्रकार होना चाहिये कि भारतीय राजनीतिज्ञ भी अँग्रेज़ों के साथ समता के स्तर पर मंत्रणा में भाग ले सकें। २४ नवम्बर को ब्रिटिश लोकसभा ने निश्चय किया कि भारत की व्यवस्थापिका सभा कमीशन के समान स्तर की एक भारतीय समिति नियुक्त करेगी तथा दोनों कमेटियाँ साक्ष्य संग्रह करने के पश्चात् अपनी-अपनी रिपोर्टें ब्रिटिश लोकसभा के दोनों आगारों की एक संयुक्त समिति के समक्ष उपस्थित करेंगी। परन्तु यह निर्णय बहुत देर में हुआ। इधर साइमन कमीशन के वहिष्कार को आशातीत सफलता मिल रही थी। अतः भारतीय व्यवस्थापिका सभा ने साइमन कमीशन के साथ सहयोग करने के लिये उपरोक्त भारतीय समिति नियुक्त करना भी स्वीकार नहीं किया। इस पर स्वयं वाइसराय ने विधान-सभा से ५ सदस्यों को नामज़द कर दिया और राज्य-परिषद् ने अपने ३ सदस्य निर्वाचित किये।

नेहरू रिपोर्ट—इधर काँग्रेस के नेतागण उदारवादियों से परामर्श कर रहे थे और अन्त में वे इस निश्चय पर पहुँचे कि इस अवसर पर दोनों दलों को मूल राष्ट्रीय माँग पर सहमत होकर संयुक्त मोर्चा उपस्थित करना चाहिये। सन् १९२८ ई० में लखनऊ के सर्व-दल सम्मेलन (All-Parties Conference) में इस धारणा को ठोस स्वरूप मिला। इस सम्मेलन में ही नेहरू-कमेटी की ऐतिहासिक रिपोर्ट का निर्माण हुआ। नेहरू-रिपोर्ट के प्रारूप का आधार स्व-शासित उपनिवेशों के संविधानों के आधार पर भारत के लिये पूर्ण उत्तरदायी शासन था। इसके अनुसार राज्य की विधायी शक्ति ब्रिटिश सम्राट् तथा भारत की द्विआगारिक धारासभा को सौंपी गई थी;

कार्यकारिणी शक्ति सम्राट में निहित मानी गई थी, परन्तु उसका प्रयोग सम्राट् के प्रतिनिधि भारत के गवर्नर-जनरल द्वारा किये जाने का प्रस्ताव था। गवर्नर-जनरल वैधानिक प्रधानमन्त्री (constitutional head) था तथा अपने मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणानुसार ही कार्य कर सकता था। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया था, परन्तु कार्यकारिणी के शेष सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर निर्भर थी। केन्द्रीय धारासभा के निम्न आगार का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर, तथा उत्तर-आगार का निर्वाचन प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा होने की व्यवस्था की गई थी। संविधान में एक अखिल भारतीय संघ की रूपरेखा बनाई गई थी और एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की व्यवस्था की गई थी। देशी राज्य अपने विशेषाधिकारों का संघ के पक्ष में त्याग करने के पश्चात् संघ में सम्मिलित हो सकते थे। संघ तथा प्रान्तों के बीच आय-साधनों के विभाजन पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति का आयोजन था। तत्कालीन केन्द्रीय कर्मचारी वर्ग (Central Services) के संघीय कर्मचारी वर्ग में परिणत हो जाने की व्यवस्था थी और उन पर भारतीय धारासभा का पूर्णाधिकार होता। नयी भारतीय व्यवस्थापिका सभा को भारतीय सेना के लिये कानून बनाने और बजट स्वीकार करने का अधिकार दिया गया था और सेना का नियन्त्रण उत्तरदायी भारतीय रक्षामन्त्री के हाथों में सौंपा गया था। साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिये संविधान में ही एक अधिकार-पत्र के समावेश की योजना थी जिसमें सभी भारतीयों को धर्म तथा विश्वास की स्वतन्त्रता देने, वयस्क मताधिकार का प्रचलन करने, मुसलमानों के लिये स्थानों के आरक्षण तथा उनके चार बहुसंख्यक प्रान्त बनाने के उद्देश्य से प्रान्तों के पुनर्विभाजन का आश्वासन दिया गया था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नेहरू रिपोर्ट में क्रियात्मक सामान्य बुद्धि का परिचय देते हुये सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया था।

लार्ड इर्विन की घोषणा—साइमन कमीशन ने सन् १९२८ ई० के प्रारम्भिक महीनों में भारत का पहला दौरा किया और तीन मास तक यहाँ रहकर परिस्थिति का साधारण निरीक्षण किया। अप्रैल में कमीशन इङ्गलैण्ड लौट गया। परन्तु अक्टूबर में और साक्ष्य संग्रह करने के लिये उसने भारत का दूसरा दौरा किया। इधर बहिष्कार भी पूर्ववत् चल रहा था। अतएव कमीशन के निष्कर्षों में मान्यता का अभाव स्वाभाविक ही था। लार्ड इर्विन स्वयं मन्त्रणा के लिये इङ्गलैण्ड गये और वहाँ से लौटकर उन्होंने अपनी ३१ अक्टूबर सन् १९२९ ई० की प्रसिद्ध घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया था कि भारत की राजनैतिक आकाँक्षा का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य है और साइमन कमीशन तथा भारतीय समिति की रिपोर्टें आ जाने पर लन्दन में एक गोलमेज़ सम्मेलन बुलाया जायेगा, जिसमें ब्रिटिश सरकार, ब्रिटिश

भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों के साथ मिल कर उस अन्तिम योजना के विषय में अधिक से अधिक सहमति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी जो सम्राट् की सरकार द्वारा ब्रिटिश लोकसभा के सम्मुख प्रस्तुत की जायेगी। हम पहले ही देख चुके हैं कि वाइसराय की इस गोलमोल घोषणा से असन्तुष्ट होकर ही काँग्रेस ने दिसम्बर सन् १९२९ ई० में अपना लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य से बदलकर पूर्ण स्वराज्य कर लिया।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट—यह रिपोर्ट मई सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुई। और नेहरू रिपोर्ट से पूर्णत: विपरीत आदर्शों पर आधारित थी। इसके अनुसार भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिलने की कोई संभावना नहीं थी। इतना ही नहीं, कमीशन ने उत्तरदायित्वपूर्ण केन्द्रीय शासन तक की सिफ़ारिश नहीं की थी। साइमन कमीशन की सिफ़ारिशों की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार की जा सकती है:—

(१) प्रान्तों में वस्तुत: उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना की जाय। द्वैध शासन प्रणाली सफल नहीं हो सकी थी, अतएव उसका निश्चित रूप से अन्त कर दिया जाय। शान्ति तथा सुव्यवस्था (law and order) सहित सभी प्रान्तीय विषय मन्त्रियों के नियन्त्रण में दे दिये जायँ जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हों। परन्तु इच्छित प्रान्तीय स्वराज्य की सफलता के लिये अभिरक्षण आवश्यक हैं। अतएव गवर्नर को कुछ ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त रहें जिनके बल पर वह प्रान्त की शान्ति-सुव्यवस्था, अल्पसंख्यकों की रक्षा, आदि महत्वपूर्ण विषयों में अपने मन्त्रियों की मंत्रणा के विरुद्ध भी कार्य कर सके। प्रान्तों पर भारत सरकार के पूर्ण नियन्त्रण की भी व्यवस्था थी।

(२) अधिक उत्तरदायित्व-वहन के लिये अधिक विस्तृत जनमत का आधार आवश्यक है। अतएव प्रान्तीय धारासभाओं का विस्तार किया जाये तथा प्रान्तीय निर्वाचन के मताधिकार की सीमायें बढ़ाई जायँ। प्रान्तीय धारासभाओं के निर्वाचन प्रत्यक्ष हों तथा जातीय एवं साम्प्रदायिक भेदभाव के कारण विभिन्न सम्प्रदायों को पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाय।

(३) केन्द्रीय शासन के क्षेत्र में, रिपोर्ट में स्वशासित राज्यों के एक भारतीय संघ की कल्पना की गई थी। कमीशन केन्द्रीय व्यवस्था में द्वैध-प्रणाली आरम्भ करने के पक्ष में नहीं था। यह अत्यावश्यक स्वीकार किया गया था कि केन्द्रीय कार्यकारिणी एक हो तथा उस पर धारासभा का नियन्त्रण न हो। परन्तु यह स्थिति सदा नहीं चल सकती थी, अतएव देशी राज्यों के संघ में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् इस पर पुनर्विचार करने की व्यवस्था थी। संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वि-आगारिक हो परन्तु संघीय विधानसभा प्रत्यक्ष निर्वाचित न होकर प्रान्तीय कौंसिलों के सदस्यों द्वारा चुनी जाय। प्रान्तों के बीच स्थानों का विभाजन जनसंख्या के आधार पर किया जाय।

राज्य-परिषद् में प्रत्येक प्रान्त के तीन-तीन सदस्य हों। केन्द्रीय व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी के पदच्युत करने का अधिकार न हो। वास्तव में केन्द्रीय शासन में उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का प्रयोग प्रान्तों के उत्तरदायी शासन की सफलता पर निर्भर माना गया था। अत: उसके लिये प्रतीक्षा अनिवार्य थी।

(४) भारत तथा इङ्गलैंड के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, भारत की रक्षा के विषय को अभी बहुत समय तक केवल भारत का उत्तरदायित्व नहीं समझा जा सकता था। यह उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार अपने ऊपर ले सकती थी और ऐसी दशा में भारत को केवल अपनी आन्तरिक शान्ति-सुव्यवस्था के लिये आवश्यक सेना का संधारण करना था। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि भारत की विशाल सेना पर इङ्गलैंड का नियन्त्रण रहे परन्तु उसके व्यय का भार भारत वहन करे।

(५) अखिल भारतीय कर्मचारीवर्गों की भरती भारतमन्त्री ही किया करें और कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल पर उनका आधिपत्य पूर्ववत् बना रहे।

(६) समय-समय पर सुधारों की जाँच करने की प्रथा का अन्त कर दिया जाय और नया संविधान ऐसा हो कि उसमें स्वयं अपने विकास की सम्भावनायें उपस्थित हों।

(७) और अन्त में, कमीशन ने सिफारिश की थी कि सम्राट् भारत के लिये एक कौंसिल की स्थापना करे जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य, दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। यह कौंसिल सामान्य हित के सभी प्रश्नों पर विचार-विनिमय किया करे, परन्तु इसे केवल परामर्श देने का ही अधिकार हो।

कीथ (Keith) ने अपनी पुस्तक (Constitutional History of India) में इस विषय पर अपना मत प्रकट करते हुये लिखा है कि "साइमन रिपोर्ट की पूर्ण अस्वीकृति सम्भवत: भारतीय जनमत की मूर्खता थी। यदि यह स्वीकार कर ली गई होती·········तो बाद की योजनाओं से कहीं पहले प्रान्तों में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन की स्थापना हो गई होती।" परन्तु वास्तविकता यह है कि साइमन कमीशन ने जिस प्रान्तीय स्वराज्य की सिफारिश की थी उसमें आवश्यकता से भी अधिक अभिरक्षण जुड़े हुये थे। और जहाँ तक केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, कमीशन थोड़े उत्तरदायित्व के पक्ष में भी नहीं था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कमीशन की रिपोर्ट में भारत की राष्ट्रीय माँग नाममात्र को भी स्वीकार नहीं की गई थी। और इन परिस्थितियों में भारत द्वारा उनकी उपेक्षा भी उचित तथा स्वाभाविक ही थी। सर शिवस्वामी अय्यर सरीखे अनुदारवादी (moderate) भी उसे "कूड़े के ढेर में डाल देने" के पक्ष में थे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के थोड़े ही समय बाद केन्द्रीय भारतीय समिति ने भी अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं। इनमें अधिकांश रूप में साइमन

कमीशन के सुझावों का ही अनुमोदन किया गया था, परन्तु साथ ही यह प्रस्ताव भी किया गया था कि रक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्ध के अतिरिक्त शेष सभी विभागों में केन्द्रीय कार्यकारिणी को धारासभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये। इधर भारत सरकार ने भी अपने तथा प्रान्तीय सरकारों के विचारों पर प्रकाश डालते हुये भारत मन्त्री के पास एक पत्र भेजा जिसमें कहा गया था कि भारत सरकार की स्थिति स्वतन्त्र होनी चाहिये। परन्तु शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता तथा गवर्नर-जनरल का नियंत्रण आवश्यक था।

गोलमेज़ सम्मेलन—अप्रैल सन् १६३० ई० में कांग्रेस ने अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया था। आन्दोलन पूर्ण वेग पर था जिस समय जुलाई सन् १६३० ई० में वाइसराय ने केन्द्रीय धारासभा के समक्ष अपने भाषण में घोषणा की कि सरकार अब भी वैधानिक सुधार के ही पथ का अनुसरण करेगी। एक ओर भारत में सरकार का दमन-चक्र निर्दय कठोरता के साथ घूम रहा था, दूसरी ओर लन्दन में पहले गोलमेज़ सम्मेलन की तैयारियाँ की जाने लगीं। यह सम्मेलन १२ नवम्बर सन् १६३० ई० को आरम्भ हुआ। सम्मेलन का उद्घाटन स्वयं सम्राट् ने किया और इङ्गलैंड के प्रधान मन्त्री महोदय उसका सभापतित्व कर रहे थे। इसमें इङ्गलैंड के तीनों राजनैतिक दलों के प्रमुख सदस्य तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के अतिरिक्त शेष सभी भारतीय सम्प्रदायों तथा संस्थाओं के सदस्य (प्रतिनिधि नहीं) भाग ले रहे थे। जिन भारतीयों को सरकार ने इस सम्मेलन में भाग लेने के लिये चुना था उनमें से अधिकांश प्रतिक्रियावादी तथा सम्प्रदायवादी थे। तथापि पहला गोलमेज़ सम्मेलन किसी सीमा तक सफल ही रहा। इसमें भारत में संघराज्य स्थापित करने की सिफ़ारिश की गई और देशी नरेशों तक ने अपने अधिकारों की रक्षा की माँग करते हुये उसमें सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की। सम्मेलन में उत्तरदायित्वपूर्ण केन्द्रीय शासन के सिद्धान्त का समर्थन किया गया और कहा गया कि भविष्य में भारत को अपनी रक्षा स्वयं करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

सम्मेलन के निष्कर्षों की विस्तृत समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी पक्ष भारत में एक ऐसे संघ-राज्य की स्थापना चाहते थे, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के साथ-साथ देशी राज्य भी सम्मिलित हों। इस विषय में भी कोई मतभेद नहीं था कि संघीय व्यवस्थापिका सभा द्वि-आगारिक हो, जिसका उत्तर-आगार प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा निर्वाचित हो, परन्तु निम्न-आगार के लिये साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों और प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली का प्रयोग किया जाय। और गवर्नर-जनरल अपने रक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्धों के विशेष उत्तरदायित्व के क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में अपने मन्त्रियों का परामर्श मान कर कार्य करे। देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत की स्थिति में अन्तर था। देशी राज्य उत्तर-आगार में आधे तथा निम्न-

आगार में तिहाई स्थानों की माँग कर रहे थे, परन्तु ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का कहना था कि प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर होना चाहिये। वे उत्तर-आगार में देशी राज्यों को दीर्घानुपात देने के लिये भी तत्पर थे। सम्मेलन में यह भी निश्चय किया गया कि प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रणाली का अन्त हो जाना चाहिये और उसके स्थान पर ऐसे सम्पूर्ण प्रान्तीय स्वराज्य की व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें सभी विषयों का प्रशासन एक संयुक्त उत्तरदायित्वपूर्ण मन्त्रिमण्डल के अधिकार में हो। व्यवस्थापिका सभाओं के लिये मताधिकार का क्षेत्र बढ़ाने का भी प्रस्ताव था, परन्तु वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त क्रियात्मक नहीं समझा गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्मेलन में यथेष्ट प्रारम्भिक कार्य सफलतापूर्वक कर लिया गया था। परन्तु साम्प्रदायिक मतभेद तथा सन्निहित हितों के कारण वैधानिक प्रगति का मार्ग अब भी अवरुद्ध था। रक्षा विभाग का आरक्षण, कर्मचारीवर्गों के अधिकारों का अभिरक्षण तथा अल्पसंख्यकों का यह हठ कि राजनैतिक समझौते के पहले साम्प्रदायिक समझौता आवश्यक है—यह प्रगति-पथ की तीन अभेद्य दीवारें थीं। उदाहरण के लिये जिन्ना साहब की १४ शर्तें ही एक ऐसी चट्टान के समान थीं जिससे टकरा कर प्रगतिशील तत्वों की सारी आशायें चूर-चूर हो जाती थीं। सम्मेलन के अन्त में एक वक्तव्य देते हुये प्रधान मन्त्री महोदय ने कहा कि भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन अवश्य मिलेगा, परन्तु संक्रान्तिकाल के लिये कुछ अधिकारों का आरक्षण आवश्यक है। उन्होंने काँग्रेस को भी वैधानिक प्रगति के इस महान् कार्य में हाथ बँटाने के लिये निमन्त्रित किया। इसके बाद ही काँग्रेसी नेता कारा-मुक्त कर दिये गये और इतिहास-प्रसिद्ध गाँधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर हुये।

गाँधी-इर्विन समझौते के अनुसार यह निश्चय हुआ कि काँग्रेस अब गोलमेज़ सम्मेलन का बहिष्कार नहीं करेगी। इसके थोड़े ही समय बाद कराँची में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसमें गोलमेज़ सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के लिये काँग्रेस की ओर से महात्मा गाँधी को एकमात्र प्रतिनिधि नियुक्त किया गया। परन्तु गोलमेज़ सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ होने के पहले ही, भारत तथा इङ्गलैंड की सरकार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे। लार्ड विलिंगडन भारत के नये वाइसराय होकर आ गये थे और इङ्गलैंड में मज़दूर दल की सरकार बदल चुकी थी। नई सरकार कहने को तो राष्ट्रीय थी परन्तु उसका स्पष्ट झुकाव अनुदार पक्ष की ओर था। मि० वेजउड बेन (Wedgwood Benn) के स्थान पर सर सैमुएल होर (Samuel Hoare) भारत मन्त्री हो गये थे और वे एक अत्यन्त हठी तथा अनुदार राजनीतिज्ञ थे। इन नये शासकों ने गाँधी-इर्विन समझौते को बार-बार भङ्ग करने में ही उसका सम्मान समझा और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि महात्मा गाँधी ने

क्षुब्ध होकर अपना गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय ही बदल दिया। परन्तु बाद में लार्ड विलिंगडन ने उनकी बहुत सी कठिनाइयों का समाधान कर दिया और वे फिर जाने के लिये सहमत हो गये। सम्मेलन ७ सितम्बर सन् १९३१ ई० को आरम्भ हुआ। इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य दो कमेटियों द्वारा हुआ। इनमें से एक कमेटी संघ की रूपरेखा तथा दूसरी अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी। गाँधी जी इन दोनों कमेटियों के सदस्य थे। वे सम्मेलन की सारी कार्यवाही के केन्द्र थे। उन्होंने सम्मेलन को विश्वास दिलाया कि काँग्रेस केवल एक दल नहीं अपितु एक राष्ट्रीय संस्था है। वह केवल ८५% भारतीय जनसंख्या का ही नहीं, सभी साम्प्रदायिक अल्पमतों का भी प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने कहा कि काँग्रेस ने सदा देशी राज्यों की माँगों का समर्थन करते हुये भी उनके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि काँग्रेस देशी नरेशों की भी सेवक है। काँग्रेस अखिल भारत की एक प्रतिनिधि ही नहीं एकमात्र उचित प्रतिनिधि है, क्योंकि अन्य भारतीय प्रतिनिधि जनता द्वारा निर्वाचित होकर नहीं, सरकार की कृपा के बल पर इङ्गलैंड आये हैं। संघीय रूपरेखा कमेटी (Federal Structure Committee) ने नये संविधान से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर और विचार-विनिमय किया। नरम दल तथा मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों का कहना था कि पहले गोलमेज़ सम्मेलन के उस निश्चय में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय जिसके अनुसार संक्रान्तिकाल (period of transition) के लिये केन्द्र में द्वैध शासन की सिफ़ारिश की गई थी। वे रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा अर्थ विभागों में कुछ आरक्षण (reservations) तथा अभिरक्षण (safeguards) स्वीकार करने के लिये भी तैयार थे। परन्तु महात्मा गाँधी संक्रांतिकाल अथवा द्वैध शासन के सिद्धान्तों को ही नहीं मान रहे थे। वे तो पूर्णतया उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की अविलम्ब स्थापना का आग्रह कर रहे थे। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव यह भी किया कि संघीय धारासभा के निम्न-आगार में ३०० सदस्य हों और इनमें से १०० देशी राज्यों के प्रतिनिधि हों। उत्तर-आगार के लिये प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था सोची जा रही थी। इसमें देशी राज्यों के ८० तथा कुल मिला कर २०० सदस्य हों और दोनों आगारों को समान तथा समवर्ती अधिकार प्राप्त हों। संघीय न्यायपालिका के विषय में सम्मेलन ने सिफ़ारिश की थी कि भारत में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की जाये परन्तु प्रिवी कौंसिल का भारतीय उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार पूर्ववत् बना रहे।

गोलमेज़ सम्मेलन का यह अधिवेशन पहले अधिवेशन की अपेक्षा अधिक असफल सिद्ध हुआ और इसका मुख्य कारण सम्प्रदायवादी नेताओं का दुराग्रहपूर्ण

दृष्टिकोण था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे थी और वे किसी प्रकार का समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। उनके रहते कोई उचित अथवा न्यायसंगत समझौता असम्भव था और इसी साम्प्रदायिक समस्या में उलझ कर सम्मेलन भङ्ग हो गया। परन्तु महात्मा गाँधी उस समय भी यही आग्रह कर रहे थे कि संविधान-निर्माण का कार्य रुकना नहीं चाहिये। साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने यह सुझाव उपस्थित किया कि संविधान सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् इसका निर्णय एक न्यायाधिकरण (judicial tribunal) के हाथों में सौंप दिया जाना चाहिये। उधर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने कहा यदि भारतीय स्वयं इस विषय में कोई सर्वस्वीकृत समझौता प्रस्तुत नहीं करते तो सारी योजना अनिश्चित काल के लिये स्थगित करना आवश्यक हो जायगा। ऐसी दशा में ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के प्रतिनिधित्व की समस्या हल करने के साथ-साथ ऐसे प्रतिबन्ध तथा संतुलन के उपाय भी खोजने होंगे जिनसे अल्पसंख्यक-हितों की उचित रक्षा हो सके। अपने अन्तिम भाषण में प्रधान मन्त्री ने एक बार फिर अपना अस्पष्ट-सा आश्वासन दोहराया कि संघ-व्यवस्था, उत्तरदायित्वपूर्ण केन्द्रीय शासन तथा प्रान्तीय स्वराज्य आदि के विषय में पहले सम्मेलन द्वारा निर्धारित नीति का ही पालन किया जायगा। परन्तु महात्मा गाँधी को इससे संतोष नहीं हुआ और भारत लौट कर उन्होंने फिर अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत का यह संघर्ष जिस समय अपने पूर्ण वेग पर था, अगस्त सन् १९३२ ई० में इङ्गलैंड के प्रधान मन्त्री रैमज़े मैकडानल्ड ने साम्प्रदायिक परिनिर्णय की घोषणा की। इस परिनिर्णय में उन सम्प्रदायों के लिये, जिन्हें पहले से पृथक प्रतिनिधित्व प्राप्त था, स्थानों का विभाजन किया गया था और साथ ही दलित वर्गों को हिन्दुओं से दूर करने के उद्देश्य से उन्हें भी इस व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया था। इस प्रकार भारत को धर्म के आधार पर विभाजित करने का अर्थ एक भयानक प्रकार की धर्मान्धता को प्रोत्साहन देना था। इसे 'परिनिर्णय' (Award) कहना भूल है, क्योंकि वास्तव में यह ब्रिटिश सरकार का निर्णयमात्र था। यह हिन्दुओं के प्रति, और विशेषकर बङ्गाल तथा पंजाब के अल्पसंख्यक हिन्दुओं के प्रति, एक भारी अन्याय था। महात्मा गाँधी ने दलित वर्गों के हिन्दुओं से अलग किये जाने पर आपत्ति की और विरोध-स्वरूप अनिश्चित काल के लिये अनशन आरम्भ कर दिया। थोड़े ही समय में उनके स्वास्थ्य की स्थिति विशेष चिन्ताजनक हो गई जिसके फलस्वरूप पूना में हिन्दुओं तथा दलित वर्गों के नेताओं ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार साधारण (हिन्दुओं के) स्थानों में कमी तथा दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व में भारी वृद्धि की गई। दलित वर्गों को साधारण क्षेत्रों में मतदान का अधिकार दिया गया, परन्तु इसके अतिरिक्त भी उन्हें

अपने वर्ग के लिये निर्धारित संख्या के चौगुने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया था। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि दलित वर्गों को अस्वीकृत कोई व्यक्ति इन स्थानों के लिये नहीं चुना जा सकता था।

नवम्बर-दिसम्बर सन् १६३२ ई० में लन्दन में गोलमेज़ सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ। इसमें केवल ४६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कांग्रेस की अनुपस्थिति में प्रतिक्रियावादी तत्व का ही बोल-बाला रहा। सर सैमुएल होर ने जानबूझ कर इस बार पहले अधिवेशनों में भाग लेने वाले उन प्रतिनिधियों को निमन्त्रित नहीं किया था जिनका दृष्टिकोण समझौते के वातावरण के अनुकूल नहीं था। इस बार श्रमिक-वर्गों का प्रतिनिधित्व भी काट दिया गया था। सम्मेलन के इस अन्तिम अधिवेशन का मुख्य कार्य केन्द्रीय व्यवस्था पर और अधिक विचार-विनिमय करना था। इतना तो पहले ही स्वीकार कर लिया गया था कि संघीय उत्तर-आगार के सदस्य प्रान्तीय धारा-सभाओं द्वारा निर्वाचित होंगे। और जहाँ तक निम्न-आगार का सम्बन्ध था, बहुमत अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में था। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों तथा अन्य अभिरक्षणों की निश्चित व्याख्या की गई। हिन्दू प्रतिनिधि चाहते थे कि अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय शासन को मिलें परन्तु मुसलमान प्रान्तीय शासन को देने के पक्ष में थे। अन्त में यह निश्चय हुआ कि जब कभी किसी ऐसी शक्ति का प्रश्न उठे, गवर्नर-जनरल उसका निर्णय किया करे। इसके अतिरिक्त संघीय न्यायालय तथा देशी राज्यों का संघ में प्रवेश आदि कुछ अन्य विषयों पर भी विचार किया गया। सन् १६३३ ई० में ब्रिटिश सरकार ने तीनों गोल-मेज़ सम्मेलनों में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर एक श्वेत-पत्र (White Paper) प्रकाशित किया जो वास्तव में एक अत्यन्त अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी प्रलेख था। यह भारतीय जनता की समस्त प्रियतम आकांक्षाओं का अपमान था।

संयुक्त सेलेक्ट कमेटी की रिपार्ट (Joint Select Committee Report)—श्वेत-पत्र ब्रिटिश लोकसभा के दोनों आगारों की एक संयुक्त सेलेक्ट कमेटी के समक्ष परीक्षा के लिये उपस्थित किया गया। इस कमेटी में कुछ भारतीयों को भी सम्मिलित कर लिया गया था परन्तु उनका कार्य केवल साक्ष्य-संग्रह तक ही सीमित था, उन्हें कमेटी के विचार-विमर्श में भाग लेने का अधिकार नहीं था। इन भारतीय प्रतिनिधियों ने हिज़ हाईनेस आगाखाँ तथा सर तेजबहादुर सप्रू के नेतृत्व में दो भिन्न वैधानिक योजनायें सेलेक्ट कमेटी के विचारार्थ प्रस्तुत कीं। यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इन योजनाओं में किसी प्रकार की अनुचित माँगें नहीं की गई थीं, तथापि, जैसा श्री सी० वाई० चिंतामणि ने अपनी पुस्तक 'Indian Politics Since the Mutiny' में लिखा है, "उनका ऐसा अनादर किया गया मानों वे पागलों की बकवास हों, और संयुक्त सेलेक्ट कमेटी के बहुमत ने अपनी

सिफारिशों में श्वेत पत्र की योजना को थोड़ा और निखार दिया। किन्तु जो प्रस्ताव उसने अपनी ओर से किये वे श्वेत पत्र से भी बुरे थे। ऐसे परिवर्तनों में सबसे अधिक आपत्तिजनक केन्द्रीय विधानसभा के लिये प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की अस्वीकृति थी[1]।"

इस प्रकार संयुक्त सेलेक्ट कमेटी ने कई परिवर्तन किये। राज्य-परिषद के लिये उसने सिफारिश की कि उसे अविलयनशील बनाया जाय तथा प्रति तीसरे वर्ष उसके एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण किया करें। संघीय विधानसभा के लिये उसने सिफ़ारिश की कि उसके सदस्य प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष प्रणाली के अनुसार निर्वाचित हुआ करें और देशी राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा नामज़द हुआ करें। प्रान्तीय उत्तर-आगार भी अविलयनशील हो। और इनके उन्मूलन का अधिकार ब्रिटिश लोकसभा को हो, श्वेत पत्र की सिफ़ारिश के अनुसार, भारतीय धारासभा को नहीं। कमेटी ने संघीय न्यायालय के प्रकार्यों को भी प्रतिबन्ध लगा कर सीमित कर दिया था जिसके परिणाम स्वरूप वह देश का सर्वोच्च न्यायालय नहीं रह गया था।

संयुक्त सेलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने के बाद लोकसभा ने सरकार को इस रिपोर्ट के सुझावों के अनुसार एक भारत सरकार विधेयक बनाने का अधिकार दिया। लोकसभा द्वारा स्वीकृत होकर निकलते-निकलते इस विधेयक में और भी कई परिवर्तन हो गये और यह सारे परिवर्तन अनुदार मत को प्रसन्न करने के लिये किये गये थे, अतएव भारत के दृष्टिकोण से विशेष अरुचिकर थे। हाउस आफ लार्ड्स में इस विधेयक का और अधिक अनुदार स्वागत हुआ। अन्त में यह किसी प्रकार लोकसभा द्वारा स्वीकृत हुआ और ४ अगस्त सन् १९३५ ई० को सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर १९३५ का भारत सरकार क़ानून बन गया।

---

1. "They were cast to the winds almost as if they had been the ravings of maniacs, and the majority of the Joint Select Committee made recommendations dotting the i's and crossing the t's of the White Paper except where it was made worse. The most objectionable of the changes for the worse was the abolition of direct representation to the Central Legislative Assembly."—*C. Y. Chintamani.*

तेरहवाँ अध्याय

सन् १९३५ ई० की संघ-व्यवस्था तथा उसकी विचित्रताएँ

संघ की स्थापना तथा उसके अङ्ग—कई वर्षों तक पिछले अध्याय में वर्णित कमीशनों, कमेटियों, रिपोर्टों, गोलमेज़ सम्मेलनों तथा वाद-विवादों का क्रम चलता रहा। इसके पश्चात् सन् १९३५ ई० में ब्रिटिश लोक-सभा ने एक भारत सरकार कानून पास किया। इस कानून में एक प्रकार के प्रान्तीय स्वराज्य तथा संघ-शासन की व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार बर्मा का भारत से विच्छेद कर दिया गया था तथा सिन्ध और उड़ीसा के दो नये प्रान्त बनाकर पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के साथ-साथ उन्हें भी गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्तों के समकक्ष रख दिया गया था। इस प्रकार संघ के निम्नलिखित अङ्ग बनाये गये थे :—(अ) ११ गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्त—मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, आसाम, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, सिन्ध तथा उड़ीसा; (ब) ६ चीफ़ कमिश्नरों द्वारा शासित प्रान्त—ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, अण्डमन तथा निकोबार द्वीप, और वह क्षेत्र जो पन्थ पिपलोदा के नाम से प्रसिद्ध है; (स) वे देशी राज्य जो स्वेच्छा से उसमें सम्मिलित हों। जनजातीय तथा अपवर्जित (Tribal and Excluded) क्षेत्र भी संघीय शासन के ही अन्तर्गत थे, परन्तु उन्हें केन्द्रीय धारा सभा में कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था।

संघ में सम्मिलित होना ब्रिटिश भारतीय अङ्गों के लिये अनिवार्य था परन्तु देशी राज्यों के लिये उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर था। कोई भी देशी राज्य अपने शासक द्वारा प्रवेश सम्बन्धी प्रलेख (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर देने पर संघ में सम्मिलित हो सकता था। परन्तु एक बार सम्मिलित हो चुकने के पश्चात् संघ से बाहर जाने का अधिकार किसी देशी राज्य को नहीं था। किन्तु ब्रिटिश भारत का प्रत्येक प्रान्त सम्राट् द्वारा भारतीय संघ की घोषणा होते ही अपने आप ही उसका सदस्य बन जायेगा।

परन्तु संघ की स्थापना से पहले कुछ शर्तों का पूरा होना आवश्यक था। सबसे पहले तो यथेष्ट संख्या में देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित होना आवश्यक था। इसके लिये दो प्रकार के मापदण्ड निर्धारित किये गये थे : (१) संघीय धारासभा के उत्तर-आगार में देशी राज्यों के लिये निर्धारित १०४ स्थानों में से कम से कम ५२ की

पूर्ति; और (ख) सब देशी राज्यों की जनसंख्या का अर्धांश। दूसरे, उपरोक्त शर्तें पूरे हो जाने तथा सम्राट् द्वारा प्रवेश-सम्बन्धी प्रलेख स्वीकार हो जाने के बाद, ब्रिटिश लोकसभा के दोनों आगार सम्राट् के समक्ष एक अभिलेख प्रस्तुत करते हुये उनसे भारतीय संघ की स्थापना का घोषणा-पत्र निकालने की प्रार्थना करें। और अन्त में, सम्राट् एक नियत तिथि को भारतीय संघ की स्थापना का घोषणा-पत्र निकालें। सन् १९३५ ई० के कानून में संघ-राज्य की स्थापना की कोई अन्तिम तिथि नहीं निश्चित की गई थी। और वास्तव में उस संघ की स्थापना की तिथि कभी आई ही नहीं।

शक्तियों का वितरण—शक्तियों का वितरण ही संघीय प्रणाली का सार होता है। सन् १९३५ ई० के भारतीय संघ में शक्तियों का विभाजन तीन सूचियों के अन्तर्गत किया गया था। पहली सूची केवल संघीय विषयों की थी। इसमें कुल मिला कर ५९ विषय थे, जिनमें अधिक महत्वपूर्ण रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, उत्प्रवासन तथा जानपदत्व, (immigration and naturalisation) रेल, डाक तथा तार, विदेशों से व्यापार, नौपरिवहण (shipping), विस्फोट (explosives), शस्त्रास्त्र, संघीय निर्वाचन तथा सेवा-वर्ग आदि थे। इस सूची में निम्नलिखित संघीय आय-साधनों का उल्लेख भी किया गया था :—निराक्रम्य कर (customs), नमक, अफ़ीम तथा आयकर, उत्तराधिकार बलि (succession duties), कुछ विशेष प्रकार की मुद्रांक तथा उत्पाद बलि (stamp and excise duties), निगम कर (corporation taxes) तथा संघीय सूची में उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित अन्य कोई कर अथवा बलि। इसके पश्चात् एक सूची पूर्णतया प्रान्तीय विषयों की थी जिसके अधिक महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित थे :—शान्ति तथा सुव्यवस्था, पुलिस, कारागृह, न्याय-प्रशासन, शिक्षा (बनारस, दिल्ली तथा अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त), स्थानीय स्व-शासन, जन-स्वास्थ्य, भैषजिक सहायता (medical relief) इत्यादि। प्रान्तीय सूची में निम्नलिखित आय साधनों का उल्लेख किया गया था :— भूमि कर, उत्पाद बलि (excise), मादक पदार्थों पर कर, मुद्रांक, कृषि-आय पर कर, भू-सम्पत्ति पर मृत्यु कर (death duties) तथा आमोद-प्रमोद के साधनों, नियुक्ति, व्यापार तथा उद्यमों पर कर। और अन्त में एक समवर्ती सूची थी जिसके मुख्य विषय निम्नलिखित थे:—संघीय तथा उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त सभी न्यायालयों पर क्षेत्राधिकार तथा नियन्त्रण, व्यवहार तथा दण्ड कानून एवं प्रक्रिया (civil and criminal law and procedure), विवाह तथा विवाह-विच्छेद, अभिस्वीकार (adoption), उत्तराधिकार पत्र तथा प्रन्यास (wills and trusts), समाचार पत्र तथा मुद्रणालय, नष्टनिधित्व (bankruptcy), खानें, कारखाने, तथा श्रमिक-संघ, श्रम कल्याण (labour welfare) तथा श्रम विवाद (labour disputes) इत्यादि।

समवर्ती विषयों से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर संघीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं के बीच किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर साधारणतया सभी देशों में यह नियम होता है कि विवादग्रस्त विषय पर संघीय धारासभा द्वारा निर्मित कानून अधिक मान्य समझा जाये। परन्तु सन् १६३५ ई० का कानून बनाने वाली ब्रिटिश लोकसभा यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं कर सकती थी। उसे भय था कि इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाने के पश्चात् संघीय शासन के लिये अपनी इच्छानुसार समवर्ती विषयों (concurrent subjects) के क्षेत्र में एकाधिपत्य स्थापित कर सकना आसान हो जायगा। अतएव उसने प्रान्तीय तथा संघीय कानूनों के संघर्ष बचाने का दूसरा उपाय खोज निकाला। और इस प्रकार नये कानून में यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई प्रान्तीय कानून किसी संघीय कानून के विरुद्ध है तो साधारणतया संघीय कानून ही मान्य होगा। परन्तु यदि किसी समवर्ती विषय पर प्रान्तीय कानून, आरक्षण के पश्चात् गवर्नर-जनरल की अनुमति प्राप्त कर चुका है तो वह पूर्व-निर्मित संघीय कानून से अधिक मान्य होगा। परन्तु संघीय धारासभा इसके पश्चात् भी प्रान्तीय कानून के प्रतिकूल उस विधेयक अथवा संशोधन के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति लेकर, उसी विषय पर किसी समय दूसरा कानून बना सकती है। स्पष्ट है कि यह सारी व्यवस्था बड़ी पेंचदार थी और समवर्ती विषयों के क्षेत्र में प्रान्तीय तथा संघीय धारासभाओं के विरोधी दावों पर निर्णय देने का पूर्ण अधिकार गवर्नर-जनरल को सौंप दिया गया था।

प्रत्येक सम्भव-शक्ति को किसी न किसी विषय-सूची में सम्मिलित कर लेने का प्रत्येक प्रयत्न किया गया था। तथापि भविष्य में कुछ नये विषयों के आ जाने की सम्भावना को रोका नहीं जा सकता था। सन् १६३५ ई० के कानून के अनुसार ऐसी अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों अथवा संघ को न दी जाकर गवर्नर-जनरल के हाथों में छोड़ दी गई थीं जो स्वविवेकानुसार प्रान्तीय अथवा संघीय धारासभा को उनके प्रयोग का अधिकार दे सकता था। संसार के प्रत्येक संघ राज्य में अवशिष्ट शक्तियाँ स्पष्ट रूप से संघीय अथवा प्रान्तीय धारासभा को प्राप्त रहती हैं। परन्तु यहाँ एक अनोखी ही प्रणाली अपनाई गई थी।

देशी राज्य ब्रिटिश भारत के प्रान्तों की अपेक्षा बहुत कम शक्तियाँ संघ-शासन को देना चाहते थे। अतएव उनके क्षेत्र में शक्तियों का विभाजन दूसरे ही आधार पर किया गया। सबसे पहली बात तो यह थी कि देशी राज्यों से संघीय सूची में उल्लिखित ५६ पदों में से केवल ४७ की स्वीकृति की आशा की जाती थी। संघ में सम्मिलित होने के इच्छुक प्रत्येक राज्य को प्रवेश-सम्बन्धी विलेख पर हस्ताक्षर करने होते थे और इसमें उन शक्तियों का उल्लेख भी आवश्यक था जिन्हें वह राज्य संघ के नियन्त्रण में सौंपने को सहमत हो। प्रत्येक राज्य को इच्छानुसार शक्तियों का उल्लेख

करने की स्वतन्त्रता थी। इन परिस्थितियों में किसी प्रकार की समानता असम्भव थी। इस प्रकार संघीय धारासभा द्वारा निर्मित एक कानून कुछ राज्यों के लिये मान्य हो सकता था, कुछ के लिये नहीं। और इस परिस्थिति में विचित्र विषमताओं का जन्म स्वाभाविक ही था। दूसरे, देशी राज्य स्वेच्छापूर्वक संघ को हस्तान्तरित विषयों के सीमित क्षेत्र में भी समवर्ती क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकते थे। इसमें शर्त केवल इतनी थी कि उनके कानूनों तथा संघीय कानूनों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष विरोध न हो। तीसरे, समवर्ती विषय पूर्णतया देशी राज्यों के अधिकार में थे, उनसे संघीय धारासभा का तनिक भी सम्बन्ध नहीं था। और अन्त में, उपरोक्त सीमाओं के परिणामस्वरूप, जहाँ तक देशी राज्यों का सम्बन्ध था, संघ के आर्थिक अधिकार भी बहुत सीमित थे। संघ देशी राज्यों की प्रजा पर केवल दो प्रकार के प्रत्यक्ष कर लगा सकता था, निगम कर (corporation tax) तथा आयकर पर विशेष अधिभार (special surcharge on income tax)। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संघों में सम्मिलित होने के लिये देशी राज्यों को केवल नाममात्र का ही अधिकार-त्याग करना पड़ता था, परन्तु एक बार सम्मिलित हो जाने पर वे प्रान्तों के समकक्ष सभी लाभों के अधिकारी हो जाते थे। राज्यों के प्रतिनिधि ऐसे कानूनों के बनाने में योग दे सकते थे जिनका उनको स्वयं पालन नहीं करना था और ऐसे कर लगाने के पक्ष में अपना मत दे सकते थे जिनसे वे स्वयं मुक्त हों। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि देशी राज्यों की जनसंख्या पूरे देश की जनसंख्या की केवल २७% होते हुये भी उन्हें संघीय विधान-सभा में ३३·३% तथा राज्य-परिषद् में ४०% स्थान दिये गये थे। देशी राज्यों को दिये गये सारे विशेषाधिकार वास्तव में अनधिकृत थे जिनका उदाहरण पहले कभी नहीं मिलता है। ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की जनता की स्थिति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

संघ शासन तथा उसके अङ्गों के प्रशासन-सम्बन्धों पर दृष्टिपात करने से हमें ज्ञात होता है कि संघीय कानूनों का सम्पादन स्वयं संघ में ही निहित था और इसमें सन्देह नहीं था कि सेना, रेल, डाकतार, इत्यादि अनेक संघीय सेवा-वर्गों का प्रशासन पूर्ववत् केन्द्रीय पदाधिकारियों के हाथों में ही रहा। परन्तु सभी संघीय कानूनों का संघीय कर्मचारियों द्वारा लागू करना बहुत मँहगा पड़ता है और कभी-कभी इसके फलस्वरूप अङ्ग राज्यों से संघर्ष भी हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका संसार का अकेला संघ राज्य है जिसमें संघीय कर्मचारियों द्वारा ही समस्त संघीय कानूनों के प्रवर्तन की व्यवस्था है, और अमरीका में प्रशासन-व्यय इतना अधिक होता है कि कोई दूसरा राज्य सम्भवत: सँभाल भी नहीं सकता है। अतएव सन् १९३५ ई० के भारतीय संविधान में कुछ ऐसी व्यवस्था की गई थी कि साधारणतया संघीय कानूनों का प्रवर्तन संघीय कर्मचारियों द्वारा ही होगा, परन्तु संघ-शासन अङ्गों को निश्चित

उत्तरदायित्व दे सकता था और संघीय कानूनों के सम्पादन में ढील-ढाल न हो इसलिये गवर्नर-जनरल को प्रान्तों तथा राज्यों की सरकारों को उन कानूनों के उचित प्रशासन के सम्बन्ध में विस्तृत आदेश दे सकने का अधिकार दिया गया था। और यदि यह भी यथेष्ट न हो तो गवर्नर-जनरल गवर्नरों तथा शासकों के नाम उन्हीं आदर्शों के आधार पर आज्ञा-पत्र निकाल सकता था। और तब उन आदेशों का पालन गवर्नर अथवा शासक का विशेष उत्तरदायित्व हो जाता था।

भारतीय संघ की विचित्रतायें—सन् १९३५ ई० के भारतीय संघ की अन्य देशों तथा ब्रिटिश उपनिवेशों में प्रचलित संघ-प्रणालियों से तुलना करने पर हम देखेंगे कि दोनों में कुछ ऊपरी समानतायें भले ही हों, परन्तु भारतीय संघ की कुछ अपनी विचित्रतायें थीं जिनके परिणामस्वरूप वह संसार के प्रत्येक संघ राज्य से भिन्न था। ऊपर से तो उसमें संघ-राज्य के सारे साधारण गुण उपस्थित थे। उसका अपना लिखित तथा अपरिवर्तनशील संविधान था जिसमें संघ शासन तथा अङ्गों के बीच शक्तियों का निश्चित विभाजन किया गया था। संघ के विभिन्न अङ्गों को अपने क्षेत्रों में सीमित रखने के लिये उसका अपना संघीय न्यायालय भी था। परन्तु उसमें निम्न-लिखित विचित्रतायें भी थीं :—

(१) सन् १९३५ ई० के भारतीय संघ की सबसे स्पष्ट विचित्रता उसके अङ्गों की असमानता थी। सन् १८७१ ई० के जर्मन संघ के विषय में राष्ट्रपति लावेल (Lowell) ने कहा था कि उसमें एक सिंह, आधे दर्जन लोमड़ियाँ तथा कोई बीस चूहे सम्मिलित थे। हम भी कह सकते हैं कि सन् १९३५ के भारतीय संघ में "लगभग एक दर्जन पालतू बैल और कई सौ जंगली भेड़िये, लकड़बग्घे तथा गीदड़" सम्मिलित थे। भारतीय संघ ११ गवर्नरों द्वारा शासित प्रान्तों—जहाँ वैधानिक तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का थोड़ा बहुत आभास देखने को मिल जाता था, ६ चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित प्रान्तों तथा लगभग ५०० मध्यकालीन सामन्तवाद के सिद्धान्तों के आधार पर निरंकुश शासकों द्वारा शासित देशी राज्यों का विचित्र गठबन्धन था।

(२) अङ्गों के आकार तथा उनकी राजनैतिक चेतना की उपरोक्त असमानता के परिणामस्वरूप संघ का वैधानिक आकार भी कुछ विचित्र सा हो गया था। संघ में सम्मिलित होने की शर्तों के विषय में विभिन्न अङ्गों का स्तर समान नहीं था। अंगों के दोनों निश्चित वर्गों के साथ संघीय शक्ति का समान क्षेत्र नहीं था। दूसरे संघ-राज्यों में संघीय-शक्तियों का क्षेत्र सभी अङ्गों के लिये समान होता है। परन्तु यहाँ ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों के लिये संघीय अधिकार क्षेत्र समान था, परन्तु देशी राज्यों के क्षेत्र में प्रवेशपत्र (Instrument of Accession) की शर्तों पर निर्भर था। इतना ही नहीं, देश के विभिन्न भागों में शासन की विभिन्न प्रणालियाँ भी पनप रही थीं। और संघीय व्यवस्थापिका सभा में प्रतिनिधि भेजने के लिये प्रान्तों के लिये एक

मिश्रण था और देशी राज्यों के लिये दूसरा; और कुछ अंग कई छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर बने होने के कारण एकांगी नहीं रह गये थे। संघ का पूरा चित्र वास्तव में बड़ा कुरूप था।

(३) संसार के सभी संघ राज्यों में जनता को संघीय तथा प्रान्तीय, दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है परन्तु भारतीय संघ में देशी राज्यों की प्रजा को संघ की नागरिकता के अधिकार नहीं थे। दूसरे शब्दों में देशी राज्यों तथा ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के निवासियों के नागरिक-अधिकारों में अन्तर था।

(४) सन् १६३५ ई० के भारतीय संघ की एक और विचित्रता उसकी निर्माण-प्रणाली में निहित थी। संसार के अधिकतर संघ-राज्य कई स्वतन्त्र, सम्पूर्ण सत्ताधारी राज्यों के स्वेच्छापूर्ण सम्मिलन का परिणाम हैं और इस प्रकार संघ बनाने वाले राज्य अपनी कुछ शक्तियाँ केन्द्रीय अथवा संघीय शासन को हस्तान्तरित कर देते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका, स्विट्ज़रलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, इत्यादि के संघ राज्यों का निर्माण इसी प्रणाली के अनुसार हुआ है। परन्तु सन् १६३५ ई० का संघ भारत पर ऊपर से लादा गया था और इसके अनुसार एक एकतन्त्रात्मक राज्य विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा, बिना अङ्गों की स्वीकृति प्राप्त किये, अपने आपको कई स्वायत्तशासी राज्यों में विखण्डित कर रहा था, और इन राज्यों के ऊपर कुछ निश्चित शक्तियों से विभूषित एक संघ-शासन भी विराजमान था।

(५) सन् १६३५ ई० के संविधान में प्रतिनिधित्व की जिन प्रणालियों की व्यवस्था की गई थी वे भी विचित्र तथा अनुपम थीं। सबसे पहली बात तो यह थी कि इसमें पृथक निर्वाचन प्रणाली के यथेष्ट विकसित रूप का समावेश किया गया था जिसका स्वाभाविक परिणाम साम्प्रदायिक तथा विश्रृंखलता की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना था। इस संविधान में देशी नरेशों को अपने राज्यों के प्रतिनिधियों को नामज़द करने का अधिकार दिया गया था, जिसका स्पष्ट अर्थ जनता के उचित अधिकारों का हरण था। और सबसे बड़ी विचित्रता यह थी कि संघीय उत्तर-आगार के लिये जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी (यद्यपि इसके लिये भी मताधिकार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था), परन्तु निम्न-आगार के सदस्यों के लिये प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली अपनाई गई थी। अन्य संघ-राज्यों में उत्तर-आगार साधारणतया संघांगों के स्तर की समानता स्थापित करता है और अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचित होता है। परन्तु निम्न-आगार साधारणतया, राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के उद्देश्य से, जनसंख्या के आधार पर प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचित होता है। भारत में बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना को कुचलने के उद्देश्य से इसके ठीक उलटे सिद्धान्त का प्रयोग किया गया था।

(६) सन् १६३५ ई० के भारतीय संघ की एक और विचित्रता यह थी कि

उसमें न तो केन्द्र में और न प्रान्तों में ही पूर्णतया उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गई थी। संसार के अधिकतर संघ-राज्यों में प्रशासी प्रधान वैधानिक मात्र होते हैं; उन्हें स्वविवेकानुसार कार्य करने का कोई अधिकार नहीं होता। परन्तु सन् १९३५ के भारतीय संविधान में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय, दोनों क्षेत्र के प्रशासी प्रधानों को स्वविवेक-प्रयोग के विस्तृत अधिकार (wide discretionary powers) दिये गये थे। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि, पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "नया संविधान अवरोधों का समूह मात्र था, उसमें संचालन की कोई व्यवस्था नहीं थी[1]।" इसके परिणामस्वरूप स्व-शासन एक प्रकार से प्रभावहीन दिखावामात्र रह गया था।

(७) संसार के सभी संघीय संविधानों में नागरिकों के मूलाधिकारों का स्पष्ट उल्लेख रहता है। परन्तु सन् १९३५ ई० के भारतीय संविधान में इस प्रकार का कोई प्रावधान नहीं था। इसके परिणामस्वरूप भारतीय जनता को अब भी कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं हुये थे।

(८) भारतीय व्यवस्थापिका सभा को संविधान में कोई संशोधन का अधिकार नहीं दिया गया था। यह अधिकार ब्रिटिश लोकसभा के हाथों में ही रखा गया था। इस प्रकार भारतीयों के पास संविधान में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संशोधन करने का कोई उपाय नहीं था।

(९) इसके अतिरिक्त, प्रान्तीय अङ्गों पर संघ-शासन का नियन्त्रण अन्य संघ-राज्यों की तुलना में बहुत अधिक कठोर था। अमरीका तथा आस्ट्रेलिया, और कई बातों में कनाडा के प्रान्तीय-शासन, केन्द्रीय शासन पर इतने निर्भर नहीं हैं, जितना भारतीय प्रान्तों को बनाया गया था। प्रान्तों पर भारत के केन्द्रीय शासन का अधीक्षण एवं नियंत्रण, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों क्षेत्रों में, अब भी सर्वव्यापी था। स्वविवेका-नुसार कार्य करते हुये अथवा 'अपने व्यक्तिगत' निर्णय पर निर्भर प्रान्तीय गवर्नर अब भी गवर्नर-जनरल के आदेशानुसार ही चलते थे।

(१०) इस संविधान के समवर्ती (concurrent) तथा अवशिष्ट (residuary) शक्तियों से सम्बन्धित प्रावधान मूर्खता की सीमा के बहुत निकट थे। समवर्ती शक्तियों के क्षेत्र में सभी देशों में प्रान्तीय नियमों के ऊपर संघीय नियमों को मान्यता दी जाती है। परन्तु भारत में इसका निर्णय गवर्नर-जनरल पर छोड़ दिया गया था। अवशिष्ट शक्तियाँ स्पष्ट रूप से किसी पक्ष को दे देनी चाहिये, परन्तु भारत में दोनों पक्षों के बीच उनका विभाजन गवर्नर-जनरल की स्वेच्छा पर अवलम्बित रखा गया था।

---

1. "The New Constitution was all brakes and no engines."
—*Jawaharlal Nehru.*

(११) इस कानून की एक और विचित्रता प्रान्तीय गवर्नरों का दोहरा स्वरूप थी। एक ओर वे प्रान्तों के वैधानिक प्रधान थे और दूसरी ओर गवर्नर-जनरल तथा प्रधानमन्त्री सरीखे उच्च अधिकारियों के प्रतिनिधि। कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर वैधानिक शासक होते हैं और उन पर ऊपर से कोई नियन्त्रण नहीं रहता।

(१२) और अन्त में, जहाँ अन्य संघ-राज्यों में स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली न्यायपालिका की व्यवस्था रहती है, भारत में उसका चिन्ह भी नहीं था। कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयों को इतना अधिकार रहता है कि विशेषतया वैधानिक मामलों में उनके निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। परन्तु भारत के संघीय तथा उच्च न्यायालयों को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया गया था और उनके निर्णयों के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी।

भारतीय संघ का विरोध—उपरोक्त विचित्रताओं के कारण ही भारतीय जनमत ने एक स्वर होकर सन् १६३५ की संघ-योजना का प्रबल विरोध किया। काँग्रेस, मुस्लिम लीग तथा उदार दल, सभी ने इसकी निन्दा की और देशी नरेश तक इसे स्वीकार करने में हिचकने लगे।

काँग्रेस का कहना था कि प्रस्तावित व्यवस्थापक मण्डल जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। जिन विषयों के लिये कहा जाता है कि इन्हें प्रतिनिधि-मन्त्रियों के नियन्त्रण में सौंप दिया गया था उनमें वास्तव में कोई सार नहीं था और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इस संविधान में विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। राष्ट्रीय काँग्रेस संघीय व्यवस्थापक मण्डल के लिये देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की शासकों द्वारा नामज़दगी से भी सहमत नहीं थी। उसकी धारणा थी कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी उत्तर-आगारों की व्यवस्था अकारण तथा तर्कहीन थी। उसके अनुसार रक्षा, विदेश तथा धर्म-विभागों के आरक्षण तथा गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों तथा उसकी स्व-विवेकावलम्बित शक्तियों के पश्चात् केन्द्रीय शासन का जनतन्त्रात्मक स्वरूप ही नष्ट हो जाता था। संघीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण भी कुछ इस प्रकार किया गया था कि इतनी अधिक लोकप्रिय होकर भी काँग्रेस कभी उसमें बहुमत नहीं प्राप्त कर सकती थी। देशी राज्यों के नामज़द प्रतिनिधियों तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं के प्रतिनिधियों की सम्मिलित संख्या प्रत्येक दशा में काँग्रेस से अधिक रहती थी। संघ-व्यवस्था में प्रतिक्रियावादी शासन की अधिक सम्भावना रखी गई थी और एक प्रगतिशील केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की स्थापना असम्भव प्रतीत होती थी। अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में ८० प्रतिशत बजट मताधिकार की सीमा से बाहर था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह संघ-योजना भारत की जनतन्त्रवादी तथा प्रगतिशील शक्तियों को उनके विरोधी प्रतिक्रियावादी तत्वों के संगठन द्वारा कुचल

देने की एक गहरी चाल थी।

सन् १६३५ ई० की संघ-योजना की आलोचना करते हुये पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'Discovery of India' में लिखा है: "संघ की रूपरेखा कुछ इस प्रकार बनाई गई थी कि किसी प्रकार का वास्तविक विकास सम्भव न रह जाय; और भारतीय जनता के प्रतिनिधियों के लिये इस ब्रिटिश-नियन्त्रित शासन प्रणाली में संपरिवर्तन अथवा हस्तक्षेप कर सकने का तनिक भी मार्ग नहीं छोड़ा गया था।......यह रूपरेखा प्रतिक्रियावादी तो थी ही, उसमें बिना किसी प्रकार की क्रांतिकारी क्रिया के, स्वयं विकसित हो सकने के बीज का भी अभाव था। इस कानून ने ब्रिटिश सरकार तथा भारत के देशी नरेशों, ज़मीदारों और दूसरे प्रतिक्रियावादी तत्वों के सम्बन्ध और घनिष्ठ कर दिये; इसने पृथक निर्वाचक-मण्डलों की संख्या बढ़ाकर विभाजन की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया, इसने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, अधिकोषण (banking) तथा नौ-परिवहण (shipping) की सर्वोपरि स्थिति को सुदृढ़ बनाया और इस स्थिति में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध वैधानिक व्यवस्था कर दी—इस प्रकार के हस्तक्षेप को 'विभेद नीति' कहा गया। इसके अन्तर्गत भारतीय अर्थ-व्यवस्था, सेना तथा वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण पूर्ववत् ब्रिटिश हाथों में ही बना रहा; और इस कानून ने वाइसराय को पहले से भी अधिक शक्तिशाली बना दिया[1]।"

मुस्लिम लीग की मुख्य आपत्ति संघ-शासन के क्षेत्र में हिन्दू-बहुमत से सम्बन्धित थी। संघीय व्यवस्थापिका सभा में एक-तिहाई ब्रिटिश भारतीय स्थान प्राप्त कर लेने के बाद भी मुसलमानों को केन्द्रीय शासन में 'हिन्दू-राज्य' का भय था। मुसलमानों के इस भय का एक कारण अधिकतर देशी राज्यों के नामज़द सदस्यों के हिन्दू

1. "The Federal Structure was so envisaged as to make any real advance impossible, and no loophole was left for the representatives of the Indian people to interfere with or modify the system of British-controlled administration......Reactionary as this structure was, there were not even any seeds in it of self-growth, short of some kind of revolutionary action. The Act strengthened the alliance between the British Government and the Princes, landlords and other reactionary elements in India; it added to the separate electorates, thus increasing the separatist tendencies; it consolidated the predominant position of British trade, industry, banking and shipping and laid down statutory prohibitions against any interference with this position—any discrimination', it was called; it retained in British hands complete control over Indian finance, military and foreign affairs; it made the Viceroy even more powerful than he had been."—*Jawaharlal Nehru.*

होने की सम्भावना भी थी। वास्तव में मुस्लिम लीग काँग्रेस से भी अधिक इस कानून के विरुद्ध थी। अप्रैल सन् १९३६ ई० में मुस्लिम लीग के बम्बई अधिवेशन में सभापति-पद से भाषण देते हुये सर सैयद वज़ीर हसन ने कहा था : "वास्तव में ब्रिटिश लोकसभा हमारे ऊपर एक ऐसा संविधान लाद रही है जो किसी को पसन्द नहीं है, जिससे कोई सहमत नहीं है।......एक विचित्र कुरूपता का आविष्कार किया गया है और वही, संविधान के आवरण में, भारत को भेंट की जा रही है। यह जनतन्त्र-विरोधी है। यह देश के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी तत्वों को बल देगा, और प्रगतिशील विकास में हमारी सहायता करने के स्थान पर जनतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर शक्तियों को बन्दी बनाकर कुचल देगा[1]।" परन्तु काँग्रेस तथा लीग के दृष्टिकोण में एक बात का अन्तर था। काँग्रेस ने सम्पूर्ण कानून को अस्वीकार कर दिया था परन्तु मुस्लिम लीग ने 'आरक्षणों' की निन्दा करते हुये भी, यह सिफ़ारिश की थी कि "देश की वर्तमान परिस्थितियों का ध्यान रखते हुये, संविधान की प्रांतीय योजना का यथासम्भव उपयोग किया जा सकता है।"

राष्ट्रीय उदारवादी फेडरेशन (National Liberal Federation) के नेता सर तेजबहादुर सप्रू तथा श्री जयकर ने इस संविधान द्वारा पूर्ण स्वशासन के परिसीमन की आलोचना की। परन्तु उनका मत था कि इस संविधान को चलाया जाना चाहिये। उन्होंने भारतीय नेताओं को इसके परिचालन में भाग लेने का परामर्श देते हुये आशा प्रकट की कि द्वैध-शासन तथा आरक्षणों का स्थान शीघ्र ही पूर्णतया उत्तरदायी शासन ले लेगा।

और अन्त में, देशी नरेश भी संघ में सम्मिलित होने के लिये तैयार नहीं थे। उन्हें भय था कि अधिक प्रगतिशील तथा राजनैतिक चेतना-प्राप्त ब्रिटिश भारत के निवासियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर देशी राज्यों के निवासी भी सुधार के लिये आन्दोलन करने लगेंगे। वास्तव में संघ योजना में देशी राज्यों के साथ आवश्यकता से अधिक पक्षपात किया गया था। फिर भी देशी नरेशों के इस भ्रम के कारण कि उनकी प्रजा भी सुधारों के लिये आन्दोलन करेगी, उनका सहयोग अत्यधिक संदिग्ध हो गया था। कानून में देशी नरेशों की स्वतन्त्रता तथा उनके प्रभुत्व के सफल

1. "A constitution is being literally forced on us by the British Parliament which no body likes, which no one approves of......A monstrosity has been invented and is being presented to India in the garb of this Constitution Act. It is anti-democratic. It will strengthen all the most reactionary elements in the country, and, instead of helping us to develop on progressive lines, it will enchain and crush the forces making for democracy and freedom."—*Wazir Hasan.*

अभिरक्षण का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया था। परन्तु इतना होने पर भी संघ-व्यवस्था के फलस्वरूप उनकी निरंकुशता का विनाश निश्चित था।

इतना विरोध होने पर भी ब्रिटिश सरकार संघ योजना का आरम्भ कर सकती थी। इसके लिये केवल दो बातों की आवश्यकता थी—यथेष्ठ संख्या में देशी राज्यों की सहमति तथा राष्ट्रवादी जनमत से समझौता। परन्तु दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो जाने से राजनैतिक परिस्थिति में भारी परिवर्तन हो गया। इसके फलस्वरूप सन् १९३५ ई० की संघ योजना युद्ध काल के लिये स्थगित कर दी गई। और युद्ध समाप्त होने के पहले ही यह भी स्पष्ट हो गया कि अपने वर्तमान स्वरूप में यह योजना कभी कार्यान्वित नहीं होगी।

चौदहवाँ अध्याय

सन् १९३५ ई० के संघ-शासन की रूपरेखा

(अ) कार्यकारिणी

गवर्नर-जनरल—सन् १९३५ ई० के संविधान के अन्तर्गत संघ की कार्यकारिणी शक्ति तथा तत्सम्बन्धी प्राधिकार गवर्नर जनरल को प्राप्त थे, जो भारत में सम्राट् का प्रतिनिधि था। उसकी नियुक्ति सम्राट् स्वयं, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के परामर्श पर करते थे। सन् १९३५ का कानून बनने से पूर्व गवर्नर-जनरल भारत का वाइसराय अर्थात् देशी राज्यों के संदर्भ में ब्रिटिश शासन सत्ता का प्रतिनिधि भी था। अब यह दोनों पद अलग-अलग कर दिये गये थे, परन्तु अब भी एक ही व्यक्ति दोनो पदों पर साथ-साथ कार्य कर सकता था। और वास्तव में होता भी यही था। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति पूर्ववत् पाँच वर्ष के लिये की जाती थी। साधारणतया यह अवधि बढ़ाई नहीं जा सकती थी, परन्तु लार्ड लिनलिथगो का शासन-काल युद्ध-जन्य विशेष परिस्थितियों के कारण बढ़ाया भी गया था। गवर्नर जनरल को २,५६,००० रुपये वार्षिक नियत वेतन के अतिरिक्त अनेक उदार भत्ते भी मिलते थे। नियुक्ति के समय गवर्नर-जनरल को, ब्रिटिश लोकसभा के दोनों आगारों की अनुमति से, सम्राट द्वारा एक निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) दिया जाता था। इसका उद्देश्य विशेषतया विशेष उत्तरदायित्वों, अथवा स्वविवेक और व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्रों में गवर्नर-जनरल की शक्तियों के प्रयोग का मार्ग निर्धारित करना होता था। अन्य उपनिवेशों में ब्रिटिश शासन-सत्ता अपने परमाधिकार का प्रयोग करती हुई इस प्रकार के निर्देश-पत्र देती है और उनके लिये ब्रिटिश लोकसभा का प्रत्यक्ष अनुमति आवश्यक नहीं होती। परन्तु ब्रिटिश लोकसभा भारत की वैधानिक प्रगति तथा प्रक्रियाओं पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहती थी। अतएव उसने आग्रह करके अपनी अनुमति का प्रावधान स्वीकार करा लिया। इसके परिणामस्वरूप भारत में इस बात की कोई सम्भावना नहीं रह गई कि अन्य उपनिवेशों की भाँति यहाँ का गवर्नर-जनरल भी वैधानिक प्रधान मात्र रह जाय।

गवर्नर-जनरल के अधिशासी अधिकार का क्षेत्र निम्नलिखित विषयों तक फैला था—(अ) ऐसे विषय जिनके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार संघीय धारासभा को प्राप्त हो; (ब) ब्रिटिश भारत में जल, स्थल तथा वायु सेना का सङ्गठन और भारत स्थित सम्राट् की सेना का नियन्त्रण, (स) ऐसे अधिकारों तथा क्षेत्राधिकार

का प्रयोग जो सन्धि, अनुदान (grant), प्रथा (usage), अनुमति अथवा अन्य किसी प्रकार से, तथा जनजातीय क्षेत्रों के संदर्भ में, सम्राट् द्वारा प्रयोगनीय हों। देशी राज्यों के संदर्भ में संघाधिकार का प्रयोग केवल कुछ परिभाषित शक्तियों तक ही सीमित था। भारत के बाहर भरती की हुई योरोपीय सेना संघ के अधिकार-क्षेत्र से बाहर थी।

संघीय शासन का निर्माण द्वैध प्रणाली के अनुसार किया गया था। रक्षा, धार्मिक प्रशासन तथा सम्राट् के उपनिवेशों के अतिरिक्त संसार के अन्य भागों के साथ वैदेशिक सम्बन्ध, यह तीन विषय आरक्षित रखे गये थे। इन विषयों का प्रशासन गवर्नर-जनरल का उत्तरदायित्व था और इसके सम्पादन में वह अधिक से अधिक तीन सलाहकारों (Counsellors) की सहायता ले सकता था। उसके जनजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रकार्य भी आरक्षित विषयों के ही अन्तर्गत थे। उपरोक्त विभाग पूर्णतया गवर्नर-जनरल के अधिकार क्षेत्र में थे, इनका प्रशासन वह स्वविवेकानुसार करता था। परन्तु इनके अतिरिक्त उसके और विशेष उत्तरदायित्व भी थे जिनके बल पर वह मन्त्रियों के परामर्श की अवहेलना करके हस्तक्षेप कर सकता था। गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे :—

(१) भारत अथवा उसके किसी भाग की शान्ति एवं सुव्यवस्था को भंग होने से बचाना।

(२) संघ-शासन के आर्थिक स्थायित्व तथा उसकी साख का अभिरक्षण।

(३) अल्पसंख्यकों के उचित हितों का अभिरक्षण।

(४) सार्वजनिक राज्य-कर्मचारीवर्गों तथा उनके उत्तराधिकारियों के उचित हितों का अभिरक्षण।

(५) भारत में अधिवासित ब्रिटिश प्रजाजनों अथवा इङ्गलैण्ड या बरमा के नियमों के अनुसार सङ्गठित निगमों (corporations) के हितों के विरुद्ध विभेद-नीति का निवारण।

(६) इङ्गलैण्ड अथवा बरमा में निर्मित तथा भारत में आयात वस्तुओं के विरुद्ध विभेद-नीति अथवा व्यवहार का निवारण।

(७) प्रत्येक देशी राज्य के अधिकारों अथवा उसके शासक के मान तथा अधिकारों का रक्षण।

(८) ऐसी व्यवस्था करना कि अपने आरक्षित विभागों अथवा विशेष उत्तर-दायित्वों अथवा स्वविवेकाधारित कार्यों के उचित सम्पादन में अन्य विषयों से सम्बन्धित किसी कार्यक्रम का प्रतिकूल अथवा अवरोधात्मक प्रभाव न पड़े।

इस प्रकार प्रशासन का कोई विभाग गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों के प्रभाव से मुक्त नहीं था। उनकी व्याख्या करके उन्हें किसी परिस्थिति में लागू किया जा सकता था। प्रोफेसर के० टी० शाह के शब्दों में : "विशेष उत्तरदायित्वों

के पीछे, कार्यरूप में, देश के प्रशासी कर्मचारीवर्गों को अनुशासनहीन बनाने तथा उत्तरदायी शासन की नैतिकता नष्ट करने का षड्यन्त्र है। मन्त्री भी ऐसे प्रश्नों पर परामर्श देने में किसी उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे जिनके विषय में वे भली प्रकार जानते हैं कि गवर्नर-जनरल उनका परामर्श मानने के लिये बाध्य नहीं है[1]।"

और अनेक क्षेत्रों में विशेष उत्तरदायित्व रखने के अतिरिक्त, गवर्नर-जनरल को बिना अपने मन्त्रियों का परामर्श लिये अथवा उनके परामर्श के प्रतिकूल, स्वविवेकानुसार अथवा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर, कार्य करने का भी अधिकार था। इस अधिकार-क्षेत्र में सलाहकारों, मन्त्रियों तथा अर्थ-सलाहकार की नियुक्ति तथा वियुक्ति, व्यवस्थापिका सभा के संयुक्त अधिवेशन का संयोजन, विधेयकों की अनुमति (assent), आरक्षण (reservation), अथवा अस्वीकृति (disallowance) तथा विधि-निर्माण एवं अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी अपनी विभिन्न विशेष शक्तियों का प्रयोग, आदि महत्वपूर्ण विषय सम्मिलित थे। कोई प्रश्न गवर्नर-जनरल के स्वविवेकाधारित अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत है अथवा नहीं इसका एकमात्र निर्णायक भी स्वयं वही था।

गवर्नर-जनरल को असाधारण विधायी शक्तियाँ प्राप्त थीं। वह संघीय विधान सभा का आवाहन (summoning), सत्रावधान (proroguing), एवं विलयन (dissolution) कर सकता था और इस विषय में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती थी। गवर्नर-जनरल व्यवस्थापिका सभा के कार्य सम्पादन के सम्बन्ध में भी नियम बना सकता था। कुछ विशेष विषयों—मुख्यतः गवर्नर-जनरल के विशेषाधिकारों—से सम्बन्धित विधेयक व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित करने के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त वह अपने स्वविवेकाधारित अधिकारों के उचित सम्पादन के लिये आवश्यक विधेयकों की स्वीकृति के लिये व्यवस्थापिका सभा से सिफ़ारिश भी कर सकता था। और व्यवस्थापिका सभा द्वारा आदेश पालन न होने पर वह स्वयं उन विधेयकों को कानून का रूप दे सकता था। उसे अध्यादेश (ordinances) प्रकाशित करने का भी अधिकार था और यह अध्यादेश एक प्रकार से अस्थायी क़ानून ही होते थे। वह इच्छानुसार व्यवस्थापिका सभा के एक अथवा दोनों आगारों को सम्बोधित कर सकता था तथा मतभेद दूर करने के लिये दोनों आगारों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता था। और अन्त में उसे प्रान्तीय

---

1. "The Special Responsibilities are calculated, in practice, to subvert any discipline in the administrative services of the country and to demoralise responsible government. The Ministers would not feel any sense of responsibility in tendering their advice on questions in which they know that the Governor-General is not bound to follow their advice."—*K. T. Shah.*

अथवा संघीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा स्वीकृत होकर अपने पास भेजे गये विधेयकों पर अनुमति देने अथवा न देने अथवा स्थगित कर देने का भी अधिकार था।

गवर्नर-जनरल की आर्थिक शक्तियाँ और भी अधिक असाधारण थीं। आरक्षित विभागों अथवा कुछ पूर्व-निश्चित प्रभारों (charges) के लिये कितने धन की आवश्यकता है, इसका एकमात्र निर्णायक वह स्वयं था। व्यवस्थापिका सभा को इस धन के विषय में आपत्ति करने अथवा मतप्रदर्शन तक का अधिकार नहीं था। बजट का जो थोड़ा सा अंश व्यवस्थापिका सभा के मताधीन था, गवर्नर-जनरल उसमें से भी अपने विशेष उत्तरदायित्वों के प्रशासन के लिये निश्चित धनराशि की माँग कर सकता था। और यदि व्यवस्थापिका सभा उसकी माँगों को स्वीकार न करे अथवा घटा दे तो वह स्वयं उन्हें अधिकृत कर सकता था। अन्य विधेयकों की भाँति बजट के लिये भी कानून रूप में स्वीकृत होने के पूर्व गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी।

इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को प्रशासन सम्बन्धी अधिकार तथा संघाङ्गों पर क्रियात्मक नियन्त्रण की शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। वह प्रान्तीय गवर्नरों तथा संघ में सम्मिलित राज्यों के शासकों को शान्ति तथा सुरक्षा के संधारण के लिये आदेश दे सकता था। वह प्रान्तीय गवर्नरों के स्वविवेकानुसार अधिकारों के प्रयोग पर नियन्त्रण रख सकता था। आर्थिक क्षेत्र में उसे आयकर के शुद्ध आगमों को प्रान्तों के बीच विभाजित करने तथा प्रान्तों द्वारा ऋण खड़ा करने पर नियन्त्रण रखने का अधिकार था। और गवर्नरों तथा शासकों (Princes) की सहायता से संघाङ्गों में संघीय नियमों के अधिशासन की व्यवस्था करना तो उसका साधारण कर्तव्य ही था।

संविधान के स्थगन काल के लिये गवर्नर-जनरल को असाधारण शक्तियों से विभूषित किया गया था। यह आशंका होते ही कि संविधान के अनुसार देश का शासन सम्भव नहीं है, गवर्नर-जनरल पूर्ण संविधान अथवा उसके किसी भाग के स्थगन की घोषणा करके संघीय न्यायालय के अतिरिक्त अन्य किसी राज्यांग के प्राधिकार अपने हाथ में ले सकता था। इस प्रकार की घोषणायें ६ मास तक मान्य रहती थीं। परन्तु यह अवधि बढ़ाई जा सकती थी और दूसरे महायुद्ध के काल में ब्रिटिश लोकसभा की सहायता से वास्तव में बढ़ाई भी गई थी।

साधारणतया सांसद अथवा उत्तरदायी शासनों के प्रधान अपने अधिकारों का क्रियात्मक प्रयोग न करके उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों के परामर्श पर ही कार्य करते हैं। परन्तु भारतीय गवर्नर-जनरल के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। रूस के ज़ार के समान उसका निरंकुश स्वरूप सन् १९४७ ई० तक बराबर बना रहा। गवर्नर-जनरल की शक्तियाँ बहुत विस्तृत थीं और उसे सरलतापूर्वक भारतीय शासन-यन्त्र की धुरी कहा जा सकता था। उसके ही हाथों में सारी अधिशासी, विधायी तथा आर्थिक शक्तियाँ केन्द्रित थीं। संघ-शासन के सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभागों पर उसका नियन्त्रण

था और उसके विस्तृत स्वविवेकाधारित अधिकार-क्षेत्र का आधुनिक इतिहास में कहीं उदाहरण नहीं मिलता है। उसके विशाल अधिकारक्षेत्र के कारण प्रान्तीय एवं संघीय शासन में उत्तरदायित्व का सिद्धान्त एक खिलवाड़ मात्र रह गया था। वास्तव में वह किसी अधिनायक (dictator) से कम नहीं था और चर्चिल महोदय को भी स्वीकार करना पड़ा कि "वह एक हिटलर अथवा मुसोलिनी की सारी शक्तियों से सुसज्जित है। तनिक सा कलम घुमा कर वह सारे संविधान को छिन्न-भिन्न कर सकता है अथवा कोई भी कानून बना सकता है[1]।"

संघीय मन्त्रिमण्डल—सन् १६३५ ई० के संविधान में गवर्नर-जनरल को उसके स्वविवेकाधारित एवं व्यक्तिगत निर्णय के विषयों के अतिरिक्त सभी बातों में सहायता एवं परामर्श देने के लिये अधिक से अधिक दस सदस्यों के एक मन्त्रि-मण्डल की व्यवस्था की गई थी। मन्त्रियों को नियुक्त करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को था और उनका पदधारण-काल उसकी इच्छा पर निर्भर था। गवर्नर-जनरल को जो निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) दिया जाता था उसके अनुसार उसे मन्त्रियों का चुनाव ऐसे व्यक्ति के परामर्श से करना चाहिये था जो, उसके मतानुसार, संघीय व्यवस्थापिका सभा, अथवा कम से कम उसके निम्न-आगार में, एक स्थायी बहुमत का नेतृत्व करने की सबसे अधिक क्षमता रखता हो। इस निर्देश का तात्पर्य एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना था जो सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका सभा का विश्वास प्राप्त कर सकने की स्थिति में हो। परन्तु मन्त्रियों के चुनाव में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक था कि मन्त्रिमण्डल में संघ के सम्मिलित होने वाले देशी राज्यों तथा प्रमुख अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि भी हों। सीमित आकार के मन्त्रिमण्डल-निर्माण की यह प्रणाली उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। संघीय मन्त्रिमण्डल इस प्रकार एक मिश्र संस्था अवश्य बन सकता था परन्तु उसमें उद्देश्य की एकता अथवा समान नीति का समावेश असम्भव था।

हम पहले ही देख चुके हैं कि संघीय मन्त्रिमण्डल के संदर्भ में गवर्नर-जनरल एक पूर्णतया वैधानिक प्रधानमात्र नहीं था। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह प्रत्येक प्रश्न पर अपने मन्त्रियों के परामर्श को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं था। निम्नलिखित विषयों में मन्त्रिमण्डल की शक्ति तथा उसके अधिकारों का क्षेत्र सीमित था :—(१) आरक्षित विषय, (२) गवर्नर-जनरल की स्वविवेकाधारित शक्तियाँ तथा उसके विशेष उत्तरदायित्व (Discretionary Powers and Special

1. "He is armed with all the powers of a Hitler or Mussolini. By a stroke of his pen he can scatter the constitution and decree any law to be passed."—*Churchill.*

Responsibilities) (३) वित्त व्यवस्था तथा (४) व्यापार वाणिज्य और उद्योग। इनमें से आरम्भ के दो विषयों में तो मन्त्रिमण्डल का किंचितमात्र भी नियन्त्रण नहीं था। उनके प्रशासन के लिये कितने धन की आवश्यकता होगी इसका निर्णय गवर्नर-जनरल स्वयं करता था और उसे बिना मन्त्रिमण्डल अथवा व्यवस्थापिका सभा की अनुमति के भी धन के व्यय करने का पूर्ण अधिकार था। यह सम्भव है कि निर्देश-पत्र में गवर्नर-जनरल को अपवर्जित विषयों (excluded subjects) के क्षेत्र में भी अपने मन्त्रियों से परामर्श करने का आदेश रहता हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि अन्तिम निर्णय उसके हाथों में ही रहता था। चलार्थ (currency), विनिमय (exchange), वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्रों में कानून के अनेक ऐसे प्रावधान थे जिनके कारण मन्त्रिमण्डल तथा धारासभा दोनों ही जनमत की माँगों के अनुसार भारतीय उद्योगों की सहायता अथवा रक्षा करने में असमर्थ हो जाते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन् १६३५ के संविधान के अनुसार मन्त्रिमण्डल के उत्तर-दायित्व तथा अधिकारों का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित था। इसमें सन्देह नहीं कि कई महत्वपूर्ण विषय हस्तान्तरित करके विधानसभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिये गये थे, परन्तु उनके चारों ओर अभिरक्षणों तथा अन्य चातुर्य्यपूर्ण उपायों का ऐसा जाल बिछा दिया गया था कि मन्त्रियों के लिये सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता के साथ आगे बढ़ना अत्यन्त कठिन था, और वे ऐसी नीति का विकास नहीं कर सकते थे जिसमें राष्ट्रीय प्रतिभा तथा शक्ति के निर्बन्ध प्रयोग के उचित अवसर प्राप्त हो सकें। प्रत्येक कदम पर मन्त्रियों के लिये नियन्त्रण तथा प्रतिबन्धों की व्यवस्था थी। यह कहना भी अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि इन सब प्रतिबन्धों के रहते हुये भी ऐसी संप्रतिज्ञाओं (conventions) का विकास सम्भव था जिनसे मन्त्रियों की शक्ति तथा उनके उत्तरदायित्वों के क्षेत्र का विकास हो सकता था, क्योंकि संघीय व्यवस्थापिका सभा का संगठन ही कुछ इस प्रकार किया गया था कि संघीय मन्त्रि-मण्डल एक संयुक्त मन्त्रिमण्डल ही हो सकता था और संयुक्त मन्त्रिमण्डल सदा एक दुर्बल मन्त्रिमण्डल होता है। प्रोफेसर के० टी० शाह ने हिसाब लगा कर बताया है कि देश की सबसे बड़ी तथा सुसंगठित राजनैतिक संस्था काँग्रेस के लिये भी संघीय विधान सभा के ३७५ स्थानों में से १३० से अधिक प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं था। इसका अर्थ यह हुआ कि काँग्रेस के लिये भी दूसरे दलों की सहायता आवश्यक थी। ऐसा संयुक्त मन्त्रिमण्डल कभी सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता था और उससे उत्तरदायी शासन की दिशा में वास्तविक प्रगति की आशा नहीं की जा सकती थी।

(ब) संघीय व्यवस्थापक मण्डल

संघीय व्यवस्थापक मण्डल में सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल तथा राज्य-

परिषद् (Council of State) और संघीय विधान सभा (Federal Assembly) नामक दो आगार सम्मिलित थे। राज्य-परिषद् में ब्रिटिश भारत से १५६ तथा देशी राज्यों से अधिक से अधिक १०४ प्रतिनिधियों की व्यवस्था थी। ब्रिटिश भारत के १५६ प्रतिनिधियों में से ६ गवर्नर-जनरल द्वारा नामज़द तथा शेष निर्वाचित सदस्य थे। मद्रास, बङ्गाल तथा संयुक्त प्रांत में प्रत्येक से २०, बम्बई, पंजाब तथा बिहार में प्रत्येक से १६, मध्यप्रांत से ८, आसाम, उत्तर-पश्चिम सीमांत, उड़ीसा तथा सिंध में प्रत्येक से ५, और बिलोचिस्तान, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा तथा कुर्ग में प्रत्येक से १ प्रतिनिधि के निर्वाचन की व्यवस्था थी, और योरोपीय जातियों के लिये ७, भारतीय ईसाइयों के लिये २ तथा एँग्लो-इण्डियनों के लिये १ इस प्रकार १० स्थान आरक्षित रखे गये थे और इन स्थानों का कोई प्रांतीय आधार नहीं था। देशी राज्यों में पूरे भारत की केवल २५ प्रतिशत से कुछ ऊपर जनसंख्या थी; परन्तु राज्य-परिषद् में उन्हें ४० प्रतिशत स्थान दिये गये थे। यह राज्य-परिषद् एक स्थायी अविलयनशील संस्था थी, परन्तु प्रति तीसरे वर्ष के अन्त में इसके एक तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते थे। इसके लिये क्षेत्रीय निर्वाचन-मण्डलों (territorial constituencies) में प्रत्यक्ष प्रणाली के अनुसार निर्वाचन की व्यवस्था थी। परिषद् का सभापति उसके सदस्यों में से ही निर्वाचित होता था।

संघीय विधान सभा में ब्रिटिश भारत के २५० तथा देशी राज्यों के अधिक से अधिक १२५ प्रतिनिधि हो सकते थे। इसके इन स्थानों का निम्नलिखित विभाजन किया गया था:—मद्रास, बङ्गाल तथा संयुक्त प्रांत में प्रत्येक से ३७ सदस्य; बम्बई, बिहार तथा पंजाब में प्रत्येक से ३० सदस्य; मध्यप्रांत से १५ सदस्य; आसाम से १०; उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश, उड़ीसा तथा सिन्ध में प्रत्येक से ५ सदस्य, दिल्ली से २, और बिलोचिस्तान, अजमेर-मेरवाड़ा तथा कुर्ग में प्रत्येक से १ सदस्य। इसके अतिरिक्त वाणिज्य उद्योग तथा श्रमहितों के लिये ४ स्थानों की व्यवस्था थी जिनका कोई प्रांतीय आधार नहीं था। देशी राज्यों के स्थानों के लिये जनसंख्या के आधार पर विभाजन की व्यवस्था थी। संघीय विधान सभा के लिए प्रान्तों के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार क्षेत्रीय निर्वाचन मण्डलों के प्राथमिक मतदाताओं को न देकर प्रांतीय धारासभाओं द्वारा अनुपाती प्रतिनिधान की एकल संक्राम्यमत प्रणाली (single transferrable vote system of proportional representation) के अनुसार निर्वाचन का प्रबन्ध किया गया था। अधिकतर स्थानों का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर था। निम्न-आगार के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धांत की स्वीकृति सम्भवतः भारतीय संघ-व्यवस्था की सबसे बड़ी दुर्बलता और विचित्रता थी। संघीय विधान सभा का जीवनकाल साधारणतया ५ वर्ष का था परन्तु आवश्यकता पड़ने पर अवधि पूर्ण होने के पूर्व भी उसका विलयन किया जा सकता

था। विधान सभा के सभापति को अध्यक्ष (Speaker) की संज्ञा दी गई थी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों ही सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होते थे तथा अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा अपने पदों से हटाये जा सकते थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघीय विधान सभा के संगठन में जनतन्त्रवाद के सिद्धांतों की पूर्ण अवहेलना की गई थी। देशी राज्यों, मुसलमानों तथा छोटे-छोटे अल्पमतों को अनुचित दीर्घानुपात दिया गया था और सारी परम्परा तथा सहजबुद्धि के प्रतिकूल उत्तर-आगार के लिये प्रत्यक्ष तथा निम्न-आगार के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी। और सबसे अधिक विचित्र बात यह थी कि अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचित आगार अविलयनशील बनाया गया था तथा प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचित आगार विलयनशील। राज्य-परिषद् के निर्वाचन के लिये मतदान का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रक्खा गया था, परन्तु उसके सदस्यों का पदधारण-काल असाधारण लम्बा था। उसे बजट उपस्थित करने के अतिरिक्त विधि-निर्माण तथा वित्त-व्यवस्था दोनों ही क्षेत्रों में विधान सभा के साथ समान अधिकार प्राप्त थे। और इस प्रकार भारतीय राज्य-परिषद् की गणना संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा अधिक रूढ़िवादी उत्तर-आगारों में की जा सकती थी।

भारतीय व्यवस्थापिका सभा के अधिकारों का सम्बन्ध विधि-निर्माण, वित्त-व्यवस्था तथा प्रशासन-नियन्त्रण के क्षेत्रों से था। परन्तु यह सभा कोई सम्पूर्ण सत्ताधारी संस्था नहीं थी। भारत की अधिशासी शक्ति (Executive) को स्वयं भी विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त था, अतएव व्यवस्थापिका सभा की शक्तियाँ सीमित थीं। कुछ विषय ऐसे थे जिनके लिये कानून बनाने का व्यवस्थापिका सभा को कोई अधिकार नहीं था। उदाहरण के लिये भारतीय व्यवस्थापिका सभा, सम्राट् अथवा राज्यवंश, भारत के किसी भाग में ब्रिटिश शासन सत्ता के प्रभुत्व, ब्रिटिश राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानून, वायु सेना कानून, नो सेना अनुशासन कानून, अथवा स्वयं भारत सरकार कानून (१६३५) से सम्बन्धित किसी विषय पर कोई कानून नहीं बना सकती थी। कुछ विषय ऐसे भी थे जिन पर कानून बनाने के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। उदाहरण के लिये किसी ऐसे कानून के विखण्डन के लिये जो ब्रिटिश लोकसभा द्वारा स्वीकृत हो चुका हो और भारत में लागू किया जा सकता हो, अथवा गवर्नर-जनरल के स्वविवेकाधारित अधिकारों से सम्बन्धित विषय पर कोई कानून प्रस्तुत करने के लिये, तथा इसी प्रकार के और कई विषयों में गवर्नर-जनरल की पूर्व-अनुमति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त भारत की शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिये कोई भय उत्पन्न होने पर उसके निवारणार्थ गवर्नर-जनरल किसी विधेयक अथवा उसके संशोधन की आगे की कार्यवाही रोक सकता था। इन सीमाओं के भीतर संघीय व्यवस्थापिका सभा ब्रिटिश भारत के सभी व्यक्तियों, स्थानों तथा वस्तुओं के

लिये, भारत अधिवासी ब्रिटिश नागरिकों के लिये, संघ में सम्मिलित देशी राज्यों की प्रजा के लिये (केवल उन विषयों में जिन्हें उन राज्यों ने संघीय विषय स्वीकार कर लिया हो) तथा ब्रिटिश भारत के समस्त न्यायालयों के लिये, सारे संघीय तथा समवर्ती विषयों पर कानून बना सकती थी।

परन्तु भारतीय व्यवस्थापिका सभा द्वारा स्वीकृत प्रत्येक विधेयक की अन्तिम स्वीकृति के लिये गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वह चाहे जिस विधेयक को अपनी अनुमति दे और चाहे जिसको अस्वीकार कर दे। वह किसी विधेयक को सम्राट् के विचारार्थ आरक्षित कर सकता था अथवा कुछ सिफारिशें करते हुये पुनर्विचार के लिये व्यवस्थापिका सभा के पास वापस भेज सकता था। गवर्नर-जनरल को अपने स्वविवेकाधारित कर्तव्यों के उचित पालन के लिये आवश्यक कानून स्वयं बना लेने का भी अधिकार था। ऐसे कानून 'गवर्नर-जनरल के कानून' कहे जाते थे और उनकी मान्यता अन्य संघीय कानूनों के समान ही होती थी। गवर्नर-जनरल के कानून बनाने के दो उपाय थे। गवर्नर-जनरल विधान मण्डल के दोनों आगारों को इस आशय का एक सन्देश भेज सकता था कि उसने अमुक परिस्थितियों में यह कानून बनाया है। दूसरा उपाय यह था कि वह अपने सन्देश के साथ विधेयक का प्रारूप भेजने के पश्चात् एक मास व्यतीत हो जाने पर उसकी स्वीकृति की घोषणा कर सकता था। और अन्त में, गवर्नर-जनरल स्वयं अपनी ओर से, अथवा अपने मन्त्रिमण्डल के आग्रह पर, अध्यादेश (ordinance) निकाल सकता था। स्वयं गवर्नर-जनरल की ओर से प्रकाशित अध्यादेश ६ मास तक मान्य रहते थे और भारत मन्त्री के पास विचारार्थ भेजे जाते थे। परन्तु मन्त्रिमण्डल के अनुरोध पर गवर्नर-जनरल द्वारा प्रकाशित अध्यादेश विधान-मण्डल का अधिवेशन आरम्भ होते ही उसके समक्ष उपस्थित किये जाते थे और दोनों आगारों द्वारा अस्वीकृत होने पर उनकी मान्यता का अन्त हो जाता था।

जहाँ तक सन् १९३५ ई० के संविधान के अन्तर्गत भारतीय व्यवस्थापक मण्डल के आर्थिक अधिकारों का सम्बन्ध है, संघीय बजट निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर दिया गया था:—(१) वह भाग जो व्यवस्थापक मण्डल के समक्ष मत-प्रदर्शन के लिये उपस्थित ही नहीं किया जायगा; (२) वह भाग जो व्यवस्थापक-मण्डल के मत-प्रदर्शन के लिये उपस्थित तो किया जायगा परन्तु जिसकी किसी कटौती अथवा अस्वीकृत माँग को गवर्नर-जनरल पूरा कर सकेगा; और (३) वह भाग जिसके विषय में व्यवस्थापक मण्डल का निर्णय अन्तिम होगा। बजट के निम्नलिखित भागों पर विधान-मण्डल को मत-प्रदर्शन का अधिकार नहीं था:—(अ) गवर्नर-जनरल का वेतन, भत्ता तथा उसके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय; (ब) ऋण-प्रभार (debt charges), (स) पारषदों (Counsellors), मन्त्रियों (Minis-

ters), संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों, इत्यादि पदाधिकारियों का वेतन तथा भत्ता; और (द) आरक्षित विषयों के लिये आवश्यक व्यय तथा वह धन-राशि जो ब्रिटिश सम्राट् को प्रभुत्व की स्वीकृति के रूप में दी जाती थी, इत्यादि। अनुमान लगाया गया है कि सम्पूर्ण बजट का लगभग ८० प्रतिशत तो इन्हीं पदों के अन्तर्गत आ जाता था। बजट के दूसरे भाग के अन्तर्गत वे माँगें रखी गई थीं जिन्हें गवर्नर-जनरल आवश्यक समझता हो। इस भाग पर विधान-मण्डल अपना मत-प्रदर्शन कर सकता था, परन्तु गवर्नर-जनरल उसके निर्णय की उपेक्षा कर सकता था। इस प्रकार बजट के तीसरे भाग पर ही विधान-मण्डल का पूर्ण नियन्त्रण था। जहाँ तक बजट की आमदनी (revenue) का सम्बन्ध था, प्रत्येक ऐसे विधेयक के लिये जिसका सम्बन्ध कोई नया कर लगाने, अथवा पुराना कर बढ़ाने, अथवा ऋण-व्यवस्था के नियमन से हो, गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी।

इसके अतिरिक्त चलार्थ (currency), मुद्रानिर्माण (coinage) अथवा रिज़र्व बैंक के प्रकार्यों से सम्बन्धित विधेयकों के लिये भी गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। विधान-मण्डल को शासन की व्यापार नीति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता थी परन्तु यह स्वतन्त्रता भी इङ्गलैण्ड अथवा बरमा के माल के विरुद्ध व्यापारिक विभेद रोकने के गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व द्वारा सीमित थी। देशी उद्योग-धन्धों की रक्षा तथा सहायता के विषय में इस संविधान में समव्यवहार के सिद्धान्त की व्यवस्था की गई थी जिसके अनुसार भारत में ब्रिटिश उद्योग-धन्धों पर कोई ऐसे प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते थे जिनसे इङ्गलैण्ड में भारतीय उद्योग-धन्धे मुक्त हों। यह नियम असंगत था क्योंकि इङ्गलैण्ड में कोई महत्वपूर्ण भारतीय उद्योग-धन्धे थे ही नहीं।

जहाँ तक प्रशासन सम्बन्धी शक्तियों का सम्बन्ध है, संघीय-व्यवस्थापक मण्डल को अधिशासन के कार्यों की आलोचना करने तथा प्रश्नों (interpellations), स्थगन प्रस्तावों (adjournment motions) एवं वेतन की कटौतियों के माध्यम से जनता के असन्तोष को व्यक्त करने के अधिकार प्राप्त थे। परन्तु सार्वजनिक सेवा वर्गों का नियन्त्रण भारत मन्त्री के हाथों में था और उनके हितों को गवर्नर-जनरल अपना विशेष उत्तरदायित्व मानता था। अतएव अधिशासन के सम्बन्ध में क्रियात्मक रूप से कुछ करने का अधिकार व्यवस्थापक-मण्डल को नहीं था। केन्द्रीय शासन की प्रणाली द्वैध होने के कारण व्यवस्थापक-मण्डल को प्रशासन व्यवस्था के केवल उस सीमित क्षेत्र में पूर्णाधिकार था जिसमें मन्त्रियों का परामर्श मानना गवर्नर जनरल के लिये आवश्यक था। परन्तु यहाँ भी प्राधान्य गवर्नर-जनरल का ही था। मन्त्रियों का पदधारण काल उसकी इच्छा पर निर्भर था, उनके कार्यक्षेत्र का विभाजन गवर्नर-जनरल करता था और वही उनकी बैठकों का सभापतित्व करता तथा उनके

सुचारु कार्य-सम्पादन के लिये नियम बनाता था। इस प्रकार संविधान में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं थी जिससे मन्त्रियों का व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायित्व आवश्यक अथवा अनिवार्य हो जाय।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संघीय व्यवस्थापक-मण्डल का निर्माण कुछ विचित्र प्रकार से किया गया था और उसकी शक्तियाँ ऐसे चतुर उपायों से सीमित की गई थीं कि उसके लिये स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना असम्भव हो गया था। इसमें एकांगीयता (organic unity) का स्वाभाविक अभाव होने के कारण अधिक सम्भावना इस बात की थी कि यह अनेक छोटे-छोटे परस्पर विरोधी तथा विनाशकारी दलों में विभाजित हो जायगा। व्यवस्थापक-मण्डल का वास्तविक अधिकार नहीं के बराबर था। प्रशासन द्वारा विधि-निर्माण, अध्यादेश निर्माण, अर्थ एवं व्यापार-नीति पर प्रतिबन्ध तथा वाणिज्य सम्बन्धी अभिरक्षणों ने व्यवस्थापक-मण्डल की शक्तियों को अत्यन्त संकुचित सीमाओं के भीतर बाँध रखा था और व्यवस्थापक-मण्डल वास्तव में एक उपहास की वस्तु बना दिया गया था।

(स) संघीय न्यायपालिका

संघीय संविधान में किसी ऐसी निष्पक्ष प्राधिकारी संस्था की व्यवस्था आवश्यक होती है जो संविधान की व्याख्या कर सके, अधिकारक्षेत्र के विषय में सङ्घ तथा संघांगों का मतभेद निवारण कर सके और किसी पक्ष द्वारा संविधान का उल्लंघन न होने दे। उदाहरण के लिये संयुक्त राष्ट्र अमरीका में वहां का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) इसी प्रकार की संस्था है। यह न्यायालय संविधान के अभिभावक का कार्य करता है और संघीय अथवा राज्य शासन के किसी ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित कर सकता है जिसमें संविधान द्वारा उस पक्ष को प्रदत्त अधिकारों का अतिक्रमण किया गया हो। सन् १९३५ ई० के संविधान ने भारत में भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये संघीय न्यायालय को जन्म दिया था, परन्तु इसका अधिकार-क्षेत्र अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में बहुत सीमित रखा गया था।

इस प्रकार संघीय न्यायपालिका के अन्तर्गत संघीय न्यायालय (Federal Court) नाम का केवल एक न्यायालय था जिसकी स्थापना सङ्घ-शासन तथा उसके अङ्गों के बीच उत्पन्न होने वाले वैधानिक झगड़ों के निर्णायक के रूप में की गई थी।

संघीय न्यायालय (Federal Court) में एक प्रधान तथा दो सहकारी न्यायाधीश होते थे, परन्तु संविधान में अधिक से अधिक ६, और सङ्घीय विधान-मण्डल की अनुमति से उससे भी अधिक, सहकारी न्यायाधीशों (puisnea judges) की नियुक्ति की व्यवस्था थी। सब न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् करते थे और वे ६५

वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर कार्य कर सकते थे। उनको अपने पद से हटाने का अधिकार केवल सम्राट् को था और वह भी उस दशा में जब प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति यह रिपोर्ट करे कि अमुक न्यायाधीश का दुराचार अथवा शारीरिक या मानसिक दुर्बलता के कारण, पद से हटाया जाना उचित है। न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते इत्यादि पर मतदान का अधिकार व्यवस्थापक-मण्डल को नहीं था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्यायाधीशों को प्रशासन एवं व्यवस्थापक-मण्डल के नियन्त्रण से यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त थी। परन्तु भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण से यह स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी।

ऐसा कोई व्यक्ति संघीय न्यायालय का न्यायाधीश नहीं नियुक्त किया जा सकता था जो (१) कम से कम पाँच वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश न रह चुका हो अथवा (२) कमसे कम १० वर्ष तक ब्रिटेन के एक या अधिक न्यायालयों में अधिवक्ता (Barrister or Advocate) न रह चुका हो, अथवा (३) ब्रिटिश भारत अथवा संघ में सम्मिलित होने वाले किसी देशी राज्य के किसी उच्च न्यायालय का कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो। प्रधान न्यायाधीश के लिये अधिवक्ता रूप में कम से कम १५ वर्ष का अनुभव आवश्यक था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय कर्मचारी वर्ग का कोई न्यायाधीश (civilian judge) कभी भारत का प्रधान न्यायाधीश नहीं बन सकता था। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर-जनरल स्वविवेकानुसार स्थानापन्न प्रधान (Acting Chief Justice) अथवा सहकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता था।

संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन प्रकार का था—प्रारम्भिक (Original), पुनर्विचार सम्बन्धी (Appellate) तथा मन्त्रणा सम्बन्धी (Advisory)। न्यायालय को ऐसे मामलों में अनन्य प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त था जिनका किसी ऐसे प्रश्न से सम्बन्ध हो जिस पर किसी वधिक अधिकार (legal right) का अस्तित्व अथवा विस्तार निम्नलिखित पक्षों में से किन्हीं दो अथवा अधिक पर निर्भर हो :—(१) संघ-शासन, (२) कोई प्रान्त, और (३) कोई देशी राज्य जो संघ में सम्मिलित हो चुका हो। परन्तु संघीय न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार किसी ऐसे मामले में जिससे कोई देशी राज्य सम्बन्धित हो, उसी दशा में स्वीकार हो सकता था जब वह मामला

(१) भारत सरकार कानून की अथवा उसके अन्तर्गत कौंसिल के किसी आज्ञा-पत्र की व्याख्या से सम्बन्ध रखता हो।

(२) उस राज्य के प्रवेश सम्बन्धी प्रलेख (Instrument of Accession) के अन्तर्गत संघ-शासन को हस्तान्तरित किसी विधायी अथवा प्रशासी प्राधिकार । स्तार से सम्बन्ध रखता हो।

(३) उस राज्य में किसी संघीय कानून के प्रशासन से सम्बन्धित किसी समझौते से उत्पन्न हुआ हो;

(४) किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित हो जिस पर संघीय व्यवस्थापक मण्डल उस राज्य के लिये कानून बना सकता हो;

(५) किसी ऐसे समझौते को लेकर उत्पन्न हुआ हो जो देशी राज्य के संघ अथवा किसी प्रान्त में सम्मिलित हो जाने के बाद किया गया हो, परन्तु इस शर्त पर कि स्वयं समझौते में संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार कर लिया गया हो।

अपने प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के प्रयोग में संघीय न्यायालय घोषणात्मक निर्णय के अतिरिक्त और किसी प्रकार का निर्णय नहीं दे सकता था।

संघीय न्यायालय के पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत वे प्रश्न आ सकते थे जिनके विषय में प्रान्तों अथवा देशी राज्यों के उच्च न्यायालयों ने यह प्रमाणित कर दिया हो कि उनका सम्बन्ध सन् १९३५ ई० के कानून अथवा उसके अन्तर्गत कौंसिल के किसी आज्ञापत्र की व्याख्या को लेकर कानून की किसी महत्वपूर्ण समस्या से है। वैधानिक कानून के प्रश्नों के अतिरिक्त, संघीय न्यायालय का पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार संघीय व्यवस्थापक मण्डल के कानून द्वारा बढ़ाया भी जा सकता था। ऐसी स्थिति में न्यायालय दीवानी के उन अभियोगों पर भी पुनर्विचार कर सकता था जिनमें विवादग्रस्त धन राशि ५०,००० रुपया अथवा १५,००० रुपया से अधिक व्यवस्थापक मण्डल द्वारा निर्धारित कोई राशि हो। फौजदारी के अभियोग इसके क्षेत्राधिकार से बाहर थे।

और अन्त में, इसका मंत्रणात्मक क्षेत्राधिकार उन प्रश्नों तक सीमित था जो गवर्नर-जनरल ने इसके पास विचारार्थ भेजे हों। यदि किसी समय गवर्नर-जनरल को प्रतीत हो कि कानून सम्बन्धी किसी प्रश्न पर संघीय न्यायालय की मति लेना उचित है, तो वह स्वविवेकानुसार उस प्रश्न को न्यायालय के पास विचारार्थ भेज सकता था और वह न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात्, जिसे वह उचित समझता हो, गवर्नर-जनरल को उस पर अपनी मति का प्रकाश करता था।

सम्पूर्ण संघक्षेत्र के सभी असैनिक तथा न्यायिक प्राधिकारियों के लिये संघीय न्यायालय की सहायता करना अनिवार्य था। न्यायालय को सम्पूर्ण संघक्षेत्र में किसी व्यक्ति की उपस्थिति एवं किन्हीं प्रलेखों (documents) की खोज तथा उपस्थिति की व्यवस्था करने अथवा न्यायालय के किसी अपमान की जाँच करके अपराधी को दण्डित करने का प्राधिकार था। न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली अथवा अपने क्षेत्र में कार्य करने वाले अधिवक्ताओं (Advocates) के व्यवहार को निर्धारित करने के उद्देश्य से आवश्यक नियम बनाने का अधिकार था। उसे मुकदमे के व्यय (cost) सम्बन्धी उचित आदेश निकालने का भी अधिकार था और उसके आदेशों

का प्रवर्तन संघ क्षेत्र के सारे न्यायालयों तथा प्राधिकारियों का कर्तव्य था।

परन्तु इतना सब होते हुये भी संघीय न्यायालय इतना सर्वोच्च अथवा स्वतन्त्र न था जितना संघ शासन के लिये आवश्यक होता है। वह प्रिवी कौंसिल में अपने निर्णयों के विरुद्ध की जाने वाली पुनर्विचार की प्रार्थनायें नहीं रोक सकता था। किसी ऐसे विवाद में जिसका सम्बन्ध संविधान की व्याख्या अथवा संघ या उसके अङ्गों के विधायी अथवा प्रशासी प्राधिकार के विस्तार से हो, संघीय न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकारगत किसी निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अधिकार रूप में अपील की जा सकती थी। अन्य प्रकार के विवादों में इस प्रकार की अपील करने के लिये संघीय न्यायालय अथवा प्रिवी कौंसिल की विशेष अनुमति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त जिन विवादों पर ब्रिटिश भारत के किसी उच्च न्यायालय का पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार हो वे संघीय न्यायालय के पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं आते थे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रान्तीय शासन

प्रान्तीय स्वराज्य—अंग्रेज़ों के शासनकाल भर भारत के शासन का स्वरूप एकात्मक (unitary) रहा। सन् १९१९ ई० तक प्रान्तों को कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे। माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट के निर्माताओं ने भी प्रान्तों को केन्द्रीय शासन के अभिकर्तामात्र (mere agents) माना था। और यह ठीक भी था क्योंकि प्रांतों को अपनी कोई शक्ति नहीं प्राप्त थी। वे केवल उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करते थे जो केन्द्रीय शासन ने प्रशासन की सुविधा के लिये उन्हें दे रखे थे। परन्तु सन् १९१९ ई० में यह स्वीकार कर लिया गया कि उत्तरदायित्व का सिद्धांत भारत की राजनैतिक प्रगति का एक अत्यावश्यक अङ्ग है। यह स्वीकार कर लेने के पश्चात् भारतवासियों को स्व-शासन की कला की शिक्षा देना आवश्यक हो गया और प्रांतों को इस कार्य के लिये उपयुक्त समझा गया। अतएव सन् १९१९ ई० के सुधार कानून में प्रांतों में द्वैध-शासन प्रणाली (Dyarchy) का आरम्भ किया गया। इस प्रणाली के अन्तर्गत हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र में भारत सरकार साधारणतया किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती थी। परन्तु आरक्षित विषयों के क्षेत्र में उसका अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण का अधिकार पूर्ववत् था। इसके अतिरिक्त आर्थिक-व्यवस्था के नियन्त्रण में भी थोड़ी कमी कर दी गई थी। साइमन कमीशन ने सिफारिश की कि सन् १९१९ ई० में विकेन्द्रीकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ की गई थी उसका पूर्ण किया जाना आवश्यक है। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "भविष्य में प्रत्येक प्रांत को, यथासम्भव अपने गृह का पूर्ण स्वामी होना चाहिये[1]।" संयुक्त सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने कमीशन की यह सिफारिश स्वीकार कर ली थी। अतएव सन् १९३५ के संविधान में प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गई।

सरल भाषा में, 'प्रांतीय स्वराज्य' से दो अर्थों की अभिव्यक्ति होती है: (१) प्रांत अब बाहरी नियंत्रण तथा हस्तक्षेप से मुक्त हैं, और (२) उनका शासन जनता द्वारा निर्वाचित धारासभाओं के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रांतों के उत्तरदायी अधिशासन तथा व्यवस्थापक मण्डल को, एक सीमित क्षेत्र में, अनन्य प्राधिकार प्राप्त हैं और वे साधारणतया केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त हैं। अब

1. "In future each Province should, as far as possible, be mistress in her own house."—*Simon Commission Report*

हमें इस प्रश्न का उत्तर खोजना है कि सन् १६३५ ई० के कानून में, वास्तव में, इस प्रकार के प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना की गई थी अथवा नहीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस कानून में कुछ दिशाओं में नये सुधार किये गये थे और इस प्रकार १६३५ का सुधार कानून निश्चय ही केन्द्र के नियंत्रण से मुक्ति तथा निर्वाचित व्यवस्थापक मण्डलों के प्रति उत्तरदायित्व, इन दोनों दृष्टिकोणों से विकास एवं उन्नति का प्रतीक था। तथापि, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रान्तीय स्वराज्य तथा उत्तरदायित्व में अभी वास्तविकता का अभाव था। यह सत्य है कि सन १६१६ के कानून की अपेक्षा इस बार अनेक परिवर्तन किये गये थे, परन्तु ये सारे परिवर्तन सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते थे, विस्तार से नहीं। पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय शासन के अपने कोई मौलिक अधिकार नहीं थे, वे केवल प्रदत्त शक्तियां का ही प्रयोग करते थे। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल तथा केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे। नये कानून में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय क्षेत्रों का पूर्ण विच्छेद कर दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप प्रान्तों को अब एक नवीन वैधिक (legal) एवं वैधानिक (constitutional) स्तर प्राप्त हो गया था। अब वे ब्रिटिश सम्राट् तथा संविधान से प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त नियन्त्रण रहित शक्ति का प्रयोग कर सकते थे। परन्तु इस प्रान्तीय स्वराज्य की कई सीमायें भी थीं। यह सीमायें मुख्यत: दो प्रकार की थीं : (१) वाह्य तथा (२) आन्तरिक।

वाह्य क्षेत्र में, प्रान्त कई दिशाओं में केन्द्रीय नियन्त्रण के अधीन थे। सबसे पहले, केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल प्रान्तीय शासन अथवा उसके अधिकारियों को किसी संघीय कानून के प्रशासन के लिये उत्तरदायी घोषित कर सकता था। दूसरे, प्रान्तीय विषयों के क्षेत्र में भी प्रान्तीय विधिनिर्माण की शक्ति पूर्ण नहीं थी। गवर्नर-जनरल द्वारा आपात-स्थिति की घोषणा हो जाने के पश्चात् संघीय व्यवस्थापक मण्डल किसी प्रान्तीय विषय के सम्बन्ध में कानून बना सकता था। समवर्ती विषयों (Concurrent Subjects) की समूची सूची ही गवर्नर-जनरल की इच्छा पर निर्भर थी और इसी प्रकार अवशिष्ट शक्तियां (Residuary Powers) के क्षेत्र में भी वही एकमात्र निर्णायक था। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल में कई प्रकार के विधेयक उपस्थिति करने के लिये गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति अनिवार्य थी। प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल द्वारा नियमित रूप से स्वीकृत विधेयक भी गवर्नर-जनरल के विचारार्थ आरक्षित किये जा सकते थे और तब उन्हें अनुमति देना, अथवा न देना अथवा सम्राट् के विचारार्थ आरक्षित कर लेना, अथवा प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के पास पुनर्विचारार्थ भेज देना, गवर्नर-जनरल के निर्णय पर निर्भर था। परन्तु इन सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि प्रान्तीय गवर्नर गवर्नर-जनरल तथा भारत-मन्त्री का अभिकर्तामात्र (mere agent) था जब कभी और जिन विषयों में गव-

र्नर अपने विशेष उत्तरदायित्वों के पालन में, अथवा स्वविवेकानुसार, अथवा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर, कोई कार्य करता था, उस समय गवर्नर पर गवर्नर-जनरल का पूर्ण नियन्त्रण था। और यह आरक्षित अधिकार तथा अभिरक्षण इतने सर्वव्यापी थे कि विधिनिर्माण एवं प्रशासन का कोई अङ्ग इनसे मुक्त नहीं था। सन् १६३६ ई० में भारत सरकार कानून (१६३५) के संशोधन द्वारा केन्द्रीय शासन को कुछ और शक्तियाँ भी दे दी गई थीं। उदाहरण के लिये, इस संशोधन के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को युद्धकाल में प्रान्तीय अधिशासन की प्रयोग-विधि के विषय में प्रान्तों को आदेश देने का अधिकार दिया गया था। केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय विषयों के प्रशासन के लिये अपने कर्मचारी भी नियुक्त कर सकती थी। उपर्युक्त वाह्य प्रतिबन्ध वास्तव में प्रान्तीय स्वराज्य के क्षेत्र में घातक हस्तक्षेप थे और इनके कारण प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का विकास असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो गया था।

आन्तरिक क्षेत्र में भी प्रान्तीय स्वराज्य वास्तविक नहीं था क्योंकि प्रान्तीय अधिशासन पर व्यवस्थापक मण्डल का कोई नियन्त्रण नहीं था। मुख्य अधिशासी शक्ति गवर्नर के हाथों में थी और वह न तो प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता था और न उसके द्वारा अपने पद से हटाया ही जा सकता था। उसका अधिकार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और वह अधिशासन की किसी शक्ति को अपने विशेष उत्तरदायित्व के अन्तर्गत बता कर अपने हाथों में ले सकता था। इसके परिणामस्वरूप जनता के प्रति शासन का उत्तरदायित्व न्यूनतम रह जाता था। संविधान का वह प्रावधान जिसके अनुसार मन्त्रियों का वेतन विधान-मण्डल के मतदान पर निर्भर नहीं था, वास्तव में उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के प्रतिकूल था। और यदि विधान-मण्डल कोई ऐसा विधेयक अस्वीकार भी कर दे जिससे मन्त्रियों के हित की सम्भावना हो, तो मन्त्रिगण उसे गवर्नर की सहायता से स्वीकार करा सकते थे और गवर्नर अपने अध्यादेश (Ordinance) निकालने के अधिकार का प्रयोग करके उनकी इच्छा पूर्ण कर सकता था। इसके अतिरिक्त, निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) में गवर्नर को इस आशय का आदेश भी रहता था कि मन्त्रि-मण्डल-निर्माण में अल्पसंख्यकों के हितों का उचित ध्यान रखा जाये। यह भी मन्त्रि-मण्डल के उत्तरदायित्व के लिये घातक था। और अन्त में जनता के प्रति शासन का उत्तरदायित्व भी वास्तविक नहीं था, क्योंकि प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल जनता के मस्तिष्क का दर्पण नहीं था। मताधिकार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था और सम्प्रदायवाद का दानव सम्पूर्ण वातावरण को विषाक्त बना रहा था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सन् १६३५ ई० के क़ानून के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वराज्य के लिये आवश्यक दोनों गुणों का अभाव था। इसके अन्तर्गत प्रान्त केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त नहीं थे और न प्रान्तीय शासन ही जनता के प्रति उत्तरदायी था।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने ठीक ही कहा है : "बहु-प्रशंसित प्रान्तीय स्वराज्य में वास्तव में जनता अथवा मन्त्रियों से कहीं अधिक स्वराज्य गवर्नर को दिया गया है और गवर्नर-जनरल को इतना अधिकार दिया गया है कि वह मन्त्रियों के विरोध करने पर भी, और ऐसे विषयों में जो पूर्णतया प्रान्तीय क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि गवर्नर अथवा गवर्नर-जनरल यह निर्णय दे दे कि वह विषय उनमें से किसी के विशेष उत्तरदायित्व का अतिक्रमण करता है[1]।"

(अ) प्रान्तीय अधिशासन

गवर्नर—प्रान्तीय शासन का अधिशासी प्राधिकार सम्राट् में निहित था और उनकी ओर से नियुक्त गवर्नर उसका प्रयोग करता था। यह प्राधिकार उन सारे विषयों तक फैला हुआ था जिनके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार सन् १९३५ ई० के कानून के प्रावधानों के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल को प्राप्त था। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि गवर्नर-जनरल के पद को आदर्श मान कर प्रान्तीय गवर्नरों के पद का निर्माण किया गया था। महत्वपूर्ण अन्तर केवल एक बात का था। द्वैध शासन प्रणाली के अन्त होने के साथ अब प्रान्तों में कोई आरक्षित विषय नहीं रह गये थे और इसके परिणामस्वरूप गवर्नर के प्रत्यक्ष अधिकार के अन्तर्गत अब कोई विशेष विभाग नहीं रह गये थे। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय गवर्नर को व्यवस्थापक मण्डल की भाँति विधि-निर्माण तथा अर्थ सम्बन्धी शक्तियाँ भी नहीं प्राप्त थीं। प्रान्तीय शासन के सारे विभागों पर साधारणतया मन्त्रिमण्डल का अधिकार था और गवर्नर से आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों का परामर्श मान कर कार्य करेगा। परन्तु यह समझ लेना भारी भूल होगी कि प्रान्तीय गवर्नर एक पूर्णतया वैधानिक प्रधान था, उसके कई विशेष उत्तरदायित्व और स्वविवेकाधारित अधिकार थे जिनके विषय में वह बिना मन्त्रियों की राय के भी कार्य कर सकता था और जिनके पालन में वह गवर्नर-जनरल के अधीन तथा अन्ततः भारतमन्त्री एवं ब्रिटिश लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी था।

---

1. "The much-advertised autonomy of the Provinces really gives more autonomy to the Governor than to the people or the Minister and enables the Governor-General to have his orders executed inspite of the Ministers even when they may happen to deal with a matter falling within the scope of the latter, if only the Governor or the Governor-General decides that it infringes on the Special Responsibility of the one or the other."—*Rajendra Prasad.*

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे :—

(१) प्रान्त अथवा उसके किसी भाग की शाँति तथा सुव्यवस्था के विरुद्ध उत्पन्न होने वाली प्रत्येक गम्भीर आशंका का निवारण;

(२) अल्पसंख्यकों के उचित हितों का अभिरक्षण;

(३) सार्वजनिक कर्मचारी वर्गों के सदस्यों तथा उनके आश्रितों के उचित अधिकारों की रक्षा तथा उनके उचित हितों का अभिरक्षण;

(४) ब्रिटिश प्रजाजनों अथवा ब्रिटिश व्यापार-हितों के विरुद्ध मतभेद का निवारण;

(५) अंशत: अपवर्जित क्षेत्रों (partially excluded areas) की शांति तथा सुव्यवस्था का प्रबन्ध;

(६) किसी भी देशी राज्य के अधिकारों तथा उसके शासक के अधिकारों एवं सम्मान का अभिरक्षण;

(७) गवर्नर-जनरल द्वारा स्वविवेक के प्रयोग में नियमानुसार दिये गये आदेशों एवं निर्देशों के पालन की व्यवस्था।

उपरोक्त विशेष उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त निम्नलिखित महत्वपूर्ण प्रशासी तथा विधायी विषयों में गवर्नर स्वविवेक का प्रयोग करते हुये कार्य कर सकता था :—

(१) मन्त्रि-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व तथा इस प्रश्न का निर्णय कि किसी विषय विशेष में वह स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता है अथवा नहीं;

(२) मन्त्रियों की नियुक्ति तथा वियुक्ति;

(३) सैनिक अथवा असैनिक किसी पुलिस दल से सम्बन्धित नियमों का संशोधन यदि गवर्नर को ऐसा प्रतीत हो कि प्रस्ताव उस दल के संगठन अथवा अनुशासन से सम्बन्धित है।

(४) शासन को उलट देने के उद्देश्य से किये गये हिंसापूर्ण अपराधों का निवारण;

(५) धारासभा का बुलाना, स्थगन तथा विलयन और किसी विचाराधीन विधेयक के सम्बन्ध में व्यवस्थापक मण्डल को सम्बोधित करना;

(६) व्यवस्थापक मण्डल के संयुक्त अधिवेशन बुलाना;

(७) विधेयकों को स्वीकृति देना, अथवा न देना, अथवा उनका गवर्नर-जनरल के लिये आरक्षण;

(८) व्यवस्थापक मण्डल के उत्तर-आगार के लिये कम से कम ६ और अधिक से अधिक ८ सदस्य नामज़द करना;

(६) महाधिवक्ता (Advocate General) की नियुक्ति।

इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि जिन विषयों में गवर्नर स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करता था उनमें भी वह अपने मन्त्रियों का परामर्श ले सकता था। उपरोक्त अधिकारों का अर्थ केवल इतना है कि वह इच्छानुसार, बिना मन्त्रियों की सहायता के भी, कार्य कर सकता था।

इसके अतिरिक्त, गवर्नर को कानून बनाने, अथवा व्यवस्थापक मण्डल की स्वीकृति के लिये किसी कानून के प्रारुप (draft) को उपस्थित करने का विशेष अधिकार भी था। परन्तु इस प्रकार बनाये गये कानून ब्रिटिश लोकसभा के समक्ष उपस्थित किये जाते थे और उनके लिये गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी। गवर्नर व्यवस्थापक मण्डल के स्थगनकाल में मन्त्रियों की सहमति से तथा स्वविवेक का प्रयोग करते हुये बिना मन्त्रियों की सहमति के, अध्यादेश प्रकाशित कर सकता था। उसे सभी विषयों के, और विशेषतया अपने उत्तरदायित्व से सम्बन्धित विषयों के, उचित प्रशासन के लिये आवश्यक धनराशि की उचित व्यवस्था करने का भी अधिकार था। संविधान का अधिशासन असम्भव हो जाने पर गवर्नर पूरे संविधान अथवा उसके कुछ अंशों को स्थगित कर उच्च न्यायालय के अतिरिक्त किसी भी प्रान्तीय प्राधिकारी की शक्तियाँ स्वयं ग्रहण कर सकता था। इस प्रकार की घोषणा का दूसरी घोषणा द्वारा खण्डन अथवा परिवर्तन भी किया जा सकता था परन्तु इस प्रकार की प्रत्येक घोषणा की सूचना भारतमन्त्री तथा ब्रिटिश लोकसभा के पास भेजनी पड़ती थी। इन घोषणाओं की साधारण अवधि ६ मास की होती थी परन्तु ब्रिटिश लोक-सभा के प्रस्ताव द्वारा बढ़ाई भी जा सकती थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गवर्नर मन्त्रिमण्डल तथा व्यवस्थापक मण्डल के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त था और उसकी स्थिति ईर्ष्या की वस्तु थी। उसके विधि-निर्माण तथा अर्थ सम्बन्धी विशेषाधिकार उत्तरदायी शासन के लिये एक गम्भीर समस्या थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रान्तों में जिस उत्तरदायी शासन का प्रचलन किया गया था वह घातक प्रतिबन्धों तथा अभिरक्षणों से घिरा हुआ था। श्री जी० एन० जोशी ने ठीक ही कहा है कि "गवर्नर के अधिशासी, विधायी तथा आर्थिक विशेषाधिकारों का ध्यान रखते हुये यह कहना कठिनता से ही सत्य होगा कि प्रान्तों का शासन वास्तव में उत्तरदायी है। उत्तरदायी शासन में वैधानिक प्रधान को.........निर्वाचकों का निर्णय स्वीकार करके शासन उन लोगों के हाथों में सौंप देना पड़ता है, जिन्हें निम्न-आगार तथा निर्वाचकों का विश्वास प्राप्त हो। प्रान्तों में

उत्तरदायी शासन के इस तत्व का ही पूर्ण अभाव था[1]।"

प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल—प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रचलित प्रणाली के अनुसार ही किया गया था। गवर्नर के निर्देश-पत्र में इस आशय का एक आदेश होता था कि प्रमुख अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किये जायें। परन्तु यह नियम अनिवार्य नहीं था और इस कानून के अन्तर्गत निर्मित कुछ प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों में अल्पसंख्यकों का कोई प्रतिनिधि नहीं था। प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या की कोई वैधिक (legal) सीमा नहीं निर्धारित की गई थी। इस विषय में गवर्नर तथा प्रधानमन्त्री को पूरी स्वतन्त्रता थी और इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रियों की संख्या में अन्तर था। नियमानुसार मन्त्रियों की नियुक्ति तथा वियुक्ति का अधिकार गवर्नर को था परन्तु व्यवहार रूप में तथा निर्देश-पत्र के अनुसार वह मन्त्रियों की नियुक्ति उस व्यक्ति के परामर्श से करता था जो उसके मतानुसार विधान-मण्डल के स्थायी बहुमत का विश्वास वहन करने की अधिक से अधिक क्षमता रखता हो। मन्त्रिमण्डल के निर्माण में सबसे अधिक हाथ प्रान्तीय विधान-मण्डल के निम्न-आगार के बहुसंख्यक दल के नेता का रहता था। बिना प्रान्तीय विधान-मण्डल का सदस्य हुये कोई व्यक्ति ६ मास से अधिक मन्त्री नहीं रह सकता था।

सन् १९३५ ई० के कानून में मन्त्रियों के उत्तरदायित्वों का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। उसमें इतना भी नहीं बताया गया था कि मन्त्रियों का उत्तरदायित्व वैयक्तिक होगा अथवा संयुक्त। केवल इतना स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया था कि मन्त्रियों का पदधारण-काल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर होगा। परन्तु वास्तव में मन्त्रियों की स्थिति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल प्रणाली की संप्रतिज्ञाओं (conventions) द्वारा निर्धारित होती थी। मन्त्रिगण अपने आपको संयुक्त रूप से प्रान्तीय विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी मानते थे और विधान-सभा के विपरीत मत-प्रदर्शन पर संयुक्त त्यागपत्र दे देते थे। तथापि, यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की भाँति हमारे पराजित प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों को भी जनता से अपील करने

---

1. "Having regard to the extraordinary powers of the Governor, executive, legislative and financial, it is hardly true to say that the Provinces have true Responsible Government. Under Responsible Government the constitutional head......has to accept the verdict of the electorate and to allow the Government to be conducted by those who have the confidence of the lower house and the electorate. This very essence of Responsible Government was absent in the Provinces."

—*G. N. Joshi*.

का अधिकार था। भारतीय प्रान्तों में विधान-मण्डल के विलयन का अधिकार गवर्नर के स्वविवेक पर निर्भर था और इस विषय में वह अपने मन्त्रियों का परामर्श स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं था। उदाहरण के लिये सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के मन्त्रिमण्डल विधान-मण्डल में विपरीत मतदान द्वारा पराजित होकर भी विलयन कराने में सफल नहीं हो सके।

प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों पर विधानमण्डलों का नियन्त्रण उनकी अपनी संगठित शक्ति पर निर्भर था। काँग्रेस-बहुमत के प्रान्तों में, तथा पंजाब में, मन्त्रिमण्डलों की स्थिति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के समान ही सबल थी। उनके विषय में तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि विधान-मण्डलों द्वारा नियन्त्रित होने के स्थान पर मन्त्रिमण्डल स्वयं उनका नियन्त्रण करते थे। ये मन्त्रिमण्डल स्थायी थे। परन्तु अन्य प्रान्तों में स्थिति भिन्न थी। वहाँ मन्त्रिमण्डलों का स्थायित्व अपेक्षाकृत कम था। और आसाम, बङ्गाल, सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमान्त आदि प्रान्तों में विधानमण्डल मन्त्रिमण्डलों के कार्य में विस्तृत हस्तक्षेप किया करते थे।

(ब) प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल

सन् १९३५ ई० के संविधान में प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों को पहले से अधिक विस्तृत बना दिया गया था, सरकारी सदस्यों के वर्ग का अन्त कर दिया गया था और ११ में से ६ प्रान्तों अर्थात् मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, संयुक्तप्रान्त, बिहार तथा आसाम में द्वि-आगारिक विधान-मण्डलों की व्यवस्था की गई थी। इन आगारों को क्रमशः विधान-परिषद् (Legislative Council) तथा विधानसभा (Legislative Assembly) कहा जाता था। अन्य प्रान्तों में विधानसभा नाम का केवल एक ही आगार रखा गया था। साधारणतया भारत का जनमत द्वितीय आगारों के विरुद्ध था। अँग्रेज़ों की ओर से कहा जा रहा था कि द्वितीय आगारों के माध्यम से अपरिपक्व, विचारहीन विधि-निर्माण पर सरलतापूर्वक नियन्त्रण रखा जा सकता है। परन्तु जनता की धारणा यह थी कि द्वितीय आगार वास्तव में अनावश्यक हैं, क्योंकि प्रान्तीय विधान-मण्डलों की विधायी शक्ति सम्पूर्ण सत्तापूर्ण नहीं थी और उनके बनाये कानूनों का गवर्नर, गवर्नर-जनरल तथा भारतमन्त्री द्वारा परिमार्जन हो सकता था। इस प्रकार द्वितीय आगारों (second chambers) के निर्माण का एकमात्र कारण प्रतिक्रियावादी तथा निहित हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान कर प्रगतिशील विधि-निर्माण के मार्ग में एक दीवार खड़ी करना था।

व्यवस्थापक-मण्डलों की रचना पर विचार करते हुए हम पहले उत्तर-आगारों का वर्णन करेंगे। हम देख चुके हैं कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इनका आकार भी भिन्न था। उत्तर-आगारों की सदस्य संख्या बङ्गाल में कम से कम ६३ तथा अधिक से

अधिक ६५, मद्रास में कम से कम ५४ तथा अधिक से अधिक ५६, बम्बई में २९ से ३० तक, संयुक्त प्रान्त में ५८ से ६० तक, बिहार में २९ से ३० तक और आसाम में २१ से २२ तक थी। इनमें से कुछ स्थानों की पूर्ति गवर्नर नामज़दगी द्वारा करता था। प्रान्तीय विधान-सभाओं की सदस्य संख्या इस प्रकार थी:—बङ्गाल—२५०; संयुक्त प्रान्त—२२८; मद्रास—२१५; पंजाब तथा बम्बई में से प्रत्येक—१७५; बिहार—१५२; मध्यप्रान्त तथा बरार—११५; आसाम—१०८; उड़ीसा तथा सिन्ध में से प्रत्येक ६०; और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश—५०। दोनों ही आगारों के लिये हिन्दू (साधारण), मुसलमान, सिख, एँग्लो-इण्डियन, योरोपीय, तथा भारतीय ईसाई जातियों में साम्प्रदायिक आधार पर स्थानों का विभाजन किया गया था। इनके अतिरिक्त व्यापारी वर्ग, ज़मींदारों, विश्वविद्यालयों, श्रमहितों तथा स्त्रियों (साम्प्रदायिक आधार पर) के लिये भी स्थान आरक्षित किये गये थे। विधान-परिषद् एक अविलयनशील स्थायी संस्था थी, परन्तु उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष के पश्चात् अवकाश ग्रहण करते थे। प्रान्तीय विधान-सभाओं का जीवनकाल साधारणतया ५ वर्ष का था, परन्तु इस अवधि के पूर्व भी उनका विलयन हो सकता था। विधानमण्डल के दोनों आगारों का वर्ष में कम से कम एक अधिवेशन आवश्यक था। प्रान्तीय विधान-मण्डल के साथ गवर्नर का वैसा ही सम्बन्ध था जैसा केन्द्रीय विधान-मण्डल के साथ गवर्नर-जनरल का। मन्त्रियों को किसी आगार की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार था, परन्तु वे मत उसी आगार में दे सकते थे जिसके वे सदस्य हों।

प्रत्येक प्रान्त में विधानमण्डल के उम्मीदवारों के लिये अधिवास सम्बन्धी योग्यता (residential qualification) के अतिरिक्त सम्पत्ति तथा शिक्षा की कुछ योग्यताएँ भी आवश्यक थीं। मतदाताओं के लिये कम से कम अवस्था २१ वर्ष और विधानसभा तथा विधान-परिषद् की सदस्यता के उम्मीदवारों के लिये क्रमश: २५ तथा ३० वर्ष रखी गई थी। विधान परिषद् के मतदाताओं की योग्यतायें बहुत ऊँची रखी गई थीं और निर्वाचक मण्डल अत्यन्त संकुचित तथा संकीर्ण था। बङ्गाल तथा बिहार में विधान-परिषद् के लगभग $\frac{1}{2}$ सदस्य विधान-सभा के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते थे। अन्य प्रान्तों में सभी स्थानों की पूर्ति साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों में विभाजित प्राथमिक मतदाताओं (primary voters) के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा होती थी। परन्तु विधानसभा के मतदाताओं की योग्यतायें बहुत कुछ कम कर दी गईं थीं, जिसके परिणामस्वरूप अब १४ प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त हो गया था। सन् १९१९ ई० के कानून के अनुसार केवल ३% जनसंख्या को ही मताधिकार मिला था। परन्तु भूमिकर अथवा मकान का किराया देने की सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता अब भी सब मतदाताओं के लिये आवश्यक थी।

सन् १९३५ ई० के संविधान में प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल की शक्तियों का भी विस्तार किया गया था। वे संघीय विधान-मण्डल के समकक्ष थे, क्योंकि दोनों

ही सर्वसत्ताधारी नहीं थे। प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल प्रान्तीय सूची में उल्लिखित सभी विषयों के सम्बन्ध में कानून बना सकते थे और गवर्नर-जनरल की अनुमति से समवर्ती सूची के विषयों को भी अपने अधिकार में ले सकते थे। वे स्थानीय विधान सभा के अतिरिक्त ब्रिटिश भारत के किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा सन् १६३५ ई० के कानून के पूर्व अथवा पश्चात् निर्मित किसी कानून का प्रान्त में कुछ सीमाओं के अन्तर्गत विखण्डन अथवा परिवर्तन कर सकते थे। परन्तु अनेक प्रतिबन्ध अब भी शेष थे। पहली बात तो यह थी कि प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल को ब्रिटिश लोकसभा के प्राधिकार, (authority) सम्राट् अथवा राज्यवंश अथवा भारत के किसी भाग में सम्राट् के प्रभुत्व के प्रतिकूल अथवा जल, स्थल एवं वायुसेना से सम्बन्धित अथवा स्वयं भारत सरकार कानून से सम्बन्धित कोई कानून बनाने का अधिकार नहीं था। दूसरे, प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल, बिना गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति लिये निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित किसी कानून पर विचार नहीं कर सकता था:—(१) भारत का राष्ट्रीय ऋण अथवा कौंसिल सहित गवर्नर-जनरल द्वारा केन्द्रीय शासन के हितार्थ आरोपित कोई बलि (duty) अथवा कर (tax); (२) सम्राट् की सेना के किसी भाग का संधारण (maintenance) अथवा अनुशासन (discipline); (३) वैदेशिक सम्बन्ध; (४) कोई केन्द्रीय विषय; (५) कोई ऐसा प्रान्तीय विषय जो विधि निर्माण के लिये, पूर्णतया अथवा अंशतः केन्द्रीय विधान-मण्डल के अन्तर्गत घोषित कर दिया गया हो; (६) कोई शक्ति जो उस समय किसी अस्थायी काल के लिये प्रतिष्ठित कानून द्वारा कौंसिल सहित गवर्नर-जनरल के प्रयोग के लिये स्पष्ट रूप से आरक्षित कर दी गई हो; और (७) ब्रिटिश भारत के किसी प्राधिकारी द्वारा (उस स्थानीय विधान-मण्डल के अतिरिक्त) निर्मित कोई कानून जिसके लिये यह घोषित कर दिया गया हो कि वह पूर्व अनुमति के बिना विखंडित अथवा परिवर्तित नहीं किया जा सकता। तीसरे, गवर्नर की पूर्व अनुमति लिये बिना प्रान्तीय विधान मण्डल किसी ऐसे विधेयक पर विचार नहीं कर सकता था जो किसी गवर्नर के कानून अथवा अध्यादेश अथवा पुलिस संगठन से सम्बन्धित किसी कानून के प्रतिकूल हो अथवा उसका विखण्डन करता हो। और अन्त में, विधान मण्डल द्वारा नियमित रूप से स्वीकार कर लिये जाने के बाद भी किसी विधेयक को अपनी स्वीकृति न देना अथवा उसे पुनर्विचार के लिये लौटा देना गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था। वह किसी विधेयक को गवर्नर-जनरल के विचार के लिये भी आरक्षित कर सकता था और बिना गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के प्रान्तीय विधान-मण्डल का कोई कानून मान्य नहीं हो सकता था। कभी कभी गवर्नर-जनरल भी प्रान्तीय विधान मण्डल के विधेयकों को सम्राट् की स्वीकृति के लिये आरक्षित कर लेता था। इसके अतिरिक्त बिना विधान मण्डल से परामर्श लिये गवर्नर की कानून बनाने की स्वाधिकार शक्ति के कारण विधान-मण्डल का अधिकार क्षेत्र और कम हो गया था।

परन्तु अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में विधानमण्डल अब पहले की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण का प्रयोग कर सकते थे। प्रान्त की आगणित आय तथा व्यय का वार्षिक ब्यौरा प्रति वर्ष व्यवस्थापक मण्डल के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह बजट दो भागों में विभाजित रहता था। पहले भाग में वे मदें (items) होती थीं जिनपर व्यवस्थापक मण्डल को मत देने का अधिकार रहता था और दूसरे भाग में वे मदें थीं जो इस अधिकार की सीमा के बाहर थीं। परन्तु दूसरे भाग के अन्तर्गत बजट का केवल २० प्रतिशत के लगभग रहता था जब कि केन्द्रीय बजट में लगभग ८० प्रतिशत व्यवस्थापक मण्डल के मत-प्रदर्शन क्षेत्र से बाहर था। बजट के इस भाग में निम्नलिखित मदें सम्मिलित थीं:—गवर्नर का वेतन तथा भत्ता, ऋण-प्रभार (debt charges), मन्त्रियों तथा महाधिवक्ता (Advocate-General) का वेतन तथा भत्ता, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन तथा उत्तर-वेतन (pension), अपवर्जित क्षेत्रों (Excluded Areas) पर होने वाला व्यय, तथा अन्य व्यय जो संविधान द्वारा इस प्रकार के प्रभार घोषित किये गये हों। विधानसभा को किसी माँग को स्वीकार करने, घटाने अथवा अस्वीकार कर देने का अधिकार था। परन्तु बिना गवर्नर की सिफ़ारिश के अनुदान (grant) की कोई माँग नहीं की जा सकती थी और गवर्नर विधानमण्डल द्वारा अस्वीकृत अथवा घटाई गई इस प्रकार की किसी माँग की पुनर्प्रतिष्ठा भी कर सकता था। और अन्त में बिना गवर्नर की सिफ़ारिश के प्रान्तीय विधान मण्डल किसी कर की प्रतिष्ठा अथवा वृद्धि नहीं कर सकते थे।

प्रशासन (administration) के क्षेत्र में, विधानमण्डल प्रस्ताव स्वीकार करके, प्रश्न पूछ कर, स्थगन-प्रस्ताव अथवा वेतनों में कटौती के प्रस्ताव उपस्थित करके तथा मन्त्रिमण्डल में अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों पर नियन्त्रण रख सकता था। इन सब अधिकारों का प्रयोग कार्यकारिणी को सरकार की नीति तथा उसके कार्यों के विषय में सदस्यों के मत तथा उनके भावों से अवगत कराने के उद्देश्य से किया जाता था। परन्तु शासन के महत्वपूर्ण पदों पर भारतीय कर्मचारीवर्गों (I.C.S.) के सदस्य आसीन थे और उनकी स्थिति तथा आय पर प्रान्तीय विधानमण्डल का कोई वास्तविक नियन्त्रण नहीं था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रशासी नियन्त्रण कभी सफल नहीं हो सकता था। वास्तव में सारी परिस्थिति को ध्यान में रखते हुये यह कहना उचित होगा कि प्रान्तीय विधानमण्डल अभी अधिशासन (Executive Government) के विस्तार मात्र थे जिनका विशेष कार्य विधि-निर्माण था। वे अभी वास्तव में स्वतन्त्र नहीं थे।

(स) प्रान्तीय न्यायपालिका

सन् १९३५ के कानून में प्रान्त की न्यायव्यवस्था में बहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया था। इस कानून बनने के पूर्व सारा भारतवर्ष कलकत्ता, मद्रास, बम्बई,

इलाहाबाद, लाहौर तथा पटना के उच्च न्यायालयों (High Courts) और अवध, मध्यप्रान्त, पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश तथा सिन्ध में स्थापित मुख्य न्यायालयों (Chief Courts) के क्षेत्राधिकार में विभाजित था। मुख्य न्यायालयों की शक्तियाँ लगभग उच्च न्यायालयों की शक्तियों के समान ही थीं। केवल उनका स्तर थोड़ा सा नीचा था। पूरे देश के लिये कोई एक केन्द्रीय न्यायालय नहीं था और उच्च तथा उनके समकक्ष अन्य न्यायालयों की अपील प्रिवी कौंसिल में हो सकती थी। परन्तु नये संविधान में एक नये संघीय न्यायालय तथा आसाम, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त के लिये एक-एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई। आसाम तथा उड़ीसा क्रमश: कलकत्ता और पटना के उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में थे, पश्चिमोत्तर प्रान्त में न्यायिक कमिश्नर (Judicial Commissioner) का न्यायालय था, और सिन्ध तथा मध्यप्रांत के अपने अलग मुख्य न्यायालय थे। संयुक्त प्रांत में इलाहाबाद के उच्च न्यायालय के अतिरिक्त अवध के लिये लखनऊ में एक मुख्य न्यायालय भी था। संवैधानिक प्रयोजनों के लिये इन मुख्य तथा कमिश्नर के न्यायालयों को उच्च न्यायालयों के समकक्ष अधिकार दिये गये थे परन्तु वैधिक कार्य प्रणाली तथा शक्तियों के क्षेत्र में उच्च न्यायालयों का स्तर उनसे ऊँचा था। कौंसिल-सहित सम्राट् को ब्रिटिश भारत के किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय का स्तर देने अथवा दो उच्च न्यायालयों को मिलाने का अधिकार था।

प्रत्येक उच्च न्यायालय उल्लेख न्यायालय (Court of Record) होता था और उसमें एक मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते थे जिनकी संख्या समय-समय पर सम्राट् द्वारा निर्धारित की जाती थी। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति भी सम्राट् ही करता था और वे ६० वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर कार्य कर सकते थे। केवल इङ्गलैंड तथा उत्तरी आयरलैंड के विधिवक्ता (Barristers), स्काटलैंड के अधिवक्ता (Advocates), उच्च न्यायालयों के अभिवक्ता (Pleaders), भारतीय सिविल सर्विस के जिला न्यायाधीश तथा अधीनस्थ न्यायाधीश अथवा खफीफा न्यायालयों (Small Cause Courts) के न्यायाधीश अथवा इनसे उच्च न्यायिक पदाधिकारी ही उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश होने के पात्र हो सकते थे। सन् १९१९ ई० के कानून का वह प्रावधान जिसके अनुसार एक तिहाई न्यायाधीशों का विधिवक्ता तथा एक तिहाई का भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य होना आवश्यक था, अब नहीं रहा था। नये कानून में वह प्रावधान भी नहीं रखा गया था जिसके अनुसार वे व्यक्ति जो विधिवक्ता अथवा सिविल सर्विस के न्यायाधीश न रहे हों, मुख्य न्यायाधीश नहीं नियुक्त किये जा सकते थे। अब गवर्नर-जनरल स्वविवेक का प्रयोग करते हुये स्थानापन्न मुख्य न्यायाधीश अथवा अन्य न्यायाधीशों की अस्थायी नियुक्ति भी कर सकता था। परन्तु ऐसी नियुक्तियाँ

अधिक से अधिक दो वर्ष की अवधि के लिये की जा सकती थीं।

कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक (Original) तथा पुनर्विचार सम्बन्धी (Appellate) दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार था परन्तु अन्य उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार मुख्यत: पुनर्विचार सम्बन्धी ही था। इस क्षेत्राधिकार में दीवानी (Civil) तथा फौजदारी (Criminal) दोनों प्रकार के विषय तथा उत्तराधिकार पत्रों (wills), दिवालियापन (bankruptcy), नावाधिकरण (admiralty) से सम्बन्धित सभी विषय तथा विवाह कानून और विवाह विच्छेद (divorce) के सारे मुक़दमे सम्मिलित थे। प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने पुनर्विचार के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत भारतवर्ष के सारे न्यायालयों के अधीक्षण का अधिकार प्राप्त था। वे इस सम्बन्ध में (१) विवरण मँगा सकते थे; (२) न्यायालयों की कार्य-प्रणाली का नियमन करने के लिये नियमों तथा प्रपत्रों (prescribed forms) का विनिधान कर सकते थे; (३) न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा खाता तथा हिसाब किताब रखने के प्रपत्रों का विनिधान कर सकते थे; और (४) शेरिफ़ (sheriff), प्राभिकर्त्ता (Attorney) तथा न्यायालयों के अधिकारियों की शुल्क-सारिणी (tables of fees) निर्धारित कर सकते थे। परन्तु इस अधीक्षण में किसी निम्न कोटि के न्यायालय के ऐसे निर्णय पर टिप्पणी करने का अधिकार नहीं सम्मिलित था जो अन्य प्रकार से पुनर्विचार (appeal) अथवा पुनरीक्षण (revision) के अधीन न हो। उच्च न्यायालय को ऐसे मुक़दमें अधीन न्यायालयों से अपने हाथ में ले लेने का अधिकार था जिनमें, उसके मतानुसार, किसी संघीय अथवा प्रान्तीय कानून की मान्यता का प्रश्न निहित हो। परन्तु इस प्रकार का स्थानान्तरण महाधिवक्ता (Advocate-General) के प्रार्थना पत्र पर ही किया जा सकता था। अभिप्राय यह था कि संघीय तथा प्रान्तीय कानूनों की मान्यता से सम्बन्धित विषय आरम्भ में ही उच्च न्यायालयों के समक्ष आ जायें और बार बार अपील करने और इसके परिणामस्वरूप होने वाले विलम्ब की कम से कम संभावना रह जाय। आगम (revenue) सम्बन्धी विषयों में किसी उच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार नहीं था, परन्तु क्षेत्रीय विधान मण्डल के कानून द्वारा यह व्यवस्था की जा सकती थी। गवर्नर-जनरल को प्रान्तीय-न्यायालयों द्वारा दिये गये प्राणदण्ड को स्थगित अथवा क्षमा करने का अधिकार था। संवैधानिक प्रश्नों में उच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध संघीय न्यायालय में तथा अन्त में प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी। किन्तु ऐसे मुक़दमों में जिनका मूल्य १०,००० रुपया या इससे अधिक था, उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध केवल प्रिवी कौंसिल में ही अपील की जा सकती थी।

सोलहवाँ अध्याय

गृह शासन

सन् १६१६ ई० के संविधान के अन्तर्गत भारत मन्त्री सर्वव्यापी शक्ति का स्वामी था; एक उन्नत पर्वत की शिखर की भाँति उसकी छाया दूर-दूर तक पड़ती थी। परन्तु नये संविधान के अन्तर्गत उसकी शक्ति इतनी अधिक नहीं रह गई थी। उसकी संवैधानिक शक्तियों की परिभाषा करने में इस बार कम अनिश्चित तथा कम व्यापक शब्दावली का प्रयोग किया गया था। उसका भारत के शासन तथा उसके आगमों पर अधीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण का अधिकार कम कर दिया गया था और भारतीय प्रशासन से सम्बन्धित सारे प्राधिकार ब्रिटिश सम्राट् ने फिर अपने हाथ में ले लिये थे। भारत मन्त्री की वैधिक स्थिति में यह एक महत्वपूर्ण अन्तर था। परन्तु वास्तव में इन प्रावधानों से उसकी नियन्त्रण-शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। वह अब भी गवर्नर-जनरल तथा प्रांतीय गवर्नरों के स्वविवेकाधारित प्राधिकारों का नियन्त्रण करता तथा भारत सम्बन्धी सभी विषयों में ब्रिटिश सम्राट् को परामर्श देता था। उसकी शक्तियों का क्षेत्र अब भी बहुत विस्तृत था। ब्रिटिश सम्राट् के संवैधानिक सलाहकार के रूपमें, गवर्नर-जनरल, गवर्नरों और संघीय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में उसका बड़ा हाथ रहता था। भारतीय असैनिक, पुलिस तथा मेडिकल सेवाओं (I. C. S., I. P. S. and I. M. S.) की नियुक्ति, वेतन, अवकाश तथा उत्तरवेतन (pensions) आदि के नियमों पर भी उसका यथेष्ट नियन्त्रण रहता था। भारतमन्त्री की आर्थिक शक्तियों के अन्तर्गत केंद्रीय तथा प्रान्तीय शासनों के सारे व्यय आ जाते थे जिन पर विधान सभाओं को मत प्रदर्शन का अधिकार नहीं था। इङ्गलैंड में भारत सरकार की ओर से ऋण लेने तथा भूतपूर्व अंग्रेज़ पदाधिकारियों के उत्तर-वेतन वितरण आदि पर भी उसका नियन्त्रण था।

पुराने संविधान के अन्तर्गत एक भारत परिषद् (India Council) भारत मन्त्री के प्रकार्यपालन में उसकी सहायता करती थी। १ अप्रैल सन् १६३७ ई० से इस परिषद् का अंत कर दिया गया। परन्तु नये कानून में भी भारतमन्त्री द्वारा एक ऐसी संस्था की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी जिसमें कम से कम ३ और अधिक से अधिक ६ सदस्य हों और जो भारत सम्बन्धी किसी भी विषय पर भारतमन्त्री को याचित परामर्श दे। यह आवश्यक था कि इन परामर्शदाताओं (Advisors) में से कम से कम आधे भारत में १० वर्ष तक सेवा कार्य कर चुके हों और उनकी नियुक्ति भारत में कार्य समाप्त करने के २ वर्ष के भीतर हुई हो। प्रत्येक परामर्शदाता को

१३५० पौंड वार्षिक वेतन, और यदि वह भारत का अधिवासी (Indian domicile) हो तो ६०० पौंड का अतिरिक्त भत्ता दिया जाता था। उनका पदधारण-काल ५ वर्ष का होता था और कोई व्यक्ति इस पद पर एक से अधिक बार नहीं नियुक्त हो सकता था। नये कानून में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना के बाद से भारतमन्त्री का वेतन तथा उसके विभाग का व्यय ब्रिटिश राज्यकोष से दिया जाया करेगा। जहाँ तक भारत मन्त्री तथा उसके परामर्शदाताओं के सम्बन्धों का प्रश्न है, कानून में परामर्शदाताओं को भारत मन्त्री के पूर्णतया अधीन बनाया गया था। अपने परामर्शदाताओं से सामूहिक अथवा व्यक्तिगत परामर्श करना भारत मन्त्री के स्वविवेक पर निर्भर था उसके लिये उनका परामर्श लेना आवश्यक नहीं था और न वह परामर्श लेने के पश्चात् उसके अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य ही था। परन्तु भारत के सार्वजनिक कर्मचारीवर्गों से सम्बन्धित विषयों में परामर्शदाताओं का परामर्श तथा बैठक में उपस्थित परामर्शदाताओं के बहुमत का समर्थन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त परामर्शदाताओं की संस्था ही अनावश्यक, अपव्ययकारी तथा अवांछित थी।

गृह-शासन का एक और आवश्यक अंग भारत के हाई कमिश्नर का कार्यालय था जिसकी स्थापना सन् १६१६ ई० के संविधान के अन्तर्गत की गई थी। सन् १६३५ ई० के संघविधान में भी इस पद की व्यवस्था की गई थी परन्तु अब हाई कमिश्नर की नियुक्ति और उसके वेतन तथा सेवा के नियमों का निश्चय गवर्नर-जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय द्वारा करता था। हाई कमिश्नर को संघ शासन की ओर से गवर्नर-जनरल द्वारा समय समय पर निर्देशित प्रकार्यों की—जिनमें अधिकतर ठेकों के लेन-देन से सम्बन्धित होते थे—पूर्ति करनी होती थी। वास्तव में नये संघ-विधान से उसके प्रकार्यों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा था। हाँ इतना अवश्य हो गया था कि उस पर संघीय शासन का अनन्य नियन्त्रण नहीं था, यह अधिकार गवर्नर-जनरल को सौंपा गया था जो इस विषय में अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था।

इतना सब होने पर भी यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि सन् १६३५ ई० के संविधान के बाद भी भारत इङ्गलैण्ड का अधीन देश था। इस स्थिति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा था। ब्रिटिश लोकसभा भारत के शासन के लिये पूर्ववत् उत्तरदायी थी। जिस सीमा तक प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य तथा केन्द्रीय शासन में आंशिक उत्तरदायित्व की स्थापना हो चुकी थी उसी अनुपात में भारत मन्त्री का नियन्त्रण तथा उसके प्राधिकार भी कम हो गये थे। परन्तु गवर्नर-जनरल के आरक्षित विषयों, अर्थात् रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, धर्मप्रचार तथा जनजातीय क्षेत्रों में, और जिन विषयों में गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को स्वविवेक के प्रयोग का अधिकार था

अथवा जिनमें उनका विशेष उत्तरदायित्व था अथवा जिनमें वे व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकते थे, गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर सभी भारत मन्त्री के अधीन तथा उसके प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके अधिकारों की छाया अपेक्षाकृत संकुचित भले ही लगती हो परन्तु उसके प्रकार्यों तथा अधिकारों का सारांश अब भी पहले जैसा ही था। कानून के अनुसार अब उसे पहले की भाँति भारतीय शासन के अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण का अधिकार नहीं था, परन्तु कार्यरूप में वह अब भी गवर्नर-जनरल को, उसके स्वविवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोगक्षेत्र में, विशेष आदेश दे सकता था और गवर्नर-जनरल के माध्यम से वही आदेश प्रान्तीय गवर्नरों तक पहुँच सकते थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता था कि भारत मन्त्री अब रंगमंच से हटकर पर्दे के पीछे जा पहुँचा था जहाँ से उसे डोर खींच-खींच कर अभिनेताओं पर नियन्त्रण रखने की पूरी स्वतन्त्रता थी।

प्रोफेसर के० टी० शाह ने अपनी पुस्तक "Federal Structure in India" में भारत मन्त्री की स्थिति तथा उसकी शक्तियों की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है :—

"भारतमन्त्री की समस्त विभिन्न तथा यथेष्ट शक्तियों की साधारण विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अब भी निश्चित रूप से भारतीय संविधान का सबसे अधिक शक्तिशाली प्राधिकारी है। देखने में उसकी शक्तियाँ गवर्नर-जनरल अथवा प्रान्तीय गवर्नरों की शक्तियों की भाँति प्रभावशाली भले ही न लगती हो परन्तु वास्तव में यह सब पदाधिकारी ह्वाइटहाल (White-hall) के उस इन्द्र के प्रत्येक भ्रू-विलास का अनुसरण करने वाले, चार्ल्स स्ट्रीट के उस बाजीगर के प्रत्येक संकेत पर नाचने वाले, भारतमन्त्री के जीवमात्र हैं। उसकी शक्तियाँ केवल मूल नीति के प्रश्नों, ब्रिटिश निहित हितों की रक्षा अथवा इङ्गलैण्ड के साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अभिरक्षण तक ही सीमित नहीं हैं। प्रतिदिन के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाले विषय, भारतीय विधान मण्डल के अधिक महत्वपूर्ण कार्य, और विभिन्न भारतीय कर्मचारी वर्गों तथा शासकों की नियुक्तियाँ, उनके वेतन अथवा अवकाश ग्रहणकाल तक, सब उसकी शक्तियों के अन्तर्गत हैं। वास्तव में भारतीय शासन के सारे अधिकार तथा प्राधिकार उसके हैं, परन्तु उत्तरदायित्वों में उसका भाग या तो बहुत थोड़ा है या तनिक भी नहीं।"

सत्रहवाँ अध्याय

प्रान्तीय स्वराज्य के अनुभव

सन् १९३५ ई० के भारत सरकार कानून का प्रान्तीय भाग १ अप्रैल सन् १९३७ ई० को लागू हुआ। इसी वर्ष फ़रवरी में प्रान्तीय विधान-मण्डलों के निर्वाचन हुए थे जिनके फलस्वरूप भारत के कुल ११ प्रान्तों में से ६ में काँग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ था। यह ६ प्रान्त बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त तथा बरार और उड़ीसा थे। इनके अतिरिक्त बङ्गाल, पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा आसाम में भी काँग्रेस के निर्वाचित सदस्यों की संख्या अन्य किसी एक दल की सदस्य संख्या से अधिक थी। परन्तु जब मन्त्रिमण्डल बनाने का समय आया तब काँग्रेस ने अपने बहुमत के प्रान्तों में गवर्नरों से अपनी आरक्षित तथा स्वविवेकाधारित शक्तियों का प्रयोग न करने का आश्वासन माँगा। गवर्नर इस प्रकार का कोई आश्वासन देने के लिये तैयार नहीं थे, अतएव काँग्रेस ने भी मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप उन प्रान्तों में काम चलाने के लिये अल्पसंख्यक दलों के अस्थायी मन्त्रिमण्डल बनाये गये। परन्तु जुलाई सन् १९३७ ई० में लार्ड लिनलिथगो ने एक वक्तव्य निकालकर कहा कि काँग्रेस की यह शंका कि गवर्नर प्रान्तीय प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे पूर्णतया निराधार तथा अनावश्यक है। शीघ्र ही प्रान्तीय काँग्रेस दलों के नेताओं तथा गवर्नरों के बीच इस वक्तव्य के आधार पर समझौता हो गया और काँग्रेस ने पद-ग्रहण स्वीकार कर लिया। अगस्त सन् १९३७ ई० में काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अस्थायी सरकारों का स्थान ले लिया और प्रान्तीय स्वराज्य का कार्य आरम्भ हो गया। शेष प्रान्तों में अन्य दलों के मन्त्रिमण्डल यह कार्य पहले ही आरम्भ कर चुके थे। थोड़े ही समय में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा आसाम में भी काँग्रेस के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बन गये। पञ्जाब में सर सिकन्दर हयात खाँ का ग़ैर-काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थायी तथा सफल कार्य कर रहा था और उसकी सफलता का रहस्य उसके असम्प्रदायवादी दृष्टिकोण में निहित था। परन्तु बङ्गाल की दशा अच्छी नहीं थी, वहाँ जल्दी-जल्दी शासन-परिवर्तन हो रहा था।

विभिन्न प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के कार्यक्रमों, और विशेषकर काँग्रेसी तथा ग़ैर-काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कार्यक्रमों में अन्तर होना स्वाभाविक था। नागरिक स्वतन्त्रताओं तथा राजनैतिक बन्दियों के सम्बन्ध में काँग्रेसी तथा ग़ैर-काँग्रेसी प्रान्तों की नीति में बड़ा स्पष्ट अन्तर था। बङ्गाल तथा पञ्जाब के ग़ैर-काँग्रेसी प्रान्तों में

पुलिस तथा गुप्त सूचना विभाग के नियन्त्रण में कोई कमी नहीं की गई थी और न राजनैतिक बन्दियों को ही मुक्त किया गया था। वास्तव में इन प्रान्तों के अधिकतर मन्त्री पुराने होने के कारण पुरानी परिपाटी का ही पालन कर रहे थे। कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सुधार के क्षेत्र में सारे देश के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया और द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के पूर्व दो वर्ष की अल्प अवधि में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल दीर्घकाल में भी नहीं कर सके।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सबसे पहले राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति की समस्या को हल किया। फ़रवरी सन् १९३८ ई० में संयुक्त प्रान्त तथा बिहार में इस प्रश्न को लेकर एक विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी। मन्त्रिमण्डलों ने हिंसापूर्ण कृत्यों के लिये दण्डित राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति के लिये एक योजना बनाई थी, परन्तु गवर्नर-जनरल तथा उक्त प्रान्तों के गवर्नरों ने उसे अस्वीकार कर दिया था। मन्त्रिमण्डल इस विषय में झुकना नहीं चाहते थे अतएव उन्होंने अपने त्यागपत्र दे दिये। परन्तु महात्मा गाँधी की शान्तिप्रिय तथा सहयोगपूर्ण नीति के कारण अवरोध अधिक विस्तृत नहीं हो पाया। उनके हस्तक्षेप करने पर गवर्नर-जनरल ने एक वक्तव्य निकाल कर अपना पहले का निर्णय ही बदल दिया, और संयुक्त प्रान्त तथा बिहार के मन्त्रि-मण्डलों ने अपने त्यागपत्र वापस ले लिये। कांग्रेसी प्रान्तों में राजनैतिक बन्दियों की इस मुक्ति के प्रभावस्वरूप बङ्गाल में भी इसके लिये आन्दोलन आरम्भ हुआ और निर्वासित बंगाली राजनैतिक बन्दियों ने अण्डमन में भूख-हड़ताल आरम्भ कर दी। यहाँ भी महात्मा गाँधी को बीच में पड़ना पड़ा और उन्होंने पहले बन्दियों से अनशन तोड़ने का आश्वासन लेकर बङ्गाल की सरकार से उन्हें मुक्त कर देने का अनुरोध किया।

राजनैतिक बन्दियों की मुक्ति के बाद श्रमिकों तथा कृषकों की समस्या सामने आई। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के साथ-साथ देश में हड़तालों की बाढ़ सी आ गई थी। इनमें सबसे अधिक गम्भीर कानपुर के सूती कपड़े के कारखानों की हड़ताल थी जो लगातार ५० दिन तक चलती रही। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की सहानुभूति श्रमिकों के साथ थी परन्तु साथ ही वे यह भी नहीं चाहते थे कि शान्ति तथा व्यवस्था भंग हो। अतएव उन्होंने अशान्ति तथा अव्यवस्था के दमन में कठोरता से काम लिया। दूसरी ओर किसान स्थायी भूमि व्यवस्था, लगान की कमी तथा ज़मीदारों के विशेषाधिकारों की कमी के लिये आन्दोलन कर रहे थे। उनका यह आन्दोलन संयुक्तप्रान्त तथा बिहार में विशेष रूप से प्रबल था। अतएव इन दोनों प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सन् १९३९ से पहले ही किसानों की माँगें स्वीकार करते हुए कानून बना दिये थे। कांग्रेसी प्रान्तों में श्रमिकों तथा कृषकों दोनों के लाभ

के लिये कानून बनाये गये और दोनों की स्थिति में यथेष्ट सुधार हुआ।

इस प्रकार काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल श्रमिकों तथा किसानों की सहायता करने के उद्देश्य से सामाजिक तथा आर्थिक विधि-निर्माण में व्यस्त थे। विधान-मण्डलों ने भूमि कर, भूमि व्यवस्था, कृषि-ऋण, महाजनी प्रथा (money lending) तथा स्थानीय स्वशासन आदि से सम्बन्धित अनेक कानून बनाये। मद्य-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य, नि:शुल्क तथा स्वावलम्बी बनाने के भी प्रयत्न किये गये। ग्रामसुधार, औद्योगीकरण तथा अनेक अन्य दिशाओं का कार्यक्रम भी महत्वाकाँक्षी था। काँग्रेसी मन्त्रिगण अदम्य उत्साह तथा गहरे उत्तर-दायित्व की भावना के साथ पटु राजनीतिज्ञों की भाँति धीरे-धीरे अपने कर्तव्यों का पालन कर रहे थे। अँग्रेज़ी विचारकों तक ने काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की सफलता को स्वीकार किया है। प्रोफेसर कूपलैण्ड ने लिखा है कि "काँग्रेसी मन्त्रियों को प्रशासन का कोई पूर्व अनुभव नहीं था। परन्तु उन्होंने अपने आपको सार्वजनिक कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व की उच्च भावना से परिपूर्ण, सुयोग्य तथा परिश्रमशील व्यक्ति सिद्ध कर दिया[1]।" अपने १७ अक्टूबर सन् १६३६ ई० के वक्तव्य में लार्ड लिनलिथगो तक ने प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के सुचारु कार्य-सम्पादन की प्रशंसा की। लार्ड लिनलिथगो ने अपने वक्तव्य में कहा, "सामान्यतया उन्हें अपने कार्यों में सफलता मिली है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रान्तों में शक्ति चाहे जिस राजनैतिक दल के हाथ में रही हो, परन्तु सभी को उनके पिछले ढाई वर्षों की सार्वजनिक सफलता का गौरव-पूर्ण लेखा देख कर सन्तोष होगा।"

जनता ने बड़ी प्रसन्नता के साथ इन लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलों की स्थापना का स्वागत किया, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनका पथ विरोध तथा कठिनाइयों से मुक्त था। आरम्भ में स्थायी कर्मचारियों की ओर से विरोध की आशंका की गई थी। परन्तु स्थायी कर्मचारियों तथा मन्त्रियों अथवा उनके सचिवों के बीच संघर्ष की दो-एक घटनाओं के अतिरिक्त, काँग्रेस के शासनकाल में कर्मचारी वर्गों का व्यवहार आपत्तिजनक नहीं रहा। कभी-कभी तो काँग्रेसी मन्त्रियों ने उनकी सहयोगपूर्ण तत्परता तथा उपादेयता की प्रशंसा भी की। मन्त्रियों तथा गवर्नरों के बीच भी कोई विशेष संघर्ष नहीं हुआ और सन् १६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक गवर्नर लगभग पूर्णतया वैधानिक प्रधानों का सा व्यवहार करते रहे। केवल दो-एक प्रान्तीय विधेयक गवर्नर-जनरल के विचारार्थ भेजे गये, परन्तु उन्हें स्वीकृति प्राप्त हो गई।

---

1. "The Congress Ministers, who had little or no previous experience of administration, proved themselves capable and hard-working men with a high sense of public duty and responsibility."—*Coupland.*

काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की राह में सबसे अधिक बाधा समाजवादियों, साम्यवादियों तथा सम्प्रदायवादियों ने उपस्थित की, गवर्नरों अथवा नौकरशाही ने नहीं। समाजवादी तथा साम्यवादी श्रमिकों और किसानों को संगठित होकर ऐसी माँगें उपस्थित करने की प्रेरणा दे रहे थे जिन्हें काँग्रेसी मंत्रिमण्डल अपनी सब वर्गों को संतुष्ट रखने की नीति के कारण स्वीकार ही नहीं कर सकते थे। सम्प्रदायवादी, जिनमें मुस्लिम लीग का विशिष्ट स्थान था, मंत्रिमण्डलों को अपने आरोपों और अपने सम्प्रदायों के लिये विभिन्न सुविधाओं की कभी समाप्त न होने वाली माँगों से परेशान कर रहे थे। इन सारी माँगों के पीछे मुख्य उद्देश्य था सम्प्रदायवादियों की निजी स्वार्थ-भावना तथा पदों की आकांक्षा। परन्तु प्रचार के लिये इन माँगों को धार्मिक अथवा सांस्कृतिक रंग दे दिया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप काल्पनिक अन्यायों के आधार पर कई स्थानों में साम्प्रदायिक दंगे उठ खड़े हुए।

लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों के मार्ग में आर्थिक संकट भी एक बहुत बड़ा रोड़ा था। शिक्षा, श्रम-कल्याण, स्वास्थ्य, सफाई, स्थानीय स्व-शासन, आदि सभी राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विभागों में पिछड़ी हुई प्रगति को पूरा करना अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु इसके लिये अधिक व्यय भी आवश्यक था। दूसरी ओर भूमिकर की कमी तथा मद्य-निषेध की नीति के परिणामस्वरूप प्रान्तीय शासन की आय और भी कम हो गई थी। स्थायी कर्मचारियों का वेतन संविधान द्वारा अभिरक्षित था, अतएव इस दिशा में जो भारी व्यय हो रहा था उसे कम करने की कोई सम्भावना नहीं थी। परन्तु काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों की प्रगति में सबसे बड़ी कठिनाई भारत की वैधानिक समस्या थी, क्योंकि प्रान्तीय स्वराज्य का भविष्य उस समय तक निश्चित नहीं समझा जा सकता था, जबतक संघीय अथवा केन्द्रीय क्षेत्र में भारत का आगामी संविधान राष्ट्रवादी जनमत के अनुसार न हो जाये।

अँग्रेज़ लेखकों ने अनेक बार कहा है कि काँग्रेस की कार्यकारिणी (Congress High Command) प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के कार्य में बराबर हस्तक्षेप करती थी। प्रोफेसर कूपलैण्ड की धारणा है कि काँग्रेस कार्यकारिणी की तानाशाही के फलस्वरूप उत्तरदायी शासन का व्यावहारिक स्वरूप कुछ सीमा तक निर्बल हो गया था और प्रान्तीय स्वराज्य का आधार ही नष्ट हो गया था, परन्तु पंडित नेहरू ने अपनी पुस्तक "Discovery of India" में इस आरोप को निराधार सिद्ध कर दिया है। उनके कथनानुसार काँग्रेस कार्यकारिणी केवल महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में एक समान नीति निर्धारित करती थी। उसकी धारणा थी कि गवर्नरों तथा भारत सरकार के सम्बन्ध में सारे काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को समान नीति का पालन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रान्तों के आन्तरिक प्रशासन में वह तनिक भी हस्तक्षेप नहीं करती थी।

दुर्भाग्यवश, काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कई कार्य फलीभूत नहीं हो पाये। उनके पूर्ण होने के पहले ही नवम्बर सन् १९३९ ई० में भारतीयों की इच्छा के विरुद्ध देश को द्वितीय महायुद्ध में फँसा देने के प्रश्न को लेकर काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने पद-त्याग कर दिया। इसके परिणामस्वरूप भारत के कुल ११ प्रान्तों में से ८ में संविधान स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार देश में एक अत्यन्त गम्भीर प्रकार का गत्यावरोध उत्पन्न हो गया जो महायुद्ध की पूरी अवधि भर अपरिवर्तित बना रहा। हम इस पुस्तक के सातवें अध्याय में ब्रिटिश सरकार तथा काँग्रेस के युद्धकालीन सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना कर चुके हैं। परन्तु इस बात का फिर उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस काल में ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग को अपने पक्ष में कर लेने का अनवरत प्रयत्न कर रही थी। आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में लीग के मन्त्रिमण्डल बने और उड़ीसा में भी कुछ पतित काँग्रेसजनों की सहायता से एक मन्त्रिमण्डल स्थापित किया गया। परन्तु परस्पर विरोधी तथा स्वार्थी दलों की सहायता से निर्मित इन नये मन्त्रिमण्डलों में कोई स्थायित्व नहीं था और उनके शासनकाल में गवर्नर अपने विशेषाधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करते रहे। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने बङ्गाल के मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देने के पूर्व इस प्रांतीय स्वराज्य के तमाशे का रहस्योद्घाटन किया था। जिन प्रांतों में सरकार ने इस प्रकार के "गुण्डा मन्त्रिमण्डल" बनाने की कोई सम्भावना नहीं देखी वहाँ जनता के विरोध करने पर भी मन्त्रणादाताओं (Advisors) का शासन स्थापित कर दिया गया।

सन् १९४५-४६ के शीतकाल में साधारण निर्वाचन हुये जिनमें काँग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इस बार उसने ६ के स्थान पर ८ प्रांतों में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत भी उसके प्रभावक्षेत्र में आ गये। अप्रैल सन् १९४६ ई० में इन आठ प्रांतों में फिर काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने शासन सँभाला। पंजाब में भी काँग्रेस ने अकाली तथा यूनियन दलों की सहायता से अपना मन्त्रिमण्डल बना लिया। इस प्रकार बङ्गाल तथा सिंध के अतिरिक्त शेष सारे भारत में काँग्रेस राज्य करने लगी। इन मन्त्रिमण्डलों ने मंत्रणादाताओं के शासनकाल के अन्यायों को दूर करने का प्रयत्न करते हुये देश की भरसक सेवा की। परन्तु अगस्त सन् १९४७ ई० में भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। अतएव काँग्रेस मंत्रिमंडलों का उसके बाद का कार्य प्रांतीय स्वराज्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता। हम स्वतन्त्र भारत में काँग्रेस की सफलताओं का वर्णन करते हुये इन कार्यों का उल्लेख करेंगे।

अठारहवाँ अध्याय
भारतीय स्वतन्त्रता कानून

प्रस्तुत पुस्तक के पहले भाग में भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का वर्णन करते हुये हम बता चुके हैं कि भारत ने अपनी स्वतन्त्रता किस प्रकार प्राप्त की। इस अध्याय में हम अपनी स्वतन्त्रता के अधिकार-पत्र तथा उसके प्रावधानों के विषय में विचार करेंगे। १८ जुलाई सन् १९४७ ई० को ब्रिटिश लोकसभा ने वह स्वतन्त्रता कानून स्वीकार किया जिसके अनुसार भारत में अंग्रेज़ी राज्य का अन्त तथा १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से भारत तथा पाकिस्तान नामक दो स्वतन्त्र अधिराज्यों (Dominions) का जन्म हुआ। दोनों उपनिवेशों पर शासन करने के लिये एक अथवा दो गवर्नर-जनरलों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई और अब शासन की व्यवस्था स्वयं स्वतन्त्रता कानून के प्रावधानों, अथवा परिवर्तित परिस्थिति को देखते हुये गवर्नर-जनरल द्वारा प्रकाशित आज्ञाओं द्वारा संशोधित सन् १९३५ ई० के भारत सरकार कानून अथवा दोनों देशों की संविधान सभाओं द्वारा स्वीकृत कानूनों के अनुसार की गई। यह संविधान सभायें सम्पूर्ण सत्ताधारी संस्थायें घोषित कर दी गईं जिन्हें अपने-अपने देश के लिये प्रत्येक कानून बनाने का प्राधिकार प्राप्त था। स्वतन्त्रता कानून में उपनिवेशों की स्थापना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले अन्य परिवर्तनों के लिये भी उचित व्यवस्था की गई। उदाहरण के लिये ३ जून सन् १९४७ ई० की ब्रिटिश सरकार की घोषणा के अनुसार वाइसराय ने जो कुछ किया था उसे मान्यता दे दी गई। २० धाराओं तथा ३ अनुसूचियों वाला यह स्वतन्त्रता कानून वास्तव में असाधारणतया सरल तथा सीधा-सादा था। विस्तार तथा व्याख्या के सारे प्रश्न गवर्नर पर छोड़ दिये गये थे। यह कानून वास्तव में किसी नीति का विस्तृत व्यक्तीकरण न होकर नीति निर्धारण का एक साधनमात्र था।

स्वतन्त्रता कानून की पहली चार धाराओं का सम्बन्ध एक निश्चित तिथि से दो स्वतन्त्र अधिराज्यों की स्थापना तथा उनके राज्यक्षेत्र के विस्तार से था। यह निश्चय किया गया कि बङ्गाल तथा पंजाब का विभाजन करके पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत तथा आसाम के सिलहट जिले का भविष्य इन प्रदेशों के निवासियों की मत-गणना द्वारा निश्चित किया जाय। मतगणना के परिणामस्वरूप यह दोनों प्रदेश पाकिस्तान में सम्मिलित हो गये। सीमाओं का विस्तृत परिसीमन बङ्गाल तथा पंजाब के लिये नियुक्त दो सीमा कमीशनों के निर्णय पर छोड़ दिया गया। इन दोनों कमीशनों के सभापति प्रसिद्ध ब्रिटिश न्यायशास्त्री सर सिरिल रैडक्लिफ़ (Sir Cyril

Redcliffe) थे। कमीशनों में हिन्दू तथा मुसलमान बराबर संख्या में सम्मिलित किये गये थे परन्तु उनके एकमत न हो सकने के कारण सभापति को अपना परिनिर्णय (award) देना पड़ा।

भारतीय स्वतन्त्रता कानून की पाँचवीं धारा में यह व्यवस्था की गई थी कि अधिराज्य के शासन के लिये गवर्नर-जनरल सम्राट् का प्रतिनिधित्व करेगा। पहले गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के विषय में भारत तथा पाकिस्तान में अन्य उपनिवेशों की प्रणाली का अनुसरण असम्भव था, क्योंकि यहाँ १५ अगस्त को, सम्राट् को इस सम्बन्ध में विधिवत् परामर्श देने के लिये मंत्री ही नहीं थे। तथापि वाइसराय ने इस विषय में प्रमुख राजनैतिक दलों से परामर्श किया जिसके परिणामस्वरूप काँग्रेस की ओर से भारत के लिये लार्ड माउंटबेटेन तथा मुस्लिम लीग की ओर से पाकिस्तान के लिये मि० जिन्ना गवर्नर-जनरल नियुक्त हुये। इस नई व्यवस्था का सारांश उत्तरदायित्व का हस्तांतरण था। प्रशासन का प्राधिकार मंत्रिमण्डल में निहित था और गवर्नर-जनरल वैधानिक प्रधानमात्र था।

कानून की छठी धारा का सम्बन्ध अधिराज्य के विधानमण्डल से था। विधानमण्डल को विधि-निर्माण की पूर्ण शक्तियाँ दी गई थीं और वेस्टमिन्स्टर के धारापत्र (Statute of Westminster) के अनुसार इन्हें राज्यक्षेत्र बाह्य विधि-प्रवर्तन (extra territorial operation) की शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। सम्राट् का किसी भी विधेयक को अस्वीकार कर सकने का अधिकार अब नहीं रहा था और प्रत्येक अधिराज्य के गवर्नर-जनरल को सम्राट् की ओर से विधानमण्डल के विधेयकों को स्वीकृति देने का पूर्ण अधिकार था। आठवीं धारा के अनुसार प्रस्तुत संविधान-सभायें ही उस समय के लिये सम्पूर्ण सत्ताधारी अधिराज्य विधानसभायें बना दी गई थीं।

सातवीं धारा में इस नई व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का प्रबन्ध किया गया था। इस विषय में मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे:—(१) ब्रिटिश सम्राट् ने भारत सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व त्याग दिया। (२) देशी राज्यों के संदर्भ में ब्रिटिश सम्राट् का प्रभुत्व, और उसके साथ-साथ सम्राट् की सभी संधियों, संविदाओं, प्रकार्यों तथा उत्तरदायित्वों और उसके सारे अधिकारों, प्राधिकारों, शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार का, अन्त हो गया। संधियों तथा संविदाओं का अन्त होने के साथ देशी राज्यों को स्वतन्त्रता मिल गई। परन्तु भौगोलिक दृष्टिकोण से वे सभी भारत भूखण्ड के भाग थे, अतएव आशा यह की जाती थी कि वे स्वेच्छापूर्वक किसी न किसी अधिराज्य के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेंगे। परन्तु स्वतन्त्रता कानून में इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के वित्त एवं अर्थ सम्बन्धी तथा डाक तार, निराक्रम्य (customs)

और यातायात सम्बन्धी पुराने सम्बन्ध उस समय तक बने रहेंगे जब तक कोई एक पक्ष उनके अन्त होने की घोषणा न कर दे। (३) जनजातीय समितियों से सम्बन्धित सारे संविदाओं का अन्त हो गया और जनजातियों तथा नये अधिराज्यों को नई संधियाँ करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। (४) इस नई व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लन्दन का भारत-कार्यालय अनावश्यक हो गया। भारत मन्त्री का यह ऐतिहासिक कार्यालय बन्द हो गया। भारतीय सम्बन्धों का संचालन अब राष्ट्र-मण्डल सचिव के अधिकार क्षेत्र में आ गया।

नवीं धारा में प्रस्तुत कानूनों की उपयोजना के लिये व्यवस्था की गई थी जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल आज्ञा प्रकाशित करके इस दिशा में आवश्यक अथवा उपादेय प्रावधान बना सकता था। इस धारा के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल ने सन् १९३५ के भारत सरकार कानून की नई परिस्थितियों के अनुकूल उपयोजना के लिये अनेक आज्ञायें प्रकाशित कीं और सन् १९३५ ई० के कानून में विस्तृत परिवर्तन तथा संशोधन हुये। इस प्रकार लोप होने वाले मुख्य प्रावधान निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित थे :—केन्द्रीय शासन के आरक्षित विषय, गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व, भारत मन्त्री की अधीक्षण शक्ति, व्यापारिक विभेद, सम्राट् का विधानमण्डलों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को अस्वीकार करने का अधिकार, विधि-निर्माण शक्तियों पर प्रतिबन्ध, ब्रिटिश सम्राट् के देशी राज्यों के साथ सम्बन्ध, संघीय रेलवे प्राधिकारीवर्ग, रक्षा सेवायें, भारत मन्त्री द्वारा अधोक्षित सेवायें, भारतमन्त्री तथा उसके परामर्शदाता, और साधारण वैधानिक व्यवस्था भङ्ग हो जाने पर लागू होने वाला प्रावधान।

कानून की दसवीं धारा का सम्बन्ध सेवा-वर्गों की स्थिति से था। इसमें सेवा-वर्गों के प्रस्तुत नियमों के संधारण की व्यवस्था की गई थी। भारतमंत्री द्वारा अधीक्षित सेवावर्गों के जो अधिकारी नये अधिराज्यों में सेवा-कार्य करना स्वीकार करें उनके लिये हानिपूरक अधिकारों (compensatory rights) की व्यवस्था भी की गई थी। इसी प्रकार केन्द्रीय तथा प्रांतीय सेवा-वर्गों के लिये भी सेवा के प्रस्तुत नियमों की प्रत्याभूति की गई थी।

स्वतन्त्रता कानून की ग्यारहवीं धारा में सम्राट् की भारतीय सेना के दोनों नये अधिराज्यों के बीच विभाजन तथा विभाजन पूर्ण होने के समय तक समस्त सेना के समादेश (command) तथा शासन की व्यवस्था की गई थी। बारहवीं धारा का उद्देश्य भारत-स्थित ब्रिटिश सेना पर ब्रिटिश सरकार के प्राधिकार का अभिरक्षण था, और तेरहवीं में सम्राट् की नौसेना से भारतीय जल सेना का विच्छेद किया गया था। कानून की शेष धाराओं का सम्बन्ध सामान्य प्रकार के आनुषंगिक प्रावधानों (incidental provisions) से था। चौदहवीं धारा में भारतमंत्री तथा भारतीय गृह

लेखा (Indian Home Accounts) के अंकेक्षक (Auditor) से सम्बन्धित प्रावधान रखे गये थे। इनके अनुसार भारतमंत्री अथवा सम्राट् के किसी अन्य मंत्री को नये अधिराज्यों की ओर से भुगतान-सम्बन्धी उन प्रकार्यों का पालन करते रहने का प्राधिकार दिया गया था जो १५ अगस्त तक सन् १९३५ ई० के कानून के अनुसार, भारतमंत्री के प्रकार्य-क्षेत्र में सम्मिलित थे। इसी प्रकार भारतीय गृह लेखा के अंकेक्षक को भी कुछ समय के लिये अपने प्रकार्यों का पालन करते रहने का प्राधिकार दिया गया था। पन्द्रहवीं धारा का सम्बन्ध भारतमंत्री द्वारा, तथा उसके विरुद्ध की जाने वाली कानूनी कार्यवाही से था जिसकी मान्यता, जहाँ तक भारत-मंत्री का सम्बन्ध था, १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को समाप्त हो गई थी। सोलहवीं धारा का अदन तथा सत्रहवीं का विवाह-विच्छेद (divorce) के क्षेत्राधिकार से सम्बन्ध था। अठारहवीं धारा में विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न विभिन्न कानूनी विषयों की व्याख्या की गई थी। इसके अनुसार गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को दिये जाने वाले निर्देश-पत्रों (Instrument of Instructions) का अन्त कर दिया गया था क्योंकि भविष्य में वे प्रत्येक विषय में अपने मंत्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करेंगे और इङ्गलैंड की सरकार के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा। उन्नीसवीं धारा में तत्कालीन संवैधानिक स्थिति की व्याख्या की गई थी, और बीसवीं में कानून को "भारतीय स्वतन्त्रता कानून, १९४७" का संक्षिप्त नाम दिया गया था।

सन् १९४७ ई० के कानून के अनुसार भारतीय अधिराज्य का यह नया संविधान १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से लागू हुआ। लार्ड माउण्टबेटेन अवकाश ग्रहण करने के समय (२१ जून सन् १९४८) तक वैधानिक गवर्नर-जनरल के रूप में कार्य करते रहे। तत्पश्चात् पहले भारतीय, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, भारत के अन्तिम गवर्नर-जनरल नियुक्त हुये। वे २६ जनवरी सन् १९५० ई० तक इस पद पर कार्य करते रहे। इस तिथि को भारत में सर्वसत्तापूर्ण गणराज्य की स्थापना हुई और डा० राजेन्द्र प्रसाद गणराज्य के पहले अध्यक्ष निर्वाचित किये गये।

उन्नीसवाँ अध्याय

स्थानीय स्व-शासन का विकास

नगरपालिका, ज़िलाबोर्ड, ग्राम पंचायत इत्यादि स्थानीय संस्थाओं को शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पानी, प्रकाश, सड़कों इत्यादि की व्यवस्था सरीखे स्थानीय महत्व के विषयों में स्वायत्त शासन का अधिकार देने की प्रथा को स्थानीय स्व-शासन कहते हैं। इस प्रकार की संस्थायें संसार के लगभग सभी देशों में मिलती हैं। वास्तव में जनतन्त्रात्मक शासन के सफल संचालन के लिये स्वतन्त्र स्थानीय संस्थाओं का अस्तित्व बहुत आवश्यक होता है। स्थानीय शासन की प्रकृति ही अन्तत: जनता तथा उसके शासन का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करती है। बिना अपने पड़ोसियों पर शासन करना, तथा उनके द्वारा शासित होना, सीखे लोग राष्ट्रीय शासन का दायित्व नहीं सँभाल सकते। स्व-शासित स्थानीय संस्थायें जनता को नागरिकता की शिक्षा देने की भारी क्षमता रखती हैं। योरोपीय देशों की तुलना में इङ्गलैण्ड तथा अमरीका अधिक जनतन्त्रात्मक इसीलिए हैं कि उनकी स्थानीय संस्थायें अधिक स्वतन्त्र हैं। सुचारु शासन, सुविधा, मितव्ययिता तथा नागरिक शिक्षा के लिये स्थानीय स्व-शासित संस्थाओं का अस्तित्व आवश्यक समझा जाता है। दूर-स्थित केन्द्रीय सरकार का साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं तथा इच्छाओं के साथ कोई सम्पर्क नहीं होता और इसलिये वह स्थानीय समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान नहीं कर सकती। इस प्रकार स्थानीय संस्थायें सुचारु शासन में सहायक होती हैं। स्थानीय संस्थायें सुविधा के लिये भी आवश्यक होती हैं क्योंकि केन्द्रीय शासन के कुछ उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर वे उसे महत्वपूर्ण तथा जटिल राष्ट्रीय प्रश्नों के समाधान में अधिक समय तथा शक्ति लगाने का अवसर देती हैं। मितव्ययिता (economy) तथा न्याय की दृष्टि से भी स्थानीय संस्थाओं को एक सीमा के भीतर अपने विषयों के सम्पादन में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। स्थानीय जनसंख्या को लाभ पहुँचानेवाले कार्यों का व्यय भी यही संस्थायें वहन करती हैं और इस प्रकार केन्द्रीय शासन का भार हल्का हो जाता है। और अन्त में, स्थानीय संस्थायें नागरिकता की शिक्षा का एक उत्तम साधन हैं। जनतन्त्रात्मक प्रणाली का अनुसरण करने वाली स्थानीय संस्थाओं का निकट से अध्ययन कर नागरिक स्व-शासन का पहला पाठ सीखते हैं, उनकी निष्क्रियता दूर हो जाती है और वे राजनैतिक विषयों में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं। स्थानीय संस्थायें लोगों को दूसरों के लिये, और दूसरों के साथ काम करना सिखाती हैं, और इस प्रकार उनमें साधारण ज्ञान, विवेक, निर्णय-क्षमता और

सामाजिकता के गुणों का विकास करती हैं। कभी-कभी स्थानीय शासन की संस्थाओं पर मस्तिष्क की संकीर्णता तथा स्थानीय स्वामिभक्ति की भावना को प्रोत्साहन देने का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप में थोड़ा बहुत सत्य भी हो सकता है परन्तु स्थानीय स्व-शासन के गुण स्पष्ट तथा अनेक हैं और उसके दोषों को नगण्य बना देते हैं।

भारत में स्थानीय स्व-शासन के विकास पर दृष्टिपात करते हुये आरम्भ में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह संस्थायें हमारे देश को अँग्रेज़ों की देन हैं और इनका विकास अँग्रेज़ों के शासनकाल में हुआ है। परन्तु इस धारणा में सत्य का तनिक भी अंश नहीं है। वास्तव में भारत प्राचीनकाल में ही एक सुव्यवस्थित समाज का रूप धारण कर चुका था और जिस समय हमारे देश में स्वशासित स्थानीय संस्थायें सुचारु रूप से कार्य कर रही थीं, आधुनिक संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों का नाम भी इतिहास के पृष्ठों पर नहीं आया था। इस तथ्य को कई अँग्रेज़ लेखकों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये सर जार्ज बर्डउड (Sir George Bird-wood) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि स्थानीय स्व-शासन प्राचीन भारत की विशेषता रहा है और यह ग्रामीण संस्थायें धार्मिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों के बीच भी अपने स्थानीय क्षेत्र में कभी निर्बल नहीं हुई। सर चार्ल्स मेटकाफ़ (Sir Charles Met-calfe) ने भी इसी मत का समर्थन करते हुये कहा है कि अनेक क्रान्तियों तथा परिवर्तनों के बीच भारतीय राष्ट्र को अक्षत बनाये रखने का सबसे अधिक श्रेय इन ग्राम्य-संस्थाओं को है जिनमें प्रत्येक ग्राम अपने में एक छोटा-सा राज्य होता था। यह छोटे-छोटे ग्राम वास्तव में लगभग स्वत: सम्पूर्ण गणतन्त्र होते थे। भारतीय इतिहास के प्राचीन तथा मध्य युगों में स्थानीय शासन की यह परम्परा अटूट बनी रही। परन्तु ब्रिटिश शासन ने अधिकारों के केन्द्रीकरण की नीति को अपनाकर इन ग्राम पंचायतों की हत्या कर डाली। इसके परिणामस्वरूप प्राचीन व्यवस्था विश्रंखलित हो गयी और उसके खँडहरों पर स्थानीय स्व-शासन की नई व्यवस्था का निर्माण हुआ। निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी प्रतिनिधि संस्थायें इस नई व्यवस्था का आधार हैं। इन संस्थाओं को करारोपण तथा प्रशासन के विस्तृत अधिकार प्राप्त होते हैं और यह देश की शासन-व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिकता का शिक्षण केन्द्र हैं। इस अर्थ में स्थानीय स्वशासन वास्तव में हमारे लिये अँग्रेज़ों की एक देन है। प्राचीन ग्राम्य संस्थायें वंशगत विशेषाधिकार अथवा जातीय मर्यादा के संकुचित आधार पर निर्मित होती थीं। उनका कार्यक्षेत्र कर उगाहने तथा जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने तक सीमित था। वे राजनैतिक शिक्षा के माध्यम अथवा शासन-व्यवस्था के आवश्यक अंग नहीं होती थीं।

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासित संस्थाओं का आरम्भ वास्तव में सन् १८८२ ई० के लार्ड रिपन के प्रसिद्ध प्रस्ताव के साथ हुआ, परन्तु इस

दिशा में कुछ प्रयत्न इस समय से पहले भी हो चुका था। सन् १६८७ ई० में अंग्रेजी नगर संस्थाओं के आधार पर मद्रास नगर कारपोरेशन की स्थापना की गई थी, परन्तु यह प्रयोग सफल नहीं हुआ और यथेष्ठ साधनों के अभाव में यह कारपोरेशन धीरे-धीरे क्षीण होकर समाप्त हो गया। सन् १७६३ ई० के चार्टर ऐक्ट (Charter Act) ने कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास (Presidency towns) में सफाई की देखभाल करने के लिये पदाधिकारियों (Justices of Peace) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। सन् १८४०-५३ के बीच इन नगर कारपोरेशनों में निर्वाचन के सिद्धान्त का समावेश किया गया। परन्तु यह नई व्यवस्था असफल सिद्ध हुई, अतएव सन् १८५६ ई० में तीनों नगरों (मद्रास, कलकत्ता और बम्बई) की नगरपालिकाओं का पुनर्निर्माण किया गया और प्रत्येक नगर के लिये समस्त स्थानीय अधिकारों से सुसज्जित तथा वेतन पाने वाले कमिश्नर नियुक्त किये गये। अब इन नगरों का स्थानीय शासन तीव्र गति से चलने लगा और नगर कारपोरेशन सार्वजनिक हित के अनेक कार्य करने लगे। सन् १८६१ ई० में प्रान्तीय धारासभाओं की स्थापना के बाद से इन तीनों कारपोरेशनों के विकास की धारा अलग-अलग हो गई। अन्य नगरों के लिये पहला नगरपालिका-कानून (Municipal Act) सन् १८४२ ई० में बना था, परन्तु यह केवल बंगाल में ही लागू किया गया और वहाँ भी यह किसी नगर में उसी समय लागू किया जा सकता था जब उसके दो-तिहाई निवासी प्रार्थना-पत्र द्वारा इसकी माँग करें। परन्तु जनता ने नये कर देने में तनिक भी उत्साह प्रदर्शित नहीं किया और परिणामस्वरूप यह प्रयोग सफल नहीं हो सका। सन् १८५० ई० में एक कानून सम्पूर्ण देश के लिये बनाया गया जिसमें अप्रत्यक्ष करारोपण की शक्तियों से सम्पन्न नगरपालिकायें स्थापित करने की अनुमति दी गई थी। परन्तु इस कानून से भी केवल थोड़े से प्रान्तों ने ही लाभ उठाया। सन् १८६३ ई० में 'रायल आर्मी सैनीटेशन कमीशन' (Royal Army Sanitation Commission) की सिफारिशों के आधार पर नगर सुधार समितियाँ (Town Improvement Committees) नियुक्त की गईं जिनका मुख्य कार्य अपने नगर की स्वच्छता में सुधार करना था। परन्तु इतना सब होने पर भी यथार्थ रूप में स्थानीय स्वशासन अभी सामने नहीं आया था।

भारत में स्थानीय स्व-शासन का आरम्भ वस्तुत: सन् १८७० ई० से माना जा सकता है। इस वर्ष लार्ड मेयो (Lord Mayo) के शासनकाल में आर्थिक विकेन्द्रीकरण का प्रस्ताव (Financial Decentralisation Resolution) पास हुआ। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "शिक्षा, स्वच्छता, धर्मार्थ औषधि-वितरण तथा स्थानीय सार्वजनिक कार्यों में लगी हुई धनराशि के सफल प्रबन्ध के लिये स्थानीय हित, नियन्त्रण तथा सतर्कता आवश्यक है। अपने सम्पूर्ण तथा सही

अर्थ में लागू होने पर यह प्रस्ताव स्थानीय स्व-शासन के विकास, नागरिक संस्थाओं की उन्नति तथा शासन-कार्य में देशी तथा योरोपीय, जनता को सहयोग के अवसर देगा[1]। इस प्रस्ताव के अनुसार आगामी कुछ वर्षों में कई प्रांतों में स्थानीय शासन सम्बन्धी कई कानून बनाये गये जिनके द्वारा निर्वाचन के सिद्धांत का अधिकाधिक प्रयोग कर नागरिक संस्थाओं के संविधान को अधिक उदार स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया।

लार्ड रिपन (Lord Ripon) के प्रस्ताव (१८८२) से स्थानीय स्व-शासन के आंदोलन को नया बल मिला और इसीलिये इस प्रस्ताव को भारत में स्थानीय स्व-शासन का महाभिलेख (Magna Charta) कहा गया है जो किसी सीमा तक उचित ही है। लगभग सभी प्रांतों के बड़े-बड़े नगरों में नगरपालिकायें पहले भी थीं जो पूर्णतया नामज़द अथवा आंशिक रूप से निर्वाचित होती थीं। परन्तु उनका अध्यक्ष सरकारी कर्मचारी ही होता था और उनका कार्य संचालन शासन के एक विभाग की भाँति होता था। इसके अतिरिक्त, भारत में स्थानीय स्व-शासन के विकास का अब तक का इतिहास शासन की आर्थिक नीति के साथ बँधा हुआ था। सरकार के साधन सीमित थे और उसे शिक्षा, यातायात, स्वच्छता इत्यादि राष्ट्र-निर्माणकारी सेवाओं की संतोषजनक व्यवस्था करने में बड़ी कठिनाई होती थी। अतएव उसने यह विषय स्थानीय प्रयास और साधनों के हवाले कर दिये। लार्ड रिपन भी स्थानीय स्वशासन के समर्थक थे और उसका विस्तार चाहते थे। परन्तु उनका उद्देश्य भिन्न था। सन् १८८० ई० में गवर्नर-जनरल होकर भारत आने पर उन्होंने देखा कि यहाँ शिक्षित वर्ग में बड़ा असन्तोष है। पश्चिम के स्वतन्त्र देशों में शिक्षित वर्ग को सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध में भाग लेने की यथेष्ट सुविधायें थीं और पश्चिम के सम्पर्क में आने के बाद शिक्षित भारतवासी भी इसी प्रकार के अवसर चाहने लगे थे। अतएव लार्ड रिपन ने स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक विस्तार करने का निश्चय किया। उनकी यह नीति किसी सीमा तक उनके सहानुभूतिपूर्ण उदारवाद की सूचक थी परन्तु इसके पीछे राष्ट्रीय भारत की आहत भावना को संतुष्ट करने की इच्छा भी थी। उनके प्रस्ताव का उद्देश्य केवल शासन की सुविधा अथवा सुचारुता

---

1. "Local interest, supervision and care are necessary to success in the management of funds devoted to education, sanitation, medical charity and local public works. The operation of the Resolution in its full meaning and integrity will afford opportunities for the development of local self-government and for strengthening municipal institutions and the association of natives and Europeans in the administration of affairs."

—*Lord Mayo.*

तक सीमित नहीं था। वे वास्तव में स्थानीय स्व-शासन को जनता की राजनैतिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन समझते थे। वे जानते थे कि आरम्भ में स्थानीय स्व-शासन, सरकारी प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक सुचारु नहीं होगा, परन्तु उन्हें पूरा विश्वास था कि समय के साथ जैसे-जैसे स्थानीय जानकारी तथा स्थानीय हितों का स्थानीय शासन के साथ सम्पर्क बढ़ेगा, स्थानीय शासन की सुचारुता में भी वृद्धि होगी। परन्तु इसके लिये सरकारी कर्मचारियों का हार्दिक सहयोग आवश्यक था।

लार्ड रिपन के प्रस्ताव में स्थानीय स्व-शासन के संगठन के निम्नलिखित सिद्धांत निर्धारित किये गये थे :—

(१) ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं को महत्व दिया जाये। अधिक से अधिक एक तालुका अथवा तहसील का क्षेत्र एक स्थानीय मण्डल अथवा बोर्ड के अधीन रखा जाये और प्रत्येक स्थानीय बोर्ड अपने जिला बोर्ड के नियन्त्रण में रहे।

(२) ग़ैरसरकारी बहुमत का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया था और अब नामज़द सदस्यों की संख्या एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती थी। यह भी स्वीकार कर लिया गया था कि जहाँ-जहाँ सम्भव हो सके निर्वाचन का सिद्धांत कार्यान्वित किया जाय और निर्वाचन की प्रत्येक सम्भव प्रणाली का प्रयोग किया जाय।

(३) स्थानीय संस्थाओं का अध्यक्ष यथासम्भव निर्वाचित, ग़ैरसरकारी व्यक्ति हो क्योंकि इसके बिना ग़ैरसरकारी सदस्यों को अपने अधिकार तथा उत्तरदायित्व वास्तविक नहीं प्रतीत होंगे।

(४) स्थानीय संस्थाओं पर सरकार का नियन्त्रण भीतर से न होकर बाहर से हो और साधारणतया इस नियन्त्रण का स्वरूप मैत्रीपूर्ण परामर्श अथवा आपत्ति तक ही सीमित रहे। सरकार स्थानीय संस्थाओं के कार्यों पर दृष्टि रखे परन्तु उन्हें आदेश न दे, और हस्तक्षेप तभी करे जब कोई संस्था अपने कर्तव्यों की निपट उपेक्षा कर रही हो। प्रस्ताव में बताया गया था कि यदि स्थानीय संस्थाओं के प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप होता रहा तो स्थानीय स्व-शासन के वास्तविक विकास की आशा करना व्यर्थ होगा।

(५) स्थानीय सेवायें स्थानीय संस्थाओं के अधीन हों और स्थानीय संस्थाओं में काम करने वाले सरकारी कर्मचारी अपने आपको संस्था का सेवक समझें, स्वामी नहीं।

(६) स्थानीय संस्थाओं के अपने यथेष्ठ तथा विकासशील आर्थिक साधन हों और उन्हें अपने बजट स्वयं बनाने की स्वतन्त्रता हो।

(७) स्थानीय संस्थाओं में योग्य व्यक्तियों को लाने के लिये इन संस्थाओं के सदस्यों को राय साहब, राय बहादुर इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया जाय।

उपरोक्त सभी सुझाव यथार्थ रूप में उदार सिद्धान्तों के सूचक थे परन्तु

दुर्भाग्यवश उन्हें कार्यान्वित करने में इतनी उदारता का परिचय नहीं दिया गया। सरकारी क्षेत्र में इन सुधारों को अपने समय से बहुत आगे समझा गया। अतएव प्रांतीय सरकारों ने कानून बनाते समय इनमें बहुत कुछ काट-छाँट कर दी। इसके अतिरिक्त, प्रतिदिन के कार्यों में भी जिलों के सरकारी कर्मचारी इन सुझावों के अनुसार कार्य करने में कोई उत्साह नहीं दिखाते थे। निर्वाचन-प्रथा आरम्भ अवश्य कर दी गई थी, परन्तु मताधिकार अत्यधिक सीमित रखा गया था। प्रस्ताव में ग़ैरसरकारी अध्यक्ष के निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी परन्तु सरकार ने इस सुधार को स्थगित ही रखा था और सरकारी अध्यक्ष अब भी स्थानीय संस्थाओं का संचालन कर रहे थे। आर्थिक स्वतन्त्रता एक कोरी कल्पना थी। स्थानीय संस्थाओं में काम करने वाले सरकारी कर्मचारियों को अपना शासनपूर्ण व्यवहार त्याग कर स्थानीय जनता का सेवक बनना बड़ा कठिन लग रहा था। स्थानीय संस्थाओं के प्रतिदिन के कार्यों में हस्तक्षेप होता रहा और मैत्रीपूर्ण परामर्श कल्पना मात्र रह गई। परन्तु इसमें सारा दोष सरकार का ही नहीं था, निर्वाचित सदस्य भी उपाधियों के लोभ में पड़ कर सरकारी अधिकारियों को प्रसन्न करने का विशेष प्रयत्न करते थे और जनता की सेवा करना भूल जाते थे। मताधिकार की योग्यतायें बहुत ऊँची होने के कारण सेवा की भावना रखने वाले व्यक्ति पर्याप्त संख्या में नहीं मिल पाते थे और इस सब का परिणाम यह हुआ कि स्थानीय स्व-शासन की संतोषजनक प्रगति असम्भव हो गई। साइमन कमीशन (Simon Commission) की रिपोर्ट में इस स्थिति का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। रिपोर्ट के शब्दों में "भारत में सुधार-युग से पूर्व कुछ नगरपालिकाओं के अतिरिक्त वस्तुत: कोई ऐसी संस्थायें नहीं थीं जिन्हें ब्रिटिश आदर्श के अनुसार स्थानीय स्व-शासन की संस्थायें कहा जा सकता हो[1]।" सन् १९०७ ई० में नियुक्त किये जाने वाले विकेन्द्रीकरण कमीशन (Decentralisation Commission) ने भी अपनी जाँच के बाद यही निष्कर्ष निकाला था कि इस समय तक भारत में स्थानीय स्व-शासन को तनिक भी सफलता नहीं मिल सकी थी। कमीशन ने प्रचलित प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये कई सुझाव भी उपस्थित किये थे। इस सम्बन्ध में कमीशन की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :—

(१) स्थानीय स्व-शासन का आरम्भ गाँवों से होना चाहिये, अतएव प्रत्येक गाँव में एक पंचायत की स्थापना की जाय।

(२) स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो और उन्हें स्थानीय करारोपण तथा बजट-निर्माण की पर्याप्त शक्तियाँ दी जायँ।

---

1. "In effect outside a few municipalities there was in India nothing that we should recognise as local self-government of the British type before the era of Reforms (1919)."

(३) ज़िला तथा उपज़िला बोर्डों के सदस्य ग्राम्य पंचायतों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित हों और नगरपालिकाओं के सदस्य करदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित हुआ करें।

(४) नगरपालिकाओं के अध्यक्ष ग़ैरसरकारी व्यक्ति हुआ करें परन्तु ज़िले का कलक्टर ज़िला बोर्ड का अध्यक्ष बना रहे।

विकेन्द्रीकरण कमीशन की रिपोर्ट सन् १६०६ ई० में प्रकाशित हुई, परन्तु भारत सरकार इस सम्बन्ध में सन् १६१५ ई० तक किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी। सन् १६१५ ई० में लार्ड हार्डिञ्ज की सरकार ने इन सिफारिशों पर अपना प्रस्ताव प्रकाशित किया। परन्तु इस प्रस्ताव में भी कमीशन के सुझावों को बहुत संकोचपूर्वक स्वीकार किया गया था। वास्तव में विकेन्द्रीकरण कमीशन की रिपोर्ट के पीछे जो भावना थी, सरकार उसके अनुसार कार्य नहीं करना चाहती थी। उसका यह प्रस्ताव एक दिखावामात्र था।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि लार्ड मिण्टो ने विकेन्द्रीकरण कमीशन की रिपोर्ट से पहले ही मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व दे दिया था। स्थानीय संस्थाओं के विकास के लिये इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। प्रान्तीय सरकारों ने स्थानीय संस्थाओं में भी पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की। इस प्रकार साम्प्रदायिक द्वेष ने सेवा-भाव की हत्या कर दी और स्थानीय संस्थायें भी साम्प्रदायिक संघर्षों का अखाड़ा बन गईं।

स्थानीय स्व-शासन के विकास का अगला अध्याय अगस्त सन् १६१७ ई० की इतिहास-प्रसिद्ध घोषणा के साथ आरम्भ होता है। इस घोषणा में कहा गया था कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की उत्तरोत्तर प्राप्ति के लिये स्व-शासित संस्थाओं का क्रमिक विकास आवश्यक है।" माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट में भी यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया था कि "स्थानीय स्व-शासन ही वह क्षेत्र है जहाँ उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की दिशा में पहला क़दम उठाया जाना चाहिये और तदनुसार स्थानीय संस्थाओं में जनता का यथासम्भव पूर्ण नियन्त्रण तथा बाह्य नियन्त्रण से यथासम्भव अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये[1]।"

इस प्रकार सन् १६१६ ई० के सुधारों से पूर्व की स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। अभी तक की प्रगति बहुत धीमी थी। लार्ड रिपन ने स्थानीय

---

1. "Local self-government is the sphere where the first steps towards responsible government should be taken and accordingly, there should be, as far as possible, complete popular control in local bodies and the largest possible independence for them of outside control."

Montagu Chelmsford Report.

संस्थाओं को सरकारी हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण से मुक्त करने की साहसपूर्ण नीति का प्रतिपादन किया था परन्तु सरकारी क्षेत्रों में इस नीति को कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक साहस तथा दूरदर्शिता का अभाव था। स्थानीय संस्थाओं के साधन अपर्याप्त तथा आर्थिक अधिकार सीमित थे। सरकारी पदाधिकारी इन संस्थाओं के महत्व को समझने में असमर्थ थे। संस्थाओं की सदस्य-संख्या में सरकारी तथा नामज़द सदस्यों का अनुपात आवश्यकता से अधिक था। साइमन कमीशन के शब्दों में "सन् १९१९ ई० के सुधारों से पूर्व, भारत में स्थानीय स्व-शासन ब्रिटिश प्रणाली की अपेक्षा फ्रांसीसी प्रणाली के अधिक समान था। फ्रांस के डिपार्टमेण्ट (Department) के प्रीफेक्ट (Prefect) की भाँति भारत में जिले का सर्वोच्च पदाधिकारी (District Magistrate) भी उस जिले में कार्य करने वाला केन्द्रीय सरकार का एक पदाधिकारी था। जिला बोर्ड तथा बहुधा एक अथवा अधिक नगरपालिकाओं का अध्यक्ष होने के नाते वह अपने सरकारी समर्थकों की इच्छा का पालन करता था [1]।" परन्तु स्थानीय स्व-शासन जिलाधीश के अनेक उत्तरदायित्वों में से केवल एक था। उसका मुख्य उत्तरदायित्व जिले में शान्ति व्यवस्था स्थापित करना तथा राजस्व (revenue) एकत्रित करना था।

सन् १९१८ ई० में प्रकाशित होने वाले भारत सरकार के प्रस्ताव में माण्टेग्यू की प्रसिद्ध घोषणा द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिये स्पष्ट सुझाव रखे गये थे। इन सुझावों में निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण थे :—

(१) प्रस्ताव में यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था कि स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का यथेष्ट बहुमत होना चाहिये। सरकार ने विस्तृत मताधिकार के आधार पर एक स्थानीय निर्वाचक-मण्डल निर्माण करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया था। नामज़दगी का प्रयोग केवल अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिये ही रक्खा गया।

(२) प्रस्ताव में यह सिफारिश की गई थी कि स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्ष यथासम्भव गैरसरकारी व्यक्ति होने चाहिये।

(३) स्थानीय संस्थाओं को निश्चित सीमाओं के भीतर अपने कर घटाने-बढ़ाने, और अपने बजट बनाने का पूरा अधिकार दिया जाये। आय में से एक

---

1. "Prior to 1919 Reforms local self-government in India resembled the French rather than the British system. The district officer in India, like the French Prefect of a Department was an officer of the Central Government operating in a particular district. As chairman of the District Board and often of one or more Municipalities, he was carrying out the will of his official supporters."

निश्चित रकम विशेष कार्यों के लिये अलग कर देने की प्रणाली का अन्त करने की सिफारिश की गई। किन्तु प्रान्तीय सरकार का निरीक्षण तथा नियन्त्रण आवश्यक समझा गया।

(४) स्थानीय संस्थाओं पर प्रान्तीय सरकार के नियन्त्रण की मात्रा सुचारुता का ध्यान रखते हुये कम से कम होगी। परन्तु संस्थाओं के संकल्पों को स्थगित करने, अथवा उनके द्वारा उपेक्षित विषयों में स्वयं कार्यवाही करने, अथवा अपने कर्तव्यों की बार-बार तथा गम्भीर उपेक्षा करने पर संस्था का विलयन करने की सरकार की शक्ति पूर्ववत् बनी रहेगी।

(५) सामूहिक जीवन के विकास के लिये चुने हुये गाँवों में पंचायतों की स्थापना का सुझाव भी दिया गया था, परन्तु यह कह दिया गया था कि यह पंचायतें जिलाधीशों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा निर्देशन में कार्य करने वाले नियमित स्थानीय स्व-शासन का अङ्ग नहीं होंगी।

इस समय ब्रिटिश भारत में लगभग ७०० नगरपालिकायें, २०० ज़िला बोर्ड तथा ५४० उपज़िला बोर्ड अथवा तालुका बोर्ड थे।

सन् १६१६ ई० के भारत सरकार कानून के अन्तर्गत स्थानीय स्व-शासन एक हस्तान्तरित प्रान्तीय विषय हो गया। अब यह विभाग एक मन्त्री के अधीन हो गया जो विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार स्थानीय स्व-शासन के साथ भारत सरकार का कोई सम्पर्क नहीं रह गया और प्रान्तीय सरकारों को अपनी नीति स्वयं निर्धारित करने की पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय स्व-शासन के विकास की गति समान नहीं रह पाई। फिर भी इस दिशा में विभिन्न प्रान्तीय धारासभाओं ने समान कानून बनाये। उदाहरण के लिये लगभग सभी ने।

(१) स्थानीय संस्थाओं को लगभग पूर्णतया निर्वाचित बना दिया;

(२) मताधिकार बढ़ा कर निर्वाचक-मण्डल का विस्तार किया;

(३) अध्यक्ष-पद के लिये केवल गैरसरकारी व्यक्तियों के निर्वाचन की व्यवस्था की, और

(४) स्थानीय संस्थाओं को स्वतन्त्रता तथा अन्य शक्तियाँ प्रदान कीं।

सन् १६३७ ई० में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना का प्रभाव भी इन्हीं दिशाओं में पड़ा परन्तु इस प्रभाव का क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत अधिक विस्तृत था। कुछ प्रान्तों में नामज़द सदस्यता पूर्णतया समाप्त कर दी गई और इस प्रकार सच्चे स्थानीय स्व-शासन की नींव पड़ी। अभी तक जो व्यवस्था थी उसे स्थानीय शासन कहा जा सकता था, स्थानीय स्व-शासन नहीं।

सन् १६३७ ई० में मन्त्रि-पद ग्रहण करने के एक वर्ष पश्चात् संयुक्त प्रान्त

की कांग्रेस सरकार ने "स्थानीय स्व-शासन से सम्बन्धित तत्कालीन कानून तथा व्यवस्था के सब पहलुओं के स्वरूप तथा कार्य संचालन की परीक्षा करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। सन् १९३९ ई० में इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी दिया गया था कि भ्रष्टाचार और पक्षपात को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्षों के हाथ से नियुक्तियाँ करने का अधिकार छीन लिया जाय और यह तभी सम्भव है जब स्थानीय सेवाओं के नियन्त्रण के लिये सरकार एक स्थानीय स्व-शासन बोर्ड की स्थापना कर दे। यह सुझाव वास्तव में अन्य प्रान्तों के लिये भी अनुकरणीय था, परन्तु उसी वर्ष द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण यह कहीं भी कार्यान्वित नहीं हो सका।

संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) ने पंचायत राज कानून (१९४७) तथा जिला एवं नगर बोर्ड कानून (१९५०) बना कर भी अन्य प्रान्तों का पथ-प्रदर्शन किया। यह दोनों कानून इस प्रान्त में लागू हो चुके हैं और इनके परिणामस्वरूप स्थानीय स्व-शासन की संस्थाओं के अधिकारक्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार हुआ है।

भारत सरकार ने भी स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक पक्ष की ओर ध्यान दिया है। राजकुमारी अमृत कौर के शब्दों में "स्थानीय संस्थायें अपने अनेक तथा महत्व-पूर्ण कर्तव्यों का उचित निर्वाह इसलिये नहीं कर पाई हैं कि उनके आर्थिक साधन अपर्याप्त हैं।" सरदार पटेल ने भी कहा था कि यथेष्ट आर्थिक साधनों के अभाव में स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचक-मण्डल तथा अधिकारक्षेत्र का विस्तार एक मृत स्त्री का शृङ्गार करने के समान है। अतएव भारत सरकार ने स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक दशा का अन्वेषण करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की जिसकी रिपोर्ट सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुई। आशा की जाती है कि इस रिपोर्ट में दिये गये सुझावों के कार्यान्वित होने के पश्चात् स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक दशा में यथेष्ट सुधार हो जायेगा।

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने भी एक सहायक अनुदान कमेटी (Grants-in-aid Committee) नियुक्त की है। इस कमेटी से कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित करने के लिये कहा गया है जिनके अनुसार समय-समय पर स्थानीय संस्थाओं को सहायक अनुदान दिये जा सकें। इसकी रिपोर्ट की प्रतीक्षा की जा रही है।

इस प्रकार अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सब बातों को देखते हुये भारत में स्थानीय स्व-शासन को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। अनेक ऐसी नगर-पालिकाओं के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिन्होंने स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया है। परन्तु इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारे देश में अयोग्य अथवा भ्रष्ट स्थानीय संस्थाओं की संख्या सदा बहुत अधिक रही है। स्थानीय संस्थाओं के लोकतन्त्रीकरण ने हमारे सामने अनेक समस्यायें उत्पन्न कर दी

हैं। शासन की सुचारुता कम हो गई है, शक्ति का दुरुपयोग हुआ है और अपने सीमित तथा अपर्याप्त आर्थिक साधनों के कारण स्थानीय संस्थायें बहुधा अपने विषयों के प्रशासन से जनता को संतुष्ट नहीं कर पाती हैं। इसके अतिरिक्त, साम्प्रदायिकता के भूत ने स्थानीय राजनीति के क्षेत्र को भी अछूता नहीं छोड़ा है। आज हमें अनेक समस्याओं का समाधान करना है। और इन समस्याओं का समाधान अधिक समय तक नहीं टाला जा सकता है, क्योंकि स्थानीय स्व-शासन के बिना जनतन्त्र राज्य व्यर्थ है। हम लार्ड चेम्सफर्ड के शब्दों में कह सकते हैं कि "स्थानीय संस्थाओं की नींव तब तक सुदृढ़ न होगी जब तक कि उनका आधार विस्तृत न हो, और स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में मताधिकार का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग तथा प्रशासन-शक्ति का सुचारु उपयोग राजनैतिक शिक्षा की सबसे अच्छी पाठशाला है[1]।" अभी तक का हमारा अनुभव बहुत आशाप्रद अवश्य नहीं रहा है, परन्तु समय की प्रगति तथा शिक्षा के विकास के साथ स्थिति में सुधार होना अनिवार्य है।

---

1. 'Responsible institutions will not be stably rooted until they are broad based and that the best school of political education is the intelligent exercise of vote and the efficient use of administrative power in the field of local self-government."—*Lord Chelmsford.*

बीसवाँ अध्याय

देशी राज्य (१८५८-१९४७)

सन् १८५८ ई० से पूर्व की स्थिति—भारत सरकार तथा देशी राज्यों के सम्बन्धों का अध्ययन किये बिना भारत के संवैधानिक विकास का वर्णन अधूरा रह जाता है। सर विलियम ली वार्नर (Lee Warner) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "The Native States of India" में भारत के देशी राज्यों तथा अँग्रेज़ों के सम्बन्धों को तीन वैज्ञानिक कालों में विभाजित किया है:—(१) सन् १८१३ ई० तक तटस्थता (Ring Fence) का काल; (२) सन् १८१३ ई० से सन् १८५८ तक अधीनस्थ विलगता (Subordinate Isolation) का काल; और (३) सन् १८५८ ई० से प्रथम महायुद्ध तक अधीनस्थ योग (Subordinate Union) और इसके पश्चात् १९३५ तक अधीनस्थ सहयोग (Subordinate Cooperation) का काल। इस विभाजन में हम एक और चौथी सीढ़ी भी जोड़ सकते हैं—सन् १९३५ ई० के कानून द्वारा स्थापित समानाधिकारपूर्ण संघ-व्यवस्था (Equal Federation) का काल। तटस्थता काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी देशी राजाओं को स्वतन्त्र शासक मानकर उनके साथ तटस्थता तथा हस्तक्षेप न करने की नीति का व्यवहार करती रही। परन्तु वारेन हेस्टिंग्ज़ के समय से लेकर वेलेज़ली के शासन-काल तक इस प्रतिपादित नीति के अनेक महत्वपूर्ण अपवाद भी हुए। वेलेज़ली हस्तक्षेप न करने की नीति का प्रबल विरोधी था और उसकी 'सहायक सन्धियों' के कारण अँग्रेज़ों को देशी नरेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अनेक अवसर प्राप्त हुये। परन्तु वेलेज़ली के ये युद्ध अँग्रेज़ों के लिये बहुत महँगे सिद्ध हुये। अतएव सन् १८१३ ई० में लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने "अधीनस्थ विलगता" की नीति अपनाई। इस नीति के अनुसार देशी राज्यों के वैदेशिक सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार के अधीन करके उन्हें अपने पड़ोसी राज्यों से दूर रखा गया। परन्तु उनका आन्तरिक प्रशासन अँग्रेज़ों के प्रभावक्षेत्र से बाहर था। सत्य यह है कि ब्रिटिश सरकार उनके आन्तरिक प्रशासन में भी बराबर हस्तक्षेप किया करती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह नीति अनियमित, अनिश्चित तथा अवसरवादी थी।

सन् १८५८ ई० के बाद—सन् १८५८ ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया जिसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि देशी राज्यों के सम्बन्ध में अँग्रेज़ों की नीति बदल गई। सन् '५७ के विद्रोह के बाद ब्रिटिश

सरकार ने देशी राज्यों के प्रतिक्रियावादी तत्वों को अपने पक्ष में रखने की आवश्यकता का अनुभव किया। अतएव इन राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य के साथ रखने के उद्देश्य से अब 'अधीनस्थ योग' (Subordinate Union) की नीति अपनाई गई। यह नया सम्बन्ध सहयोग की भावना पर आधारित था। इसमें देशी राज्यों को सम्मान तथा उत्तरदायित्व का स्थान दिया गया। सन्धियों, सनदों तथा संविदाओं के साथ महारानी की घोषणा देशी राज्यों के लिये उनके महान् अधिकार-पत्र (Magna Charta) के समान थी। इस घोषणा में स्वयं महारानी ने कहा था : "हम अपने वर्तमान प्रादेशिक अधिकारक्षेत्र का विस्तार नहीं चाहते हैं।......हम देशी राजाओं के अधिकारों, उनकी मर्यादा तथा प्रतिष्ठा को अपना समझ कर उनका सम्मान करेंगे।" इससे देशी राजाओं को बड़ा सन्तोष हुआ। इसके अतिरिक्त हिन्दू तथा मुसलमान राज्यों को गोद लेने का अधिकार भी दे दिया गया था। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अब देशी राज्यों को उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता थी, क्योंकि वास्तव में अब भी प्रत्येक उत्तराधिकार के लिये भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। सन् १८८४ तथा १८९१ में इस आज्ञा की पुनरावृत्ति की गई। सन् १८९१ ई० में भारतमन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि "प्रत्येक उत्तराधिकार के लिये ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति आवश्यक है और बिना इस स्वीकृति के कोई उत्तराधिकार मान्य नहीं होगा।" शासन के दुरुपयोग अथवा विवादग्रस्त उत्तराधिकार की अवस्था में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप का अधिकार भी स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु अब इस प्रकार के हस्तक्षेप का अर्थ ब्रिटिश राज्यक्षेत्र का विस्तार नहीं था। फिर भी ब्रिटिश सरकार ने अनेक अवसरों पर इस अधिकार का प्रयोग किया। उदाहरण के लिये हम बड़ौदा (१८७३–७५) तथा मनीपुर (१८९१–९२) की घटनाओं को ले सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार की देशी राजाओं के प्रति कठपुतलियों के रूप में नहीं, बल्कि वास्तविक शासकों तथा प्रशासन के सजीव तत्वों के रूप में, परिरक्षण की घोषणा वास्तव में एक धोखा थी। यातायात के साधनों के विकास, समाचारपत्रों की उन्नति, अबाध व्यापार के विस्तार तथा सुशासन की बढ़ती हुई आवश्यकता के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार द्वारा देशी राज्यों के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप बढ़ता ही गया।

कर्जन का हस्तक्षेप—लार्ड कर्ज़न के वाइसराय काल में भारत सरकार के विदेश विभाग ने देशी राज्यों में प्रशासन-सुचारुता पर अधिकाधिक आग्रह करना आरम्भ कर दिया था। लार्ड कर्ज़न (१८९९-१९०५) की एक अधिसूचना (notification) में कहा गया था कि "देशी नरेश अपनी शक्ति का यथासम्भव अधिक प्रयोग भोगविलास अथवा मनोरंजनों की रक्षा में न करके अपनी प्रजा तथा उसके

प्रशासन के हित में किया करें[1] ।" लार्ड कर्ज़न ने देशी राज्यों को साम्राज्य के बन्धनों में अधिकाधिक कसने का बहुत अधिक प्रयत्न किया । उनकी 'अधीनता' नीति के प्रयोगकाल में राजनैतिक व्यवहार ने सभी देशी राज्यों को एक ही साँचे में ढाल दिया । डाडवेल (Dodwell) का यह कथन अधिकांशत: सत्य ही है कि "साम्राज्य की प्रभुत्व शक्ति व्यवहार-क्षेत्र में अलग-अलग राज्यों से सम्बन्धित ऐसे प्रकार्यों का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लेती है जिनका परिणाम उन राज्यों के आन्तरिक प्रशासन पर न्यूनाधिक नियन्त्रण होता है । यह शक्ति राज्य की अपनी ओर से की गई प्रार्थना पर परामर्शदान मात्र से आरम्भ होकर, अयाचित परामर्शदान की उस सीढ़ी को पार करती हुई जहाँ उस राज्य से परामर्श के अनुसार कार्य करने की आशा की जाती है, राज्य के प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण कर लेती है[2] ।" साम्राज्य के नियन्त्रण को दृढ़ करने के उद्देश्य से ही लार्ड कर्ज़न ने देशी नरेशों के पुत्रों की सैनिक-शिक्षा के लिये "इम्पीरियल केडेट कोर" (Imperial Cadet Corps) की स्थापना की थी। उसने देशी नरेशों के योरोप-भ्रमण पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये थे ।

सहयोग की नीति—लार्ड कर्ज़न की नीति से देशी नरेश संतुष्ट नहीं थे । एक देशी नरेश ने तो यहाँ तक कह डाला कि, "कहने के लिये तो हम शासक हैं परन्तु हमारे साथ व्यवहार ऐसा किया जाता है कि मानों नौकरों से भी गये बीते हों ।" परन्तु लार्ड हार्डिञ्ज के शासनकाल तक इस नीति में यथेष्ट परिवर्तन हो गया था और उन्होंने सन् १९१६ ई० में देशी नरेशों का वर्णन करते हुये उन्हें "साम्राज्य-शासन के महान् कार्य में सहायक तथा सहकर्मी[3]" बताया । उन्होंने साम्राज्य हित के विषयों तथा समस्त देशी राज्यों से सम्बन्धित प्रश्नों पर भारतीय-नरेशों से परामर्श करने की प्रथा आरम्भ की । लार्ड चेम्सफ़र्ड ने भी इसी नीति का अनुसरण किया ।

---

1. "The ruler shall devote his best energies not to the pursuit of pleasure, nor to the cultivation of absentee interests or amusements, but to the welfare of his own subjects and administration."—*Lord Curzon.*

2. "The Paramount Power in actual practice takes upon itself to perform functions in relation to individual States which involve varying degrees of control over their internal government, from mere advice upon the spontaneous request of a State, through the stage of unsolicited advice which the State is expected to follow right up to the stage of complete control of the whole administration of a State."

—*Dodwell.*

3. "The Indian Princes are helpers and colleagues in the great task of Imperial rule."—*Lord Hardinge.*

सन् १९१७ ई० में माण्टेग्यू के भारत-आगमन के समय, देशी नरेशों ने सामान्य हित के प्रश्नों पर अपने निश्चित विचार गवर्नर-जनरल के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये, एक अखिल भारतीय संगठन बनाने की इच्छा प्रदर्शित की थी। वे समझते थे कि ऐसा करने से वे राजनैतिक अभिकर्ताओं (political agents) के नियन्त्रण से बचते हुये साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता को अपनी संयुक्त शक्ति से प्रभावित करने में समर्थ हो सकेंगे। ब्रिटिश सरकार ने उनका यह सुझाव स्वीकार कर लिया और माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार-योजना के साथ-साथ, सन् १९२१ ई० में दिल्ली में, एक नरेश-मण्डल (Chamber of Princes) की भी स्थापना हो गई।

नरेश मण्डल—नरेश मण्डल की स्थापना के साथ देशी राज्यों के अधीनस्थ योग (Subordinate Union) सम्बन्ध का अन्त तथा सहयोग सम्बन्ध (Co-operation) का आरम्भ होता है। मण्डल में पहले वर्ग के राज्यों के १०८ नरेश तथा दूसरे वर्ग के १२७ राज्यों के १२ प्रतिनिधि सम्मिलित थे और शेष राज्यों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। मण्डल की सदस्यता अनिवार्य न होने के कारण हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, इन्दौर, ट्रावनकोर, ग्वालियर आदि बड़े बड़े राज्य उसमें सम्मिलित नहीं हुये। मण्डल की बैठकें दिल्ली में वाइसराय के सभापतित्व में होती थीं। मण्डल के सदस्यों में से ही उसके कुलपति (Chancellor) तथा उप-कुलपति (Pro-Chancellor) का निर्वाचन होता था। राज्यों से सम्बन्धित सामान्य प्रश्नों पर विचार करने तथा वाइसराय द्वारा निर्दिष्ट विषयों पर उसे परामर्श देने के लिये मण्डल की एक स्थायी समिति (Standing Committee) थी। यही स्थायी समिति भारतीय राज्यों से सम्बन्धित प्रश्नों अथवा ब्रिटिश-भारत तथा देशी राज्यों के समान हित के विषयों को वाइसराय के विचारार्थ प्रस्ताव रूप में प्रस्तुत करती थी। यह नरेश मण्डल वास्तव में एक अधिशासी संस्था नहीं था; इसके प्रकार्य मुख्यत: विचार, मन्त्रणा तथा परामर्श तक ही सीमित थे। इसे सन्धियों, राज्यों की आन्तरिक परिस्थिति, देशी नरेशों के अधिकारों, मान, शक्तियों तथा विशेषाधिकारों और व्यक्तिगत प्रश्नों पर विचार करने का भी अधिकार नहीं था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि नरेश मण्डल के अस्तित्व की कोई सार्थकता नहीं थी।

सार्वभौम शक्ति (Paramountcy) के विषय में मतभेद—जिस सहयोग नीति का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं उसके अतिरिक्त माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट में यह भी स्वीकार किया गया था कि "सभी सन्धियों में जो एक इस आशय की सामान्य धारा पाई जाती है कि देशी नरेश अपने राज्य का निरंकुश स्वामी रहेगा, और सरकार राज-दरबारों में अपने प्रतिनिधियों द्वारा राज्यों के प्रशासन में कोई हस्तक्षेप न करेगी, ऐसा न तो अभी तक हुआ है और न आज हो रहा है।" देशी नरेशों को इसके अन्तिम परिणाम की बड़ी चिन्ता हो रही थी और सन् १९२६ में हैदराबाद के

निज़ाम ने दावा किया कि विदेशी शक्तियों और विदेशी राजनीति से सम्बन्धित विषयों के अतिरिक्त अपने राज्य के आन्तरिक विषयों में हैदराबाद सदा उतना ही स्वतन्त्र रहा है जितना ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार।" अपने २७ मार्च सन् १६२६ ई० के पत्र में इसका उत्तर देते हुए लार्ड रीडिंग ने लिखा : "भारतवर्ष में ब्रिटिश सम्राट् की सत्ता सर्वोच्च है, अतएव किसी देशी राज्य का कोई शासक ब्रिटिश सरकार से बराबरी के स्तर से बात करने का उचित दावा नहीं कर सकता। ब्रिटिश सरकार की सर्वोच्च शक्ति किसी सन्धि अथवा समझौते पर आधारित न होकर इनसे विलग अपना अस्तित्व रखती है। देशी नरेश प्रभुत्व-सत्ता के जिन विभिन्न अंशों का प्रयोग करते हैं, वे सार्वभौम सत्ता (paramount power) के भारत भर में शांति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने के उत्तरदायित्व के पालन पर निर्भर हैं[1]।"

बटलर कमेटी—लार्ड रीडिंग के इस पत्र से देशी नरेशों को भारी धक्का लगा और उन्होंने नरेश मण्डल की एक बैठक करके निम्नलिखित अपनी तीन माँगें निश्चित कीं : (१) सार्वभौम शक्ति (Paramountcy) की परिभाषा की जाय; (२) यह घोषणा की जाय कि सार्वभौम शक्ति ब्रिटिश सम्राट् की है और भारत सरकार उसकी अभिकर्ता (agent) मात्र है; और (३) ब्रिटिश भारतीय करारोपण तथा आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप देशी राज्यों तथा उनकी प्रजा की क्षति हो रही है अतएव उन्हें केन्द्रीय राजस्व का कुछ अंश मिलना चाहिये। सन् १६२७ ई० में इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने के लिये बटलर कमेटी की नियुक्ति की गई। सन् १६२६ ई० के आरम्भ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। सार्वभौम शक्ति की कोई निश्चित परिभाषा करने में कमेटी ने अपने आपको असमर्थ पाया। उसकी रिपोर्ट में लिखा गया था : "सार्वभौम शक्ति के लिये (सर्वोच्च) प्रभुता-सम्पन्न रहना आवश्यक है।......(देशी) राज्य आगामी पीढ़ियों में अपनी रक्षा करने के लिये सार्वभौम-शक्ति और केवल सार्वभौम-शक्ति पर ही निर्भर रह सकते हैं। सार्वभौम शक्ति के माध्यम से विनाश अथवा विलयन की आशंका का निवारण किया जा सकता है।" कमेटी ने देशी नरेशों का स्वतन्त्र शासक होने का दावा स्वीकार नहीं किया। उसने यह धारणा भी अस्वीकार कर दी कि ब्रिटिश सम्राट् को देशी राज्यों के संदर्भ में केवल उतनी ही शक्तियाँ प्राप्त हैं जो

---

1. "The sovereignty of the British Crown is supreme in India and, therefore, no ruler of an Indian State can justifiably claim to negotiate with the British Government on an equal footing. Its supremacy is not based on treaties and engagements, but exists independently of them. The varying degrees of internal sovereignty which the rulers enjoy are all subject to the exercise by the Paramount Power of its responsibility to preserve peace and order throughout India."—*Lord Reading.*

सन्धियों तथा सनदों के अनुसार हों। उसने अपना निर्णय देते हुए कहा कि सार्वभौम सत्ता तथा देशी राज्यों का सम्बन्ध इतिहास और परम्परा पर आधारित एक सजीव एवं विकासशील सम्बन्ध है, उसे प्रसंविदामात्र समझना भूल है। परन्तु कमेटी ने इतना स्वीकार किया कि भविष्य में देशी राज्यों तथा सार्वभौम सत्ता के सम्बन्धों की रक्षा का कार्य भारत सरकार के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट् के वाइसराय नामधारी प्रतिनिधि द्वारा सम्पादित होना चाहिये। इसी आधार पर सन् १९३५ ई० के कानून के अन्तर्गत गवर्नर जनरल तथा वाइसराय के पदों को अलग कर दिया गया। परन्तु अब भी एक ही व्यक्ति इन दोनों पदों पर एक साथ कार्य कर सकता था। नरेशों की तीसरी माँग के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कमेटी ने कहा कि देशी राज्य केन्द्रीय राजस्व (revenue) के किसी अंश के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि इस प्रस्तावित सिद्धान्त के अनुसार ब्रिटिश भारत भी अपनी माँगें उपस्थित कर सकता था।

बटलर कमेटी ने एक और दिशा में अपनी दृढ़ धारणा व्यक्त करते हुए कहा कि "सार्वभौम सत्ता तथा देशी नरेशों के पारस्परिक सम्बन्ध की ऐतिहासिक प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुये, नरेशों को बिना उनकी सहमति के, ब्रिटिश भारत की व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी, किसी नई सरकार के हाथों में सौंप देना उचित नहीं होगा।" यह दृष्टिकोण नेहरू रिपोर्ट के सर्वथा विपरीत था। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि "भारतीय अधिराज्य (Dominion) की सरकार भी, आज की भारत सरकार के समान, सम्राट् की ही सरकार होगी।" बटलर कमेटी की इस सिफ़ारिश ने कम से कम थोड़े समय के लिये तो निश्चित रूप से ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के एकीकरण की सारी आशाओं पर पानी फेर ही दिया। भारत सरकार ने भी सितम्बर सन् १९३० ई० में संवैधानिक सुधारों के विषय में एक रिपोर्ट देते हुये इस बात की पुष्टि की कि सम्पूर्ण भारत का संघ अभी कोरा आदर्श है जिसकी प्राप्ति की निकट भविष्य में कोई आशा नहीं की जा सकती।

सन् १९३५ ई० की संघ-व्यवस्था में देशी राज्यों का स्थान—पहले गोलमेज़ सम्मेलन में स्थिति बदलने लगी थी और देशी नरेशों ने घोषणा कर दी कि यदि संघ-व्यवस्था का पूरा चित्र उनके सामने स्पष्ट हो और उन्हें अपनी सुविधा के अनुसार भाग्य-निर्णय की स्वतन्त्रता दे दी जाये, तो वे अपना मत अखिल भारतीय संघ के पक्ष में देंगे। भारत की नई सरकार के साथ अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार सम्बन्ध स्थापित करने का उनका अधिकार पहले ही स्वीकार किया जा चुका था। अतएव वे पहले इस नये सम्बन्ध का स्वरूप जान कर तब अपना निर्णय करना चाहते थे। सम्भवत: इसीलिये सन् १९३५ ई० के संविधान के अनुसार संघ में सम्मिलित होना प्रान्तों के लिये अनिवार्य परन्तु देशी राज्यों के लिये उनकी इच्छा पर निर्भर था। इतना ही नहीं, प्रस्तावित संघ राज्य की स्थापना यथेष्ट राज्यों के सम्मिलित होने पर

निर्भर बना दी गई थी। राज्यों के संघ में सम्मिलित होने की प्रणाली भी बड़ी विचित्र थी। संघ में सम्मिलित होने के इच्छुक राज्यों को एक प्रविष्टि-विलेख (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे और इस विलेख को सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही उन राज्यों की संघ-प्रविष्टि मान्य समझी जायेगी। विलेख में इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया था कि राज्यों पर, अपनी इच्छानुसार स्वीकृत विलेख की शर्तों के अतिरिक्त, संविधान द्वारा किसी प्रकार का प्रभुत्व नहीं लादा जायेगा। इस प्रकार देशी नरेशों को संघ में सम्मिलित होने का प्रलोभन देने के उद्देश्य से सम्पूर्ण संघ-योजना ही उनके पक्ष में ढाल दी गई थी। उदाहरण के लिये, संघीय विधानमण्डल में देशी राज्यों को उचित अनुपात से कहीं अधिक स्थान दिये गये थे। दूसरे, संघीय मन्त्रिमण्डल में उनका प्रतिनिधित्व आवश्यक बना दिया गया था। तीसरे, संघ में सम्मिलित होना सब प्रान्तों के लिये अनिवार्य था, परन्तु देशी राज्यों के लिये ऐच्छिक। चौथे, संघ तथा प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्यवस्था संविधान में ही कर दी गई थी, परन्तु संघ तथा देशी राज्यों का सम्बन्ध प्रविष्टि-विलेख की शर्तों पर निर्भर था। इस प्रकार प्रान्तों तथा देशी राज्यों के संघीय सम्बन्धों में तो अन्तर था ही, विभिन्न देशी राज्यों के सम्बन्धों में भी अन्तर होने की भारी सम्भावना उत्पन्न हो गई थी। और अन्त में देशी राज्यों को आर्थिक विशेषाधिकारों का भी आश्वासन दिया गया था। उन्हें अनेक अधिकार देकर उत्तरदायित्वों से मुक्त रखा गया था। इस प्रकार सन् १९३५ ई० की योजना में असमान अंगों के एक विचित्र संघ की कल्पना की गई थी।

परन्तु देशी राज्यों को इस स्थिति से भी संतोष नहीं हुआ और वे शीघ्र ही संघ-योजना की निन्दा करने लगे। उनके इस विरोध के दो मुख्य कारण थे। (१) जनतन्त्रात्मक आन्दोलन को देशी राज्यों में भी फैलते देखकर देशी नरेश आशंकित हो गये थे। (२) उन्हें भय था कि नई व्यवस्था में उनकी वर्तमान आन्तरिक स्वतन्त्रता भी कम हो जायेगी। उन्होंने पहले से आशा लगा रखी थी कि संघ-योजना के अन्तर्गत उन्हें वैदेशिक क्षेत्र में भी कुछ अधिकार प्राप्त होंगे और इस प्रकार उनके अधिकार-क्षेत्र का विस्तार होगा। परन्तु संविधान के अनुसार रक्षा तथा वैदेशिक सम्बन्ध गवर्नर-जनरल के आरक्षित विषय बना दिये गये थे। इसका अर्थ यह था कि इन विषयों पर अब भी सम्राट् की सरकार का नियन्त्रण था। इस प्रकार प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार तो दूर रहा, देशी नरेशों को अब अपने आन्तरिक प्रशासन में भी "जनतन्त्रात्मक" संघीय शासन का हस्तक्षेप स्वीकार करना पड़ रहा था। इस प्रकार का हस्तक्षेप न्यूनतम होने पर भी अन्ततः उनके अधिकारों का निराकरण ही था और अपनी राज्यसत्तात्मक प्रवृत्ति के कारण देशी नरेशों के लिये विशेष रूप से असह्य था। अतएव सन् १९३५ ई० की योजना के प्रान्तीय भाग के कार्यान्वित होने के बाद से ही

देशी राज्यों ने संघ की स्थापना का विरोध आरम्भ कर दिया।

उत्तरकालीन योजनायें—११ सितम्बर सन् १९३९ ई० को लार्ड लिनलिथगो ने संघ-योजना के परित्याग की घोषणा की और इसके साथ-साथ देशी राज्यों की उस महत्वपूर्ण स्थिति का भी अन्त हो गया जब वे संघ-प्रविष्टि अस्वीकार करके उत्तर-दायित्वपूर्ण केन्द्रीय शासन की स्थापना असम्भव बना सकते थे। अगली सरकारी योजना ने स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया, क्योंकि क्रिप्स योजना में मुख्यत: ब्रिटिश भारतीय राजनैतिक दलों को केन्द्रीय शासन के उत्तरदायित्व में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया था और देशी राज्यों को उससे बाहर ही रखा गया था। इस योजना में कहा गया था कि जो प्रान्त संघ में सम्मिलित होना अस्वीकार करें, उन्हें, उनकी इच्छानुसार भारतीय संघ के समकक्ष अधिकार दिये जायेंगे। परन्तु देशी राज्यों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा गया था कि कोई राज्य नये संविधान को स्वीकार करे या न करे, नई परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार उसकी सन्धि-व्यवस्थाओं के संशोधन की बातचीत आवश्यक होगी। इस प्रकार क्रिप्स-प्रस्ताव में ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी राज्यों द्वारा संघ की अस्वीकृति पर उनके लिये अलग-अलग व्यवस्था की गई थी। इस योजना में सम्पूर्ण भारत की एक संविधान सभा स्थापित करने का प्रस्ताव था और देशी राज्यों को भी अपनी जनसंख्या के अनु-पात में प्रतिनिधि नियुक्त करने का निमन्त्रण दिया गया था। क्रिप्स मिशन की अस-फलता के पश्चात् भारत के राजनैतिक संघर्ष की दिशा ही बदल गई और अत्यन्त गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में भी सन् १९४५ ई० के शिमला सम्मेलनों से पूर्व भारत के राजनैतिक गत्यवरोध (political deadlock) को दूर करने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया। और साम्प्रदायिक मतभेद के कारण यह सम्मेलन भी सफल न हो सके।

भारतीय समस्या को सुलझाने का अगला प्रयत्न मन्त्रिमण्डल मिशन ने किया जिसे इङ्गलैण्ड की मज़दूरदल की सरकार ने भारत भेजा था। मिशन के भारत-आगमन से पहले ही देशी राज्यों को यह आश्वासन दे दिया गया था कि यद्यपि आशा यही की जाती है कि देशी नरेश नई व्यवस्था का अकारण विरोध नहीं करेंगे तथापि ब्रिटिश सम्राट् देशी राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में बिना उनकी सहमति के, किसी प्रकार के परिवर्तन का विचार नहीं करते हैं। १२ मई सन् १९४६ ई० को मन्त्रिमण्डल मिशन ने देशी राज्यों के विषय पर अपना स्मृतिपत्र (memoran-dum) प्रकाशित किया। इसमें फिर इस बात की पुष्टि की गई थी कि देशी राज्यों तथा ब्रिटिश सम्राट् के सम्बन्धों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अधिकारों का अन्त हो जायगा और जो अधिकार उन्होंने अभी तक सार्वभौम सत्ता को दे रखे थे वे उन्हें वापस मिल जायेंगे। सार्वभौम सत्ता के व्यपगम से उत्पन्न होने वाले अभाव की

पूर्ति देशी राज्य स्वयं अलग-अलग अथवा मिलकर नये संघ में सम्मिलित होकर कर सकते हैं। मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना में देशी राज्यों द्वारा संघ-प्रवेश की निम्न-लिखित प्रणाली निर्धारित की गई थी:—

(१) ब्रिटिश सम्राट् सार्वभौम सत्ता को न तो अपने हाथ में रख सकता है और न नई सरकार को ही हस्तान्तरित कर सकता है। परन्तु देशी राज्यों से इस नई व्यवस्था में सहयोग की आशा की जाती है।

(२) देशी राज्यों के सहयोग का निश्चित स्वरूप संविधान-निर्माण के समय निर्धारित किया जायगा और इस सन्बन्ध में सभी राज्यों के बीच समानता आवश्यक नहीं है।

(३) संघ को दी हुई शक्तियों (अर्थात् रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और यातायात) के अतिरिक्त सारे अधिकार देशी राज्यों के हाथ में रहेंगे।

(४) संविधान सभा के कार्य में देशी राज्य अपने प्रतिनिधि भेजकर सहयोग देंगे और इन प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से अधिक नहीं होगी। राज्यों द्वारा प्रति-निधियों के निर्वाचन की प्रणाली का निर्णय एक संयुक्त मन्त्रणा समिति (Joint Negotiating Committee) करेगी जिसमें संविधान सभा तथा देशी नरेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।

(५) संविधान सभा के तीन वर्गों द्वारा प्रान्तीय तथा वर्गीय संविधान बन जाने के पश्चात्, तीनों वर्गों तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि संघीय संविधान के निर्माण के लिये फिर एकत्रित होंगे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना में देशी राज्यों के विषय में कोई सविस्तार व्यवस्था नहीं की गई थी, और संविधान सभा में देशी राज्यों के सहयोग से सम्बन्धित योजना के अस्पष्ट प्रावधानों के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था कि राज्यों का नियमित सहयोग किस समय से आरम्भ होगा। कांग्रेस की धारणा थी कि पूर्णतया विपरीत तत्वों को लेकर संविधान सभा का निर्माण असम्भव है, अतएव प्रान्तों तथा राज्यों में प्रतिनिधियों की निर्वाचन-प्रणाली लगभग समान ही होनी चाहिये। परन्तु इसके उत्तर में मन्त्रिमण्डल मिशन ने कहा कि यह प्रश्न देशी राज्यों के साथ परामर्श करके ही हल किया जा सकता है। जून सन् १९४६ ई० में नरेश-मण्डल (Chamber of Princes) ने संविधान सभा में देशी राज्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में मन्त्रणा करने के लिये एक प्रतिनिधि समिति नियुक्त की। दिसम्बर सन् १९४६ ई० में संविधान सभा ने भी नरेश मण्डल की मन्त्रणा समिति से परामर्श करने के लिये अपनी एक समिति नियुक्त की। उपरोक्त दोनों समितियों के बीच एक समझौता हुआ जिसका वर्णन संविधान सभा द्वारा नियुक्त समिति ने अपनी अप्रैल सन् १९४७ ई० में प्रकाशित रिपोर्ट में किया। २८

अप्रैल सन् १९४७ ई० से देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने संविधान-निर्माण के कार्य में योग देना आरम्भ कर दिया। देश के विभाजन के फलस्वरूप राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से घटा कर ९० कर दी गई।

सार्वभौम सत्ता का व्यपगम—सन् १९४७ ई० के भारतीय स्वतन्त्रता कानून ने देशी राज्यों को ब्रिटिश सम्राट् के प्रति सारे उत्तरदायित्वों से मुक्त कर दिया। १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को देशी राज्यों पर सम्राट् की सार्वभौम सत्ता व्यपगत हो गई और इसके साथ-साथ सारी सन्धियों तथा समझौतों, देशी राज्यों के संदर्भ में सम्राट् द्वारा प्रयोग किये जाने वाले प्रकार्यों, देशी राज्यों अथवा उनके नरेशों के प्रति सम्राट् के सारे उत्तरदायित्वों और सन्धि, सनद, व्यवहार, अनुमति अथवा अन्य किसी प्रकार से देशी राज्यों के सम्बन्ध में सम्राट् द्वारा प्रयुक्त सारी शक्तियों, अधिकारों, प्राधिकारों तथा क्षेत्राधिकारों का भी अन्त हो गया।

(भारतीय राज्यों के संघीकरण के लिये पुस्तक का चौबीसवाँ अध्याय पढ़िये)

तीसरा भाग

भारतीय गणराज्य

का

शासन

इक्कीसवाँ अध्याय

नये संविधान का निर्माण

भारत का राष्ट्रवादी जनमत बहुत दिनों से संविधान सभा की माँग को लेकर आन्दोलन करता आ रहा था। ब्रिटिश लोकसभा द्वारा भारत पर लादे गये संविधान उसे सह्य नहीं थे, इसी कारण उनका घोर विरोध किया जाता था। महात्मा गाँधी ने सन् १९२२ ई० में ही कह दिया था कि स्वराज्य ब्रिटिश संसद (British Parliament) की ओर से उपहारस्वरूप कभी नहीं मिलेगा। यह सम्भव है कि ब्रिटिश संसद कानून बना कर उसकी पुष्टि कर दे परन्तु इस पुष्टि के लिये भारतीय जनता की उद्घोषित इच्छा का आधार आवश्यक होगा। महात्मा जी के इस कथन में संविधान सभा की माँग अप्रत्यक्ष रूप में निहित थी। परन्तु संविधान सभा की प्रत्यक्ष माँग सबसे पहले पं० मोतीलाल नेहरू ने सन् १९२४ ई० में केन्द्रीय धारासभा में बोलते हुये उठाई और धारासभा के बहुमत ने उनका समर्थन किया। तत्पश्चात् सन् १९२७ ई० में काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने अन्य राजनैतिक दलों के परामर्श से भारत के लिये स्वराज्य संविधान के प्रारूप-निर्माण का बीड़ा उठाया। मूलाधिकारों की घोषणा पर आधारित यह संविधान एक सर्वदल सम्मेलन (All Parties Conference) के सम्मुख उपस्थित किया गया जिसकी बैठक सन् १९२८ ई० में पं० मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में हुई। परन्तु अगले वर्ष अपने लाहौर के अधिवेशन (१९२९) में स्वयं काँग्रेस ने ही अधिराज्य-आदर्श पर निर्मित इस योजना को पीछे छोड़ कर भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य की माँग उठाई। बिगड़ती हुई राजनैतिक परिस्थिति से काँग्रेस की इस माँग को और अधिक बल मिला कि भारत में एक संविधान सभा की स्थापना होनी चाहिये जो जनता से अधिकार प्राप्त कर नये भारत के लिये उचित संविधान बनाने के कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रयोग कर सके। सन् १९३७ ई० में काँग्रेस के फैज़पुर अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया: "काँग्रेस भारत में एक ऐसे वस्तुत: लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना के पक्ष में है जहाँ राजनैतिक शक्ति सामान्य जनता को हस्तान्तरित कर दी गई हो और शासन पर जनता का वास्तविक नियन्त्रण हो। ऐसे राज्य का जन्म केवल एक ऐसी संविधान-सभा के माध्यम से हो सकता है जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के अनुसार हुआ हो और जिसे देश के संविधान के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करने का

अधिकार प्राप्त हो[1] ।" रामगढ़ कॉंग्रेस (१९४०) ने भारत की अपनी संविधान सभा द्वारा अपने भाग्य निर्णय की माँग का एक बार फिर समर्थन किया।

ब्रिटिश सरकार ने अभी तक इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया था परन्तु काँग्रेस बार-बार यही माँग कर रही थी कि भारत में एक संविधान सभा की स्थापना होनी चाहिये। इस माँग की पहली स्वीकृति वाइसराय के ८ अगस्त सन् १९४० ई० के भाषण में व्यक्त की गई। लार्ड लिनलिथगो ने कहा : "इस बात का विशेष आग्रह किया गया है कि नई संवैधानिक योजना का निर्माण मुख्यत: स्वयं भारतीयों का ही उत्तरदायित्व हो और इस योजना का जन्म भारतीय जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्वरूप की भारतीय धारणा से ही हो। सम्राट् की सरकार इस आकाँक्षा से पूर्णतया सहमत है और इसकी पूर्णतम व्यावहारिक अभिव्यक्ति देखना चाहती है।·········सम्राट् की सरकार मुझे यह घोषणा करने का प्राधिकार देती है कि वह, युद्ध के उपरान्त, नये संविधान की रूपरेखा बनाने के लिये, भारत के राजनैतिक जीवन के मुख्य तत्वों को प्रतिनिधि एक संस्था की स्थापना को निस्संकोच स्वीकार कर लेगी, और वह सम्बन्धित प्रश्नों का शीघ्र निर्णय कराने में यथासम्भव और अधिक से अधिक सीमा तक, प्रत्येक सहायता भी करेगी।" इस प्रकार वाइसराय की घोषणा में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् एक संविधान सभा की स्थापना स्वीकार कर ली गई थी। सन् १९४२ ई० की क्रिप्स-योजना में इसका स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो गया। इस प्रस्ताव में प्रान्तीय विधान मण्डलों के निम्न आगारों की सम्पूर्ण सदस्य संख्या को एक निर्वाचक-निकाय (electoral college) का स्वरूप देकर अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation) के अनुसार संविधान सभा को निर्वाचन की व्यवस्था थी। संविधान सभा की सदस्य संख्या निर्वाचक निकाय की दशांश रखी गई थी। देशी राज्य भी अपनी जनसंख्या के उसी अनुपात में प्रतिनिधि भेज सकते थे जो ब्रिटिश भारत के लिये निर्धारित की गई थी। इस प्रकार भारत की प्रस्तावित संविधान सभा के सदस्यों की संख्या २०७ रखी गई थी जिनमें ब्रिटिश भारत से १५८ तथा देशी राज्यों से ४९ सदस्य होते। परन्तु क्रिप्स-योजना फलीभूत न हो सकी और उसकी असफलता के कारण भारतीय राष्ट्रवादियों का दृष्टिकोण अधिकाधिक कटु होने लगा। अस्तु, संघर्ष इसी प्रकार चलता रहा और

---

1. "The Congress stands for a genuine democratic State in India, where political power has been transferred to the people as a whole and the Government is under their effective control. Such a State can come into existence only through a constituent assembly, elected by adult suffrage and having the power to determine finally the constitution of the country."—*Congress Resolution at Faizpur.*

अन्त में मन्त्रिमण्डल मिशन "विषमता को सम बनाने तथा न सुलझने वाली समस्या को सुलझाने" की महत्वाकाँक्षा लेकर भारत आया। परन्तु उसकी महत्वाकाँक्षा भी पूरी नहीं हुई और तब उसने, १६ मई सन् १९४६ को अपनी योजना प्रकाशित की।

मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना का मूल आधार प्रान्तों का वर्गीकरण था जिसके अनुसार संविधान निर्माण के लिये ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के अ, ब तथा स वर्गों में विभाजन की व्यवस्था की गई थी। संविधान-सभा के लिये सब मिला कर ३८९ सदस्यों की व्यवस्था की गई थी जिनमें देशी राज्यों के ९३ प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। प्रारम्भिक अधिवेशन के पश्चात् सभा प्रान्तीय तथा वर्गीय संविधान बनाने के लिये उपरोक्त तीन वर्गों में विभाजित हो जायेगी। इसके बाद सब सदस्य संघीय संविधान निश्चित करने के लिये फिर एकत्रित होंगे। यह सदस्य प्रान्तीय विधान मण्डलों द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचित होंगे और प्रत्येक प्रान्त अथवा देशी राज्य के सदस्यों की संख्या उसकी जन संख्या के अनुसार (१० लाख पर एक सदस्य के हिसाब से) होगी। और कुल सदस्य संख्या को विभिन्न सम्प्रदायों के बीच उनकी जनसंख्या के अनुपात में बाँटा जायेगा। चुनाव के लिये भारत में केवल तीन बड़े सम्प्रदाय माने जाने की सिफारिश की गई थी (१) साधारण—इसमें हिन्दू, ईसाई, पारसी, दलित वर्ग आदि रक्खे गये, (२) मुस्लिम और (३) सिख। वर्गों को १० वर्ष की अवधि के पश्चात् संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था और ब्रिटिश सरकार ने इस संविधान सभा द्वारा स्वीकृत संविधान को लागू करने का आश्वासन दिया था।

मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना को आरम्भ में काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। अतः वाइसराय ने इस योजना के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों को चुनाव का आदेश दिया। निर्वाचन के फलस्वरूप ब्रिटिश भारत से काँग्रेस को २०५, मुस्लिमलीग को ७३ तथा स्वतन्त्र उम्मीदवारों को १८ स्थान प्राप्त हुये। इन स्वतन्त्र सदस्यों में ११ हिन्दू, ४ सिख तथा ३ मुसलमान थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं हुआ। चुनाव के बाद शीघ्र ही स वर्ग में आसाम प्रान्त की स्थिति तथा स्वयं संविधान-सभा के अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। इन दोनों प्रश्नों पर काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग की व्याख्याओं में मतभेद था। अतएव जिन्ना साहब ने लीग की पहले दी हुई स्वीकृति को अस्वीकृति में परिणत कर दिया। इसके पश्चात् लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) आरम्भ हुई और कलकत्ते में साम्प्रदायिक दङ्गा हुआ। इधर काँग्रेस ने अन्तर्कालीन सरकार (Interim Government) बनाना स्वीकार कर लिया और पं० जवाहरलाल नेहरू वाइसराय की कार्यपालिका सभा (Executive Council) के उपसभापति हुये। परन्तु अकेली काँग्रेस देश पर शासन करे यह लीग को सह्य न था, अतएव उसने भी कार्यपालिका कौंसिल में सम्मिलित होन

स्वीकार कर लिया। परन्तु लीग की अवरोध-नीति के कारण थोड़े ही समय में अन्त-कालीन सरकार का सुचारु रूप से संचालन असम्भव हो गया। इन कठिनाइयों का समाधान खोजने के लिये ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली ने काँग्रेस, मुस्लिम लीग तथा सिखों के प्रतिनिधियों को लन्दन में निमन्त्रित किया। परन्तु इस सम्मेलन का भी कोई फल नहीं निकला और ६ दिसम्बर सन् १९४६ ई० को ब्रिटिश सरकार ने एक वक्तव्य प्रकाशित करके मिशन योजना की वर्गीकरण धारा के सम्बन्ध में मुस्लिम लीग की व्याख्या का समर्थन किया। परन्तु मुस्लिम लीग ने इस घोषणा के बाद भी संविधान सभा का बहिष्कार नहीं तोड़ा और सभा की पहली बैठक ९ दिसम्बर को बिना लीगी सदस्यों के ही हुई। सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन के अध्यक्ष डा० सच्चिदानन्द सिन्हा थे परन्तु बाद में डा० राजेन्द्रप्रसाद उसके स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुये।

इस प्रकार भारतीय संविधान-सभा ने अत्यन्त गम्भीर वातावरण में अपना कार्य आरम्भ किया। इसका सबसे पहला कार्य नये संविधान के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण था। १३ दिसम्बर सन् १९४६ ई० को पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपना ऐतिहासिक 'उद्देश्य-प्रस्ताव' (Objectives Resolution) उपस्थित करते हुये इन उद्देश्यों की व्याख्या की। यह प्रस्ताव इस प्रकार था :—

"यह संविधान-सभा भारत को एक स्वाधीन, सम्पूर्ण सत्ताधारी गणराज्य घोषित करने तथा उसके आगामी शासन के लिये एक ऐसे संविधान के निर्माण का अपना दृढ़ एवं पवित्र संकल्प घोषित करती है

"जिसमें वर्तमान ब्रिटिश भारत का राज्यक्षेत्र, वर्तमान देशी राज्यों के राज्य-क्षेत्र, और भारत के वे अन्य भाग जो ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के बाहर हैं, और ऐसे अन्य भूखण्ड जो स्वतन्त्र, सम्पूर्ण सत्ताधारी भारत राज्य में सम्मिलित होना चाहते हैं, इन सब का एक संघ होगा; और

"जिसमें उपरोक्त भूखण्ड, अपनी वर्तमान सीमाओं में अथवा उन सीमाओं में जिन्हें संविधान सभा द्वारा, और उसके पश्चात् संविधान की विधियों के अनुसार निर्धारित किया गया हो, स्वायत्तशासी अङ्गों की स्थिति धारण करेंगे। अवशिष्ट शक्तियाँ उनके पास ही रहेंगी। और वे ऐसे अधिकारों एवं प्रकार्यों के अतिरिक्त जो संघ-शासन में निहित हों, अथवा उसे दिये गये हों, अथवा संघ सूची से उत्पन्न होते हों, सारे अधिकारों तथा प्रकार्यों का प्रयोग करेंगे; और

"जिसमें स्वतन्त्र, सम्पूर्ण सत्ताधारी भारत तथा उसके संविधायक भागों एवं शासन के अङ्गों का सारा अधिकार तथा प्राधिकार जनता से प्राप्त किया हुआ होगा; और

"जिसमें भारत के समस्त जनों को न्याय—सामाजिक आर्थिक और राज-

नैतिक, समता—प्रस्थिति, अवसर और कानून की; तथा कानून और सार्वजनिक सदाचार के अन्तर्गत विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, उद्यम, संघटन तथा कार्य की स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति तथा प्रतिभूति की जायगी; और

"जिसमें अल्पसंख्यकों, पिछड़े हुये तथा जनजातीय क्षेत्रों और दलित तथा अन्य पिछड़े हुये वर्गों के लिये यथेष्ट अभिरक्षणों की व्यवस्था की जायगी; और

"जिसके द्वारा न्याय और सुसभ्य राष्ट्रों के कानून के अनुसार गणतन्त्र के राज्यक्षेत्र की सुरक्षा तथा धरती, समुद्र एवं वायु पर उसके सम्पूर्ण सत्ताधारी अधिकार का संधारण किया जायगा; और

"जिसके द्वारा यह प्राचीन देश संसार में अपना उचित तथा प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर विश्वशांति तथा मानव-कल्याण की उन्नति में अपना पूर्ण एवं स्वेच्छापूर्ण योग दे सकेगा।"

संविधान सभा के पहले अधिवेशन में थोड़ा-सा प्रारम्भिक कार्य हुआ और अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों के लिये मन्त्रणा समितियाँ नियुक्त की गईं। कुछ दिनों के उपरान्त सभा स्थगित हो गई और उसका अगला अधिवेशन जनवरी में आरम्भ हुआ। काँग्रेस ने एक बार फिर मुस्लिम लीग को सभा की मन्त्रणाओं में योग देने के लिये निमन्त्रित किया परन्तु लीग टस से मस नहीं हुई और जब २० जनवरी सन् १९४७ ई० को सभा का दूसरा अधिवेशन आरम्भ हुआ, लीग का बहिष्कार पूर्ववत् चल रहा था। लीग के सहयोग की आशा में पहले उद्देश्य प्रस्ताव की स्वीकृति स्थगित कर दी गई थी, परन्तु इस बार २२ जनवरी को यह प्रस्ताव बड़े उत्साह के बीच स्वीकार कर लिया गया। इसके पश्चात् फरवरी में लीग ने पहले पंजाब के संयुक्त मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध और फिर पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के डाक्टर खान साहब के मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अपना अवैधानिक एवं हिंसात्मक आन्दोलन आरम्भ कर दिया। पञ्जाब में मन्त्रिमण्डल के पद-त्याग के बाद विस्तृत दंगे आरम्भ हो गये जिनमें निरीह हिन्दुओं तथा सिक्खों पर संगठित आक्रमण किये गये। ब्रिटिश नौकरशाही तथा मुसलमान अफसरों से लीगी मनोवृत्ति को सभी ओर प्रोत्साहन मिल रहा था। अतएव अन्तर्कालीन सरकार चाहते हुए भी इस कलह को रोकने में सफल नहीं हो सकी और अराजकता का क्षेत्र बढ़ने लगा। इस सब का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार का २० फरवरी सन् १९४७ ई० का वह वक्तव्य था जिसमें कहा गया था कि जून सन् १९४८ ई० तक अंग्रेज भारत छोड़ कर अवश्य चले जायेंगे। यह स्पष्ट था कि वर्तमान परिस्थिति का अन्त अराजकता तथा गृह-युद्ध में होगा। अतएव महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार को अविलम्ब भारत छोड़ देने का परामर्श दिया। उनकी धारणा थी कि एक बार भारत छोड़ देने का निश्चय करके अंग्रेजों का यहाँ बने रहना ही सारे झगड़े की

जड़ था। संक्षेप में, परिस्थिति इतनी अधिक गम्भीर हो गई थी कि काँग्रेस को अनिच्छापूर्वक तथा खेद के साथ देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

३ जून सन् १९४७ ई० को माउंटबेटेन-योजना प्रकाशित की गई जिसमें मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों के लिये भिन्न संविधान सभा की माँग स्वीकार कर ली गई थी। परन्तु इसके साथ-साथ इस योजना में यह भी स्वीकार किया गया था कि मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों के जिन ज़िलों में ग़ैर-मुस्लिम बहुमत हो वहाँ के निवासियों को स्वयं अपने भाग्य के निर्णय का अधिकार है। इसके लिये ऐसी व्यवस्था की गई थी कि पञ्जाब तथा बङ्गाल की धारा सभाओं के सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार मुस्लिम तथा ग़ैर-मुस्लिम बहुसंख्यक ज़िलों के सदस्य अलग-अलग बैठकें कर मतदान द्वारा यह निर्णय करें कि वे अपने प्रान्तों का विभाजन चाहते हैं अथवा नहीं और वे किस संविधान सभा में सम्मिलित होना चाहते हैं। सिन्ध में प्रान्त भर के सदस्य एक साथ मिल कर इस प्रश्न का निर्णय करेंगे और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में यह निर्णय सार्वजनिक मतगणना के द्वारा किये जाने की व्यवस्था थी। आसाम का सिलहट ज़िला आसाम में ही रहे अथवा पूर्वी बङ्गाल में सम्मिलित हो इसका निर्णय भी मतगणना पर ही छोड़ दिया गया था, परन्तु शेष आसाम हिन्दू बहुसंख्यक होने के कारण भारत में मिला दिया गया था। भारत-विभाजन की इस योजना को सभी राजनैतिक दलों ने स्वीकार कर लिया और अगस्त सन् १९४७ ई० तक यह कार्यान्वित भी हो गई। बङ्गाल और पञ्जाब का विभाजन कर दिया गया; पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिलहट तथा बिलोचिस्तान ने मतगणना द्वारा पाकिस्तान में सम्मिलित होने का निश्चय किया और सिन्ध तो उनका केन्द्र ही था। अब लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार का प्रश्न भी नहीं रह गया था और १० अगस्त १९४७ ई० से पाकिस्तान की संविधान-सभा ने कराँची में अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

इधर भारतीय संविधान-सभा ने भी अपने अधूरे कार्य में फिर हाथ लगाया और संविधान-निर्माण के साथ-साथ भारतीय संसद के प्रकार्यों का भी पालन करने लगी। परन्तु जबकि विभाजन के पूर्व संविधान सभा में ३८९ सदस्यों की व्यवस्था थी, विभाजन के उपरान्त उसमें केवल ३१० ही रह गए। २० अगस्त सन १९४७ ई० को सभा ने एक प्रस्ताव द्वारा एक प्रारूप-समिति (Drafting Committee) नियुक्त की। इस समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेदकर तथा सदस्य सर्वश्री गोपालस्वामी आय्यंगर, अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर, के० एम० मुंशी, मोहम्मद सादुल्ला, माधवराव, बी० एल० मित्तर तथा डी० पी० खेतान थे। इस समिति को संविधान सभा द्वारा नियुक्त संघ-शक्ति समिति (Union Powers Committee), संघीय संविधान समिति (Union Constitution Committee), प्रान्तीय संविधान समिति (Provincial Constitution Committee), अल्पसंख्यक मन्त्रणा समिति

(Advisory Committee on Minorities) आदि की रिपोर्टों पर किये गये सभा के निर्णयों के अनुसार संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया था। इन सब समितियों ने अपने कार्य-सम्पादन में अथक परिश्रम किया जिसके परिणामस्वरूप मार्च सन् १९४८ ई० में संविधान का प्रारूप प्रकाशित हो गया। इसके बाद संविधान सभा ने प्रारूप की धाराओं पर विस्तृत वादविवाद करके उनमें कुछ संशोधन किये। इस प्रकार २६ नवम्बर सन् १९४९ ई० को स्वीकृत होकर २६ जनवरी सन् १९५० ई० से यह नया संविधान भारत में लागू हो गया।

बाइसवाँ अध्याय

नये संविधान की विशेषतायें

अन्य संविधानों से उपयोजना—हमारे राजनैतिक नेतागण जिन सिद्धान्तों के लिये दीर्घकाल से साधना करते आये थे उन सबको नये संविधान में अभिव्यक्ति मिली है। इसका निर्माण संयुक्त राष्ट्र अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, आयरलैंड और इङ्गलैण्ड आदि अँग्रेज़ी-भाषी जनतन्त्रों के आदर्श पर किया गया है और सम्भवत: इसीलिये यह अत्यधिक विकासशील है। हमारे संविधान के विषय में यह कथन कि इसमें संसार के सब प्रमुख संविधानों के गुणों को एकत्रित कर दिया गया है, बहुत कुछ सत्य है। फिर भी इसका प्रधान स्रोत इङ्गलैण्ड का संविधान रहा है और ब्रिटिश प्रणाली के दीर्घकालीन राजनैतिक प्रशिक्षण के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था। संविधान की प्रस्तावना अमरीकी स्वातन्त्र्य-घोषणा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और हमारे सर्वोच्च न्यायालय का निर्माण भी अमरीकी उदाहरण पर ही किया गया है। कनाडा से हमने सबल संघ-शासन का सिद्धान्त लिया है जिसके अनुसार अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय शासन को सौंपी गई हैं। आस्ट्रेलिया के उदाहरण पर हमने समवर्ती शक्तियों की लम्बी सूची को अपनाया है। मूलाधिकारों तथा राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रावधान और राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा राज्य-परिषद् के सदस्यों की नामज़दगी की प्रणाली पर आयरलैण्ड के स्वतन्त्र राज्य की स्पष्ट छाप है और हमारे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन की उत्तरदायित्वपूर्ण तथा सांसद प्रणाली इङ्गलैण्ड के प्रभाव का परिणाम है। हमारी विधायी, आर्थिक तथा प्रशासी कार्य-प्रणाली भी ब्रिटिश उदाहरण के अनुसार ही बनाई गई है। इस प्रकार हमारे संविधान में सबसे अधिक इङ्गलैण्ड का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा कनाडा का भी प्रभाव संभवत: इसलिये पड़ा है कि अल्पसंख्यक जातियों, भाषा तथा धर्म पर आधारित वर्गों, स्थानीय प्रेम (local patriotism) की सबल भावना तथा तदुत्पन्न सबल केन्द्रीय शासन के विरोध, आदि की भारतीय समस्यायें संविधान निर्माण के समय उपरोक्त देशों के सामने भी थीं।

संविधान में १६३५ के सुधार क़ानून का भी स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह कहना ग़लत न होगा कि संविधान का आधार १६३५ का कानून है, केवल उसके दोष हटा दिये गये हैं। श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में, "संविधान की लगभग ७५ प्रतिशत धारायें १६३५ के कानून से ली गई हैं। अनुभव के आधार

पर इनमें परिवर्तन अवश्य किये गये हैं।" राष्ट्रपति को संकटकाल में असाधारण अधिकार देने वाली धाराओं तथा केन्द्र और राज्यों के बीच वैधानिक सम्बन्ध निश्चित करनेवाली धाराओं में १९३५ के क़ानून का प्रभाव स्पष्ट है। संविधान की संघीय, समवर्ती तथा राज्यों की सूचियाँ भी १९३५ के कानून के अन्तर्गत दी गई सूचियों पर आधारित हैं।

परन्तु हमारी अनेक अपनी विशेष समस्यायें भी थीं जिनके कारण हमारे लिये संविधान में अनेक नये प्रावधान रखना आवश्यक था। अतएव हमारे लिये संविधान-निर्माताओं ने भारतीय आदर्शों को भी संविधान में स्थान दिया है। वास्तव में हमारे संघवाद का निर्माण अन्य देशों के संविधानों के गुणों को लेकर हुआ है और हमने उनके दोषों से बचने का प्रयत्न किया है। अनेक बातों में हमारी व्यवस्था भारतीय परम्परा तथा आवश्यकताओं के पूर्णतया अनुरूप है। हमारे जनतन्त्र की रूपरेखा अँग्रेज़ी धारणाओं से घिरी अवश्य प्रतीत होती है और पूर्ण विकेन्द्रीकरण के अभाव में स्थानीय स्वशासन के अङ्ग अभी पूर्णतया स्वायत्तशासी नहीं हुये हैं, परन्तु संविधान में हमारी पंचायत प्रणाली के विस्तार के लिये यथेष्ट सम्भावना छोड़ दी गई है और यह एक प्रोत्साहन देने वाली बात है। हमारा संविधान जनतन्त्रवादी भारत के अभ्युत्थान की अग्रघोषणा है। समाजवादियों का यह आक्षेप कि संविधान "एक तानाशाही प्रवृत्ति का अनुदार प्रलेख है" वास्तव में मिथ्या तथा निराधार है।

एक विस्तृत तथा पूर्ण संविधान—भारत का संविधान एक विस्तृत तथा पूर्ण प्रलेख है। इसमें २२ विभागों में ३९५ अनुच्छेद तथा ८ अनुसूचियाँ हैं। वास्तव में संसार का कोई संविधान इतना व्यापक नहीं है। हमारा संविधान केवल केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन, विधानमण्डल तथा न्यायपालिका की शक्तियों इत्यादि के वर्णन तक ही सीमित नहीं है। उसमें जानपदत्व (नागरिकता), नागरिकों के मूलाधिकार, शासन नीति के निदेशक सिद्धान्त, संघ तथा राज्यों के विधायी तथा प्रशासी सम्बन्ध, अर्थ, सम्पत्ति, प्रसंविदा, व्यापार, वाणिज्य, सेवा-वर्ग, निर्वाचन, जनजातीय तथा अनुसूचित क्षेत्र, शासन की भाषा, आपात्कालीन प्रावधान, इत्यादि के सम्बन्ध में भी व्यापक व्यवस्था की गई है। इसके साथ-साथ अन्तर्कालीन व्यवस्था के लिये भी संविधान में कुछ विशेष उपबन्धों का वर्णन है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि संविधान इतना विस्तृत क्यों बनाया गया है? बहुधा कहा जाता है कि देश का संविधान संक्षिप्त होना चाहिये और कम से कम प्रशासन की विस्तृत व्यवस्था को उसमें स्थान नहीं देना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था से संविधान उपयोजनशील नहीं रह जाता है। व्यापक संविधान में संप्रतिज्ञा अथवा समझौते की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हमारे संविधान में भी परिपाटी अथवा विधायी आनिय-

मन के लिये बहुत थोड़ी सम्भावना छोड़ी गई है। परन्तु उपरोक्त आक्षेप पूर्णतया संगत नहीं हैं क्योंकि भारतवर्ष की परिस्थिति पाश्चात्य जनतन्त्रों की परिस्थिति से बहुत भिन्न है। हमारा जनसमूह निर्धनता तथा अज्ञान के भार से दबा हुआ है और हमारे राजनैतिक जीवन में जनतन्त्रात्मक परम्परा का अभाव है। इन कठिनाइयों को देखते हुये प्रशासन व्यवस्था का विस्तृत निर्धारण विधानमण्डल के हाथों में छोड़ देना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं होता। डाक्टर अम्बेदकर के अनुसार भारत में प्रजातंत्र की जड़ें इतनी मज़बूत नहीं थीं कि व्यवस्थापिका को शासन के रूप निश्चित करने का अधिकार दिया जाता। उससे इस अधिकार के उचित प्रयोग की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, हम आगे चल कर देखेंगे कि हमारा संविधान व्यापक होते हुये भी लचीला है।

सम्पूर्ण सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य—संविधान के आरम्भ में ही भारतवर्ष को एक "सम्पूर्ण सत्ताधारी प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य" (Sovereign Democratic Republic) घोषित किया गया है। उद्देश्य प्रस्ताव (Objectives Resolution) के "सम्पूर्ण सत्ताधारी स्वतन्त्र गणराज्य" (Sovereign Independent Republic) का यह परिवर्तित स्वरूप कुछ लोगों को बहुत अखरा। परन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि "सम्पूर्ण सत्ता" का प्रधान गुण स्वतन्त्रता है, अतएव उसके साथ "स्वतन्त्र" शब्द का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसके विपरीत "प्रजातन्त्रात्मक" शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आवश्यक था क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य की सारी शक्ति जनता की है और उसका प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों की सरकार द्वारा किया जा रहा है। प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली इस धारणा पर आधारित होती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों को पहचानने की शक्ति होती है, अतः उसे इच्छापूर्वक काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। प्रस्तावना में भारत को "सम्पूर्ण सत्ताधारी राज्य" घोषित किया गया है जिसका अर्थ यह हुआ कि देश पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। राज्य की प्रभुता के दो स्वरूप होते हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक प्रभुत्व से हमारा तात्पर्य उस सर्वोपरि सत्ता से है जो राज्य को अपने अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रदेश पर प्राप्त होती है। यह सत्ता राज्य की सीमाओं के भीतर सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समूहों से अधिक प्रबल होती है। बाह्य प्रभुत्व से हमारा तात्पर्य यह है कि एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य पर अन्य किन्हीं राज्यों का कोई ज़ोर अथवा दबाव नहीं हो सकता। वह इच्छानुसार आचरण कर सकता है और वैधिक दृष्टि से उसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय संधियों अथवा समझौतों का पालन करना भी आवश्यक नहीं होता। इस प्रकार दोनों स्वरूपों में प्रभुत्व का अर्थ स्वतन्त्रता है। भारत ने कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका का अनुसरण न करके, आयरलैंड के स्वतन्त्र राज्य की भाँति अपने संविधान में कहीं ब्रिटिश शासन-

सत्ता का उल्लेख नहीं किया है। संविधान में यह बात स्पष्ट है कि भारत अपने आन्तरिक तथा बाह्य दोनों विषयों में पूर्णतया स्वतन्त्र है। पं० नेहरू ने ठीक ही कहा था कि "ऐतिहासिक क्रियाओं के कारण भारतवर्ष का पूर्ण स्वतन्त्र गणराज्य होना अवश्यम्भावी है।" भारत आज किसी विदेशी शक्ति के नाममात्र को भी अधीन नहीं है। दूसरे, भारतीय शासन प्रजातन्त्रात्मक है क्योंकि अब सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों का अन्तिम निर्णय जनता की इच्छा के अनुसार ही होगा। प्रजातन्त्र उस राज्य की ओर संकेत करता है जिसमें जनता राज्य सत्ताधारी होती है और वह सरकार के कार्यों और राजनैतिक कार्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य का कार्य जनता के हित में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जायेगा, और जब जनता समझेगी कि उसके चुने हुये प्रतिनिधि उचित रूप से काम नहीं कर रहे हैं तो वह उनको हटाकर उनके स्थान पर नये प्रतिनिधि नियुक्त करेगी। हर्नशा (Hearnshaw) के शब्दों में प्रजातन्त्रात्मक राज्य में जनता सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण रखने तथा उसे हटाने वाली होती है। यह सत्य है कि भारतीय संविधान सभा का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से तथा वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था। इसका निर्वाचन प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा किया गया था जिनके चुनाव में १६३५ के कानून के अनुसार केवल १४ प्रतिशत भारतीयों को ही मत देने का अधिकार था। अत: आलोचकों का कहना है कि यह संविधान लोकतन्त्रात्मक नहीं है। इस रूप में संविधान पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक अवश्य नहीं है, और कहीं नहीं होता। परन्तु उस समय की परिस्थितियों में जहाँ तक सम्भव था हमने वास्तविक प्रतिनिधि-प्रजातन्त्रवाद की प्रणाली अपनाई जिसमें जनता की इच्छा का निर्माण और व्यक्तीकरण उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। जनमत को व्यक्त करने वाली केन्द्रीय संसद सर्वशक्ति सम्पन्न है। तीसरे, भारत एक गणराज्य है। इसका अर्थ यह है कि भारत का प्रधान कोई राजवंशी शासक नहीं है। देश की सरकार पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण है। जनता के प्रतिनिधियों को सर्वोच्च शक्ति दी गई है। भारत का अधिशासी सर्वोच्च पदाधिकारी गणराज्य का प्रधान है जो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित होता है तथा जनता के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल की सलाह से काम करता है।

राज्य का लौकिक स्वरूप—नये संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता धर्म-निरपेक्ष शासक की स्थापना भी है। हमारे राज्य का स्वरूप लौकिक है। लौकिक राज्य वह होता है जो अपने अधिकारों का प्रयोग मुख्यत: जनता के राजनैतिक कल्याण तथा उसकी आर्थिक उन्नति के लिये करता है। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता; धार्मिक विश्वास के प्रश्नों में वह पूर्ण तटस्थता की नीति का पालन करता है। वह किसी धार्मिक संस्था की स्थापना अथवा सहायता नहीं करता और

सरकारी शिक्षालयों में धार्मिक शिक्षण वर्जित कर दिया जाता है। हमारे संविधान का उद्देश्य एक ऐसे ही राज्य की स्थापना करना है। हमारे शासन का आधार किसी प्रकार धार्मिक नहीं है क्योंकि हमारा लक्ष्य एक "सम्पूर्ण सत्ताधारी प्रजा-तन्त्रात्मक गणराज्य" की स्थापना करने के साथ-साथ सभी भारतीय नागरिकों को "न्याय-सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, और उपासना की स्वतन्त्रता; प्रस्थिति और अवसर की समता" प्राप्त कराना, "तथा उन सब में बन्धुता, की वृद्धि करना भी है, जिससे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित हो"। इसका अर्थ यह हुआ कि हमने एक लौकिक प्रजातन्त्रात्मक राज्य की स्थापना की है जिसमें सभी नागरिक, बिना धर्म, अथवा जाति के भेदभाव के, समान सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों का उपभोग करते हैं। हमारा अभिप्राय वर्ग तथा जाति के उस सारे भेदभाव को मिटा देना है जिसे अंग्रेज़ों ने बढ़ावा दिया था। हम चाहते हैं कि धार्मिक अथवा आर्थिक अशक्तता के कारण किसी की क्षति न हो और मताधिकार तथा पदग्रहण के क्षेत्रों में सब नागरिकों के साथ समानता का व्यवहार किया जाये। लौकिक राज्य होने के नाते भारत जनता को, शान्ति तथा सुव्यवस्था की सीमाओं के भीतर, प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति करता है। वास्तविक राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति केवल सब नागरिकों में बन्धुत्व-भावना का वर्धन कर तथा व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित बना कर ही सम्भव है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक तथा धार्मिक जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। मूलाधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये विचार की तथा किसी भी धर्म के प्रतिपादन, व्यवहार अथवा प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति करते हैं। संक्षेप में धर्म से राज्य का कोई प्रयोजन नहीं है। राज्य तथा धर्म के क्षेत्र अलग-अलग हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संविधान एक नास्तिक राज्य की स्थापना करता है, न इसका यही अर्थ है कि नास्तिकों को विशेष सुविधायें प्रदान की जावेंगी। इसका वास्तविक अर्थ केवल यह है कि मनुष्य किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, वह राज्य की दृष्टि में समान है। यह लौकिक आदर्श हमारे राजनैतिक शरीर की आत्मा है और जब तक यह आत्मा उसमें रहेगी, शरीर भी प्राणमय, स्फूर्तिमय तथा रचनात्मक बना रहेगा।

परन्तु साधारणतया कट्टर हिन्दुओं तथा विशेषरूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेताओं की धारणा है कि लौकिक राज्य में नागरिकों के चरित्र-निर्माण के लिये उचित नैतिक अथवा आध्यात्मिक आदर्शों का अभाव होता है। ऐसे राज्य में हिन्दू संस्कृति उचित सरकारी प्रोत्साहन से वंचित रह जाती है। लौकिक राज्य धर्म तथा राजनीति के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्वीकार करता, परन्तु हमारे देश में, गत सहस्रों वर्षों से, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर धर्म का विस्तृत प्रभाव पड़ता रहा है। धर्म ने हमें सामाजिक मान्यतायें एवं आदर्श प्रदान किये हैं। धर्म हमारे

प्रगति के मार्ग में सदैव प्रेरक रहा है। इस आलोचना में सत्य का अंश हो सकता है, तथापि हमारी धारणा है कि आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये, भारत जैसे विशाल, तथा विभिन्न जातियों और विभिन्न धर्मों वाले देश में लौकिक राज्य का दृष्टिकोण ही श्रेयस्कर है।

मूलाधिकार—नये संविधान की एक अन्य मौलिक विशेषता यह है कि उसमें उन मूलाधिकारों की विस्तृत व्याख्या तथा घोषणा की गई है जिनका उपभोग भारतीय गणतन्त्र के समस्त नागरिक करते हैं और जिनका खण्डन न्यायालयों द्वारा दण्डनीय है। इसका अर्थ यह है कि यदि राज्य की कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिका नागरिकों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए दी गई सुविधाओं की प्राप्ति में कोई अड़चन डाले तो नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। इङ्गलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के संविधानों के प्रतिकूल हमारे संविधान में इन अधिकारों की व्यापक व्यवस्था की गई है। संविधान के तीसरे भाग में इन अधिकारों का वर्णन निम्नलिखित सात वर्गों के अन्तर्गत किया गया है:—(१) समताधिकार; (२) स्वातन्त्र्याधिकार; (३) शोषण के विरुद्ध अधिकार; (४) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार; (५) सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार; (६) साम्पत्तिक अधिकार; तथा (७) संवैधानिक उपचाराधिकार। हमारे संविधान के यह मूलाधिकार, जिनका हनन अथवा अवरोध विधि द्वारा दण्डनीय है, अमरीकी संविधान के अधिकार पत्र से कहीं अधिक प्रगतिशील हैं। वास्तव में संसार के किसी प्रजातन्त्रवादी संविधान में अधिकारों की इतनी विस्तृत व्यवस्था नहीं की गई है। इनके कारण बुद्धिवादी दार्शनिक से लेकर अपढ़ गवाँर ग्रामीण तक सभी वर्गों के भारतीय, पाश्चात्य प्रजातन्त्रवादी संस्थाओं का यथेष्ट और जीवन के सभी क्षेत्रों में, अनुभव कर सकते हैं। (इन सब अधिकारों की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की गई है)

निदेशक सिद्धान्त—राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों की व्यवस्था भी एक संविधान की विशेषता है क्योंकि आयरलैण्ड के संविधान को छोड़ कर संसार के किसी संविधान में इस प्रकार की धारणा का उल्लेख नहीं मिलता है। मूलाधिकारों से सम्बन्धित प्रावधानों में उन बातों का उल्लेख किया गया है जो राज्य को नहीं करनी चाहिये, परन्तु राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रावधानों में उन बातों का उल्लेख है जिनके करने का राज्य को प्रयत्न करना चाहिये। मूलाधिकारों का सम्बन्ध राजनैतिक प्रजातन्त्रवाद से है और राज्य के निदेशक सिद्धान्त समान महत्त्व वाले आर्थिक प्रजातन्त्रवाद का परिपोषण करते हैं। संविधान के चतुर्थ भाग में इन नीतियों का वर्णन किया गया है और देश के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन में इनका पालन आवश्यक घोषित किया गया है। संविधान के तत्सम्बन्धी अनुच्छेदों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विधि-निर्माण में इन सिद्धान्तों का

प्रयोग राज्य का कर्त्तव्य होगा। परन्तु निदेशक सिद्धान्त न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। इन सिद्धान्तों में राज्य को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का आदेश दिया गया है जिसमें सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त हो, जिसमें विशेष रूप से सभी नागरिक, स्त्री तथा पुरुष, जीविकोपार्जन के यथेष्ट साधनों और धन के उचित वितरण, समान कार्य के लिये समान पारिश्रमिक, स्वास्थ्य-संधारण तथा शोषण से रक्षा, आदि अधिकारों का उपभोग करते हों। इसके अतिरिक्त राज्य को अधिशासन तथा न्यायपालिका के पृथक्करण तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुव्यवस्था के वर्धन की दिशा में प्रयत्न करने का भी आदेश दिया गया है। (राज्य के निदेशक सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण भी अगले अध्याय में किया गया है।)

अस्पृश्यता का अन्त तथा पिछड़े हुये वर्गों का हित-रक्षण—संविधान के १७ वें अनुच्छेद में कहा गया है कि अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप में आचरण वर्जित होगा। अस्पृश्यता-जन्य किसी निर्योग्यता (disability) को लागू करना विध्यनुसार दण्डनीय अपराध होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि देश के किसी भी भाग में, किसी भी रूप में अस्पृश्यता प्रचलित नहीं रह सकती और इस प्रकार हमारे अतीत के एक महान् अभिशाप का सदा के लिए अन्त हो गया है। संविधान में देश की पिछड़ी हुई जातियों के लिये भी, जो शिक्षा के अभाव तथा अन्य असमर्थताओं के कारण देश के वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक शासन में उचित भाग नहीं ले सकती हैं, विशेष प्रावधान किये गये हैं। अनुसूचित क्षेत्रों अथवा अनुसूचित जातियों के शासन में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये विशेष प्रबन्ध किया गया है और जिन राज्यों में अनुसूचित क्षेत्र अथवा जातियाँ स्थित हैं उनके राज्यपालों अथवा राजप्रमुखों और भारत के राष्ट्रपति को उनके कल्याण-वर्धन का विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया है। संविधान में कहा गया है कि गण-राज्य की स्थापना के समय से दस वर्ष तक लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों के लिये एक विशेष पदाधिकारी भी होगा जिसकी नियुक्ति स्वयं राष्ट्रपति किया करेगा और जो इन जातियों के लिये किये गये अभिरक्षणों से सम्बन्धित प्रश्नों की जाँच पड़ताल करेगा।

शासन का सांसद स्वरूप—अधिशासन व्यवस्था के दृष्टिकोण से हमारे संविधान में इङ्गलैण्ड तथा अन्य अधिराज्यों की सांसद प्रणाली (Parliamentary system) का अनुकरण किया गया है। संयुक्त राज्य अमरीका की अध्यक्षात्मक पद्धति (Presidential system) का नहीं। सांसद शासन वह होता है जिसमें अधिशासी वर्ग, अर्थात् मन्त्रिमण्डल प्रत्यक्षरूप से लोकसभा के प्रति, परन्तु अन्ततः जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य का प्रधान शोभामात्र होता है; उसकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं होतीं (२) वास्तविक अधिशासी शक्ति विधानमण्डल के नेताओं द्वारा निर्मित मन्त्रिमण्डल में निहित होती है; (३) मन्त्रिमण्डल के सदस्य विधान सभा के सदस्य होते हैं तथा उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं; और (४) मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल का विलयन कर जनमत से अपील करने का अधिकार होता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक पद्धति में अधिशासन के पदधारण-काल पर विधानमण्डल का कोई नियन्त्रण नहीं होता। उसका जीवनकाल पूर्व निश्चित रहता है और वह अपनी नीति के लिये किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। यह पद्धति विधायी तथा अधिशासी शक्तियों के पृथक्करण पर आधारित होती है। इसमें अध्यक्ष की शक्तियाँ वास्तविक होती हैं, उसके मन्त्री सेवक मात्र होते हैं और अध्यक्ष तथा उसके मन्त्री विधानमण्डल के सदस्य नहीं होते। इतना समझ लेने के पश्चात् अपने नये संविधान पर दृष्टिपात करने पर हम देखेंगे कि यद्यपि शक्ति तथा मर्यादा में हमारे गणराज्य का अध्यक्ष (राष्ट्रपति) संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अध्यक्ष से कम नहीं है, तथापि वास्तव में यह समानता केवल बाह्य है, वास्तविक नहीं। हमारा राष्ट्रपति अमरीका के अध्यक्ष की भाँति स्वतन्त्र तथा अनुत्तरदायी नहीं है। वह इङ्गलैण्ड के सम्राट् की भाँति, वैधानिक प्रधान मात्र है। अमरीका में प्रधान मन्त्रिमण्डल का सञ्चालन करता है, भारत में मन्त्रिमण्डल प्रधान का सञ्चालन करेगा। अमरीका के मन्त्री सचिव मात्र होते हैं, वे विधानमण्डल के सदस्य भी नहीं होते। हमारे मन्त्री लोकसभा के सदस्य तथा उसके प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी हैं। अतएव हमारे संविधान में अधिशासी तथा विधायी प्रकार्यों का एकीकरण मिलता है। यहाँ शासन की समस्त प्रशासी, विधायी तथा आर्थिक नीति का उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल पर है। मन्त्रिमण्डल तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक उसको लोकसभा का विश्वास प्राप्त है। इस प्रकार भारतीय संविधान सांसद पद्धति की स्थापना करता है। परन्तु साथ ही संविधान में कुछ ऐसी धारायें हैं जो अध्यक्षात्मक प्रणाली में पाई जाती हैं और सांसदपद्धति में नहीं होना चाहिये; उदाहरणार्थ राष्ट्रपति या राज्यपाल अथवा राजप्रमुख विधानमण्डल द्वारा पास किसी बिल को फिर से उसके विचारार्थ वापस भेज सकते हैं। राष्ट्रपति को संसद में सन्देश भेजने का भी अधिकार दिया गया है जो सांसद पद्धति के विरुद्ध है।

सबल केन्द्रीय शासन तथा संघ राज्य—शासन की शक्तियों के विभाजन के दृष्टिकोण से अपने संविधान की व्याख्या करने पर हम देखते हैं कि वह संयुक्त-राष्ट्र अमरीका के संविधान की भाँति संघात्मक है, ब्रिटेन अथवा फ्रांस की भाँति एकात्मक नहीं। संघात्मक शासन उसे कहते हैं जिसमें सम्पूर्ण शासन शक्ति संविधान द्वारा केन्द्रीय शासन तथा उसके विभिन्न अंगों के शासन के बीच विभाजित रहती

है। अतएव यह एक प्रकार की द्वैध शासन-पद्धति होती है। परन्तु एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्र में स्थित होती है। संघात्मक शासन के भी कई प्रकार हैं; कोई संघ सबल होते हैं, कोई दुर्बल। उदाहरण के लिये अमरीका अथवा आस्ट्रेलिया के संघ राज्य दुर्बल कहे जा सकते हैं, क्योंकि वहाँ अवशिष्ट शक्तियाँ (residuary powers) राज्यों अथवा अंगों में निहित मानी गई हैं। हमारे संविधान में सम्पूर्ण अधिशासी एवं विधायी अवशिष्ट शक्ति संघीय शासन को सौंप दी गई है। समवर्ती सूची (concurrent list) के विषय में भी संघ-संसद द्वारा निर्मित कानूनों को राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा निर्मित कानूनों पर प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है। वास्तव में हम अपने केन्द्रीय शासन को इतना सबल बना देना चाहते हैं कि प्रणाली द्वैध होते हुए भी देश की एकता के लिये आवश्यक सभी मूल विषयों में समानता बनी रहे। अमरीकी उदाहरण के विपरीत हमारी प्रणाली द्वैध होगी, परन्तु नागरिकता सारे संघ में एक ही होगी। सम्पूर्ण भारत के लिये केवल एक नागरिकता की ही व्यवस्था की गई है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय संघ की नागरिकता और राज्यों की नागरिकता अलग-अलग नहीं होगी। प्रत्येक भारतीय को, वह चाहे जिस राज्य का निवासी क्यों न हो, नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति हमारे यहाँ दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं है। इसके अतिरिक्त अमरीका में प्रत्येक राज्य को अपना संविधान स्वयं निर्माण करने का अधिकार है, परन्तु भारत के राज्यों को यह अधिकार नहीं दिया गया है। यहाँ केन्द्र तथा राज्यों के शासन की एक ही सविधान में व्यवस्था की गई है जिसके बाहर कोई पक्ष नहीं जा सकता और जिसके भीतर दोनों को कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार हमारे संविधान-निर्माताओं ने देश में एक आश्चर्यजनक राजनैतिक एकता उत्पन्न कर दी है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इन सब अंगों के कानून समान होंगे, न्याय-व्यवस्था समान होगी और शासन तथा प्रशासन की प्रणाली समान होगी। और यदि राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा कर दे तो संघ के हाथ में इतने अधिकार आ जाते हैं कि सरकार का स्वरूप ही संघात्मक न रहकर एकात्मक हो जायगा। इस प्रकार हमारे संविधान में संघात्मक पद्धति के अन्तर्गत स्थानीय विभिन्नताओं और हितों की व्यवस्था करते हुए देश की अधिकतम राजनैतिक एकता का सुनिश्चयन किया गया है। सबल केन्द्रीय शासन की व्यवस्था आधुनिक संघराज्यों की अवश्यम्भावी प्रवृत्ति के अनुकूल भी है। स्वयं अमरीका में भी इसी प्रवृत्ति का विकास हो रहा है।

वयस्क मताधिकार—प्रजातन्त्रवाद में जनता का विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त अपना कर हमारे संविधान ने अत्यधिक साहस का प्रदर्शन किया है। निकट अतीत के अनुभवों के दृष्टिकोण से अपने संविधान

के वयस्क मताधिकार सम्बन्धी प्रावधानों की परीक्षा करने पर हमें आश्चर्य होता है कि हमें कितनी अधिक स्वतन्त्रता दे दी गई है। हमारे देश के इतिहास में पहले कभी इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी गई थी। १९३५ के सुधार कानून के अन्तर्गत भी केवल १४ प्रतिशत भारतीयों को मताधिकार प्राप्त था। अब नये संविधान के अन्तर्गत देश का प्रत्येक नागरिक, स्त्री अथवा पुरुष, जिसकी अवस्था २१ वर्ष से अधिक है, परन्तु जो अनिवास, मानसिक विक्षेप, अपराध अथवा अवैध भ्रष्टाचार के कारण निर्योग्य नहीं प्रमाणित हो चुका है, धर्म, जाति अथवा वर्ण के भेदभाव बिना, लोक-सभा और प्रान्तीय विधानमण्डलों के निर्वाचनों के लिये मतदाता होने का अधिकारी है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकायें वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित विधानमण्डलों के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी होगी।

साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों का अन्त—नये संविधान ने सम्प्रदायवाद का समूल अन्त करने का प्रयत्न किया है। इसने सामान्य तथा साधारण-मताधिकार की प्रतिष्ठा कर जनता के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है। सन् १९०९ ई० से मुसलमानों, सिखों, एँग्लो-इण्डियनों, भारतीय ईसाइयों आदि को उदारतापूर्वक पृथक निर्वाचन क्षेत्र दिये जा रहे थे। नये संविधान ने इनका अन्त कर दिया है। पृथक निर्वाचन क्षेत्रों के कारण भारत कभी एक होकर अँग्रेज़ों का विरोध नहीं कर पाया। इसके कारण हमारे राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में गहरी फूट पड़ गई जो अन्त में पाकिस्तान के रूप में प्रतिफलित हुई। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की यह 'विभाजन नीति' हिन्दुओं तथा मुसलमानों, और हिन्दुओं तथा सिखों तक को सम्मिलित विचार, अनुभूति अथवा जीवन-यापन का अवसर नहीं देती थी। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के कारण उत्पन्न होने वाली कलह भारत की राष्ट्रीय एकता को धक्के पर धक्का लगा रही थी। नये संविधान ने उन सारे विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया है जिनके कारण भारतवासी इस प्रकार की कलहपूर्ण साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में उलझ रहे थे। परन्तु पिछड़े हुये वर्गों को उनके वर्तमान निम्न स्तर से उठाने तथा उनमें सामाजिक एवं राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से उनके लिये अस्थायी रूप से दीर्घानुपात तथा विशेषाधिकारों की व्यवस्था की गई है। साम्प्रदायिकता हमारे प्रगति-पथ की सबसे बड़ी रुकावट थी और बिना इस अभिशाप का अन्त किये सुदृढ़ नींव पर राष्ट्रीय एकता की स्थापना सम्भव नहीं थी।

सबल तथा समन्वित न्यायपालिका—नये संविधान में भारत के इतिहास में अभूतपूर्व, सबल, स्वतन्त्र तथा समन्वित न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। सन् १९३५ ई० के कानून द्वारा स्थापित संघीय न्यायालय राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से नितान्त असन्तोषकर था। उसे अपने निर्णयों के विरुद्ध इङ्गलैण्ड की प्रिवी कौंसिल में अपीलें रोक सकने का अधिकार नहीं था और संवैधानिक विषयों में भी उसका

क्षेत्राधिकार पुनरीक्षण (appeal) से मुक्त नहीं था। देश में व्यवहार तथा दण्ड न्याय (civil and criminal justice) की व्यवस्था से भी उसका विशेष सम्बन्ध नहीं था। परन्तु अब हमने संविधान के एक सच्चे संरक्षक तथा सब प्रकार की विधियों के लिये, और भूतपूर्व देशी राज्यों सहित सारे देश के लिये, एक वस्तुत: स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की है। अब राज्यों के मध्य विवादों के निर्णय, नागरिकों के मूलाधिकारों के अभिरक्षण और सब प्रकार के संवैधानिक, व्यवहार तथा दण्ड विवादों (civil and criminal disputes) के लिये भारत के सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। इस न्यायालय के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में स्थित उच्च तथा अधीन न्यायालयों की एक समन्वित पद्धति है जो सम्पूर्ण देश में समान विधियों की व्यवस्था करेगी।

आपातकालीन प्रावधान—हमारे संविधान की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके आपात-कालीन प्रावधान सरलतापूर्वक हमारी संवैधानिक व्यवस्था तथा उसके प्रकार्यों का पूरा स्वरूप बदल सकते हैं। आपात-काल में सम्पूर्ण संघीय शासन इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है मानों वह आरम्भ से ही एकात्मक रहा हो। संविधान के ३५२ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा आपात-काल की घोषणा होते ही पूरा चित्र बदल जाता है और केन्द्रीय शासन को समस्त विधायी तथा अधिशासी प्रकार्यों के प्रयोग की शक्ति प्राप्त हो जाती है। समन्वित प्रशासन तथा सबल केन्द्रीय शासन के अभाव में इस प्रकार की सुविधा असम्भव हो जाती। आपातकालीन प्रावधानों ने इस बात का सुनिश्चयन कर दिया है कि साधारणतया प्रशासन-शक्ति केन्द्र तथा विभिन्न अंगों के बीच विभाजित रहेगी, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर सारे प्राधिकार केन्द्रित करके संयुक्त मोर्चा उपस्थित किया जा सकता है।

संशोधन की सरल विधि—और अन्त में, हमारे संविधान की एक विशेषता यह है कि इसमें एक परिवर्तनशील संघ राज्य (flexible federation) की व्यवस्था की गई है। साधारणतया यह अनुभव किया गया है कि राजनैतिक दलबन्दी के परिणामस्वरूप होनेवाले संकीर्ण तथा अवाँछनीय परिवर्तनों से संविधान का अभिरक्षण करने के लिये शक्तियों का विभाजन आवश्यक है। और इसी कारण संसार के अधिकतर संघीय संविधान अपरिवर्तनशील (rigid) हैं। परन्तु अपरिवर्तनशीलता और विधिवाद (legalism) की कठिनाइयों के निवारण में हमारा संविधान आस्ट्रेलिया से भी आगे है। उपरोक्त दोनों दोषों को कम करने के लिये इसमें निम्नलिखित उपायों से काम लिया गया है:—(१) समवर्ती विषयों की एक लम्बी सूची; (२) कुछ ऐसे प्रावधान जो उस समय तक मान्य रहेंगे जबतक लोकसभा विधि द्वारा उनका विखण्डन न करे; (३) कुछ परिस्थितियों में लोकसभा को राज्य-विषयों पर

भी विधि-निर्माण का पूर्ण प्राधिकार; और (४) संविधान के संशोधन की सरल व्यवस्था। कुछ अपवादों के अतिरिक्त सभी प्रकार के संवैधानिक संशोधन, विधेयकों के रूप में, लोकसभा के किसी भी आगार में प्रस्तुत किये जा सकते हैं और दोनों आगारों में उनकी पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकृत होकर राष्ट्रपति की अनुमति पाने पर मान्य हो जाते हैं। भारतीय परिस्थिति को देखते हुये यह आवश्यक भी था। पं० नेहरू चाहते थे कि संविधान यथासम्भव ठोस तथा स्थायी हो, फिर भी उन्होंने उसे परिवर्तनशील बनाने का यथासम्भव प्रयत्न किया। वे समझते थे कि व्यवस्था अपरिवर्तनशील तथा स्थायी हो जाने से देश का विकास—एक जीवित, शक्तिपूर्ण तथा परिवर्तनशील राष्ट्र का विकास—रुक जाने की संभावना है। इसीलिये तो हमारे संविधान में, जो सम्भवतः संसार का सबसे अधिक विस्तृत लिखित संविधान है, सभी प्रकार की सम्भावनाओं की व्यवस्था करते हुये, आवश्यकतानुसार सरल संशोधन की व्यवस्था भी कर दी गई है। हमारा संविधान एक लिखित संविधान है, और लिखित संविधान स्वभावतः अपरिवर्तनशील होते हैं। तथापि हमारा संविधान उतना ही परिवर्तनशील है जितना स्वयं इङ्गलैण्ड का।

निष्कर्ष—भारतीय संविधान की उपरोक्त विशेषताओं के अध्ययन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि हमारा नया संविधान भारत में एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जनता को अपने शासन के प्रत्येक क्षेत्र में तथा प्रत्येक स्तर पर, गाँव, ज़िला, राज्य और केन्द्र में, अपने नागरिक-अधिकारों के प्रयोग का अवसर मिलता रहेगा। परन्तु इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप हमारी राजनैतिक व्यवस्था में राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा के लिये घातक, अराजकतापूर्ण दलबन्दी उत्पन्न होने की आशंका भी है। किसी भी प्रकार के प्रतिनिधि शासन को कार्यान्वित करने के लिये संगठित दलबन्दी आवश्यक होती है। परन्तु राजनैतिक जागृति के क्षेत्र में भारत अभी पाश्चात्य देशों से बहुत पीछे है। अतएव यदि हमारे यहाँ भी फ्रांस की भाँति अनेक छोटे-छोटे दल उत्पन्न हो गये, और वर्तमान प्रवृत्तियों को देखते हुये इसकी यथेष्ट सम्भावना भी है, तो इसका परिणाम अराजकता ही होगा। संगठन की स्वतन्त्रता का हमारे देश में सरलतापूर्वक दुरुपयोग किया जा सकता है और सारा देश विरोधी वर्गों में विभाजित हो सकता है। निहित स्वार्थ परिस्थिति को और अधिक विषम बना देने की क्षमता रखते हैं और तब स्वाभाविक देशप्रेम का स्थान कटुता और क्रोध ले लेंगे। अपने दल के संकुचित स्वार्थ के लिये ओछे राजनीतिज्ञ सम्पूर्ण देश के हितों का बलिदान कर सकते हैं। अतएव इस समय हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य इस प्रकार की विश्रंखलात्मक प्रवृत्तियों से देश की रक्षा करना है।

तेइसवाँ अध्याय

मूलाधिकार तथा निदेशक सिद्धान्त

मूलाधिकारों का प्रतिपादन प्रत्येक लिखित संविधान का एक मुख्य अङ्ग होता है। इन अधिकारों को उच्च आदर्शों की पवित्र घोषणा माना जाता है। इन्हीं को केन्द्र मान कर राज्य की नीतिं का निर्माण किया जाता है और इनका अतिक्रमण होने पर न्याय की शरण ली जा सकती है। कुछ लोगों की धारणा है कि किसी राज्य के संविधान को किसी युग विशेष के राजनैतिक अथवा सामाजिक आदर्शों के भीतर बाँध देना उचित नहीं है। मूलाधिकारों की घोषणा विधान मण्डल की शक्तियों को उलझन पैदा कर देने वाली सीमाओं में बाँध कर अनेक कानूनों के अमान्य घोषित कर दिये जाने की सम्भावना उत्पन्न कर देती है। कानून तो राजनैतिक परिस्थितिं की सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार बनाये जाते हैं; उन्हें अधिकारों की घोषणा के अधीन कर देना अनुचित है। सैद्धान्तिक घोषणायें स्वयं अपना कोई महत्व नहीं रखतीं, उन्हें कार्यान्वित करने के लिये इच्छा-शक्ति और साधनों का अस्तित्व आवश्यक है। परन्तु आज के युग में इस धारणा के बहुत थोड़े समर्थक मिलते हैं और अधिकारों की घोषणा संविधान का एक वाँछनीय अङ्ग समझी जाती है। मूलाधिकार सदा न्यायाधीश, अधिवक्ता, प्रशासक तथा नागरिकों को इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कुछ बातों की प्रतिष्ठा करना तथा कुछ से दूर रहना अनिवार्य है। इन अधिकारों की घोषणा जन कल्याण के लिये आवश्यक होती है। जनता और शासन दोनों ही संविधान द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों का अपेक्षाकृत अधिक सम्मान करते हैं। और भारत तो प्रजातन्त्रात्मक प्रयोग की पहली यात्रा पर निकला है अत: उसके लिये संविधान में इन अधिकारों का उल्लेख और भी अधिक आवश्यक था।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका, जर्मनी, जापान, आयरलैंड, रूस आदि अनेक देशों के संविधानों में मूलाधिकारों की व्यवस्था की गई है, तथापि भारत के समान व्यापक तथा विस्तृत व्यवस्था कहीं नहीं मिलती। तानाशाही देशों में, युद्ध के अवसर पर प्रजातन्त्र राज्यों में, और ब्रिटिश शासनकाल के अन्तर्गत स्वयं हमारे देश में किस प्रकार सारे मानवीय अधिकारों का अपहरण किया गया, हम यह नहीं भूले हैं और इस दु:खद अनुभव के संदर्भ में हमारा संविधान में ही मूलाधिकारों की विस्तृत व्यवस्था करने का आग्रह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, एक वास्तविक प्रजातन्त्र में सभी नागरिकों के लिये उन मूल स्वतन्त्रताओं की प्रत्याभूति

आवश्यक है जो जीवन की परिस्थितियां में समता उत्पन्न कर अपने सब नागरिकों के लिये मानवीय व्यक्तित्व के पूर्णतम विकास का अवसर प्रदान कर सकें। विधान मण्डलों की कानून बनाने की शक्ति पर नियन्त्रण आवश्यक है, अन्यथा वे कभी भी इन अधिकारों के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक है कि संविधान प्रारम्भ होने से पूर्व निर्मित सब विधियाँ उस मात्रा तक अमान्य समझी जायें जहाँ तक वे मूलाधिकार सम्बन्धी प्रावधानों के प्रतिकूल हैं। हमारे संविधान में ऐसी ही व्यवस्था की गई है।

अपने संविधान में उल्लिखित मूलाधिकारों की विवेचना करते हुये हम देखते हैं कि इन अधिकारों की सूची वास्तव में बड़ी व्यापक है। इन मूलाधिकारों को निम्नलिखित ७ वर्गों में विभाजित किया गया है:—(१) समताधिकार; (२) स्वातन्त्र्याधिकार; (३) शोषण-वर्जक अधिकार; (४) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार; (५) सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार; (६) साम्पत्तिक अधिकार; और (७) संवैधानिक उपचाराधिकार। अब हम इन अधिकारों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

समताधिकार—संविधान के अन्तर्गत सबसे पहला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण समता का मूलाधिकार है। इसमें विधि के समक्ष समता का अधिकार; धर्म, मूलवंश, जाति अथवा लिंग के आधार पर विभेद न किये जाने का अधिकार, राज्याधीन नियुक्तियों में अवसर-समता, अस्पृश्यता का अन्त तथा सैनिक अथवा शैक्षिक उपाधियों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की उपाधियों का अन्त, आदि मूलाधिकार सम्मिलित हैं। विधि के समक्ष समता का अर्थ यह है कि सभी नागरिक कानून की दृष्टि में समान हैं और सब को समान रूप से कानूनों का संरक्षण प्राप्त होगा। धर्म, जाति अथवा लिंग या जन्म के आधार पर विभेद न किये जाने के अधिकार का अभिप्राय यह है कि इन बातों के आधार पर राज्य द्वारा नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। राज्य द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों तथा कुओं, तालाबों आदि सार्वजनिक समागम के स्थानों में बिना किसी बाधा के प्रवेश कर सकता है। राज्याधीन नियुक्तियों में अवसर-समता का अर्थ है कि धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर नौकरियों में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। संविधान ने अस्पृश्यता का भी अन्त कर दिया है और इस प्रकार समाज के छुआछूत के कलंक को दूर करने की चेष्टा की गई है। अगर कोई मनुष्य किसी दूसरे पर अस्पृश्यता के आधार पर रोक टोक लगावेगा तो वह राज्य द्वारा दण्डित होगा। अन्त में, सैनिक तथा साहित्यिक योग्यता के उपहारस्वरूप उपाधियों को छोड़ कर अन्य सब प्रकार की उपाधियों का निषेध करके सामाजिक समानता स्थापित करने की चेष्टा

की गई है तथा विदेशियों द्वारा भारतीय राजद्रोहियों को प्रलोभन देने की प्रवृत्ति का अन्त किया गया है। यद्यपि संविधान में यह कहा गया है कि सार्वजनिक संस्थाओं के द्वार सबके लिये खुले रहेंगे, परन्तु शासन स्त्रियों तथा बच्चों के लिये विशेष व्यवस्था कर सकता है। इसी प्रकार यद्यपि राज्याधीन नियुक्तियों में सबके लिये अवसर-समता होगी तथापि "राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़े हुये किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य के विचार में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियां अथवा पदों के आरक्षण के लिये प्रावधान कर सके।" २ जून सन् १९५१ ई० को लोकसभा द्वारा स्वीकृत संविधान के एक संशोधन में राज्यों को किसी सामाजिक अथवा शिक्षासम्बन्धी क्षेत्र में पिछड़े हुये नागरिक वर्ग अथवा अनुसूचित जाति अथवा जनजातियों की उन्नति के लिये आवश्यक विशेष प्रावधान बनाने की अनुमति दे दी गई है। राज्य को यह भी अधिकार है कि वह किसी नौकरी के लिये निवास-सम्बन्धी योग्यता निर्धारित कर सके। और यदि किसी कानून के द्वारा यह प्रबन्ध है कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के पदाधिकारी किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के हों, तो ऐसा कानून समता के अधिकार का विरोधी नहीं माना जायेगा।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि समता के अधिकार के पीछे जो मूल सिद्धान्त है उसका उद्देश्य समता के सुनिश्चयन के साथ-साथ विषमता का निवारण भी है। परन्तु समाजवादी आलोचकों का कहना है कि आर्थिक समता के अभाव में यह सारी व्यवस्था निरर्थक है। हमारे पूँजीवादी तथा स्वार्थी समाज में विधि के समक्ष समता एक अप्राप्य आदर्श मात्र है, क्योंकि प्रो० लास्की के शब्दों में "अमीरों के लिये एक कानून होता है और गरीबों के लिये दूसरा।" जिस समाज में सामाजिक एवं आर्थिक विभिन्नताओं के कारण कुछ लोगों को अन्य लोगों के जीवन पर अनुचित दबाव डालने की सुविधा रहती है, वहाँ निम्न स्थिति वालों के लिये वास्तविक अवसर-समता की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है। लास्की का मत है कि "साम्पत्तिक असमानतायें तथा वास्तविक समता दो विरोधी वस्तुयें हैं, क्योंकि गरीब अपनी गरीबी के कारण न्यायालयों से न्याय नहीं प्राप्त कर पाते हैं और अमीर अपने गरीब पड़ोसियों को मुकदमेबाजी की दीर्घ प्रक्रिया में कुचल डालते हैं[1]।"

स्वतन्त्रता का अधिकार—समता के अधिकार के पश्चात् संविधान में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित अधिकार दिये गये हैं। संविधान में यह कहा गया

---

1. "Differences of wealth are incompatible with real equality, for the poor fail to get justice from the courts on account of the lack of means, and the rich ruin their poor neighbours through a long process of litigation."—*Laski*.

है कि सब नागरिकों को भाषण तथा लेख की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक और बिना हथियार सभा करने की स्वतन्त्रता, समुदाय अथवा संघ निर्माण की स्वतन्त्रता, भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में बे रोक-टोक घूमने की स्वतन्त्रता, भारत राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के अर्जन, संधारण और व्यय करने की स्वतन्त्रता तथा कोई व्यवसाय, वृत्ति, वाणिज्य अथवा व्यापार करने की स्वतन्त्रता होगी। परन्तु यह अधिकार निरंकुश नहीं है, क्योंकि इन स्वतन्त्रताओं पर जनहित में राज्य द्वारा कोई उचित प्रतिबन्ध लगाने पर कोई अवरोध नहीं है।

भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अपमान-लेख, अपमान-वचन, मान-हानि, राजद्रोह, शिष्टता या शील पर आघात, अथवा राज्य की सुरक्षा या उसके आधार को जर्जर करने वाली किसी बात से सम्बन्धित किसी विधि के बनाने में राज्य के लिये रुकावट नहीं होगी। भाषण तथा लेख की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित उपरोक्त प्रतिबन्धों का उल्लेख संविधान के १९ वें अनुच्छेद के दूसरे भाग में किया गया है। परन्तु जून सन् १९५१ ई० में लोकसभा ने इस अनुच्छेद में कुछ संशोधन किये हैं जिनके अनुसार कोई विधान-मण्डल, आवश्यकता पड़ने पर, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने एवं सार्वजनिक अव्यवस्था तथा अपराधों के प्रोत्साहन से सम्बन्धित विषयों में अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर संगत प्रतिबन्ध लगाते हुये विधि-निर्माण कर सकता है। इस संशोधन के कारण जनता में यह भावना फैल गई है कि भारत सरकार ने अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मूलाधिकार का अतिक्रमण आरम्भ कर दिया है। परन्तु सरकारी पक्ष का कहना है कि यह धारणा भ्रान्त है। संविधान में वर्णित अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मूलाधिकार की शब्द-योजना कुछ ऐसी थी कि न्यायालय हिंसा के प्रोत्साहन को भी, यदि वह राज्य की सुरक्षा-भङ्ग से सम्बन्धित न हो, दण्डनीय घोषित नहीं कर सकते थे। यह स्थिति वाँछनीय नहीं थी, अतएव संविधान का संशोधन करके इस अस्पष्टता को दूर कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, उपरोक्त संशोधन में दो अभिरक्षणों (safeguards) की व्यवस्था भी की गई है। संशोधन में संगत प्रतिबन्ध (reasonable restriction) शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'संगत' शब्द प्रत्येक व्यक्ति को सरकारी कानून के विरुद्ध अपील करने का अधिकार देता है और प्रत्येक प्रतिबन्ध से सम्बन्धित परिस्थितियों को देखते हुये कौन प्रतिबन्ध संगत है और कौन असंगत, इस विषय में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होगा। दूसरे, विधि-निर्माण का यह विषय समवर्ती सूची में रखा गया है, अतएव इस बात की कोई आशंका नहीं है कि किसी राज्य का विधानमण्डल केन्द्रीय कानून के प्रतिकूल अपना कानून बना सके।

इसी प्रकार समुदाय अथवा संघ बनाने की स्वतन्त्रता भी जनता के हित में संगत प्रतिबन्धों के लगाने में राज्य के लिये कोई रुकावट नहीं उत्पन्न करती है।

बे रोक-टोक घूमने की स्वतन्त्रता पर भी राज्य जन-सामान्य के हित में अथवा किसी आदिवासी जाति के हित रक्षार्थ, विधि-निर्माण द्वारा प्रतिबन्ध लगा सकता है। और अन्त में, किसी व्यवसाय, वृत्ति, वाणिज्य अथवा व्यापार के लिये आवश्यक व्यावसायिक अथवा प्रौद्योगिक (technical) योग्यताओं के निर्धारण में भी राज्य के लिए किसी प्रकार की रुकावट नहीं है।

संविधान के २०वें अनुच्छेद में कहा गया है कि "कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए उस समय तक दोषी न ठहराया जायगा जब तक वह किसी ऐसे कानून का उल्लंघन न करे, जो अपराध करने के समय लागू था और न वह उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करने के समय कानून द्वारा दिया जा सकता था।" इसके अतिरिक्त, कोई व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा और न एक ही अपराध के लिये एक से अधिक बार दण्डित किया जा सकता है। आगे चल कर संविधान में कहा गया है कि "किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा शारीरिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा नियत कार्य-प्रणाली को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार से वञ्चित न किया जायगा।" और अन्त में, राज्य किसी भी बन्दी किये गये व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारणों से अवगत किये बिना हवालात में नहीं रख सकता है। ऐसे व्यक्ति को किसी भी वकील से परामर्श करने और उसके द्वारा प्रतिरक्षित होने का अधिकार होगा। प्रत्येक बन्दी व्यक्ति, बन्दी होने के समय से २४ घंटे के भीतर समीपतम मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किया जायगा और बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा-पत्र के इससे अधिक समय तक हवालात में नहीं रखा जा सकता है। परन्तु विदेशी शत्रुओं और उन नागरिकों के बन्दीकरण पर जो नज़रबन्दी कानून के अन्तर्गत पकड़े गए हैं ऊपर वर्णित उपबन्ध लागू नहीं होते। निवारक अवरोध (preventive detention) के लिये निर्मित कोई कानून किसी व्यक्ति के ३ मास से अधिक नज़रबन्दी का प्राधिकार उस समय तक नहीं दे सकता जब तक कि नज़रबन्दों के मामले में राय देने वाली समिति यह आदेश न दे कि अधिक अवरोध के लिये पर्याप्त कारण है। परन्तु लोकसभा कानून द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था भी कर सकती है जिसमें कोई भी व्यक्ति निवारक अवरोध के किसी कानून के अन्तर्गत ३ मास से अधिक हवालात में रखा जा सकता है। लोकसभा को यह भी अधिकार है कि वह यह निश्चित कर दे कि अधिक से अधिक कितने काल के लिए किसी व्यक्ति को नज़रबन्द किया जा सकता है। नज़रबन्दों के मामले में राय देने वाली समिति किसी नज़रबन्द व्यक्ति के मामले की जाँच में जिस कार्यप्रणाली का अनुसरण करती है, लोकसभा उसका भी नियमन कर सकती है। प्रत्येक नज़रबन्द व्यक्ति को अपने अवरोध के कारणों से अवगत होने और अवरोध-आज्ञा के विरुद्ध आवेदन करने का अधिकार है। परन्तु अगर सरकार यह सोचे कि कुछ

बातें लोक हित के विरुद्ध हैं तो वह इन्हें बतलाने को बाध्य नहीं हैं। भारतीय संसद् ने २५ फरवरी सन् १६५० को एक कानून पास किया है जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को देश की सुरक्षा अथवा शान्ति के लिए १ वर्ष के लिए नज़रबन्द किया जा सकता है।

भाषण स्वातन्त्र्य की आलोचना करते हुये हम कह सकते हैं कि यद्यपि भाषण, लेख तथा समुदाय अथवा संघ निर्माण की स्वतन्त्रतायें शारीरिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ मूलाधिकारों के रूप में उल्लिखित की गई हैं, परन्तु इन पर अनेक अनावश्यक प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं। उदाहरण के लिये लोकसभा अथवा प्रान्तीय विधान-मण्डल भाषण और लेख स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कानून केवल इतना कह कर बना सकते हैं कि हिंसात्मक न होते हुए भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता से राज्य के अस्तित्व को आशंका है। यह एक अनावश्यक प्रतिबन्ध है क्योंकि संवैधानिक उपायों के प्रयोग से शासन को उलट देने तथा संविधान तक को बदल देने का प्रत्येक नागरिक को पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार शारीरिक स्वतन्त्रता को भी एक मूलाधिकार माना गया है। परन्तु प्रान्तीय विधान मण्डल कानून द्वारा किसी नागरिक को बिना अभियोग सिद्ध किये ३ मास के लिये और लोकसभा की अनुमति से इससे भी अधिक काल के लिये, कारागृह में बन्द कर सकते हैं। आलोचकों के मतानुसार पुलिस के लिये अवरोध का अभियोग बनाने के लिये तीन मास का समय भी आवश्यकता से अधिक है और कम कर दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक यह सम्भावना भी है कि कोई भी सरकार अपनी शक्ति बनाये रखने के लिये इस अवरोध-शक्ति का प्रयोग अपने राजनैतिक विरोधियों के विरुद्ध करने लगे। राज्य के शत्रुओं की सारी स्वतन्त्रता का अपहरण उचित तथा संगत है, परन्तु राज्य के शत्रुओं तथा सरकार के विरोधियों के बीच विभेद करना भी आवश्यक है। संवैधानिक उपायों का अनुसरण करने वाले राजनैतिक दलों के भाषण-स्वातन्त्र्य का अपहरण किसी परिस्थिति में नहीं होना चाहिये। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भाषण, लेख, संघ-निर्माण तथा शारीरिक स्वतन्त्रता पर लगाये गये यह प्रतिबन्ध हमारे गणराज्य में प्रजातन्त्रवाद का संधारण आज भी कठिन बना रहे हैं।

शोषण के विरुद्ध अधिकार—तीसरा मूलाधिकार शोषण के विरुद्ध नागरिकों की रक्षा के लिए है। इसके अनुसार मनुष्यों का खरीदना और बेचना, बेगार तथा अन्य किसी प्रकार का ज़बरदस्ती लिया हुआ श्रम वर्जित है। अगर कोई व्यक्ति इसका उल्लंघन करेगा तो वह दण्डित होगा। संविधान में यह भी कहा गया है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी भी बालक को किसी कारखाने, खान अथवा किसी अन्य संकटमय नौकरी में नहीं लगाया जायेगा। इस उपबन्ध का

उद्देश्य यह है कि भारत के भावी नागरिकों का स्वास्थ्य न बिगड़ने पावे। यदि स्त्रियों के सेवायोजन पर भी इसी प्रकार के प्रतिबन्धों की व्यवस्था कर दी गई होती तो और अच्छा होता।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार—हमारे संविधान में उल्लिखित चौथा मूलाधिकार धर्म स्वातन्त्र्य से सम्बन्ध रखता है। अन्त:करण की स्वतन्त्रता तथा धर्म को बिना किसी रुकावट के मानने और प्रचार करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को दिया गया है। परन्तु राज्य किसी भी धार्मिक आचरण से सम्बन्धित आर्थिक, वैत्तिक, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का आनियमन अथवा नियंत्रण कर सकता है। इस प्रकार धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार असीमित नहीं है। इस अधिकार का प्रयोग सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त राज्य को हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को सिख, जैन, बौद्ध आदि हिन्दुओं के प्रत्येक वर्ग के लिए खोल देने का भी अधिकार है। कृपाण का धारण सिख धर्म के आचरण का एक अङ्ग स्वीकार कर लिया गया है। इस मूलाधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को अपने धार्मिक विषयों के प्रबन्ध तथा धार्मिक और परोपकारी कार्यों के लिए सम्पत्ति खरीदने तथा रखने का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म विशेष की उन्नति के लिए करों को देने की स्वतन्त्रता दी गई है। राज्य द्वारा संधारित अथवा परिपोषित शिक्षा-संस्थाओं के धार्मिक शिक्षण अथवा वहाँ की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने अथवा न लेने की सबको पूर्ण स्वतन्त्रता है। सरकारी शिक्षा संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी और इस प्रकार की शिक्षा राज्य-कोष से सहायता पाने वाली संस्थाओं (Aided institutions) के विद्यार्थियों के लिए भी अनिवार्य नहीं होगी। परन्तु इस प्रकार की संस्थायें अपने सम्प्रदाय के विद्यार्थियों की धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती हैं। उपरोक्त प्रावधान इस बात की प्रत्याभूति हैं कि धार्मिक प्रश्नों में राज्य सदा निष्पक्ष रहेगा और व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होगा। यह प्रावधान धर्म के दुरुपयोग की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए विश्वास तथा उपासना के पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्रत्याभूति करते हैं।

सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार—यह अधिकार हमारे राज्य के लौकिक आधार के मुख्य स्तम्भ हैं। इनके अनुसार प्रत्येक वर्ग के नागरिकों को अपनी विशेष भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण का पूर्ण अधिकार है। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में अल्पसंख्यक वर्गों के किसी भी व्यक्ति के साथ प्रवेश सम्बन्धी कोई विभेद नहीं किया जायगा, और अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी शिक्षा संस्थाओं के स्थापन और प्रशासन का अधिकार होगा। राज्य बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक

वर्गों की संस्थाओं के साथ समान व्यवहार करेगा। परन्तु सन् १६५१ के एक संशोधन द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह शिक्षालयों में पिछड़ी हुई जातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दे। सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार के प्रावधान से सभो प्रकार के—धार्मिक, जातीय (racial) अथवा एकभाषाभाषी (linguistic)—अल्पसंख्यक वर्गों का यह भय अथवा संदेह मिट जाना चाहिए कि बहुसंख्यक वर्ग उनकी संस्कृति अथवा भाषा का विकास रोक देंगे।

सम्पत्ति का अधिकार—संविधान में साम्पत्तिक अधिकारों का भी यथेष्ट अभिरक्षण किया गया है। कोई व्यक्ति कानून के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वञ्चित नहीं किया जा सकता है। यदि सरकार कभो सार्वजनिक कार्य के लिए किसी की चल या अचल सम्पत्ति को क़ब्ज़े में करना चाहे तो वह ऐसा उसी दशा में कर सकेगी जब वह क़ानून द्वारा उस सम्पत्ति के मुआवज़े (compensation) की व्यवस्था करे। इस प्रकार की चल या अचल सम्पत्ति में व्यापारिक और औद्योगिक कम्पनियों का मालिकाना अधिकार भी सम्मिलित है। अगर राज्यों के विधानमण्डल इस प्रकार का कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति हस्तगत करने का क़ानून बनावें तो उसके प्रभावी होने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है। परन्तु राज्य द्वारा हस्तगत सम्पत्ति के मुआवज़े से सम्बन्धित विषय न्यायालय में विचारार्थ न रक्खे जा सकेंगे। मुआविज़ा उचित है या अनुचित, यथेष्ट है अथवा नहीं, इसका निर्णय न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर होगा। यदि किसी राज्य के विधानमण्डल में संविधान के आरम्भ होने के समय विचाराधीन कोई विधेयक आगे चल कर स्वीकार कर लिया जाता है और आरक्षण के उपरान्त राष्ट्रपति को अनुमति प्राप्त कर लेता है, अथवा संविधान के आरम्भ होने से अधिक से अधिक १८ मास पूर्व स्वीकृत कोई राज्य का क़ानून संविधान प्रारम्भ होने के पश्चात् ३ मास के भीतर राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है और वह उसे प्रमाणित कर देता है, तब कोई न्यायालय मुआवज़े के प्रावधान के अनुकूल न होने के कारण उस पर आपत्ति नहीं कर सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मुआवज़े के सम्बन्ध में विधानमण्डल का निर्णय अन्तिम होगा। मुआवज़ा निर्धारित करने के लिये विधानमण्डल स्वयं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेगा, न्यायालयों को इस विषय में कोई अधिकार नहीं होगा। न्यायालयों के विरुद्ध विधानमण्डल के प्राधिकार का समर्थन करते हुये पं० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में कहा था : "एक सीमा के भीतर हम अपने न्यायाधीशों का सम्मान करते हैं। परन्तु कोई न्यायाधीश, कोई सर्वोच्च न्यायालय, अपने आपको तृतीय आगार नहीं बना सकता। सम्पूर्ण राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद की सर्वोच्च इच्छा पर अपना निर्णय देने का अधिकार किसी न्यायपालिका को नहीं है।" इन सारे प्रावधानों और उद्‌गारों के पीछे विभिन्न प्रान्तों के ज़मींदारी

उन्मूलन विधेयकों को मान्यता देने का ही उद्देश्य था। परन्तु उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ज़मींदारी उन्मूलन क़ानून बन जाने के पश्चात् उच्च न्यायालयों ने ज़मींदारों की कतिपय मुआवज़े से सम्बन्धित आपत्तियाँ स्वीकार करलीं जिसके परिणामस्वरूप उपरोक्त क़ानूनों को मान्य बनाने के लिये जून सन् १६५१ में संविधान का संशोधन किया गया। यह संशोधन सम्पत्ति के अधिकार को पहले से अधिक सीमित कर देता है। संशोधन में यह कहा गया है कि उत्तरप्रदेश तथा बिहार में ज़मींदारी उन्मूलन क़ानून के अन्तर्गत जो व्यवस्था की गई है और इन राज्यों के विधान मण्डलों ने क्षतिपूर्ति के जो नियम स्थिर किये हैं वे न्यायालय द्वारा अवैध नहीं ठहराये जा सकते।

साम्पत्तिक मूलाधिकारों की समाजवादियों ने कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि संविधान में जमींदारों तथा धनिक वर्गों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का विशेष ध्यान रखा गया है। सम्पत्ति-धारण को पवित्र तथा मूलाधिकार मान लेने के पश्चात् आर्थिक स्वातन्त्र्य तथा आर्थिक समता की स्थापना असम्भव हो जाती है। आजकल समाज में इतनी अधिक आर्थिक विषमता है और ज़मींदारों तथा व्यापार एवं वाणिज्य में संलग्न धनिक वर्गों के हाथ में इतनी अधिक राजनैतिक शक्ति का संग्रह हो गया है कि साम्पत्तिक अधिकार पर यथेष्ठ प्रतिबन्ध लगाये बिना आर्थिक समता की स्थापना अथवा राजनैतिक समता का कार्यान्वित करना अत्यन्त कठिन है। कुछ लोगों की धारणा है कि साम्पत्तिक अधिकार के कारण हमारे संविधान में व्यक्तिगत सम्पत्तिधारियों को जितना प्रश्रय तथा अधिकार मिला है उतना संयुक्त राष्ट्र अमरीका में भी उपलब्ध नहीं है। यह स्थिति भविष्य में राज्य द्वारा प्रतिपादित लोक-कल्याण की योजनाओं की राह में निश्चय ही विघ्न डालेगी। समाजवादियों के अनुसार सम्पत्ति के अधिकार को पवित्र तथा मूलाधिकार समझना ही भूल है। उनके दृष्टिकोण से संविधान की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि इसमें सम्पत्ति के अधिकार को तो मूलाधिकार माना गया है, किन्तु श्रमिकों और निर्धन कृषकों के लिये सम्पत्ति के अधिकार से अधिक महत्वपूर्ण राज्य की ओर से कार्य पाने तथा भरण-पोषण के अधिकार को राज्य के निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत रखा गया है। अनेक प्रजातन्त्रवादी संविधानों में कार्य पाने तथा भरण-पोषण के अधिकारों को मूलाधिकार माना गया है, परन्तु भारतीय संविधान ने इन्हें इतना महत्व नहीं दिया है।

संवैधानिक उपचाराधिकार—और अन्त में, नागरिकों के उपरोक्त अधिकारों की रक्षा के लिये संवैधानिक उपचाराधिकार की व्यवस्था भी है। मूलाधिकारों की प्राप्ति के लिये कोई भी व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रार्थना कर सकता है और ऐसी परिस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) को बन्दी

प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकारपृच्छा (Quo Warranto), अथवा उत्प्रेषण (Certiorari) के समुचित निदेश अथवा आदेश निकालने का अधिकार होगा.। (सत्ताइसवें अध्याय में इन लेखों (Writs) की विस्तृत व्याख्या की गई है)। उच्च न्यायालयों (High Courts) को भी अपने क्षेत्राधिकार के भीतर सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों में बिना बाधा पहुँचाये किसी भी मूलाधिकार की पूर्ति के लिये उपरोक्त लेख निकालने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, संसद्, विधि द्वारा, अन्य अधीन न्यायालयों को भी इसी प्रकार के अधिकार दे सकती है। संविधान में संसद को सशस्त्र सेना या सार्वजनिक शान्ति की रक्षक सेनाओं में अनुशासन व्यवस्था पूर्ण रूप से बनाये रखने के लिये मूलाधिकारों के संशोधन का अधिकार भी दिया गया है। और अन्त में संसद को यह अधिकार है कि वह सैनिक विधि (Martial Law) लगे क्षेत्र में सरकारी अफसरों के सब कार्यों को एवं ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत दिये हुये दण्डों को मान्यता प्रदान करे।

आपात-काल में मूलाधिकारों का स्थगन—शान्तिकाल में प्रत्येक नागरिक अपने मूलाधिकारों की रक्षा के लिये न्यायालयों की शरण ले सकता है, किन्तु राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा की जाने पर संवैधानिक उपचार का उपरोक्त अधिकार स्थगित हो जाता है। संविधान के ३५८ वें अनुच्छेद के अनुसार आपात-काल में कार्यकारिणी को भाषण, लेख, संघ-निर्माण तथा सभा करने, आदि की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल कानून बनाने तथा आज्ञायें निकालने का अधिकार होगा। परन्तु आपात-घोषणा का अन्त होते ही ऐसे कानूनों की मान्यता भी समाप्त हो जायगी। और ३५९ वें अनुच्छेद के अनुसार आपात-घोषणा के काल में राष्ट्रपति आज्ञा निकाल कर न्यायालयों द्वारा मूलाधिकारों का प्रवर्तन भी स्थगित कर सकता है, परन्तु प्रत्येक ऐसी आज्ञा, यथासम्भव शीघ्रता के साथ, संसद् के प्रत्येक आगार के समक्ष अवश्य प्रस्तुत की जायगी। कार्यकारिणी द्वारा मूलाधिकारों का इस प्रकार स्थगन वास्तव में उचित नहीं है। इस प्रावधान की कटु आलोचना करते हुये कुछ लोगों ने कहा है कि इससे आगे चल कर तानाशाही प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल सकता है। सरकारी वक्ता यह कह कर इसका समर्थन करते हैं कि सुव्यवस्था-संधारण अत्यन्त आवश्यक है और इसकी प्राप्ति के लिये सभी साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों में देश तथा राष्ट्र के हित का महत्व व्यक्ति स्वातन्त्र्य के महत्व से कहीं अधिक है। परन्तु यह तर्क पूर्णतया संतोषकर नहीं है क्योंकि हमारे संविधान निर्माताओं ने संसद द्वारा स्वातन्त्र्य-स्थगन के काल की कोई अवधि नहीं निर्धारित की है। ३५९ वें अनुच्छेद के शब्द, "यथासम्भव शीघ्रता के साथ" वास्तव में स्पष्ट नहीं हैं। इङ्गलैंड में प्रत्येक आपात-घोषणा (Emergency Proclamation) प्रकाशित

होने के ५ दिन के भीतर लोकसभा के समक्ष अवश्य उपस्थित की जाती है और लोकसभा की स्पष्ट अनुमति के अभाव में एक सप्ताह के भीतर अमान्य हो जाती है। अमरीका में भी मूलाधिकारों को स्थगित करने की शक्ति केवल काँग्रेस को प्राप्त है, अध्यक्ष (President) का कर्तव्य केवल काँग्रेस की इच्छा को कार्यान्वित करना होता है। इस विषय में कार्यकारिणी को जितना अधिक अधिकार भारतीय संविधान में दिया गया है उतना संसार के अन्य किसी प्रजातन्त्रवादी देश में नहीं मिलता है। यहाँ आपात-काल में कार्यकारिणी कम से कम थोड़े समय के लिये न्यायपालिका और विधान-मण्डल दोनों की अवहेलना कर ही सकती है। यह प्रावधान निस्संदेह अत्यन्त खतरनाक है।

साधारणतया संविधान में ही मूलाधिकारों के उल्लेख का तात्पर्य यह होता है कि विधान-मण्डल इन अधिकारों पर अनुचित और अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाने वाली विधियों का निर्माण न कर सकें, और यदि इस प्रकार की कोई विधि बन ही जाय तो न्यायपालिका को उसे अमान्य घोषित करने का पूर्ण अधिकार हो। मूलाधिकारों के उल्लेख का प्रयोजन तभी सिद्ध हो सकता है जब उनके साथ ऐसी अनेक शर्तें न लगी हों जिनके परिणामस्वरूप न्यायपालिका को अपने विवेक-प्रयोग का कोई अधिकार ही नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में इन अधिकारों की मूल-प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और वे नागरिकों की यथेष्ट रक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं। अमरीकी संविधान में इस प्रकार के मूल अधिकारों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है और संभवत: इसीलिये यह अधिकार वहाँ के नागरिकों के लिये लाभदायक भी सिद्ध हुये हैं। दुर्भाग्यवश हमारे संविधान में मूलाधिकारों का उल्लेख तो अधिक व्यापक रूप में किया गया है परन्तु साथ ही उन पर अनेक प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं और न्यायपालिका का बुरे कानूनों को अमान्य घोषित करने का अधिकार भी सीमित कर दिया गया है।

राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त

संविधान में उपरोक्त प्रावधानों के अतिरिक्त राज्य-नीति के कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख भी किया गया है। ये सिद्धान्त कुछ ऐसी सुविधाओं का वर्णन करते हैं जिनकी प्राप्ति से नागरिकों का जीवन अच्छा हो सकता है। इनको राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्त कहा गया है। संविधान में इन सिद्धान्तों का समावेश मुख्यत: इस विचार से किया गया है कि भविष्य में भारत की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें राष्ट्रीय प्रशासन कार्य में इन सिद्धान्तों का पालन करें। किन्तु यह प्रावधान न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। इनके पीछे कानून की कोई सत्ता नहीं है। यह सर्वथा राज्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह इनमें निहित आदेशों का पालन करे या न करे। मूल अधिकारों की भाँति राज्य के नागरिक इन तत्वों को पाने के अधिकारी तो हैं,

परन्तु वे इनकी प्राप्ति के लिये कोई वैधानिक उपाय नहीं कर सकते। यदि भारतीय संसद अथवा किसी राज्य का विधानमण्डल इन तत्वों के आदेश पर न चले तो राष्ट्रपति को भी यह अधिकार नहीं है कि वह वैधानिक रूप से इनका पालन कराने के लिये राज्य को बाध्य कर सके। परन्तु इनमें उल्लिखित सिद्धान्त राष्ट्रीय प्रशासन के लिये आधार-स्वरूप हैं और विधि-निर्माण में इन सिद्धान्तों का प्रयोग राज्य का कर्तव्य होगा। संविधान के निदेशक सिद्धान्त सन् १९३५ ई० के कानून के निदेश-पत्र (Instruments of Instructions) के समान ही हैं। राज्य के वैधिक तथा अधिशासी प्राधिकारियों पर इन सिद्धान्तों के पालन का नैतिक उत्तरदायित्व है। वे उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। यह सत्य है कि इन सिद्धान्तों के अतिक्रमण पर उन्हें किसी न्यायालय के समक्ष उत्तर नहीं देना पड़ेगा, परन्तु वे जनता तथा उसके प्रतिनिधियों के प्रति अवश्य ही उत्तरदायी होंगे। इस प्रकार यदि देश की जनता जागरूक है जो प्रत्येक पग पर सरकार के कार्यों का भली भाँति निरीक्षण करती है, तो यह आशा की जा सकती है कि इन निदेशक तत्वों का राज्य की नीति निर्धारित करने में ध्यान रक्खा जायेगा। आयलैंण्ड के अतिरिक्त संसार के किसी संविधान में इस प्रकार का, अथवा इतना व्यापक, कोई प्रावधान नहीं है। इन सिद्धान्तों का देश के लिखित संविधान में समावेश होना चाहिये अथवा नहीं, यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। इसके एक पक्ष में कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त शासन के अधिकार-क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप करते हैं और स्वयं उद्देश्यों तथा आकाँक्षाओं के घोषणा मात्र हैं। प्रवर्तनशील न होने के कारण इनमें उपादेयता का भी अभाव है। इनकी एकमात्र उपादेयता यह हो सकती है कि इनके कारण समाजवादी आलोचकों को थोड़ा सा सन्तोष हो जाता है। दूसरे पक्ष की ओर से कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त सामाजिक न्याय की उस न्यूनतम मात्रा के दर्पण हैं जिसे समस्त संसार में सभ्य जीवन का आवश्यक आधार स्वीकार किया जा चुका है। संविधान में इनके वर्णन से एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि चाहे कोई भी दल चुनाव के परिणामस्वरूप शासन का कार्य संभाले, राज्य की नीति में एक प्रकार की स्थिरता रहेगी। इन निदेशक तत्वों के होने से अनुदार दल प्रतिक्रियावादी नीति के अनुसार न चल सकेगा और न क्रान्तिकारी दल अपनी क्रान्तिकारी नीति के अनुसार ही। इन सिद्धान्तों की सार्थकता प्रमाणित करते हुये डा० अम्बेदकर ने कहा था : "मेरे विचार से निदेशक सिद्धान्तों का बड़ा भारी महत्व है, क्योंकि वे इस तथ्य की प्रतिष्ठा करते हैं कि हमारा लक्ष्य आर्थिक प्रजातन्त्रवाद है। हम नहीं चाहते थे कि संविधान में वर्णित विभिन्न व्यवस्थाओं के माध्यम से केवल साँसद पद्धति के शासन की स्थापना हो जाये और हमारा आर्थिक आदर्श एवं हमारी समाज-व्यवस्था क्या हो? इसका कोई निदेश न रहे। अतएव हमने जानबूझ कर निदेशक सिद्धान्तों को अपने संविधान में सम्मिलित

किया[1]।" वास्तव में संविधान में ऐसे सिद्धान्तों की घोषणा कर देने में उस दशा में किसी हानि की संभावना नहीं हो सकती है जबतक इनकी व्याख्या सामान्य शब्दों में की जाय और इनमें उपयोजनशीलता का अभाव न हो।

संविधान में कहा गया है कि "राज्य का प्रयास होगा कि वह यथासम्भव ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना तथा रक्षा करके, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय द्वारा राष्ट्रीय जीवन की सब संस्थायें अनुप्राणित हों, लोक-हित वृद्धि करे। जिस प्रकार मूलाधिकारों का सम्बन्ध राजनैतिक प्रजातन्त्रवाद से है उसी प्रकार राज्य के निदेशक सिद्धान्तों की सभी धारायें आर्थिक प्रजातन्त्रवाद से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। इन सिद्धान्तों के संविधान में वर्णन से यह सूचित किया गया है कि राज्य अपनी आन्तरिक नीति को इस प्रकार निर्धारित करेगा जिससे नागरिकों का जीवन आर्थिक कष्टों से मुक्त हो सके। राज्य की नीति का उद्देश्य निम्नलिखित बातों को प्राप्त करना बतलाया गया है:—

(१) भारत के सब नागरिकों—नर और नारी दोनों—को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार। इसका अर्थ यह है कि भारत से बेकारी उठ जावेगी। किन्तु किस प्रकार राज्य बेकारी दूर करेगा? इसका उत्तर संविधान में कहीं नहीं मिलता है।

(२) समाज के भौतिक साधनों का न्यायसंगत विभाजन जिससे समस्त समाज का हित हो।

(३) धन तथा उत्पादन-साधनों के अहितकारी केन्द्रीकरण का निवारण, जिससे उत्पादन के साधन थोड़े से लोगों के हाथों में ही केन्द्रित न हो जायें।

(४) पुरुष और स्त्री दोनों को समान कार्य के लिये समान वेतन।

(५) श्रमिक पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों की शक्ति और उनके स्वास्थ्य के दुरुपयोग के निवारण के लिये ऐसी व्यवस्था का प्रबन्ध जिससे आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर लोग ऐसे काम न करें जो उनकी आयु तथा शक्ति के अनुकूल न हों।

(६) बाल्यकाल और युवावस्था का शोषण से रक्षण।

इसके अतिरिक्त, राज्य ग्राम-पंचायतों के संगठन का भी प्रयास करेगा। इन

---

1. "In my judgment, the Directive Principles have a great value, for they lay down that our ideal is economic democracy. Because we did not want merely a parliamentary form of Government to be instituted through the various mechanisms provided in the constitution, without any direction as to what our economic ideal, as to what our social order ought to be, we deliberately included the Directive Principles in our constitution."—*Ambedkar*.

पंचायतों को ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार दिये जायेंगे ताकि वे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें। राज्य, अपनी आर्थिक सीमाओं के भीतर, नागरिकों के कार्य पाने के अधिकार एवं शिक्षाधिकार, और वृत्तिहीनता, वृद्धता, रुग्णावस्था तथा अयोग्यावस्था में सहायता पाने के अधिकार का भी प्रावधान करेगा। राज्य भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिये एक समान व्यवहार-संहिता (civil code) बनाने का प्रयत्न करेगा और इस बात का भी प्रयत्न करेगा कि स्त्रियों को प्रसूति अवस्था में राज्य की सहायता प्राप्त हो सके। नागरिकों के लिये समुचित जीवन-स्तर का सुनिश्चयन करते हुये गृह-उद्योगों की उन्नति का प्रयत्न किया जायेगा। १४ वर्ष की अवस्था तक सब बालकों के लिये निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होगी और राज्य जनता के दुर्बल वर्गों, विशेषकर हरिजनों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा सम्बन्धी तथा आर्थिक हितों की विशेष सावधानी से वृद्धि करेगा। राज्य अपने नागरिकों के आहार-पोषण तथा जीवन-स्तर की उन्नति और मादक पदार्थों के सेवन का निरोध करके सार्वजनिक स्वास्थ्य की वृद्धि को अपना कर्तव्य मानेगा। वह कृषि तथा पशु-पालन का, आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार, संगठन करके इस बात का विशेष प्रयत्न करेगा कि पशुओं की नस्ल में उन्नति हो और गायों, बछड़ों तथा अन्य दूध देने वाले और दूध न देने वाले पशुओं का वध बन्द हो जाये। वह राष्ट्रीय महत्व के स्थानों, वस्तुओं और स्मारकों की रक्षा करेगा। न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का पृथक्करण किया जायगा। और अन्त में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कुछ आदर्शों को लेकर चलने का प्रयत्न करेगा। ये आदर्श निम्नलिखित हैं:—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की उन्नति, (ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करना, (ग) राष्ट्रों के आपस के व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा सन्धियों के प्रति आदर-भाव बढ़ाना, (घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिये प्रोत्साहन देना।

यहाँ पर एक ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त सारे निदेशक सिद्धान्त वास्तव में समाजवादी अथवा गाँधीवादी सिद्धान्तों पर आधारित हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह निदेशक सिद्धान्त कोरे आदर्शमात्र हैं, क्योंकि इनकी पूर्ति के लिये न्याय की दुहाई भी नहीं दी जा सकती। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह सिद्धान्त कतिपय सर्वमान्य उच्चादर्शों की अभिव्यक्ति मात्र करते हैं। फिर भी इन आदर्शों की प्राप्ति के पश्चात् जनता की आर्थिक स्थिति में एक स्वस्थ समता स्थापित की जा सकेगी। वास्तव में कार्य पाने के अधिकार तथा शिक्षाधिकार सरीखे सिद्धान्तों का मूलाधिकारों के अन्तर्गत उल्लेख अधिक संगत होता। और सोवियट रूस में ऐसा ही किया भी गया है। निदेशक सिद्धान्तों में स्त्रियों को भी पुरुषों के समकक्ष स्थान दिया गया है, यह एक बड़ी प्रसन्नता की बात है, क्योंकि

हमारे देश की विचित्र परिस्थितियों के कारण स्त्रियाँ अभी तक बहुत पिछड़ी हुई थीं। इस भाग में उल्लिखित अन्य आर्थिक सिद्धान्त भी कम से कम उस आदर्श की ओर संकेत तो करते ही रहेंगे जिसकी प्राप्ति के लिये राज्य को सदा प्रयत्नरत रहना चाहिये। निदेशक सिद्धान्त राजनैतिक दलों को भी उचित पथ से कभी भटकने नहीं देंगे और इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संविधान में इनका उल्लेख सर्वथा सार्थक है। अन्य देशों को भी इस दिशा में भारत का अनुकरण करना चाहिये।

चौबीसवाँ अध्याय

भारतीय संघ

भारत राज्यों का एक संघ है जिसमें शासन के अधिकार तथा प्राधिकार संविधान में वर्णित रीति द्वारा सम्पूर्ण देश के केन्द्रीय शासन तथा उसके विभिन्न अङ्गों के बीच विभाजित हैं। हमारा संघ अन्य संघ राज्यों की भाँति बहुत से स्वतन्त्र राज्यों के आपस में एक समझौते का फल नहीं है। और हमारे राज्य में अन्य संघों की अपेक्षा शक्तियों का केन्द्रीकरण भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। किन्तु यह आधुनिक संघवाद की प्रवृत्ति के अनुसार ही है। लगभग सभी संघ-राज्यों की वर्तमान आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों को देखते हुये केन्द्रीय शासन के लिये आज सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्राधिकार का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हमारे राज्य में अधिक केन्द्रीकरण है और आपात-काल में वह एकात्मक राज्य की भाँति कार्य कर सकता है। तथापि भारत को एकात्मक राज्य कहना उचित न होगा क्योंकि उसके अङ्गों, अर्थात् राज्यों को भी सीधे संविधान से प्राधिकार प्राप्त है।

संघ के अङ्ग—भारतीय संघ के अङ्ग (units) चार प्रकार के राज्य क्षेत्रों में विभाजित किये गये हैं और इस प्रकार के प्रत्येक अङ्ग को राज्य (State) की संज्ञा दी गई है। जो अङ्ग संविधान के आरम्भ होने से पूर्व गवर्नर के प्रान्त कहे जाते थे वे अब संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग १ के राज्य हो गये हैं। इस भाग में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित हैं :—आसाम, पश्चिमी बङ्गाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बम्बई, मद्रास, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश। अनुसूची के भाग २ में भूतपूर्व देशी राज्य अथवा उनके सङ्घ सम्मिलित हैं। आगे चल कर हम देखेंगे कि इन भूतपूर्व देशी राज्यों में से तीन सबसे बड़े राज्यों के अतिरिक्त लगभग सभी का विभिन्न सङ्घों में एकीकरण हो चुका है, और कुछ देशी राज्य, जो देश की सीमाओं के निकट स्थित थे अथवा अन्य प्रकार से महत्वपूर्ण थे, उनको केन्द्र ने प्रत्यक्ष प्रशासन के लिये अपने अन्तर्गत कर लिया है। अनुसूची के भाग ३ में अजमेर, भूपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मनीपुर, त्रिपुरा तथा विंध्यप्रदेश के केन्द्र-द्वारा प्रशासित क्षेत्र हैं। यहाँ पर यह याद रखना चाहिये कि संविधान की स्वीकृति के समय विन्ध्यप्रदेश भाग २ के राज्यों में सम्मिलित था। बाद में उसका अनुसूची के भाग २ से भाग ३ में स्थानान्तरण कर दिया गया। इसके साथ-साथ भाग ३ का कूच-बिहार क्षेत्र पश्चिमी

बङ्गाल में मिल गया और इस प्रकार अलग सङ्गांग के रूप में उसका अस्तित्व विलीन हो गया। प्रथम अनुसूची के भाग ४ में उल्लिखित क्षेत्र, अर्थात् अण्डमन और निकोबार द्वीप भी केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्र हैं। इनके अतिरिक्त आसाम तथा अन्य राज्यों के वे क्षेत्र भी केन्द्र के शासन के अन्तर्गत आते हैं जिनमें अनुसूचित जातियाँ बसती हैं। इन क्षेत्रों को राज्य नहीं कहा जाता है। संसद समय-समय पर, नये राज्यों का कानून द्वारा ऐसे प्रतिबन्धों और अभिसमयों के साथ, जिनको वह उचित समझे, संघ में प्रवेशन अथवा स्थापन कर सकती है। इस समय संविधान की प्रथम अनुसूची के १, २, ३ तथा ४ भागों में भारतीय संघ के निम्नलिखित अङ्ग उल्लिखित हैं:—

भाग १	भाग २	भाग ३	भाग ४
१. आसाम	१. हैदराबाद	१. अजमेर	१. अंडमन तथा निकोबार द्वीप
२. बिहार	२. जम्मू और काश्मीर	२. भोपाल	
३. बम्बई	३. मध्य भारत	३. बिलासपुर	
४. मध्यप्रदेश	४. मैसूर	४. कुर्ग	
५. मद्रास	५. पटियाला तथा पूर्वी पञ्जाब राज्य संघ	५. दिल्ली	
६. उड़ीसा	६. राजस्थान	६. हिमाचलप्रदेश	
७. पंजाब	७. सौराष्ट्र	७. कच्छ	
८. उत्तरप्रदेश	८. ट्रावनकोर-कोचीन	८. मनीपुर	
९. पश्चिमी बङ्गाल		९. त्रिपुरा	
		१०. विन्ध्य प्रदेश	

जहाँ तक भाग १ के राज्यों के शासन का सम्बन्ध है, प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल (Governor) है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति ५ वर्ष के लिये करता है परन्तु जिसका पद-धारण काल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक राज्य में अधिशासी अधिकार के प्रयोग के लिये राज्य के विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एक मन्त्रि-परिषद्, तथा विधि-निर्माण के लिये एक अथवा दो आगारों का विधानमण्डल है। बिहार, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बङ्गाल में दो तथा शेष राज्यों के विधान मण्डल में एक आगार है। प्रत्येक राज्य का अपना अलग उच्च न्यायालय है।

भाग २ के राज्यों में भी उपरोक्त प्रकार की शासन-व्यवस्था ही प्रचलित है। अन्तर केवल इतना है कि उनके शासकों को, जो भूतपूर्व देशी नरेशों में से चुने जाते हैं, राजप्रमुख कहा जाता है। उनकी नियुक्ति का ढङ्ग, पद-धारणकाल, वेतन, भत्ता और उनके विशेषाधिकार भी राज्यपालों (Governors) से भिन्न हैं। इस विषय में उन विशेष समझौतों का अनुसरण किया गया है जो राज्यों के संघीकरण

के समय देशी नरेशों के साथ किये गये थे। अब लगभग सभी राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक विधानमण्डल हैं। मैसूर में विधानमण्डल द्वि-आगारिक है, शेष सब राज्यों में एकागारिक। इन राज्यों के भी अपने अपने उच्च न्यायालय हैं।

भाग ३ के राज्यों का प्रशासन स्वयं राष्ट्रपति चीफ़ कमिश्नरों अथवा उप-राज्यपालों के माध्यम से करता है और संसद इनके लिये विधानमण्डल अथवा परिषद् अथवा सलाहकार नियुक्त एवं स्थापित कर सकती है। आजकल केवल कुर्ग में विधानमण्डल तथा शेष में से केवल कुछ में मन्त्रणा परिषदें हैं। संसद् उनके लिये उच्च न्यायालयों की स्थापना भी कर सकती है।

भाग ४ के राज्यों में राष्ट्रपति स्वयं चीफ़ कमिश्नरों के माध्यम से शासन करता है। वह इन राज्यों के लिये आवश्यकतानुसार कोई भी नियम बना सकता है।

अनुसूचित क्षेत्रों, अनुसूचित जातियों तथा आसाम राज्य की जन-जातियों के लिये, प्रान्त का राज्यपाल अथवा राजप्रमुख, क्षेत्रों तथा जातियों की शान्ति और सुव्यवस्था को ध्यान में रखते हुये नियम बना सकता है। उसे संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून का विखण्डन अथवा संशोधन करने और उसे लागू करने या न करने का भी अधिकार है परन्तु ऐसी स्थिति में उसके लिये पहले जनजातीय परिषद (यदि हो) के साथ परामर्श और तत्पश्चात् राष्ट्रपति का अनुमोदन आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त इन प्रान्तों के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख क्षेत्र में बसने वाली जनजातियों के कल्याण तथा विकास के विषय में मन्त्रणा देने के लिये एक जनजातीय मन्त्रणा परिषद की स्थापना भी करेंगे और इस परिषद के अधिक से अधिक बीस सदस्यों में तीन चौथाई स्थानीय विधानमण्डल में क्षेत्रगत अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि होंगे।

आसाम में स्थित जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिये विशेष प्रावधान बनाये गये हैं। यह क्षेत्र स्वायत्तशासी ज़िलों में विभाजित कर दिये गये हैं और इनमें निर्वाचित सदस्यों की जिला तथा प्रादेशिक परिषदें हैं जिन्हें भूमि के बँटवारे, स्वामित्व प्रयोग और उत्तराधिकार तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, विवाह और सामाजिक प्रथाओं, शिक्षा, इत्यादि के विनियमन की शक्ति प्राप्त है। परन्तु उनके विनियमों की मान्यता के लिए राजपाल की अनुमति आवश्यक होती है। वे ग्राम परिषदों अथवा पञ्चायतों की स्थापना भी कर सकती हैं। यह क्षेत्र स्वायत्तशासी हैं तथा एक सीमा के भीतर स्वशासन का उपभोग करते हैं, परन्तु अपनी पिछड़ी हुई दशा के कारण संघ के पूर्ण राज्य नहीं बन सके हैं। उनके प्रशासन के अधीक्षण के लिये विस्तृत व्यवस्था की गई है।

देशी राज्यों का एकीकरण—लार्ड माउंटबेटेन के ३ जून सन् १६४७ ई०

के वक्तव्य में अँग्रेज़ों के भारत त्याग के साथ-साथ देशी राज्यों के संदर्भ में ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम शक्ति के निराकरण की भी घोषणा की गई थी। और सन् १६४७ ई० का भारतीय स्वतन्त्रता कानून बन जाने के पश्चात् देशी राज्य स्वतन्त्र हो गये। वे अब किसी अधिराज्य में भी सम्मिलित हो सकते थे। सार्वभौम शक्ति के व्यपगम के परिणामस्वरूप देशी राज्यों के ५६० से अधिक नरेशों को स्वतन्त्रता मिल गई थी। परन्तु इसके कारण एक गहन समस्या भी उठ खड़ी हुई जिसके समाधान पर भारतीय संघ का स्थायित्व निर्भर था। इसके कारण देश के अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट जाने की आशंका उत्पन्न हो गई जिसके परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीय एकता का अन्त स्वाभाविक था। और ऐसी अवस्था में भारत के अस्तित्व के नष्ट हो जाने की प्रतिक्षण सम्भावना थी। परन्तु सरदार पटेल की बुद्धिमत्ता और स्वयं देशी नरेशों की उदार देशभक्ति ने परिस्थिति को सँभाल लिया।

आरम्भ में देशी नरेश भारतीय संघ में सम्मिलित होने के विरुद्ध थे और उनमें से कुछ ने अपने स्वतन्त्र रहने के निश्चय की घोषणा भी कर दी थी। परन्तु जुलाई सन् १६४७ ई० में लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में भारत सरकार के राज्य विभाग (States Department) की स्थापना के साथ घटना-चक्र तीव्र-गति से, तथा वांछित दिशा में, घूमने लगा। सबसे पहले सरदार पटेल ने भारत सरकार की नीति की व्याख्या करते हुये एक वक्तव्य प्रकाशित किया। उन्होंने देशी नरेशों को आश्वासन दिया कि सरकार ऐसी नीति के पक्ष में नहीं है जिससे किसी एक पक्ष के प्रभुत्व की गन्ध आती हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि कोई पक्ष इस स्वतन्त्रता का प्रयोग भारत के सामान्य हितों अथवा लोकमत की सर्वोच्च सत्ता के विरोध में करे। इसके थोड़े ही समय बाद लार्ड माउण्टबेटेन ने भी नरेश-मण्डल (Chamber of Princes) में भाषण देते हुये देशी नरेशों को कम से कम रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और यातायात के विषयों में, भारत अथवा पाकिस्तान में से एक अधिराज्य (Dominion) में सम्मिलित होने का परामर्श दिया। देशी नरेशों पर इन वक्तव्यों का संतोषजनक प्रभाव पड़ा। आरम्भ में कुछ राज्यों ने अनिच्छा का प्रदर्शन अवश्य किया परन्तु अन्ततः जूनागढ़, काश्मीर और हैदराबाद के अतिरिक्त सभी देशी राज्य भारतीय संघ में सम्मिलित हो गये और यह कार्य १५ अगस्त सन् १६४७ ई० के पूर्व पूरा हो चुका था।

भारत सरकार का इस विषय में दृष्टिकोण यह था कि भौगोलिक स्थिति तथा लोकमत से विवश होकर देशी राज्यों को सुविधानुसार दो में से एक अधिराज्य (Dominion) में सम्मिलित होना पड़ेगा। सरकार की धारणा थी कि भौगोलिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोणों से देशी राज्यों के लिये देश की राजनैतिक व्यवस्था से अलग रहने का कोई अर्थ नहीं है। इसके विरोध में राज-

नैतिक विभाग (Political Department) के अंग्रेज़ पदाधिकारी तथा मि० जिन्ना इत्यादि पाकिस्तानी नेता देशी राज्यों तथा उनके नरेशों की पूर्ण स्वतन्त्रता के आदर्श का भ्रमात्मक प्रचार कर रहे थे। परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राजनीतिज्ञ शत्रुओं के इन कुत्सित उद्देश्यों पर विजय प्राप्त कर लेंगे। भारतीय संविधान सभा समूचे संघ के लिये गणतन्त्र के लक्ष्य की घोषणा कर चुकी थी, परन्तु भारत सरकार ने इस पर भी यह स्पष्ट कह दिया कि वह देशी राज्यों के भीतर राजवंशों का उन्मूलन नहीं चाहती है। उसका आग्रह केवल इतना था कि देशी राज्यों को, अपने नरेशों को वैधानिक प्रधान बना कर, प्रजातन्त्रवाद तथा उत्तरदायी शासन के आधार पर अपना अस्तित्व सुदृढ़ तथा स्थायी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। देशी नरेशों को वैधानिक प्रधान (constitutional head) के रूप में कार्य करने का आदेश दिया गया, किन्तु जन-हित को ध्यान में रखते हुये उनके परम्परागत अधिकारों की प्रत्याभूति आवश्यक समझी गई।

हम देख चुके हैं कि अधिकतर देशी राज्य १५ अगस्त सन् १९४७ ई० के पहले ही किसी न किसी अधिराज्य (Dominion) में सम्मिलित हो चुके थे। अत: अगला कदम अनेक सीमित साधनों वाले छोटे-छोटे देशी राज्यों का समवर्ती प्रान्तों में विलयन (merger) था। यहाँ पर एक ध्यान देने की बात यह है कि भारतीय नेताओं के उत्तरदायी शासन के प्रतिपादन का प्रभाव देशी राज्यों में भी दृष्टिगोचर हो रहा था और अनेक राज्यों में जन-आन्दोलन उग्र रूप धारण करने लगा था। कहीं-कहीं इसके कारण अव्यवस्था भी फैल रही थी। देशी नरेशों के पास इस आन्दोलन का दमन करने के लिये साधनों का अभाव था, अतएव उन्होंने विलयन (merger) का प्रस्ताव प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। इससे उनकी समस्या भी हल हो जाती थी और निजी आय का अभिरक्षण भी हो जाता था। छोटे-छोटे देशी राज्यों के एकीकरण की इस प्रक्रिया का आरम्भ उड़ीसा से हुआ। सरदार पटेल ने उड़ीसा के पूर्वी राज्यों के २३ देशी नरेशों को दिसम्बर सन् १९४७ ई० में उड़ीसा प्रान्त के साथ एकीकरण के लिये सहमत कर लिया। १ जनवरी सन् १९४८ ई० को मध्यप्रान्त में छत्तीसगढ़ के १४ देशी राज्य भी उड़ीसा में सम्मिलित हो गये। धीरे-धीरे विलयन की यह प्रक्रिया अन्य प्रान्तों में भी फैलने लगी। फरवरी सन् १९४८ ई० में मकराई का मध्यप्रान्त के साथ, बंगनपल्ले का मद्रास के साथ तथा लोहारू और पतौदी का पूर्वी पंजाब के साथ एकीकरण हो गया। मार्च में पडुकोटा राज्य मद्रास में सम्मिलित हो गया। इसी बीच कोल्हापुर के अतिरिक्त दक्षिण के १६ देशी राज्यों ने बम्बई के साथ एकीकरण का निश्चय कर लिया था। इसके पश्चात् बड़ौदा को छोड़ कर गुजरात के १८ देशी राज्य भी बम्बई में मिल गये। फिर सन्दूर, टेहरी गढ़वाल, बनारस, रामपुर, जैसलमेर तथा कूचबिहार राज्यों का

समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन हुआ। पंजाब के २१ पर्वतीय देशी राज्यों (Hill States) ने अपना हिमाचल प्रदेश नाम का केन्द्राधिशासित संघ बना लिया और कुछ समय पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने त्रिपुरा तथा मनीपुर को भी अपने अधिशासन में ले लिया।

इसके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े, एक दूसरे से मिले हुये, देशी राज्यों ने विलयन की प्रक्रिया द्वारा अपने संघ स्थापित कर लिये। इन संघों के प्रधान के पद पर संघ में सम्मिलित होने वाले किसी न किसी देशी राज्य के नरेश को आसीन किया गया। संघों के यह वैधानिक प्रधान राजप्रमुख कहलाते हैं। प्रत्येक संघ में राजप्रमुख को परामर्श देने के लिए अस्थायी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना की गई। संघों को भारत सरकार द्वारा निर्धारित साधारण सिद्धान्तों के आधार पर संघ का संविधान बनाने के लिए अपनी-अपनी संविधान-सभायें निर्वाचित करने का भी अधिकार दिया गया। इस प्रकार के पहले देशी राज्य-संघ-सौराष्ट्र की स्थापना १५ फरवरी सन् १९४८ ई० को हुई। तत्पश्चात् मध्य भारत, राजस्थान, विन्ध्य-प्रदेश, मत्स्य, ट्रावनकोर कोचीन तथा पटियाला और पूर्वी पञ्जाब राज्य-संघों का निर्माण हुआ। भोपाल, बिलासपुर तथा कुछ अन्य देशी राज्यों को भारत सरकार ने अपने अधिशासन में ले लिया। जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। परन्तु जनता इसके पक्ष में नहीं थी और उसने नवाब के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस पर नवाब साहब ने भाग कर पाकिस्तान में शरण ली और जनता ने ९१ के विरुद्ध १९०, ७७९ मतों से भारत में सम्मिलित होने का निश्चय किया। इसके पश्चात् सौराष्ट्र के साथ जूनागढ़ का एकीकरण हो गया। इस प्रकार केवल तीन सबसे बड़े देशी राज्य, हैदराबाद, काश्मीर तथा मैसूर, अलग संघांगों के रूप में भारत में सम्मिलित किये गये। शेष देशी राज्य या तो समीप के प्रान्तों में मिल गये, या उन्होंने अन्य देशी राज्यों के साथ मिलकर संघ स्थापित कर लिए।

हैदराबाद और काश्मीर का विस्तृत विवरण देना आवश्यक है क्योंकि हैदराबाद यथेष्ट समय तक भारत सरकार के लिये एक समस्या बना रहा और काश्मीर की समस्या आज भी वैसी ही है। हैदराबाद का शासन अधिकांशत: प्रतिक्रियावादी था। वहाँ शासन की बागडोर मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के हाथ में थी और पाकिस्तान की प्रेरणा से यह लोग राज्य के जन-आन्दोलन का कठोरता के साथ दमन कर रहे थे। कासिम रिज़वी के नेतृत्व में रज़ाकार निर्दोष हिन्दू प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार कर रहे थे और चारों ओर आतंक का साम्राज्य फैला था। भारत सरकार ने आरम्भ में समस्या को शान्तिपूर्वक हल करने का प्रयत्न किया। उसने १४ नवम्बर सन् १९४७ ई० को हैदराबाद के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसके परिणामस्वरूप राज्य की रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा यातायात विभागों पर भारत

सरकार का नियन्त्रण हो गया और शेष विषयों में अस्थायी रूप से पूर्वस्थिति बनी रही। परन्तु राज्य के भीतर हिंसा तथा अराजकता की बढ़ती हुई लहर तथा निज़ाम और उनकी सरकार के हठपूर्ण व्यवहार से विवश होकर भारत सरकार ने निश्चय किया कि अब वह हैदराबाद के इस अत्याचारपूर्ण कुशासन को देख कर तटस्थ नहीं रह सकती। ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम शक्ति के व्यपगम के साथ निज़ाम को निरंकुश शासन की स्वतन्त्रता मिल गई थी, यह दृष्टिकोण भारत सरकार कदापि स्वीकार नहीं कर सकती थी। अतएव भारत सरकार ने निज़ाम से रज़ाकारों के विसंघटन की माँग करते हुये अराजकता दूर करने में सहायता करने के लिये सिकन्द-राबाद में भारतीय सेना की पुनर्नियुक्ति का प्रस्ताव किया। परन्तु निज़ाम को यह परामर्श रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ। इस पर १३ सितम्बर सन् १९४८ ई० को भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निज़ाम की सेना ने सामना करने का प्रयत्न किया परन्तु ठहर न सकी। १७ सितम्बर को मीर लायक अली के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिया और निज़ाम ने शासन अपने हाथ में लेकर अपनी सेना को आत्म-समर्पण का आदेश दिया। इस प्रकार हैदराबाद में केवल ५ दिन तक सैनिक कार्य-वाही हुई। इस अपवाद के अतिरिक्त सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा संचालित देशी राज्यों की क्रान्ति में कहीं रक्तपात नहीं हुआ। १९ सितम्बर को सरदार पटेल ने घोषणा की कि हैदराबाद के भविष्य का निर्णय स्वयं राज्य की जनता करेगी। २३ सितम्बर को निज़ाम ने राज्य का प्रशासन सैनिक शासक मेजर-जनरल चौधरी के हाथों में सौंप दिया और अपनी प्रजा को आदेश दिया कि सैनिक-शासन की प्रत्येक प्रकार से सहायता की जाय। अक्टूबर का अन्त होते-होते हैदराबाद में फिर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हो गई। इसके लगभग एक वर्ष पश्चात् हैदराबाद भारतीय संघ में सम्मिलित हो गया और सैनिक-शासन का स्थान एक अस्थायी मन्त्रिमण्डल ने ले लिया।

काश्मीर की समस्या का समाधान अब भी शेष है। भारत के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान द्वारा उत्तेजित किये जाने पर सीमान्त के पठानों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। अतएव अक्टूबर सन् १९४७ ई० में सुरक्षा तथा भारतीय सेना की सहायता प्राप्त करने की आशा से काश्मीर ने भारत में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। भारत सरकार ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और भारतीय सेना ने ठीक समय पर काश्मीर पहुँच कर श्रीनगर तथा काश्मीर और जम्मू का अधिकांश भाग आततायियों से बचा लिया। भारत सरकार ने केवल रक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा यातायात के विषयों में काश्मीर का भारतीय संघ में प्रवेश स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया कि काश्मीर के भविष्य का अन्तिम निर्णय वहाँ के निवासी स्वयं करेंगे। इसके कुछ समय बाद भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को सूचना दी कि पाकिस्तान

ने काश्मीर में आक्रमण कर दिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ तत्काल कुछ न कर सका, अतः भारत का काश्मीर की समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का यह प्रयत्न असफल रहा। काश्मीर का युद्ध लगभग एक वर्ष तक चलता रहा और अन्त में यह स्पष्ट हो गया कि शीघ्र ही भारतीय सेना विजयी होगी। इसी समय संयुक्त राष्ट्रसंघ ने बीच में पड़ कर विराम-सन्धि (cease-fire) करवा दी। विराम-सन्धि हुए तीन वर्ष से अधिक हो गये हैं; संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा समिति कई बार इस विषय पर विवाद करके मध्यस्थता (mediation) तथा उपनिर्णय (arbitration) के प्रस्ताव उपस्थित कर चुकी है; सर ओवेन डिक्सन स्वीकरणीय समाधान (acceptable solution) खोजने का प्रयत्न कर चुके हैं और डा० ग्राहम इस समय भी इसी दिशा में प्रयत्नरत हैं; परन्तु सही बात यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को काश्मीर में जो कुछ करना चाहिए था वह उसने नहीं किया। कोरिया में उसने आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपनी सेना भेजी, परन्तु काश्मीर में पाकिस्तान के विरुद्ध ऐसा नहीं किया। वास्तव में यह बड़े खेद की बात है और इसका एकमात्र कारण यही समझ में आता है कि ब्रिटिश पदाधिकारियों, ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश समाचार-पत्रों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही भारत विरोधी रहा है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के क्षेत्रों में अब भी आँग्ल-अमरीकी धुरी का ही बोलबाला है। सन् १६५१ में यह समाचार आया था कि सीमा के दोनों ओर भारतीय तथा पाकिस्तानी सेनायें एकत्रित हैं। युद्ध की इस तैयारी में पाकिस्तान की ओर से, अविभाजित भारत के प्रधान सेनापति फील्ड-मार्शल सर क्लाड आकिन्लेक (Sir Claude Auchinleck) भी कई महीनों तक बहुत अधिक तथा सक्रिय भाग लेते रहे। परन्तु हमारे प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करदी कि "भारत पाकिस्तान पर किसी दशा में भी आक्रमण नहीं करेगा। परन्तु यदि पाकिस्तान ने भारत के राज्य-क्षेत्र में किसी स्थान पर आक्रमण किया तो उसका डट कर सामना किया जायेगा।" काश्मीर भारतीय संघ का एक भाग है, यह दूसरी बात है कि हमारी सरकार ने उसमें की गई पूर्ण स्वतन्त्र मतगणना का निर्णय स्वीकार कर लेने का बचन दे दिया है। हाल ही में शेख अब्दुल्ला के लोकप्रिय शासन ने भारत के प्रति निष्ठा की घोषणा करते हुए काश्मीर में जनमत के आधार पर राज्य के लिए एक संविधान सभा स्थापित कर दी है। और यह स्पष्ट है कि इन बातों से घबरा कर ही पाकिस्तान दुस्साहस का पथ धारण कर रहा है। पाकिस्तान के नेताओं के समय-समय पर उत्तेजनाजनक भाषण होते रहते हैं जिनसे काश्मीर की जनता को आक्रमण का भय बराबर बना रहता है। अतः निकट भविष्य में काश्मीर की समस्या का शान्तिपूर्वक समाधान होने की आशा प्रतीत नहीं होती है और अन्तिम निर्णय के लिये हमें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

संक्षेप में, देशी राज्यों के एकीकरण एवं प्रजातन्त्रीकरण के साथ देशी नरेशों

द्वारा शासित भारत के अस्तित्व का अन्त हो गया है। आज भारत में जिस एकता के दर्शन होते हैं वैसी भारत के पूरे इतिहास में कभी प्राप्त नहीं की जा सकी। ५६२ देशी राज्यों के स्थान में अब हमारे मानचित्र में ५–६ यथेष्ट विस्तार वाले राज्य-संघ, थोड़े से केन्द्राधिशासित क्षेत्र और मैसूर, हैदराबाद और काश्मीर के तीन राज्य हैं जो भारतीय संघ के अंग बनचुके हैं। भारत के अनेक शत्रु यह आशा कर रहे थे कि विभाजन के पश्चात् ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम शक्ति के व्यपगम के परिणामस्वरूप भारत की एकता का अन्त हो जायगा। परन्तु सरदार पटेल की कुशल राजनीति ने सभी देशी नरेशों को यह विश्वास दिला दिया कि देश को अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित रखने का परिणाम बड़ा भयानक होगा। सरदार पटेल के प्रयत्नों के फलस्वरूप थोड़े ही समय में अनेक छोटे-छोटे देशी राज्यों का समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन हो गया और कई राज्य-संघ तथा केन्द्राधिशासित क्षेत्र बन गये। यह देखकर भारत के शत्रु आश्चर्य-चकित रह गये। उन्हें सबसे अधिक निराशा इस बात से हुई कि भारत में बिना किसी रक्तपात के ही इतने बड़े-बड़े राजनैतिक परिवर्तन हो गये। हैदराबाद में ही नहीं काश्मीर में भी कम से कम जीवन-हानि हुई है। देशी नरेशों तथा उनकी जनता की देशभक्ति की सच्ची नींव पर भारत की प्रगति का स्तम्भ ऊँचा तथा सुदृढ़ हो सका है। यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सफलता है। और इस बात का श्रेय केवल एक व्यक्ति को है। यह सरदार पटेल की ही प्रतिभा थी कि आज भारत इतना अधिक संयुक्त तथा शक्तिशाली हो गया है।

प्रादेशिक एकीकरण के साथ-साथ देशी राज्यों में प्रजातन्त्रीकरण की प्रक्रिया भी चल रही थी। श्री बी० एन० राव के सभापतित्व में भारतीय संविधान सभा के सात सदस्यों की एक समिति ने एक आदर्श संविधान बनाया जिसमें देशी राज्यों को भूतपूर्व प्रान्तों के से अधिकार तथा उत्तरदायित्व देकर समान साझीदारी का पद दिया गया। कृष्णमाचारी समिति के सुझावों को कार्यान्वित करके देशी राज्यों का आर्थिक एकीकरण किया गया जिसके परिणामस्वरूप देशी राज्यों तथा केन्द्रीय शासन के भी वैसे ही सम्बन्ध हो गये जैसे केन्द्रीय शासन तथा प्रान्तों के थे। आन्तरिक प्रतिबन्ध निर्मूल हो जाने के पश्चात् व्यापार तथा वाणिज्य का पनपना स्वाभाविक ही है और एक आर्थिक इकाई बनकर भारत के लिये उन्नति की बहुत सम्भावना है। देशी नरेशों की व्यक्तिगत आय (privy purse) का निश्चय हो जाने के पश्चात् उनकी निजी सम्पत्ति भी राज्य सम्पत्ति से अलग हो गई है। एक और उल्लेखनीय प्रगति यह हुई है कि अब देशी राज्य भी अखिल भारतीय सेवावर्गों के अन्तर्गत आ गये हैं और वहाँ भी लोकसेवा आयोगों (Public Service Commissions) की स्थापना हो गई है। संविधान में सभी राज्यों के लिये समान न्याय-प्रणाली की भी व्यवस्था की गई है अतएव देशी राज्यों ने अधिशासन और न्यायपालिका का

पृथक्करण करके उच्च न्यायालयों की स्थापना की है। अँग्रेज़ी सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) की समाप्ति के पहले केवल कुछ देशी राज्यों में ही जनता की प्रतिनिधि-संस्थायें नाममात्र को थीं। किन्तु अब स्थिति बदल गई है और पिछले साधारण निर्वाचन के पश्चात् लगभग सभी देशी राज्यों तथा राज्य-संघों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गई है और पुराने सामन्तशाही शासन का स्थान जन-प्रिय सरकार ने ले लिया है। भारतीय संघ में सम्मिलित देशी राज्यों की सेना को भारतीय सेना के साथ मिला देने का प्रबन्ध भी किया गया है और अब वह सेनायें भारत सरकार के अधीन हो गई हैं। और अन्त में, संविधान द्वारा संघ-शासन को संक्रमणकाल (transitory period) में देशी राज्यों पर अधीक्षण का अधिकार दिया गया है। अतएव इन राज्यों के बजट तथा अन्य महत्वपूर्ण बिल अन्तिम स्वीकृति के पूर्व केन्द्रीय सरकार के पास भेजे जाते हैं।

परन्तु देशी राज्यों से सम्बन्धित कार्य अभी पूरा-पूरा समाप्त नहीं हुआ है। सम्भव है भाषानुसार प्रान्तों की माँग के अनुसार अथवा देश के विभिन्न भागों की जनता की अन्य महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये सीमाओं का पुनर्व्यवस्थापन आवश्यक हो जाये। दूसरे, राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक एवं उत्तरदायी शासन के सफल संचालन के लिये उचित तथा उपयुक्त प्रशासन का विधान करना होगा। देशी राज्यों तथा उनके निवासियों को अभी प्रतिनिधि संस्थाओं की कार्य-प्रणाली का कोई अनुभव नहीं है। कुछ राज्य तो ऐसे भी हैं जिन्होंने अभी तक केवल निरंकुश एकतन्त्र का ही स्वरूप देखा है। और अन्त में, राज्यों में अनेक राजनैतिक दल तथा वर्ग उत्पन्न हो गये हैं। वे तनिक-तनिक सी बातों पर परस्पर लड़ते रहते हैं और शक्ति तथा पद के लोभ में सब कुछ करने के लिये तैयार रहते हैं। इस प्रवृत्ति का दमन भी आवश्यक है, भले ही इसके लिये केन्द्रीय शासन को कभी कभी राज्यों के कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़े।

संघ और राज्यों के सम्बन्ध

विधायी सम्बन्ध—प्रत्येक संघात्मक संविधान में संघ सरकार और राज्यों की सरकार के अधिकार बँटे हुये होते हैं। संविधान में उनके आपस के विधायी, प्रशासी तथा वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख होता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा स्विट्ज़रलैण्ड के समान पुराने प्रकार के संघ राज्यों में केन्द्र तथा अंगों (unity) के बीच शक्तियों का अपरिवर्तनशील (rigid) विभाजन पाया जाता है। इस विभाजन का आधार यह होता है कि सार्वदेशीय महत्व के विषय संघ सरकार के अधीन रखे जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय राज्यों की सरकारों के अधीन। परन्तु यह दो सूचियों वाला विभाजन असुविधाजनक सिद्ध हो चुका है और आधुनिक विचारधारा के अनुसार

कुछ विषयों के क्षेत्र में सभी संघांगों में समान नीति का होना आवश्यक समझा जाता है। अतएव नये संघराज्यों में समवर्ती शक्तियों (concurrent powers) की एक तीसरी सूची का समावेश किया जाता है। इस सूची में वर्णित विषयों पर संघ तथा राज्य दोनों के विधान मण्डलों को कानून बनाने का अधिकार होता है। हमारे संविधान में भी विधायी तथा अधिशासी प्राधिकार की शक्तियों को इन तीन सूचियों में विभाजित किया गया है।

संघ की शक्तियाँ—सबसे पहले ९७ विषयों (items) की संघ-सूची है। इस सूची में उल्लिखित विषयों पर केवल संघीय संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। संघ-सूची में निम्नलिखित विषय मुख्य हैं:—देश की रक्षा, भारत की जल, स्थल तथा नभ सेनाओं का नियन्त्रण, शस्त्रास्त्र, अग्न्यस्त्र (ammunition) तथा स्फोटक (explosives), अणुशक्ति, प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योग, वैदेशिक सम्बन्ध, संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित विषय तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, सन्धि, युद्ध तथा शांति, नागरिकता तथा देशीयकरण (naturalisation), प्रत्यर्पण (extradition), भारत में प्रवेश तथा भारत से निष्कासन (immigration and emigration), रेल, राष्ट्रीय राजमार्ग, सामुद्रिक नौ-परिवहण (navigation), बन्दरगाह, वायुमार्ग, डाक और तार, लोकऋण, चलार्थ (currency), विदेशीय विनिमय (foreign exchange) तथा मुद्रानिर्माण (coinage), भारत का रिजर्व बैंक, अन्तर्राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, बैंक, निगम (corporations), बीमा, एकस्व (patents), आविष्कार, भार तथा माप, दिल्ली, बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय और राष्ट्रीय पुस्तकालय, संग्रहालय तथा प्रयोगशालायें आदि अन्य संस्थायें, भारत-भूमापन विभाग तथा इसी प्रकार के अन्य संगठन, जनगणना, संघ लोकसेवायें (Union Public Services), उत्तरवेतन (pensions); संघ तथा राज्यों के निर्वाचन, संघ तथा राज्यों का लेखा और अंकेक्षण (audit and accounts), सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय, कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर, निराक्रम्य कर (customs), सौषविक पेयों (alcohols) तथा अफीम को छोड़ कर अन्य सभी आबकारी पदार्थों पर कर, निगम-कर (corporation tax), भूसम्पत्ति तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी शुल्क, वस्तुओं अथवा यात्रियों पर सीमा कर (terminal tax), विनिमय पत्रों (bills of exchange), धनादेशों (cheques) इत्यादि पर मुद्रांक बलि (stamp duty), समाचार-पत्रों की बिक्री तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर, संघ-सूची के विषयों में से किसी पर शुल्क (fees), तथा कोई और विषय अथवा कोई अन्य कर जिसका उल्लेख अन्य दोनों सूचियों में न किया गया हो। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि संघ की यह सूची अत्यन्त व्यापक है। प्रत्येक विषय जिसका प्रभाव समूचे देश के हित, कल्याण अथवा विकास पर पड़ सकता है, इसमें सम्मि-

लित है। इसके अतिरिक्त समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ (residuary powers) भी संघ के अधिकार-क्षेत्र में स्वीकार कर ली गई हैं। इस सूची की व्यापकता को देख कर बहुधा लोग कहने लगते हैं कि संघ-स्थित राज्यों के अधिकारों तथा प्राधिकारों का क्षेत्र इतना सीमित कर दिया गया है कि उनकी स्थिति अधीन प्रान्तों की सी प्रतीत होती है, एक संघ के संविधायक अंगों की सी नहीं।

राज्यों की शक्तियाँ—दूसरी सूची राज्यों को सौंपे गये विषयों की है जिसके अन्तर्गत कुल मिलाकर ६६ विषय हैं। इस सूची के अधिक महत्वपूर्ण विषय निम्न-लिखित हैं:—सार्वजनिक व्यवस्था (public order), पुलिस, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त संघ न्यायालयों का क्षेत्राधिकार तथा उनकी शक्तियाँ, कारागार, स्थानीय स्वशासन, लोक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, निर्धनों की सहायता, वृत्ति-हीनता (unemployment), शिक्षा (जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी हैं), राज्य-मार्ग तथा जलमार्ग, कृषि, सिंचाई, भूमि व्यवस्था, वन, मछली पकड़ने के स्थान, खनिज-विकास, परिरक्षण उद्योगों (defence industries) के अतिरिक्त अन्य सब उद्योग, वस्तुओं का उत्पादन, स्थानीय निर्वाचन, राज्य की लोक सेवायें, राज्य का लोकऋण, भू-आगम (land revenue), कृषि-आय पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकार से सम्बन्धित कर, भू-सम्पत्ति कर, इमारतों तथा खनिज-अधिकारों पर कर, सौषविक पेयों (alcohols) तथा अफीम पर उत्पाद-बलि (excise duty), बिजली के उपभोग अथवा विक्रय पर कर, पशुओं तथा वाहनों पर कर, व्यवसायों, वाणिज्यों तथा वृत्तियों पर कर, विलास तथा आमोद-प्रमोद की वस्तुओं पर कर, प्रति॰व्यक्ति-कर (capitation tax) तथा इस सूची में से किसी विषय के सम्बन्ध में शुल्क (fees) जिसमें किसी न्यायालय में लिये जाने वाले शुल्क सम्मिलित नहीं हैं। इस सूची के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय हित के विषयों के साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण तथा राष्ट्रीय कल्याण का एक विस्तृत क्षेत्र राज्यों के अधीन छोड़ा गया है।

समवर्ती शक्तियाँ—तीसरी सूची समवर्ती शक्तियों की है। इसमें सब मिला-कर ४७ विषय हैं जिनके सम्बन्ध में विधि-निर्माण का अधिकार संघ तथा राज्य दोनों के विधानमण्डलों को प्राप्त है। इस सूची के विषयों का दो मोटे भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—पहला वर्ग उन विषयों का है जो दण्ड तथा व्यवहार विधि (civil and criminal law) से सम्बन्धित हैं, और दूसरा उनका जो सामा-जिक तथा आर्थिक कल्याण से सम्बन्ध रखते हैं। पहले वर्ग में निम्नलिखित विषय सम्मिलित हैं:—दण्ड-विधि तथा प्रक्रिया (criminal law and procedure), निवारक अवरोध (preventive detention), विवाह और विवाह-विच्छेद, इच्छापत्रहीनत्व (intestacy), गोद लेना तथा उत्तराधिकार, कृषि-भूमि के अति-

रिक्त अन्य सम्पत्ति का हस्तान्तरण, पंजीयन (registration), प्रसंविदाएँ (contracts), दिवाला, प्रन्यास (trusts), साक्ष्य तथा शपथ, इत्यादि। इन विषयों को समवर्ती सूची में रखने का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि राज्यों के विधि निर्माण के कारण कम से कम उन विषयों में किसी प्रकार की विभिन्नता न रहने पाये जिनका प्रभाव राष्ट्रीय एकता तथा एकरूपता पर पड़ता है। समवर्ती विषयों के दूसरे वर्ग में निम्नलिखित प्रमुख हैं:—खानें, कारखाने, श्रमिक संघ, श्रमिकों का कल्याण, औद्योगिक विवाद, छूत की बीमारियाँ, खाद्य पदार्थों की मिलावट (adulteration), विष तथा भेषज (drugs), आर्थिक तथा सामाजिक योजना, समाचारपत्र, पुस्तकें तथा मुद्रणालय, मूल्य नियंत्रण, सामाजिक बीमा, शरणार्थियों की सहायता तथा पुनर्वास, पुरातत्व (archaeology) आदि। इन विषयों के सम्बन्ध में संघ अपने राज्य-शासनों को निदेश देने की शक्ति का उचित प्रयोग कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि संघ के विभिन्न प्रदेशों में आर्थिक तथा सामाजिक समानता होनी चाहिये; अन्यथा जनता में विरोध तथा असन्तोष उत्पन्न होने की संभावना बनी रहेगी। समवर्ती सूची के विषयों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होने पर संघीय संसद द्वारा स्वीकृत कानूनों को राज्यों के कानूनों के ऊपर मान्यता प्राप्त होगी। परन्तु आरक्षित होकर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भाग १ और २ के राज्यों के कानून पूर्व-स्वीकृत संघीय कानूनों से अधिक मान्य होंगे। बाद में संसद इस प्रकार निर्मित राज्यों के कानूनों का परिवर्तन अथवा विखण्डन कर सकती है।

अवशिष्ट शक्तियाँ—शासनगत समस्त सम्भव शक्तियों का सूचीकरण असम्भव है। दोनों पक्षों के बीच शक्ति-विभाजन की योजना हम चाहे जितनी सावधानी के साथ क्यों न बनायें, कुछ शक्तियों के छूट जाने की सम्भावना सदा बनी रहती है। इस प्रकार की शक्तियाँ जिनका उल्लेख किसी पक्ष की शक्ति-सूची में न हुआ हो, अवशिष्ट शक्तियाँ कही जाती हैं; और उनके विषय में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न न हो, अतएव सभी संघीय संविधानों में यह शक्तियाँ किसी न किसी पक्ष को अवश्य सौंप दी जाती हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका, स्विट्ज़रलैंड तथा आस्ट्रेलिया में अवशिष्ट शक्तियाँ संघांगों को सौंपी गई हैं, और कनाडा तथा दक्षिणी अफ्रीका में संघ-शासन को। भारत में हमने कनाडा तथा दक्षिणी अफ्रीका का अनुकरण कर अनुल्लिखित कर लगाने की शक्ति सहित सभी अवशिष्ट शक्तियाँ संघीय संसद को दी हैं।

संघीय संसद की अभिभावी शक्तियाँ (over-riding powers)—साधारणतया यह कहा जा सकता है कि संसद को भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिये विधि बनाने का अधिकार है, और किसी राज्य का विधान-

मण्डल उस सम्पूर्ण राज्य के, अथवा उसके किसी भाग के लिये विधि बना सकता है। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राज्यों के विधानमण्डलों की शक्तियों पर उनके अपने क्षेत्राधिकार के भीतर भी निम्नलिखित प्रतिबन्ध हैं :—

(१) राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा पास किये हुये कुछ प्रकार के कानून उस समय तक मान्य न होंगे जब तक कि वे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित होकर उनकी अनुमति न प्राप्त कर लें। इस कोटि में निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित कानून सम्मिलित हैं :—(अ) सम्पत्ति की अवाप्ति (acquisition of property); (ब) समवर्ती विषयों में संसद द्वारा बनाये गये कानूनों के विरुद्ध राज्य द्वारा निर्मित कानून; और (स) उन वस्तुओं के क्रय अथवा विक्रय पर कर-आरोपण जो संसद द्वारा समाज के जीवन के लिये आवश्यक घोषित कर दी गई हों।

(२) कुछ प्रकार के विधेयक (Bills) बिना राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति प्राप्त किये राज्य के विधानमण्डल में उपस्थित ही नहीं किये जा सकते हैं। इस कोटि में वे विधेयक आते हैं जिनका उद्देश्य उस राज्य के साथ अथवा उसके भीतर, व्यापार तथा वाणिज्य आदि पर लोक हित में प्रतिबन्ध लगाना हो।

(३) यदि राज्य-परिषद् (Council of States) अथवा किसी राज्य की व्यवस्थापिका सभा दो-तिहाई उपस्थित सदस्यों के बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक है कि संसद "राज्य-सूची" में अंकित और उस प्रस्ताव में उल्लिखित किसी विषय के सम्बन्ध में कानून बनावे, तो संसद को उस विषय के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार होगा। ऐसा केन्द्रीय कानून एक बार में एक वर्ष तक लागू रहेगा। इस प्रस्ताव को दुबारा पास करके एक वर्ष के लिये और बढ़ाया जा सकता है। संसद द्वारा ऐसे प्रस्ताव के अधीन बनाया हुआ कानून प्रस्ताव की अवधि समाप्त होने के बाद भी ६ महीने तक लागू रहेगा।

(४) अरक्षा अथवा अव्यवस्था के कारण, राष्ट्रपति द्वारा आपात-स्थिति (state of emergency) की घोषणा हो जाने पर संसद राज्यों के लिये भी सभी विषयों के सम्बन्धों में कानून बना सकेगी तथा उचित कार्यवाही कर सकेगी। इस प्रकार के कानून घोषणा का प्रवर्तन-काल (operative period) समाप्त होने के ६ मास पश्चात् प्रभावहीन हो जायेंगे। संसद के इस अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि आपात काल में राज्य के विधानमण्डलों को कोई अधिकार ही नहीं रह जायेगा। इसका आशय यह है कि दोनों का विरोध होने पर संसद द्वारा बनाया हुआ कानून मान्य होगा। किन्तु किसी राज्य की संवैधानिक व्यवस्था टूट जाने की दशा में राष्ट्रपति राज्य के विधानमण्डल की सारी शक्तियाँ उससे लेकर संसद को सौंप सकता है। संसद भी इन शक्तियों का स्वयं प्रयोग न करके उनको राष्ट्रपति को सौंपते हुये उन्हें यह प्राधिकार दे सकती है कि वह किसी निर्दिष्ट प्राधिकारी को यह

शक्तियाँ अपने प्रतिनिधि के रूप में सौंप दे। इस प्रकार के कानून घोषणा का प्रवर्तन-काल समाप्त होने के एक वर्ष बाद अप्रवर्तनीय हो जायेंगे।

(५) दो अथवा अधिक राज्यों के विधानमण्डलों की प्रार्थना पर संसद उन राज्यों के लिये "राज्य-सूची" के विषयों के सम्बन्ध में कानून बना सकेगी। और उन राज्यों के विधानमण्डलों को उन कानूनों में कोई संशोधन या उन्हें रद्द करने का कोई अधिकार नहीं होगा। ऐसा कानून किसी अन्य राज्य में भी लागू हो सकेगा अगर वहाँ का विधानमण्डल भी एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय करे कि इस विषय पर संसद ही कानून बनावे।

(६) संसद को किसी अन्य देश अथवा देशों के साथ की हुई किसी सन्धि अथवा संविदा के सम्पालनार्थ कोई कानून बनाने की शक्ति है, भले ही इस प्रकार के कानून का सम्बन्ध राज्य-सूची में उल्लिखित किसी विषय से हो।

(७) और अन्त में, अवशिष्ट विषयों से सम्बन्धित सारी विधायी शक्तियाँ संघ में निहित हैं। जिन विषयों का पूर्व-वर्णित तीनों सूचियों में उल्लेख न मिलता हो, उनके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार केवल संसद को ही है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संघ को राज्यों के ऊपर विस्तृत विधायी, तथा उसके परिणामस्वरूप प्रशासी, प्राधिकार प्राप्त हैं। संविधान ने सबल केन्द्रीय शासन की स्थापना का प्रयत्न किया है। हमारे संविधान-निर्माताओं की धारणा थी कि इस प्रकार का सबल केन्द्रीय शासन भारत की राजनैतिक आवश्यकता होने के साथ-साथ अन्य देशों की वर्तमान विचारधारा के अनुसार ही है। संघ-शासन की आधुनिक प्रवृत्ति शक्ति के केन्द्रीकरण की ओर है। परन्तु कुछ आलोचकों का मत है कि केन्द्रीय शासन द्वारा राज्यों के प्राधिकार-क्षेत्र में यह हस्तक्षेप उचित नहीं है, इसमें प्रजातन्त्र विरोधी सम्भावनायें विद्यमान हैं। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि आजकल सुसम्बद्ध तथा सुचारु व्यवस्था के हित में सबल केन्द्र का अस्तित्व आवश्यक हो गया है, तो भी यह मानना पड़ेगा कि भारत की वर्तमान स्थिति में, जब कि जनसंख्या का अधिकाँश भाग अशिक्षित है, अधिक छोटे निर्वाचकमण्डलों द्वारा निर्वाचित राज्यों के विधानमण्डल निश्चय ही अधिक प्रजातन्त्रात्मक तथा साधारण जनता के अधिक प्रतिनिधि हैं। आलोचकों की धारणा है कि राज्यों की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों और केन्द्र तथा राज्यों के बीच गत्यवरोध (deadlocks) की सम्भावना दूर करने का एक अधिक अच्छा उपाय यह होता कि दोनों पक्षों के बीच शक्तियों का संतुलित समायोजन (balanced adjustment) करके समझौता और धैर्य की भावना से काम लिया जाता। अमरीका तथा आस्ट्रेलिया की संघ-योजना में ऐसा ही किया गया है। भारत में भी इसी प्रकार राज्यों की स्वतन्त्रता तथा सबल केन्द्र की आवश्यकता का संतुलन किया जा सकता था।

परन्तु ऐसा नहीं किया गया है। हमारा संविधान एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि संकट काल में ही नहीं साधारण काल में भी संसद् राज्य सूची में वर्णित विषयों पर क़ानून बना सकती है।

प्रशासी सम्बन्ध—वे सारे विषय जिनके सम्बन्ध में क़ानून बनाने का अधिकार संसद् को है, संघ की कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत हैं, और प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक है जिनके सम्बन्ध में राज्य का विधानमण्डल क़ानून बना सकता है। परन्तु जहाँ तक समवर्ती सूची का सम्बन्ध है, उसमें उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित कार्यपालिका शक्ति साधारणतया राज्यों में निहित होती है। संसद् असाधारण परिस्थितियों में ही यह विनिधान कर सकती है कि समवर्ती-सूची के किसी विषय से सम्बन्धित किसी विधि का अधिशासन केन्द्रीय उत्तरदायित्व होगा।

संघ-व्यवस्था में साधारणतया यह आवश्यक होता है कि अपनी बनाई हुई विधियों के प्रशासन के लिये संघ तथा राज्यों के अपने अलग-अलग अधिशासक-वर्ग हों और दोनों पक्षों का अधिशासी अधिकार उनके विधायी अधिकार का सह-विस्तारी (co-extensive) हो। परन्तु वास्तव में अमरीका के अतिरिक्त किसी संघ राज्य में संघ-विधियों के अधिशासन के लिये अलग संघीय अधिशासी अथवा न्यायिक अधिकारी वर्ग की व्यवस्था नहीं है। नये भारतीय संविधान के अन्तर्गत भी संघ-शासन को अपने क़ानूनों को कार्यान्वित करने के लिये अधिकांशत: राज्यों के प्राधिकारी वर्ग पर निर्भर रहना पड़ेगा। राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार को किसी केन्द्रीय विषय का प्रशासन सौंप सकता है और संसद किसी राज्य के पदाधिकारी को कोई संघ-विषय से सम्बन्धित शक्तियाँ तथा कर्तव्य दे सकता है।

केन्द्र तथा राज्यों के प्रशासन-सम्बन्धों के विषय में संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि राज्यों का यह कर्तव्य होगा कि वे संसद् द्वारा निर्मित क़ानूनों के पालन का का सुनिश्चयन करें तथा संघ के प्राधिकार का अवरोध अथवा विरोध न करें। केन्द्र तथा अङ्गों के क्षेत्राधिकारों में समायोजन (coordination) प्राप्त करने के उद्देश्य से संघ राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकता है। इसके साथ ही संघ राष्ट्रीय महत्व के आवागमन के साधनों के निर्माण तथा उनकी रक्षा करने के लिये और राज्य की सीमाओं के अन्दर रेलों की रक्षा के लिये राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकता है। इन निर्देशों के पालन में जो अतिरिक्त व्यय राज्य को करना पड़ेगा वह संघीय सरकार देगी। इन प्रावधानों के परिणामस्वरूप राज्यों का अधिशासी प्राधिकार बहुत सीमित हो जाता है और संघ-शासन के लिये, बिना राज्यों के हस्तक्षेप अथवा अवरोध के, अपने प्रशासी प्रकार्यों के पालन की यथेष्ट स्वतन्त्रता हो जाती है। संविधान में एक प्रावधान इस प्रकार का भी है कि यद्यपि प्रथम अनुसूची

के भाग २ के राज्य अब भी उतनी ही सेना का संधारण करेंगे जितनी पहले उनके पास रहती थी परन्तु अब यह सेना संघ की सेना का एक भाग मानी जायगी और इस पर संघ का पूरा अधिकार होगा। भाग २ के राज्य १० वर्ष तक राष्ट्रपति के नियन्त्रण में रक्खे गये हैं। संघ की सरकार को यह अधिकार है कि वह भारत के बाहर किसी राज्य की सरकार से समझौता कर उस सरकार के कामों को अपने हाथ में ले सकती है। भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में संघ तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं (public acts), उल्लेख-पत्रों (records) तथा न्यायिक कार्यवाहियों (judicial proceedings) को पूरी मान्यता दी जायगी।

हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रथम अनुसूची के भाग १ के राज्यों के राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और उनका पद-धारण काल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर रहता है। यह प्रणाली भी केन्द्र द्वारा राज्यों के नियंत्रण की उपाय बन सकती है। राष्ट्रपति को अन्तर्राज्य विवादों की जाँच करने और उनपर परामर्श देने, और कुछ अथवा समस्त राज्यों के, अथवा संघ और एक या अधिक राज्य के पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयों के अनुसन्धान करने और उनपर सुझाव देने के लिये एक अन्तर्राज्य परिषद (Inter-State Council) की स्थापना करने का अधिकार भी है। इस परिषद् का प्रकार्य मन्त्रणा देने तक सीमित होगा। संसद् नदियों अथवा घाटियों के जल से सम्बन्धित अन्तर्राज्य विवादों के निपटाने के लिये भी कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त पुलिस तथा प्रशासन इत्यादि के अखिल भारतीय सेवा-वर्ग (All-India Services) संघ के अधीन होते हैं। उक्त वर्गों के सदस्य कार्य भले ही राज्यों में कर रहे हों परन्तु उनके वेतन, निष्कासन (removal) अथवा निस्सारण (dismissal) पर संसद् का ही नियन्त्रण रहता है। राज्य के उच्च न्यायालयों के सर्वोच्च तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति ही करता है। संसद तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों के निर्वाचन के अधीक्षण के लिये निर्वाचन कमिश्नर (Election Commissioner) तथा निर्वाचन कमीशन के सदस्यों की नियुक्ति भी उसी के द्वारा की जाती है। संघ-शासन तथा राज्य, दोनों के लेखा तथा अँकेक्षण (accounts and audit) सम्बन्धी समस्त विषयों पर भारत के महांकेक्षक (Auditor-General) का नियन्त्रण है। राष्ट्रपति राज्यों के लोकसेवा आयोगों (Public Service Commissions) के अध्यक्ष तथा सदस्यों को कुछ परिस्थितियों में अपने पद से हटा सकता है। अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े हुये वर्गों का कल्याण राष्ट्रपति का विशेष कर्तव्य है और उनकी स्थिति की जाँच के लिये वह एक आयोग (Commission) नियुक्त कर सकता है और इस आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार राज्यों को निर्देश दे सकता है।

उपरोक्त व्यवस्था का सम्बन्ध संघ तथा राज्यों के सामान्यकालीन सम्बन्धों

से है। परन्तु आपात-काल में संघ-शासन राज्य के प्राधिकारियों को अपनी अधिशासी शक्ति की प्रयोग-विधि के विषय में कोई भी निर्देश दे सकता है। कार्यरूप में इस प्रावधान का अर्थ राज्य की संवैधानिक व्यवस्था का स्थगन होगा, और राज्य के प्रशासन पर केन्द्र का पूरा नियंत्रण हो जायेगा। राज्य की संवैधानिक व्यवस्था भङ्ग हो जाने की दशा में राष्ट्रपति, राज्यपाल, राजप्रमुख अथवा राज्य के अन्य किसी पदाधिकारी की कोई भी शक्तियाँ स्वयं ग्रहण कर सकता है। और अन्त में, वाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अव्यवस्था से राज्य की रक्षा करने के लिये भी संघ-शासन पूर्णतया राज्य विषयों में हस्तक्षेप कर सकता है।

संघ तथा संघांगों के उपरोक्त विधायी एवं अधिशासी सम्बन्ध केवल भाग १ तथा २ के राज्यों में ही लागू होते हैं। यह स्पष्ट है कि इन स्वायत्त राज्यों को अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार होते हुए भी संघ सरकार को राज्यों के प्रशासन क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के अनेक अवसर हैं। भाग ३ तथा ४ के राज्यों के संदर्भ में केन्द्रीय शासन संघात्मक न रह कर एकात्मक है। इन भागों में उल्लिखित क्षेत्र केवल प्रदत्त प्राधिकार का प्रयोग करते हैं। उनका शासन अभी तक पूर्णतया संघ सरकार के अधीन है।

वित्तीय सम्बन्ध—इन सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन भारतीय वित्त व्यवस्था शीर्षक इकतीसवें अध्याय में किया गया है। यहाँ केवल यह कह देना उपयुक्त होगा कि संविधान के अन्तर्गत करारोपण तथा उधार ग्रहण के दोनों क्षेत्रों में राज्यों की अपेक्षा संघ शासन की स्थिति अधिक शक्तिशाली है। राज्य अब भी केन्द्र के अनुदानों पर निर्भर हैं और इन अनुदानों के निश्चयन में उनका कोई हाथ नहीं होता।

सबल केन्द्र क्यों ?—संघ तथा राज्यों के उपरोक्त सम्बन्धों से यह स्पष्ट है कि हमारा केन्द्रीय शासन अत्यधिक सबल है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे देश में कई ऐसी परिस्थितियाँ थीं, और अब भी हैं, जिनके कारण अत्यधिक सबल केन्द्रीय शासन आवश्यक था और अब भी उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। अँग्रेज़ों के भारत छोड़ने के साथ-साथ भारतीय एकता का आधार भी समाप्त हो गया और देश के विभिन्न भागों में विलगवादी तत्व दृष्टिगोचर होने लगे। अतएव हमारे संविधान-निर्माताओं की यह धारणा ठीक ही थी कि इन तत्वों के प्रभाव से राष्ट्रीय एकता की रक्षा करने का एकमात्र उपाय सबल केन्द्रीय शासन हो सकता है। भारत को वाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक अव्यवस्था से अपनी रक्षा करने के लिये यथासम्भव अधिक शक्ति की आवश्यकता रही है। पाकिस्तान अब भी काश्मीर पर घात लगाये बैठा है और इस विषय में संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों की नीति हमारे दृष्टिकोण से नितान्त अविश्वसनीय है। इसके अतिरिक्त विभाजन के पश्चात् आये हुये लाखों शरणार्थी अपना असन्तोष चारों ओर

फैलाते रहे हैं। उनके पुनर्वास की समस्या को हल करने के लिये सबल केन्द्रीय शासन आवश्यक समझा गया। उधर साम्यवादी (Communists) भी श्रमिकवर्गों में अशान्ति फैला कर देश के उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालते रहे हैं। देश में खाद्यान्नों की कमी रही है और मुद्रा-प्रसार (inflation) के फलस्वरूप एक गम्भीर आर्थिक समस्या उत्पन्न है। इसके अतिरिक्त, देश के लिये नहरों तथा बाँधों, विद्युत्शक्ति उत्पादन, नये उद्योगों के विकास, तथा यातायात के साधनों की वृद्धि, इत्यादि विभिन्न विकास-योजनाओं की आवश्यकता है। अतएव देश को एक आर्थिक इकाई की भाँति कार्य करने के लिये सबल केन्द्र की आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक ही है और अन्त में, संसार के अन्य संघ-राज्यों का अनुभव भी यही बताता है कि एक ऐसा सबल केन्द्रीय शासन जो किसी भी परिस्थिति का सामना करने की क्षमता रखता हो, सर्वथा वांछनीय है। अतएव हमारे संविधान-निर्माताओं ने ऐसी परिवर्तनशील व्यवस्था की योजना की जो सामान्यकाल में संघ प्रणाली का अनुसरण करती रहे, परन्तु असाधारण परिस्थितियों में वह केन्द्रीकृत तथा एकात्मक स्वरूप भी धारण कर सके। संघ की अभिभावी (overriding) शक्तियों का प्रयोग अधिकतर आपात काल में तथा असाधारण परिस्थितियों में ही किया जा सकता है। अतएव यह आलोचना कि वर्तमान संविधान के अन्तर्गत राज्यों का स्वायत्व एक भ्रामक धारणा है, वास्तव में स्वयं भ्रामक है। इतना अवश्य है कि आपात-काल में राष्ट्र की सुरक्षा तथा उसके हितों के अभिरक्षण के लिये केन्द्रीय शासन सम्पूर्ण प्राधिकार स्वयं ग्रहण कर सकता है और यह व्यवस्था वास्तव में अत्यधिक वांछनीय है।

संघ की नागरिकता

साधारणतया नागरिक वे लोग कहे जाते हैं जो राज्य के निवासी हों तथा सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों का उपभोग करते हों। राज्य अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है। वह नागरिकों को उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुँचाता है। और इन सब अधिकारों और सुविधाओं के बदले नागरिक को राज्य के प्रति कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। नागरिकता व्यक्ति के इन्हीं अधिकार और कर्तव्यों का समष्टि रूप है। किन्तु प्रोफेसर लास्की के मतानुसार नागरिकता शब्द की यह परिभाषा अत्यन्त संकीर्ण है। उनका कहना है कि अधिकार और कर्तव्यों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान करना ही एक व्यक्ति को सच्चा नागरिक नहीं बनाता, बल्कि एक आदर्श नागरिक के लिये यह आवश्यक है कि वह मानव समाज के हित के लिये अपने अधिकार और कर्तव्यों का प्रयोग करता हो। वास्तव में विधान में नागरिकता शब्द की परिभाषा करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। भारतीय

संविधान के निर्माताओं के लिये यह कार्य और भी कठिन हो गया था। देश के विभाजन के परिणामस्वरूप भारत तथा पाकिस्तान के बीच भारी मात्रा में जनसंख्या का विनिमय हुआ था और वास्तव में, जब हमारे संविधान पर विचार किया जा रहा था उस समय भी यह आना-जाना चल रहा था। इसके परिणामस्वरूप नई समस्यायें सामने आ रही थीं और नागरिकता के विषय में अन्तिम निर्णय अन्त समय तक के लिये स्थगित कर दिया गया। यह विषय संविधान प्रारुप समिति की सबसे अधिक उलझी हुई समस्या थी और संविधान सभा ने इस विषय पर कई बार विवाद करने के पश्चात् सबसे अन्त में नागरिकता सम्बन्धी प्रावधानों को स्वीकार किया। और इस पर भी संविधान में केवल उन वर्गों की परिभाषा की गई है जो संविधान आरम्भ होने के समय भारत के नागरिक कहे जायेंगे। उसमें नागरिकता सम्बन्धी कोई स्थायी उपबन्ध (provisions) निर्धारित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यह कार्य भविष्य में संसद के लिये छोड़ दिया गया है जिसे परिस्थितियों के अनुसार नागरिकता के आनियमन की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। परन्तु संसद द्वारा प्रावधान बनने तक जो व्यक्ति संविधान के आरम्भ होने के समय भारत के नागरिक थे, वे नागरकि बने रहेंगे। एकता के विकास का उद्देश्य लेकर हमारे संविधान ने भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र के लिये केवल भारत संघ की ही नागरिकता की व्यवस्था की है। राज्यों की अपनी अलग कोई नागरिकता नहीं है और प्रत्येक राज्य के निवासी को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में दोहरी नागरिकता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक संघ-राज्य का नागरिक तो होता ही है, साथ में वह अपने राज्य का भी नागरिक होता है और उसे अपने राज्य में कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं। भारत में केवल एक नागरिकता होने के कारण इस प्रकार के भेदभाव की सम्भावना नहीं है।

संविधान के अनुसार उसके आरम्भ होने के समय अर्थात् २६ जनवरी सन १९५० से निम्नलिखित चार वर्गों के व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार दिये गये हैं—

(१) संविधान के आरम्भ होने के समय भारत के राज्यक्षेत्र में बसने वाला प्रत्येक व्यक्ति (अ) जो स्वयं या जिसके माता-पिता में से कोई यहाँ जन्मा हो, अथवा (ब) जो २६ जनवरी सन् १९५० ई० के पूर्व कम से कम पाँच वर्ष से साधारणतया भारत के राज्यक्षेत्र में रह रहा हो, भारत का नागरिक होगा।

इस प्रकार भारत का नागरिक बनने के लिये केवल निवास यथेष्ट योग्यता नहीं है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा हो अथवा ऐसे व्यक्तियों का वंशज हो, अथवा संविधान लागू होने के कम से कम पाँच वर्ष पूर्व से भारत में रह रहा हो। इस वर्ग में भारत के अधिकांश आदि निवासी तथा अधिवास-प्राप्त विदेशी आ जाते हैं।

(२) उपरोक्त वर्ग १ के अन्तर्गत ऐसे अनेक व्यक्ति नहीं आते हैं जो विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान छोड़ कर भारत चले आये हैं, अतएव इस दूसरे प्रावधान के अनुसार ऐसे व्यक्ति भारत के नागरिक माने जायेंगे; यदि :—

(क) वे, उनके माता-पिता अथवा महाजनकों में से कोई विभाजन के पूर्व भारत में, जन्मे हों; और

(ख) वे १६ जुलाई सन् १६४८ के पूर्व भारत के राज्यक्षेत्र में आकर बस गये हों और उस समय से भारत में हो रहते हों; अथवा

(ग) यदि वे १६ जुलाई सन् १६४८ ई० के पश्चात् भारत में आये हैं तो उनका भारतीय नागरिकों अथवा शरणार्थियों के रूप में उचित रीति से पंजीयन हुआ हो, और भारत के नागरिकों के रूप में पंजीयन के लिये प्रार्थनापत्र देने के समय कम से कम ६ मास पूर्व से भारत में रह रहे हों।

(३) संविधान में ऐसे लोगों, अधिकांशत: मुसलमानों, के लिये भी प्रावधान है जो १ मार्च सन् १६४७ के पश्चात् भारत छोड़ कर पाकिस्तान चले गये थे परन्तु अब भारत में आना चाहते थे। ऐसा कोई व्यक्ति उस समय तक भारत का नागरिक बनने का अधिकारी नहीं है जब तक कि वह सरकार से अनुमति-पत्र प्राप्त करके पुनर्वास के लिये भारत न लौट आया हो। ऐसे व्यक्तियों को अनुमति-पत्र प्राप्त करने के पश्चात् हो १६ जुलाई सन् १६४८ के पूर्व भारत में लौटा हुआ माना जायगा।

(४) संविधान में विदेश में रहने वाले भारतीयों के भारत के नागरिकों के रूप में पंजीयन का प्रावधान है परन्तु इसकी दो शर्तें हैं :—(क) वे, अथवा उनके जनक, अथवा महाजनक अविभाजित भारत में जन्मे हों, और (ख) जिन देशों में वे इस समय रह रहे हैं उनमें स्थित भारत के राजदूत अथवा वाणिज्यिक प्रतिनिधि (Consular) के पास, संविधान आरम्भ होने के पूर्व अथवा पश्चात् प्रार्थना-पत्र देकर भारत के नागरिकों के रूप में पंजीयित हो चुके हों। यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छापूर्वक किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली है तो वह भारत का नागरिक नहीं बन सकता।

उपरोक्त प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि भारत का नागरिक होने के लिये किसी जातीय अथवा धार्मिक योग्यता की आवश्यकता नहीं है। भारतीय नागरिकता का आधार समानता है। इसमें ऊँच-नीच, जाति-पाँति, अमीर-गरीब आदि का कोई भेद-भाव नहीं किया गया है। यह हमारे प्रजातन्त्रात्मक तथा लौकिक राज्य के राष्ट्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप ही है। संसार के अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों में भी इन्हीं सिद्धांतों को अपनाया गया है। तथापि प्रो० के० टो० शाह सरीखे कुछ आलोचकों का मत है कि नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध अपूर्ण हैं तथा हमारी नागरिकता बहुत सस्ती कर दो गई है और पाँच वर्ष के निवास की योग्यता के अन्तर्गत अनेक विदेशी सरलता-

पूर्वक भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। संसार में कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ इतनी सरलता से नागरिकता प्राप्त हो सकती हो। इस आलोचना में कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि संविधान के अन्तर्गत संसद को परिस्थितियों के अनुसार नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध बनाने का पूरा अधिकार है। अत: जो बातें संविधान में छूट गई हैं अथवा अवाँछित हैं, उन सब की पूर्ति अथवा सुधार संसद कानून द्वारा कर सकेगी।

पच्चीसवाँ अध्याय
संघीय कार्यपालिका

साधारणतया प्रजातन्त्रात्मक देशों का अभिशासी (executive) संगठन दो प्रकार का होता है—अध्यक्षात्मक तथा सांसदीय। अध्यक्षात्मक शासन में अभिशासन-मण्डल का पद-धारण-काल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर नहीं रहता, वास्तविक अभिशासन अध्यक्ष (president) के हाथों में रहता है जो जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होता है, और उसके मन्त्रियों की स्थिति केवल परामर्श-दाताओं की होती है। परन्तु सांसद पद्धति में अभिशासन-मण्डल का पदधारण काल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर होता है और अभिशासन-मण्डल का प्रधान नाम-मात्र के लिये होता है। वास्तविक प्राधिकार व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा निर्मित तथा उसके प्रति उत्तरदायी, मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहता है। पहली प्रणाली विधायी तथा अभिशासी शक्तियों के प्रथकरण में, और दूसरी उनके एकीकरण में विश्वास रखती है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने उपरोक्त दोनों प्रणालियों के सम्मिश्रण का प्रयत्न किया है। भारत एक गणतन्त्र है, अतएव उसके अभिशासन का प्रधान एक निर्वाचित पदाधिकारी होता है। उसका पद-धारण-काल संविधान द्वारा निर्धारित है और व्यवस्थापिका उसे केवल प्राभियोग (impeachment) द्वारा अपने पद से हटा सकती है। परन्तु अध्यक्षात्मक प्रणाली की साम्यता यहाँ समाप्त हो जाती है; इसके आगे हमारा अभिशासन पूर्णतया सांसद पद्धति पर आधारित है। वास्तव में हमारा राष्ट्रपति अमरीकी अध्यक्ष को अपेक्षा ब्रिटिश सम्राट् के अधिक समीप है। दोनों में समानता यह है कि दोनों केवल नाममात्र के प्रधान हैं। इङ्गलैण्ड का सम्राट् केवल मन्त्रिमण्डल के हाथ की कठपुतली है। भारत के राष्ट्रपति से भी आशा की जाती है कि वह संविधान द्वारा प्रदत्त अपनी सारी शक्तियों का प्रयोग संसद के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्शानुसार ही करेगा। श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में "भारत में ब्रिटिश आदर्श की सांसद प्रणाली पर अध्यारोपित एक संवैधानिक राष्ट्रपति होगा[1]।"

(क) राष्ट्रपति

संविधान के अनुसार संघ की सारी अभिशासी शक्ति गणराज्य के प्रधान राष्ट्रपति में निहित है जो इस प्राधिकार का प्रयोग स्वयं, अथवा अपने नाम में अपने

---

1. "India shall have a constitutional President super imposed on the parliamentary system of the British type."—*Durga Das Basu.*

अधीनस्थ पदाधिकारियों के माध्यम से कर सकता है। वह राज्य का प्रधानाधिकारी तथा प्रतीक है, अतएव उसका सब प्रकार के प्राधिकार तथा सम्मान से विभूषित होना उचित है। स्पष्ट है कि यदि राष्ट्रपति के अधिशासी प्राधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान न किये गये होते तो वह कभी भी एक तानाशाह बन सकता था और हमारी प्रजातन्त्रात्मक शासन की सारी योजनायें विफल हो जातीं। अतएव हमारे संविधान ने राष्ट्रपति के प्राधिकारों के विस्तार तथा उनकी सीमाओं की स्पष्ट व्यवस्था करके उसे एक संवैधानिक प्रधान मात्र बना दिया है।

राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिये योग्यतायें—भारत का कोई भी नागरिक गणराज्य का राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है यदि (१) वह ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका है; (२) लोकसभा के लिये सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता है; और (३) भारत-शासन अथवा किसी राज्य के शासन के अधीन किसी परिलाभ के पद (office of profit) पर आरूढ़ नहीं है। परन्तु परिलाभ के पद पर आरूढ़ होने वाला प्रतिबन्ध राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, राजप्रमुख, उपराजप्रमुख तथा संघ और राज्यों के मन्त्रियों पर लागू नहीं होता। राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिये इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं योग्यताओं की आवश्यकता नहीं है। जाति, धर्म अथवा वर्ण सम्बन्धी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं हैं और न साम्पत्तिक योग्यता ही आवश्यक है। हाँ, इस प्रकार निर्वाचित होने वाले व्यक्ति में देश के सर्वोच्च पद के लिये आवश्यक योग्यता और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का अभाव नहीं होना चाहिये।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मण्डल के सदस्य करेंगे जिसमें (१) संसद के दोनों आगारों के निर्वाचित सदस्य, तथा (२) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य, सम्मिलित होंगे। परन्तु विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं की निर्वाचित सदस्य संख्या समान नहीं है और देश के विभिन्न राज्यों की जनसंख्या में भी अन्तर है, अतएव विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व की माप-श्रेणी में एकरूपता आवश्यक थी। राष्ट्रपति के निर्वाचन में देश के सभी भागों को समान महत्व प्राप्त होना चाहिये जिससे निर्वाचित राष्ट्रपति जनता का वास्तविक प्रतिनिधि हो सके। हमारे संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि निर्वाचक मण्डल में किसी राज्य के विधानमण्डल के प्रत्येक सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि एक सहस्र के गुणित उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को विधान-मण्डल के निर्वाचित सदस्यों की समस्त संख्या से भाग देने से आये, और ५०० से अधिक शेष रहने की दशा में सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जाएगा। उदाहरण के लिये यदि किसी राज्य के विधानमण्डल में २०० सदस्य हैं, और उस राज्य की जनसंख्या ३०,०००,००० है, तो ३०,०००,००० को २०० से भाग देने पर १५०,००० आयेगा जो एक सहस्र के १५० गुणितों के बराबर है।

इस दशा में कुछ शेष न बचने के कारण एक और मत जोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। अब निर्वाचक मण्डल में उस राज्य का प्रत्येक प्रतिनिधि १५० मतों का अधिकारी होगा, अथवा यों कहा जाय कि उसका अपना मत १५० मतों के बराबर गिना जायगा। इस विधि से यह स्पष्ट है कि जिन राज्यों की जनसंख्या अधिक होगी उनकी विधान सभाओं के सदस्यों को कम जनसंख्या वाले राज्यों के सदस्यों से, राष्ट्रपति के निर्वाचन में अधिक मत देने का अधिकार होगा। संसद के दोनों सदनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वही होगी जो राज्यों के विधान-मण्डलों के सदस्यों के लिये नियत समस्त मतसंख्या को इन सदस्यों की समस्त संख्या से भाग देने से प्राप्त हो। जो भागफल आवेगा उसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जावेगा। उदाहरणार्थ, मान लीजिये सब राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मतसंख्या का योग २००,००० है और भारतीय संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ७०० है। इस दशा में संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को $\frac{२००,०००}{७००}$ अर्थात् २८५$\frac{५}{७}$ मत देने का अधिकार होगा। चूंकि $\frac{५}{७}$ आधी भिन्न से अधिक है, अत: संसद का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य २८६ मत देगा। यह सारी विस्तृत व्यवस्था इसलिये की गई है कि यथासम्भव गणराज्य का निर्वाचित राष्ट्रपति राज्यों के प्रतिनिधियों और समूचे राष्ट्र दोनों ही की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सके। सभी राज्यों की विधान सभाओं के समस्त सदस्य समूचे भारत की जन-संख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं और यही स्थिति संसद के दोनों आगारों के निर्वाचित सदस्य-समूह की भी है। इसीलिये राष्ट्रपति के निर्वाचन में जनता के प्रतिनिधियों के इन दोनों वर्गों को समान अधिकार प्राप्त हैं।

निर्वाचक मण्डल के सदस्य राष्ट्रपति का निर्वाचन एक परिवर्तनीय-मतविधि (single transferrable vote) द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (proportional representation) के अनुसार करेंगे और निर्वाचन में मतदान गुप्त (secret ballot) होगा। परन्तु यह समझना कुछ कठिन प्रतीत होता है कि केवल एक स्थान के निर्वाचन के लिये एक परिवर्तनीय-मतविधि की अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। साधारणतया एक परिवर्तनीय-मतविधि का प्रयोग बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में किया जाता है। इस प्रणाली के अनुसार, एक निर्वाचनक्षेत्र से चाहे जितने स्थानों की पूर्ति करनी हो, प्रत्येक मतदाता को केवल एक अभ्यर्थी को मत देने का अधिकार होता है; परन्तु मतदाता अपने दूसरे, तीसरे, चौथे, इत्यादि पुरोधान (preferences) व्यक्त कर सकता है। यदि पहली गणना में मतपत्रों पर उल्लिखित पहले पुरोधानों के अनुसार सब स्थानों की पूर्ति नहीं हो पाती है तब शेष पुरोधानों की गणना की जाती है। अतएव यह स्पष्ट नहीं है कि राष्ट्रपति के एक स्थान की पूर्ति के लिये इस प्रणाली

का किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। सम्भव है हमारे संविधान निर्माता बहु-मत प्रतिनिधित्व (majority representation) की वैकल्पिक (alternative) अथवा पुरोधानिक (preferential) रीति का प्रयोग करना चाहते हों जो बाह्यरूप में एक परिवर्तनीय-मतविधि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। निर्वाचन की यह रीति इस बात का आश्वासन है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में देश के प्रत्येक हित तथा विचारधारा को उचित महत्व प्राप्त होगा। यह भी स्पष्ट है कि संविधान राष्ट्रपति के पद के लिये केवल ऐसे ही व्यक्तियों का निर्वाचन चाहता है जो वास्तव में सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि हों। और उसके निर्वाचन में देश के किसी दल, हित अथवा विचारधारा को अपने उचित प्रभाव के प्रयोग से वंचित नहीं रखा गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं रखा गया है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रणाली में बहुत अधिक समय लगता, और १८ करोड़ से अधिक मतदाताओं के लिये उचित प्रकार की निर्वाचन व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन था। साथ ही भारत के अधिकांश नागरिक अशिक्षित हैं, अतः उनसे अपने उत्तरदायित्व के उचित प्रयोग की आशा नहीं की जा सकती थी। और अन्त में यह न भूलना चाहिये कि संविधान द्वारा यथार्थ शक्ति मन्त्रिमण्डल तथा संसद को दी गई है, न कि राष्ट्रपति को। अतः यह अनावश्यक था कि राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा निर्वाचन होता।

राष्ट्रपति का पद-काल—इस प्रकार निर्वाचित राष्ट्रपति अपनी पद-प्रवेश तिथि से पाँच वर्ष की अवधि तक पद-धारण करेगा। राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, निष्कासन, अथवा अन्य कारण के फलस्वरूप रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये निर्वाचन यथासम्भव शीघ्र और हर अवस्था में स्थान रिक्त होने के ६ मास बीतने से पूर्व किया जायेगा और इस प्रकार निर्वाचित व्यक्ति पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिये पद धारण करने का अधिकारी होगा। इसके अतिरिक्त, कोई व्यक्ति एक से अधिक बार भी राष्ट्रपति के पद के लिये निर्वाचित हो सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें अपने संविधान की कमी पूरी करने के लिये इस प्रकार की एक संप्रतिज्ञा (convention) का विकास करना होगा कि कोई व्यक्ति जितने बार चाहे उतने बार राष्ट्रपति के पद के लिये निर्वाचित न हो सके। यह आवश्यक है कि एक ही व्यक्ति बहुत अधिक काल तक राष्ट्रपति के पद पर न रहे, अन्यथा, यदि वह चाहेगा तो अपनी स्थायी स्थिति बनाकर स्वयं तानाशाही के अधिकार ग्रहण कर सकेगा। ऐसी अवस्था में सार्वजनिक निर्वाचन का प्रजातन्त्रात्मक अंकुश विशेष प्रभावपूर्ण नहीं रह जायेगा।

राष्ट्रपति पर महाभियोग—असंवैधानिक व्यवहार अथवा अन्य किसी प्रकार से संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति निम्नलिखित प्रणाली द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है :—

(क) संसद् के किसी आगार के कम से कम एक चौथाई सदस्य, प्रस्ताव की लिखित सूचना देने के १४ दिन पश्चात् राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का प्रस्ताव करें, और

(ख) उस आगार के समस्त सदस्यों की कम से कम दो-तिहाई संख्या उक्त प्रस्ताव का समर्थन करे।

(ग) जब दोषारोप का यह प्रस्ताव संसद् के किसी आगार द्वारा इस प्रकार किया जा चुके तब दूसरा आगार उस दोषारोप का अनुसन्धान करेगा और राष्ट्रपति को इस अनुसन्धान में उपस्थित होने, अथवा अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा।

(घ) यदि अनुसन्धान के परिणामस्वरूप दोषारोप सिद्ध हो जाता है और इस आशय का प्रस्ताव उस आगार के कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित होकर स्वीकार कर लिया जाता है, तो उस प्रस्ताव का प्रभाव उसी तिथि से राष्ट्रपति का निष्कासन होगा।

राष्ट्रपति का वेतन तथा अधिदेय—राष्ट्रपति को १०,०००) प्रतिमास वेतन मिलता है। वह बिना भाड़े के राजकीय निवासस्थान का अधिकारी भी होता है। इसके अतिरिक्त उसे विभिन्न अधिदेय (allowances) मिलते हैं। राष्ट्रपति का वेतन अथवा अधिदेय उसकी पदावधि में घटाया नहीं जा सकता और संसद के मताधिकार से बाहर होता है।

उप राष्ट्रपति—संविधान में एक उपराष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रावधान भी है। राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, निष्कासन, अस्थायी रुग्णावस्था अथवा अनुपस्थिति के कारण पद-रिक्ति की अवस्था में उपराष्ट्रपति उस तिथि तक राष्ट्रपति का स्थानापन्न होगा जब तक कि राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों का पुनर्ग्रहण न करे अथवा उपरोक्त कार्य प्रणाली के अनुसार, पद-रिक्ति के छ: मास के भीतर, निर्वाचित नया राष्ट्रपति अपने पद पर प्रवेश न करे। उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिये वही योग्यतायें आवश्यक हैं जो हम राष्ट्रपति के लिये पहले देख चुके हैं। साधारणतया, उपराष्ट्रपति अपने पद-कारणात् (ex-officio) संसद के उत्तर आगार, अर्थात् राज्य-परिषद का सभापति होता है। उसका निर्वाचन केवल संसद के दोनों आगारों के सदस्य करते हैं। उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये राष्ट्रपति की भाँति किसी विशेष निर्वाचक-मण्डल की आवश्यकता नहीं होती। उपराष्ट्रपति की पदावधि पाँच वर्ष की होती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे नये संविधान के अन्तर्गत उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पदत्याग, मृत्यु अथवा निष्कासन पर अमरीका की भाँति, अपने आप राष्ट्रपति नहीं हो जाता। भारत में ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर प्रति बार पाँच वर्ष की पूरी अवधि के लिये नया राष्ट्रपति निर्वाचित होगा। उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति की अनु-

परिस्थिति में, अथवा आकस्मिक पद-रिक्ति के समय अस्थायी रूप से राष्ट्रपति के पद पर स्थानापन्न होता है और उस कालावधि में राष्ट्रपति की सम्पूर्ण शक्तियों और विमुक्तियों (immunities) का अधिकारी होता है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

राष्ट्रपति को विभिन्न व्यक्तिगत विमुक्तियाँ (personal immunities) तथा असीम शक्तियाँ प्राप्त हैं। इङ्गलैंड के सम्राट् की भाँति वह अपने पद के अधिकारों तथा कर्तव्यों के पालन से सम्बन्धित किसी कार्य के लिये किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं होता। संसद द्वारा अभियोग की व्यवस्था के अतिरिक्त उसका कोई राजनैतिक उत्तरदायित्व नहीं होता। पद-धारण काल में उसके विरुद्ध कोई दण्ड कार्यवाही नहीं की जा सकती। वह गिरफ्तारी, कारावास अथवा किसी न्यायिक कार्यवाही में व्यक्तिगत उपस्थिति से मुक्त होता है। बिना दो मास की लिखित सूचना दिये हुये उसके विरुद्ध कोई दीवानी के मुकदमे की कार्यवाही नहीं की जा सकती। उसकी सार्वजनिक शक्तियाँ अनेक हैं। सुविधा के लिये हम निम्नलिखित ६ वर्गों में उनका अध्ययन करेंगे :—(१) अधिशासी शक्तियाँ, (२) विधायी शक्तियाँ; (३) वित्तीय शक्तियाँ; (४) न्यायिक शक्तियाँ; (५) आपात-कालीन शक्तियाँ; और (६) अस्थायी शक्तियाँ।

अधिशासी शक्तियाँ—वे सारे विषय जिनके सम्बन्ध में संसद को विधि बनाने का अधिकार है, राष्ट्रपति की अधिशासी शक्ति के अन्तर्गत हैं। संघ का सम्पूर्ण अधिशासी कार्य राष्ट्रपति के नाम में ही किया जाता है। राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता तथा मन्त्रणा से करता है और यह मन्त्रिगण संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह स्पष्ट है कि मन्त्रिगण ऐसे किसी विषय में राष्ट्रपति को सहायता अथवा मन्त्रणा नहीं दे सकते हैं, और न देंगे जो संसद की इच्छाओं के विरुद्ध अथवा संविधान के प्रतिकूल हो। इस प्रकार, साधारणतया राष्ट्रपति देश के शासन में संसद की सहायता बिना किसी प्राधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारा अधिशासन संसद प्रणाली पर आधारित है, क्योंकि उसका संचालन एक मन्त्रि-परिषद के हाथ में रहता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। सिद्धान्त रूप से राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की और उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की, नियुक्ति करता है, और इच्छानुसार उन्हें हटा भी सकता है, परन्तु जब तक मन्त्रिगण संसद के विश्वासपात्र हैं, राष्ट्रपति उन्हें हटाने का साहस कठिनता से ही करेगा, क्योंकि ऐसा करने में स्वयं उसके लिये संसद से संघर्ष और प्राभियोग तथा निष्कासन की आशंका उत्पन्न हो जायगी। इस प्रकार यद्यपि कहने के लिये सारी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित हैं और अधिशासन-क्षेत्र

में सारा कार्य उसके नाम तथा उसके प्राधिकार से ही किया जाता है, वास्तविक शासन-संचालन मन्त्रिमण्डल के हाथों में है जो जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले संसद् के प्रति उत्तरदायी है। राष्ट्रपति को विभिन्न मन्त्रियों के बीच शासन के कार्य विभाजन और उस कार्य के सुचारु सम्पादन के लिये आवश्यक नियम-निर्माण का भी अधिकार है। परन्तु व्यवहार-रूप में इस अधिकार का प्रयोग प्रधानमन्त्री ही करता है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि प्रधानमन्त्री उसे शासन की गृह तथा विदेश नीति से अवगत कराता रहे। वह प्रधानमन्त्री को विशेष रूप से यह आदेश दे सकता है कि किसी एक मन्त्री के निर्णय को मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जाये।

राष्ट्रपति को राज्यों के सर्वोच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति तथा उनके निष्कासन का भी अधिकार है। वह राज्यपाल की नियुक्ति करता है। सर्वोच्च तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, भारत के महाप्राभिकर्ता (Attorney-General), भारत के महांकेक्षक (Auditor-General) इत्यादि संघ के महत्वपूर्ण पदों की भी नियुक्ति वही करता है। वह सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के प्रधान तथा अन्य न्यायाधीशों और संघ तथा राज्यों के लोक-सेवा आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों को, कुछ दशाओं में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार अपने पद से हटा सकता है। राष्ट्रपति संघ की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी होता है, परन्तु अपनी इस समादेश-शक्ति का प्रयोग केवल विधि-अनुसार ही कर सकता है। दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग इत्यादि केन्द्राधिशासित क्षेत्रों के अधिशासन का उत्तरदायित्व भी राष्ट्रपति का ही होता है। संघ तथा राज्यों के बीच आगमों के विभाजन के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करने के लिये वह प्रति पाँचवें वर्ष एक अर्थायोग का संघटन करता है। प्राकृतिक जल के प्रयोग से सम्बन्धित अन्तर्राज्य विवादों का वह एक आयोग की सहायता से निर्णय करता है। वह अन्तर्राज्य विवादों पर परामर्श देने, सामान्य विषयों पर अन्वेषण तथा सुझाव प्रस्तुत करने, और कुछ अथवा सब राज्यों अथवा संघ और किसी एक राज्य अथवा राज्यों के समान हित के प्रश्नों पर कार्य तथा नीति के अधिक उपयुक्त समन्वीकरण के विषय में सिफारिशें करने के लिये एक अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना कर सकता है। वास्तव में अन्तर्राज्य विवाद सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में आते हैं, अतएव उक्त परिषद् का अधिकार परामर्शदान तक ही सीमित रखा गया है। राष्ट्रपति संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों और संघ तथा राज्यों के निर्वाचनों का अधीक्षण करने के लिये ४ सदस्यों के एक निर्वाचन आयोग (Election Commission) तथा उसके अध्यक्ष की नियुक्ति भी करता है। उसे राज्य-भाषा आयोग तथा अन्य अनेक आयोगों की नियुक्ति का भी अधिकार है। और अन्त में, राज्य का प्रधान होने के नाते उसे अन्य देशों को राजदूत तथा अन्य अन्तर्राज-

नैतिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है तथा विदेशों से आये हुये राजदूत उसी को अपना प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करते हैं। अन्य देशों के साथ सन्धियाँ, तथा युद्ध और शान्ति की घोषणा भी राष्ट्रपति ही करता है।

विधायी शक्तियाँ—राष्ट्रपति को वर्ष में दो बार, जिस समय तथा जिस स्थान पर उसे उचित जान पड़े, संसद की बैठक बुलाने का अधिकार है। वह दोनों आगारों का सत्रावसान (prorogue) तथा लोकसभा का विलयन कर सकता है। वह, इच्छानुसार जब चाहे, संसद के किसी एक अथवा दोनों आगारों को सम्बोधित कर सकता है और विशेष रूप से संसद का प्रत्येक अधिवेशन आरम्भ होते समय वह उसके समक्ष विचाराधीन विधेयकों के विषय में भाषण देगा और जिस आगार के समक्ष वे विधेयक विचाराधीन हैं उसका कर्तव्य होगा कि इस विषय में राष्ट्रपति के सन्देश पर ध्यानपूर्वक विचार करे। राष्ट्रपति किसी समय, संसद के दोनों आगारों के बीच उत्पन्न होने वाले विधि-निर्माण सम्बन्धी गत्यवरोध को दूर करने के उद्देश्य से दोनों आगारों की संयुक्त बैठक बुला सकता है। कुछ प्रकार के विधेयक (उदाहरणार्थ राज्यों के पुनर्विभाजन, अथवा नाम, सीमा या क्षेत्र के परिवर्तन से सम्बन्धित विधेयक) बिना राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त किये संसद के समक्ष प्रस्तुत ही नहीं किये जा सकते। राज्यों के विधानमण्डलों में भी कुछ प्रकार के विधेयक उपस्थित करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है, उदाहरणार्थ ऐसे विधेयक जिनका उद्देश्य राज्य के भीतर व्यापार अथवा वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना हो।

इसके अतिरिक्त संसद द्वारा स्वीकृत कोई क़ानून उस समय तक लागू नहीं किया जा सकता है जब तक कि राष्ट्रपति उसे अपनी स्वीकृति न दे दे। यदि राष्ट्रपति किसी विधेयक का अनुमोदन नहीं करता, अथवा इस विषय में उसे कोई आपत्ति है, तो वह या तो उस विधेयक को (यदि वह धन विधेयक नहीं है) संसद के पास पूरे विधेयक अथवा उसके किसी भाग के पुनर्विचारार्थ वापस भेज सकता है या संसद से कह सकता है कि इस विधेयक के सम्बन्ध में उसने (राष्ट्रपति ने) जिन संशोधनों का सुझाव रखा है उनकी स्वीकृति की वांछनीयता पर विचार किया जाय। परन्तु यदि संसद उस विधेयक को उन संशोधनों के सहित अथवा उनके बिना, फिर स्वीकार कर लेता है, तब राष्ट्रपति को भी अपनी स्वीकृति देनी ही होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि विधि-निर्माण के क्षेत्र में राष्ट्रपति की शक्ति अधी-क्षणात्मक मात्र है; वह ऐसे क़ानूनों का निर्माण रोक नहीं सकता, जिन्हें संसद बनाना ही चाहती हो। धन-विधेयकों को अपनी स्वीकृति न देने की शक्ति उसे प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, उस समय जब संसद का अधिवेशन न हो रहा हो। यदि राष्ट्रपति को यह निश्चय हो जावे कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिये उसे

बाधित करने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान हैं तो, वह परिस्थितियों के अनुसार अध्यादेश (ordinances) जारी कर सकता है। इस प्रकार प्रवर्तित अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो संसद द्वारा स्वीकृत क़ानूनों का होता है, परन्तु ऐसा प्रत्येक अध्यादेश संसद के फिर आरम्भ होने पर उसके सामने रखा जायेगा और अधिवेशन के आरम्भ से केवल ६ सप्ताह तक लागू रहेगा। परन्तु यदि संसद के दोनों आगार यह अवधि समाप्त होने से पूर्व ही उसके रद्द होने का प्रस्ताव पास कर दें तो अध्यादेश पहले ही अमान्य हो सकता है। इस प्रकार के अध्यादेश केवल उन विषयों के सम्बन्ध में जारी किये जा सकते हैं जो संसद के विधायी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हों, क्योंकि सन् १६३५ ई० के क़ानून के प्रतिकूल हमारे नये संविधान में राष्ट्रपति को कोई विशेष उत्तरदायित्व अथवा स्वविवेकाधारित शक्तियाँ नहीं दी गई हैं। और अन्त में, राज्यों में कई विषयों पर बिना राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के विधानमण्डल में विधेयक प्रस्तुत ही नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ व्यापार आदि पर निर्बन्ध लगाने वाले विधेयक। इसके अतिरिक्त, कतिपय विषयों के सम्बन्ध में बनाये गये राज्य के क़ानूनों के लिये भी राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है, उदाहरणार्थ, समवर्ती विषयों पर संघीय क़ानून के विरुद्ध कोई राज्य का क़ानून, अथवा सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये बनाये हुये क़ानून, अथवा नागरिकों के जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने वाले कानून। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख विधानमण्डलों द्वारा स्वीकृत ऐसे क़ानूनों को भी राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर सकते हैं जिनका प्रभाव राज्यों के उच्च न्यायालयों की शक्तियों पर पड़ता हो और राष्ट्रपति को अधिकार है कि उन क़ानूनों को अपनी ओर से कुछ संशोधनों का सुझाव करते हुये या उनके बिना, सम्बन्धित विधानमण्डलों में पुनर्विचारार्थ वापस भेज दे। इस प्रकार सांसद शासन प्रणाली के सिद्धान्तों के अनुसार, हमारा राष्ट्रपति संसद के किसी आगार का सदस्य न होते हुये भी, केन्द्रीय विधानमण्डल का एक अङ्ग है। वह राज्य-परिषद् के लिये अपनी ओर से १२ सदस्य नामज़द करता है और, संक्रान्तिकाल में, लोक सभा के लिये दो एँग्लो-इण्डियन सदस्य भी नामज़द कर सकता है।

(ग) वित्तीय शक्तियाँ—राष्ट्रपति के वित्त सम्बन्धी अधिकार भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। उसको प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में, भारत सरकार की उस वर्ष की अनुमानित आय व्यय का एक विवरण-पत्र संसद के समक्ष प्रस्तुत करने का प्राधिकार दिया गया है। बिना उसकी सिफ़ारिश के लोकसभा में किसी अनुदान का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता और उसकी सिफ़ारिश के बिना संसद ऐसे किसी विधेयक पर विचार नहीं कर सकती है जिसका प्रभाव इस प्रकार के अनुदानों के निर्धारण, अथवा संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर पड़ता हो। राष्ट्रपति आय-

कर द्वारा प्राप्त आगमों का संघ तथा राज्यों के बीच विभाजन करता है और उसे आसाम, उड़ीसा, बिहार तथा पश्चिमी बङ्गाल के लिये पटसन (jute) के निर्यात-कर से प्राप्त आय के हिस्से के बदले में सहायक अनुदान (grants-in-aid) निर्धारित करने का अधिकार है। राष्ट्रपति को प्रति पाँचवें वर्ष एक वित्त-आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति का अधिकार है। यह आयोग इस बात का निर्णय करेगा कि संघ और राज्यों के बीच करों से हुई आय का बँटवारा किस प्रकार हो तथा राज्यों की आर्थिक सहायता के लिये सुझाव रखेगा। इसके अतिरिक्त, आपातकाल में राष्ट्रपति को आकस्मिकता-निधि (contingency fund) से व्यय करने का प्राधिकरण भी दिया गया है। परन्तु इस प्रकार का सारा व्यय यथासम्भव शीघ्र संसद् के अनुमोदन के लिये अवश्य भेजा जायेगा। और अन्त में, राष्ट्रपति यह निश्चय करता है कि प्रथम अनुसूची के भाग २ में उल्लिखित राज्य अपने राजाओं की व्यक्तिगत आय (privy purse) में कितना रुपया देंगे।

न्यायिक शक्तियाँ—राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह दण्डित व्यक्ति को क्षमा कर दे, उसके दण्ड को कम कर दे अथवा कुछ काल के लिये रुकवा दे। वह मृत्यु दण्ड को भी स्थगित कर सकता है, क्षमा कर सकता है अथवा आजन्म कारावास में परिणत कर सकता है। उसे संघ के क़ानूनों के विरुद्ध किये गये अपराधों पर किसी सैनिक अथवा अन्य न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड के स्थगन, परिहरण अथवा लघुकरण का भी अधिकार है। परन्तु राष्ट्रपति के इस अधिकार का प्रभाव भारत की सेना के किसी अधिकारी के उन अधिकारों पर नहीं पड़ेगा जो उसे क़ानून के अन्तर्गत सैनिक न्यायालय द्वारा दिए गए दण्डादेश को रुकवा देने, समाप्त करने या कम करने के सम्बन्ध में प्राप्त है। इस अधिकार का प्रभाव राज्यों के राज्यपाल या राजप्रमुखों के मृत्यु-दण्डादेश को समाप्त करने, रुकवा देने या कम करने के अधिकार पर भी नहीं पड़ेगा।

आपातकालीन शक्तियाँ—संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति को राष्ट्रीय आपातकाल के लिये कतिपय विशेष शक्तियों से विभूषित किया गया है। उसको अधिकार है कि वह निम्नलिखित तीन स्थितियों में आपातकाल की घोषणा कर दे। (१) जब युद्ध अथवा वाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अव्यवस्था के कारण देश की शान्ति तथा सुरक्षा के लिये आशंका उत्पन्न हो जाय। (२) जब संविधान के प्रावधानानुसार किसी राज्य का प्रशासन असम्भव हो जाय। (३) ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये जिसमें राज्य-शासन की दुर्व्यवस्था के कारण अथवा अन्य किन्हीं कारणों से जिन पर राज्य-शासन का कोई वश न हो, भारत अथवा उसके किसी भाग के आर्थिक स्थायित्व अथवा उसकी साख के लिये आशंका उत्पन्न हो जाये। संविधान राष्ट्रपति को, तीनों दशाओं में व्यवस्था सुधारने के लिये तात्कालिक प्रबन्ध करने का प्राधिकार

देता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राष्ट्रपति को असाधारण शक्तियों से विभूषित किया गया है।

पहली दशा में अर्थात् जब देश की शान्ति एवं सुरक्षा को युद्ध अथवा आन्तरिक हिंसा से आशंका हो, राष्ट्रपति, ऐसी कोई आपत्ति उत्पन्न होने के पूर्व अथवा पश्चात्, आपात स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की प्रत्येक उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक आगार के समक्ष अवश्य उपस्थित की जायेगी और दो मास तक लागू रहेगी। परन्तु यदि इसी बीच संसद ने उसे स्वीकार कर लिया तो वह दो महीने के बाद भी लागू रहेगी। अगर इस प्रकार की घोषणा उस समय की गई हो जब लोकसभा का अधिवेशन न हो रहा हो, या लोकसभा बिना इस घोषणा को स्वीकार किये ही इसके आरम्भ होने के दो महीने के अन्दर भंग हो गई हो, उस अवस्था में यदि इस घोषणा को राज्य परिषद् (Council of States) की स्वीकृति मिल जाये, तो यह लोकसभा के नये अधिवेशन प्रारम्भ होने की तिथि से ३० दिन तक लागू रहेगी। किन्तु यदि इन ३० दिनों के बीच इसे लोकसभा की स्वीकृति मिल गई तो यह उसके बाद भी लागू रहेगी। अन्यथा ३० दिन के बाद रद्द हो जायेगी। उद्घोषणा के प्रवर्तनकाल में संघ की अधिशासी शक्ति किसी राज्य को यह निदेश दे सकती है कि उसकी अधिशासी शक्ति का किस रीति से प्रयोग होना चाहिये; और संसद उन सब विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकेगी जो राज्यों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हैं। और अगर कोई राज्य का कानून इस समय संसद के कानून के विरुद्ध हो, तो वह नहीं माना जायेगा। संसद् भारत-शासन के अधिकारियों को वे शक्तियाँ तथा कर्तव्य भी सौंप सकती है जो वास्तव में राज्य-अधिकारियों के हैं। इस प्रकार के आपात काल में राष्ट्रपति यह आदेश भी दे सकता है कि संघ-शासन कुछ ऐसे आगमों का उपयोग करने का अधिकारी है, जो साधारणतया राज्यों के आगम हैं। परन्तु यह आदेश केवल उसी वित्तीय-वर्ष के सम्बन्ध में दिया जा सकता है, और संसद के अनुमोदन पर निर्भर होगा। आपात-काल में नागरिकों के मूलाधिकारों का स्थगन भी किया जा सकता है।

दूसरी दशा में अर्थात् जब किसी राज्य का शासन संविधान के प्रावधानानुसार चलाना असम्भव हो जाय तो राष्ट्रपति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के प्रतिवेदन पर अथवा स्वयं अपनी ओर से, उद्घोषणा द्वारा उस राज्य के शासन के समस्त अथवा किसी प्रकार्य को तथा उस राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख में निहित, अथवा उस राज्य के विधानमण्डल से भिन्न किसी संस्था अथवा प्राधिकारी में निहित, अथवा उसके द्वारा प्रयोज्य, समस्त या किसी शक्ति को स्वयं धारण कर सकेगा; और घोषित कर सकेगा कि उस राज्य के विधानमण्डल की शक्तियाँ केवल संसद द्वारा ही प्रयोज्य होंगी। राष्ट्रपति आवश्यक अथवा वाँछनीय अन्य प्रासंगिक प्रावधान भी कर

सकता है। परन्तु राष्ट्रपति को आपात-काल में भी किसी राज्य के उच्च न्यायालय की शक्तियाँ स्वयं धारण करने का अधिकार नहीं दिया गया है। इस प्रकार की उद्-घोषणा संसद् के अनुमोदन पर निर्भर, दो मास के लिये प्रवर्तनीय होगी, परन्तु संसद् का अनुमोदन प्राप्त हो जाने पर, तीन वर्ष तक बार बार प्रवर्तित की जा सकती है, किन्तु एक बार में संसद् भी घोषणा की अवधि को ६ महीने से अधिक नहीं बढ़ा सकती है। यदि राष्ट्रपति ने यह उद्घोषणा कर दी है कि संसद् राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ प्रयोग करेगी, तो संसद् राष्ट्रपति को उस राज्य के लिये कानून बनाने अथवा राज्य की विधायी शक्तियों को किसी अन्य प्राधिकारी को सौंपने का प्राधिकार दे सकती है। संसद् राष्ट्रपति को राज्यों के आगमों (revenues) से व्यय करने का अधिकार भी दे सकती है।

यदि ऐसी घोषणा उस समय की जावे जब लोकसभा का अधिवेशन न हो रहा हो या बिना उस घोषणा को स्वीकार किये, उसके लागू होने से दो महीने के अन्दर, भंग हो जाये उस दशा में अगर यह घोषणा राज्य परिषद (Council of States) के द्वारा स्वीकृत हो गई है तो यह लोकसभा के नये अधिवेशन की तिथि से ३० दिन तक लागू रहेगी। किन्तु यदि नई लोकसभा ने इन ३० दिनों के भीतर इसे स्वीकार कर लिया, तो यह उस तिथि से ६ महीने तक लागू रहेगी। इसी प्रकार की व्यवस्था उस समय काम में लाई जावेगी जब घोषणा दोनों सदनों में पास हो जावे और लोकसभा उसके पश्चात् ६ मास के अन्दर भंग हो जावे।

संविधान द्वारा इस प्रकार राष्ट्रपति को राज्यों के क्षेत्र में विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। कुछ लोगों का मत है कि इस प्रकार की व्यवस्था से राज्य के मत-दाताओं में उत्तरदायित्व की भावना में कमी होगी और राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता राष्ट्रपति के इन अधिकारों के प्रयोग के फलस्वरूप नष्ट हो जायेगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्रपति द्वारा आपात-काल की घोषणा के पश्चात् राज्यों के विषयों में कानून बनाने का अधिकार संसद को दिया गया है, न कि राष्ट्रपति को। और संसद में राज्यों के प्रतिनिधि भी उपस्थित होंगे।

तीसरी दशा में जब देश अथवा उसके किसी भाग में वित्तीय संकट उत्पन्न होने की आशंका हो, तो उस दशा में भी राष्ट्रपति आपात कालीन उद्घोषणा करके उस राज्य के वित्तीय अधिशासन के सम्बन्ध में नियम निर्धारित कर सकता है। वह निदेश दे सकता है कि सारे वित्त-विधेयक उसके विचार के लिये आरक्षित किये जायें और उस राज्य में सब वर्गों की लोकसेवाओं के वेतन तथा अधिदेय कम कर दिये जायें। राष्ट्रपति की यह घोषणा भी दो मास तक लागू रहेगी और यदि संसद के दोनों सदनों को स्वीकृति प्राप्त हो जाय तो उसके बाद भी लागू रहेगी।

राष्ट्रपति की आपात-कालीन शक्तियों के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता

है कि हमारा साधारणतया संघवादी राज्य आवश्यकता पड़ने पर एकात्मक राज्य में परिणत किया जा सकता है। युद्ध, विस्तृत आन्तरिक अव्यवस्था अथवा किसी राज्य की संवैधानिक अथवा वित्तीय व्यवस्था भंग हो जाने की दशा में राष्ट्रपति को केवल एक उद्घोषणा प्रकाशित करनी पड़ती है और वह, संसद के अनुमोदन तथा समर्थन के पश्चात् (१) राज्य के शासन का पूरा अधिकार स्वयं धारण कर सकता है; (२) उसकी अर्थ-व्यवस्था का संचालन कर सकता है; और (३) स्वयं अथवा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से, आवश्यक कानून बना सकता है। संसार में किसी अन्य संघ-राज्य को आपात-काल में इस प्रकार एकात्मक राज्य में परिणत हो जाने की शक्ति नहीं प्राप्त है। परन्तु यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि संविधान में राष्ट्रपति द्वारा इन आपात-कालीन शक्तियों के प्रयोग पर, पग-पग पर, संसद के अनुमोदन का प्रतिबन्ध लगा है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति इन शक्तियों की आड़ लेकर भी कभी तानाशाह नहीं बन सकता।

अस्थायी शक्तियाँ—यह शक्तियाँ राष्ट्रपति को संक्रान्तिकालीन कठिनाइयाँ दूर करने के लिये केवल उल्लिखित अवधि के लिये दी गई हैं। इस कोटि में सबसे पहले वे अस्थायी शक्तियाँ आती हैं जिनके द्वारा १९३५ के संविधान की व्यवस्था के स्थान पर नये संविधान के उपबन्धों के लागू होने के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को हल किया जा सके। उदाहरणार्थ, प्रथम अनुसूची के भाग २ के राज्य १० वर्ष के लिये उसके नियन्त्रण में रक्खे गये हैं। संघांगों में परिवर्तन, पहले साधारण निर्वाचन के लिये भारत की जनसंख्या का निर्णय, इत्यादि भी इसी प्रकार की शक्तियाँ हैं। एक और प्रकार की स्थायी शक्तियों का उद्देश्य यह है कि कतिपय आवश्यक विषयों में, संसद द्वारा कोई व्यवस्था होने के समय तक राष्ट्रपति एक अस्थायी व्यवस्था कर सके। इस वर्ग की कुछ महत्वपूर्ण शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—संसद के दोनों आगारों के सचिवालय (secretariat) के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति, भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) का अभिरक्षण, सर्वोच्च न्यायालय के आज्ञापत्रों के प्रवर्तन की प्रणाली, आय-कर-आगम का विभिन्न राज्यों में वितरण और केन्द्रीय आगमों से राज्यों को सहायक अनुदान (supplementary grants)। और अन्त में, राष्ट्रपति की संघ की राज्य-भाषा तथा कतिपय अल्पसंख्यकों के प्रति विशेष व्यवहार से सम्बन्धित शक्तियाँ भी अस्थायी ही हैं। उसको १५ वर्ष की अवधि तक यह अधिकार है कि वह यह आदेश दे कि अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रयोग कुछ सरकारी कामों के लिये हो। राष्ट्रपति को संविधान लागू होने के दस वर्ष तक लोक सभा में दो ऐंग्लो इण्डियन प्रतिनिधि मनोनीत करने का भी अधिकार है।

विवेचना—राष्ट्रपति की स्थिति तथा शक्तियों के उपरोक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका पद एक यथेष्ट सम्मान तथा प्रभाव का पद है।

परन्तु राष्ट्रपति राज्य का संवैधानिक प्रधानमात्र है और अपने पद में निहित सारे अधिशासी प्राधिकारों का प्रयोग अपने संवैधानिक परामर्शदाताओं, अर्थात् परिषद् के मन्त्रियों के उत्तरदायित्व पर करता है। ब्रिटिश काल में, सन् १९४७ ई० तक गवर्नर-जनरलों को जैसे स्वविवेकाधारित अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त थे, हमारा राष्ट्रपति उनसे शून्य है। उसकी स्थिति तथा शक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र अमरीका के प्रधान की अपेक्षा इङ्गलैंड के सम्राट् के अधिक निकट हैं। ब्रिटिश सम्राट् की भाँति हमारे राष्ट्रपति की योग्यता, देशभक्ति तथा दूरदर्शिता पर इस सर्वोच्च पदाधिकारी का भविष्य बहुत कुछ निर्भर है। कहने के लिये तो शासन कार्य का विभाजन तथा मन्त्रिमण्डल की कार्य प्रणाली का आनियमन राष्ट्रपति करता है, किन्तु कार्य रूप में, इङ्गलैंड की भाँति हमारे यहाँ भी यह सारा कार्य प्रधानमन्त्री ही करता है। राष्ट्रपति केवल मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री द्वारा रखे गये मन्त्रियों को स्वीकृति दे देता है। इङ्गलैंड के सम्राट् की भाँति वह केवल नाममात्र का प्रधान है। फिर भी जिस प्रकार ब्रिटिश सम्राट् को प्रधानमन्त्री द्वारा आन्तरिक तथा वैदेशिक क्षेत्रों में मन्त्रिमण्डल के महत्वपूर्ण निर्णयों से अवगत कराये जाने का अधिकार होता है, उसी प्रकार भारत का राष्ट्रपति भी इच्छानुसार संघ की व्यवस्था तथा प्रस्तावित कानूनों के सम्बन्ध में प्रधान-मन्त्री से पूछ सकता है। ब्रिटिश सम्राट् के सम्बन्ध में बेगट (Bagehot) की प्रसिद्ध उक्ति-कि "परामर्श देने, प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने के तीनों महत्वपूर्ण राजनैतिक अधिकार आज भी उसमें निहित हैं"—भारतीय राष्ट्रपति के विषय में भी पूर्णतया लागू होती है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के अध्यक्ष के साथ हमारे राष्ट्रपति की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि डा० अम्बेदकर के शब्दों में "वह राज्य का प्रधान है, अधिशासन का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है, परन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसकी स्थिति उस मुद्रा पर अंकित शोभा-चिन्ह के समान है जो राष्ट्र के निर्णयों की घोषणा करता है[1]। अमरीका के संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति के नीचे विभिन्न विभागों के अध्यक्ष उसके मन्त्री होते हैं। इसी प्रकार भारतीय संघ के राष्ट्रपति के मन्त्री भी प्रशासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होंगे। परन्तु अमरीका का राष्ट्रपति अपने किसी मन्त्री को किसी समय पद से हटा सकता है; परन्तु भारतीय मन्त्रिगण, जब तक उन्हें संसद का विश्वास प्राप्त है अपने पद से हटाये नहीं जा सकते। भारत तथा अमरीका के राष्ट्रपतियों की

1. 'He is the head of the state, but not of the executive. He represents the nation, but does not rule the nation. He is the symbol of the nation. His place in the administration is that of a ceremonial device on the seal by which the nation's decisions are made known."—*B. B. Ambedkar*.

स्थिति में एक और बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर है। अमरीका का राष्ट्रपति अपने किसी मन्त्री की किसी मन्त्रणा को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है, परन्तु भारत का राष्ट्रपति साधारणतया अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करने के लिये बाध्य है। वह उनकी मन्त्रणा के प्रतिकूल, अथवा उसके अभाव में, कुछ नहीं कर सकता। उसके लिये अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार ही करना आवश्यक है, और संविधान में लिखा है कि "राष्ट्रपति को अपने प्रकार्यों का पालन करने में सहायता तथा मन्त्रणा देने के लिये एक मन्त्रिपरिषद् होगी।" यह सत्य है कि ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसके अनुसार राष्ट्रपति मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करने के लिये विवश हो। और न हमारे संविधान में फ्रांस की भाँति ऐसा ही कोई नियम है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। इससे कुछ लेखकों की यह धारणा बन गई है कि यदि कोई राष्ट्रपति कभी किसी विषय में, अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के प्रतिकूल कार्य करता है तो संविधान में उस पर महाभियोग लगाने के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु संविधान के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें ऐसी भी कोई बात नहीं है जिसके कारण सांसद तथा उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त की स्थापना न की जा सके। यदि कोई राष्ट्रपति मन्त्रियों की मन्त्रणा के प्रतिकूल कार्य करता है तो मन्त्रि-गण निश्चय ही तुरन्त अपने पद से त्यागपत्र दे देंगे और तब राष्ट्रपति को दूसरा मन्त्रिमण्डल बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसा करने में राष्ट्रपति सफल न हो सकेगा, क्योंकि लोकसभा का बहुमत तो उस मन्त्रिमण्डल को प्राप्त था जिसने बाध्य होकर त्यागपत्र दिया। अगर राष्ट्रपति लोक सभा को भङ्ग कर नया चुनाव करे, उस दशा में भी यह सम्भव है कि फिर से वही दल लोक सभा में बहुमत प्राप्त कर ले। अतः इस कठिनाई से बचने के लिये राष्ट्रपति दैनिक शासन में मन्त्रिमण्डल की परामर्श के अनुसार ही काम करेगा। वास्तव में उसकी स्थिति केवल निर्बल मन्त्रि-मण्डलों के संदर्भ में ही थोड़ी-बहुत स्वतन्त्र कही जा सकती है। साथ ही राष्ट्र-पति कार्य रूप में शासन के ऊपर कितना प्रभाव डालेगा यह उसके व्यक्तित्व पर भी निर्भर होगा। असाधारण स्थिति में यह अवश्य सम्भव है कि राष्ट्रपति उस समय मन्त्रिमण्डल के अनुसार कार्य न करे जब वह समझे कि उसके परामर्श के अनुसार कार्य करने से वह जनता के हितों के विरुद्ध जा रहा है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति राष्ट्र के हित को सर्वोपरि रख कर कार्य करेगा, और संकट कालीन स्थिति में मन्त्रि-परिषद् की परामर्श लिये बिना राष्ट्रपति को कार्य करने का अधिकार देना उचित ही है। साथ ही जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है राष्ट्रपति द्वारा आपात कालीन शक्तियों के प्रयोग पर संसद के अनुमोदन का प्रतिबन्ध पग-पग पर लगा है, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति आपात कालीन शक्तियों की आड़ में तानाशाह नहीं बन

सकता। अत: इस विवेचना के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रपति प्रत्येक दशा में केवल वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेगा। वह अपनी शक्तियों के दुरुपयोग का साहस नहीं करेगा, क्योंकि संसद् उसके विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही कर सकती है और उसे संवैधानिक प्रावधानों का अतिक्रमण करने पर अपदस्थ किया जा सकता है।

(ख) मन्त्रि-परिषद्

संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को अपने प्रकार्यों का पालन करने में सहायता तथा मन्त्रणा देने के लिये एक मन्त्रि परिषद् होगी जिसका अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होगा। संविधान में कैबिनेट शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि "मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" अन्य विषयों में भी संविधान के प्रावधान संसद-प्रणाली के अनुसार ही हैं और इसमें सन्देह की तनिक भी सम्भावना नहीं है कि हमारी मन्त्रि-परिषद् की स्थिति वास्तव में एक सबल कैबिनेट की ही होगी। कहने के लिये तो शासन-कार्य का विभाजन तथा मन्त्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली का आनियमन राष्ट्रपति करता है, परन्तु वास्तव में, इङ्गलैंड की भाँति यहाँ भी, यह सारा कार्य प्रधान मन्त्री ही करता है जो सामान्यत: लोकसभा के बहुमत का नेता होता है। और भी, कहने के लिये प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद-काल तक अपने पद पर आसीन रह सकता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि राष्ट्रपति इच्छानुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति तथा विमुक्ति कर सकता है, क्योंकि लोकसभा का बहुमत प्रधानमन्त्री के पीछे होता है और मन्त्रिपरिषद् को गत्यवरोध उत्पन्न कर देने की शक्ति होती है। ऐसी दशा में राष्ट्रपति के पास केवल एक उपाय यह रह जाता है कि वह लोकसभा का विलयन कर इस प्रश्न पर देश का मत माँगे। परन्तु यह उपाय आशंकापूर्ण है क्योंकि यदि कहीं फिर उसी दल का बहुमत हो गया तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि जनता राष्ट्रपति के विरुद्ध है। बहुमत दल के नेता के अतिरिक्त यदि राष्ट्रपति किसी अन्य व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बनाता है तो यह मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के समक्ष एक दिन भी नहीं टिक सकेगी। अत: प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति के हाथ बँधे हैं। इस नियुक्ति में वह अपनी इच्छानुसार कार्य उस दशा में अवश्य कर सकेगा जब लोक सभा में अनेक राजनैतिक दल हों, और किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न हो। उस स्थिति में राष्ट्रपति किसी भी दल के नेता को बुला कर मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने को कह सकेगा।

मन्त्रि परिषद् की रचना—मन्त्रिपरिषद् के आकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मन्त्रियों को प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर राष्ट्रपति नियुक्त करता है परन्तु कोई

मन्त्री, जो ६ निरन्तर मासों की अवधि तक संसद के किसी आगार का सदस्य न रहे, उस अवधि के पश्चात् मन्त्री न रहेगा।" मन्त्रियों को अपने पद पर प्रवेश होने से पहले गम्भीरतापूर्वक शपथ लेनी होती है कि वे संविधान के प्रति सच्ची भक्ति और अनुरक्ति रखते हुये संघ-मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक तथा शुद्ध अन्त:करण से पालन करेंगे, और भय अथवा पक्षपात, अनुराग अथवा द्वेष, के बिना सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार ठीक-ठीक व्यवहार करेंगे। मन्त्रियों को गूढ़ता की शपथ भी दिलाई जाती है जिसके अनुसार वे किसी ऐसी बात को, जो संघ-मन्त्री के रूप में उनके सामने विचारार्थ लाई जाती है, किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रकट न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी व्यावहारिक बातें भी होती हैं जिनका प्रधानमन्त्री को मन्त्रि-परिषद् की रचना करते समय ध्यान रखना पड़ता है। बहुमत-दल का नेता होने के नाते वह अपने दल के विशिष्ट व्यक्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि यथासम्भव, मन्त्रिपरिषद् में सभी महत्वपूर्ण राज्यों तथा सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व हो। कभी-कभी प्रधानमन्त्री को बिना मन्त्रिपरिषद् के सदस्य का पद दिये मन्त्रियों तथा उपमन्त्रियों की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ सकती है। यह राज्यमन्त्री तथा उपमन्त्री मन्त्रिमण्डल (Ministry) के सदस्य होते हैं परन्तु मन्त्रिपरिषद् (cabinet) के नहीं। मन्त्रिपरिषद् मन्त्रिमण्डल से छोटा है। और देश की नीति का निर्धारण मन्त्रिपरिषद् करता है, न कि मन्त्रिमण्डल।

मन्त्रि-परिषद् के प्रकार्य—जहाँ तक मन्त्रि-परिषद् के प्रकार्यों का सम्बन्ध है, संविधान में केवल प्रधान मन्त्री के विषय में यह उल्लेख किया गया है कि वह संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णय तथा विधानार्थ प्रस्थापनायें राष्ट्रपति के पास पहुँचायेगा। परन्तु वास्तव में इङ्गलैण्ड की भाँति भारत में भी शासन के अधिशासी तथा विधायी अङ्गों को जोड़ने वाली कड़ी मन्त्रिपरिषद ही है। अतएव मन्त्रि-परिषद् की शक्तियों तथा उसके उत्तरदायित्वों की विवेचना करते समय उसकी इस द्विमुखी स्थिति का सदा ध्यान रखना चाहिये। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों का पहला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकार्य राष्ट्रपति को उसके प्रकार्यों का पालन करने में सहायता तथा मन्त्रणा देना है। इस प्रकार मन्त्रिगण विभिन्न शासन विभागों के अध्यक्ष रूप में राज्य के सर्वोच्च अधिशासी पदाधिकारी होते हैं। यद्यपि कहने के लिये सर्वोच्च अधिशासी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है, परन्तु उसका वास्तविक प्रयोग मन्त्रि-परिषद् ही करती है। इसके अतिरिक्त लोकसभा के बहुमत-दल के नेता होने के नाते मन्त्रि-परिषद् के सदस्य यह निश्चय करने की स्थिति में होते हैं कि कौन से क़ानून बनने चाहिये और कौन-कौन से कर लगाये जायें तथा किन विषयों पर व्यय किया जाये। यही उनकी विधायी तथा आर्थिक

शक्तियों का उद्‌गम है, यद्यपि विध्यनुसार यह शक्तियाँ संसद् में निहित होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वास्तव में मन्त्रिपरिषद् ही शासन की सर्वोच्च अधिशासी, विधायी तथा आर्थिक शक्तियों का संधारण करती है।

मन्त्रिपरिषद् के प्रकार्यों की विस्तृत व्याख्या में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रीय नीति निर्धारित करती तथा यह निर्णय करती है कि आन्तरिक तथा वाह्य क्षेत्रों की प्रत्येक समस्या का किस प्रकार समाधान किया जाना चाहिये। वह विधानों के परिवर्तन, शान्ति तथा सुरक्षा के संधारण, वाह्य आक्रमणों से देश के प्रतिरक्षण, धन के सङ्कलन तथा व्यय, विदेशों के साथ अभिवार्ता तथा युद्ध, शान्ति और सन्धियों का निर्णय करने की उत्तरदायी होती है।

(२) मन्त्रिपरिषद् शासन के विभिन्न विभागों के कार्य को एक सूत्र में बाँध कर संघर्ष तथा अपव्यय रोकती है। मन्त्रिगण अलग-अलग प्रशासन की विस्तारपूर्ण व्यवस्था करते हैं और मन्त्रिपरिषद् इस प्रकार किये गए प्रत्येक कार्य का अनुमोदन करती है तथा उत्तरदायित्व स्वीकार करती है।

(३) मन्त्रिपरिषद् सम्पूर्ण विधि-निर्माण तथा समस्त विधानार्थ प्रस्थापनाओं के लिये उत्तरदायी होती है। संसद के समक्ष अनेक विधेयक तथा आदेश प्रस्तुत किये जाते हैं और संसद के पास उन पर विस्तृत विवाद करने के लिये समय का अभाव होता है। अतएव यह सारा कार्य मन्त्रिमण्डल द्वारा ही सम्पादित होता है।

(४) राज्य के सम्पूर्ण व्यय, उसके अपव्यय की रोक, तथा करों के आरोपण एवं संग्रहण का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद् पर ही होता है। बजट के निर्माण तथा संसद द्वारा उसकी स्वीकृति का भार भी मन्त्रिपरिषद् ही वहन करती है।

(५) राज्य के समस्त उच्च पदों पर नियुक्ति का पूर्णाधिकार मन्त्रिपरिषद् को ही होता है, संसद इस में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती। राष्ट्रपति महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति मन्त्रिपरिषद् की राय से ही करता है।

(६) मन्त्रिपरिषद् संसद की कालावधि तथा उसके कार्यक्रम का स्वामी होती है। यदि लोकसभा शासन कार्यों की आवश्यकता से अधिक आलोचना करने लगे तो मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति से उसके विलयन की माँग भी कर सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्रिपरिषद् को साधारण निर्वाचन के माध्यम से देश से अपील करने का अधिकार होता है। बहुधा यह विचार कर कि मन्त्रिपरिषद् की धमकी पर लोकसभा का विलयन कर दिया जायगा, उसके सदस्य सतर्क हो जाते हैं। वे जानते हैं कि विलयन का अर्थ होगा नया निर्वाचन, यथेष्ट व्यय और कष्ट तथा पराजय की सम्भावना। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् संसद् की कालावधि पर नियंत्रण करती है।

(७) सङ्कटकाल में मन्त्रिपरिषद् राज्यों के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप कर सकती है।

मन्त्रिपरिषद् का लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व—संवैधानिक दृष्टिकोण से मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के अधीन होती है। मन्त्रिपरिषद् उतने ही समय तक पदासीन रह सकती है जब तक लोकसभा को उसमें विश्वास बना रहे। लोकसभा के बहुमत का विश्वास खोते ही मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है। लोकसभा अपने इस अविश्वास का प्रदर्शन कई प्रकार से कर सकती है। वह किसी मन्त्री का वेतन घटाने का प्रस्ताव कर सकती है, शासन के किसी महत्वपूर्ण विधायी अथवा आर्थिक प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकती है, अथवा प्रत्यक्ष अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिपरिषद् को निकाल बाहर कर सकती है। लोकसभा को प्रश्नों, विवादों तथा प्रस्तावों की सहायता से नित्यप्रति के प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार भी प्राप्त है। परन्तु यदि आगे चल कर भारत में भी इङ्गलैण्ड की भाँति, थोड़े से सबल राजनैतिक दलों का विकास हो गया, तो यह परिस्थिति असम्भव हो जायेगी, क्योंकि मन्त्रिपरिषद् उसी दल की होगी जिसका लोकसभा में भी ठोस बहुमत हो। आज भी केन्द्रीय शासन तथा प्रान्तों में कांग्रेस की स्थिति सर्वशक्तिमान ही है। परन्तु यदि काँग्रेस का विखण्डन आरम्भ हो गया और भविष्य में अनेक राजनैतिक दलों का जन्म हुआ, तो हमारे मन्त्रिपरिषद् भी फ्रांस की भाँति निर्बल हुआ करेंगे।

संविधान में संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट उल्लेख है। इङ्गलैण्ड में इसकी प्रतिष्ठा केवल संप्रतिज्ञा (convention) के रूप में है। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन के अधिशासी, विधायी तथा आर्थिक सभी कार्यों के लिये प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से, तथा सब मन्त्री संयुक्त रूप से संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संसद् मन्त्रियों के समस्त अधिशासी कार्यों की आलोचना कर सकती है, चाहे वे व्यक्तिगत रूप से मन्त्रियों के प्राधिकार पर किये गये हों और चाहे संयुक्त रूप से मन्त्रिपरिषद् के प्राधिकार पर। और यदि संसद् के निर्णय का यह आशय हुआ कि वे कार्य असंवैधानिक अथवा उसकी इच्छाओं के विरुद्ध हैं तो इसका अर्थ सारे मन्त्रिपरिषद् की निन्दा होगा। प्रत्येक मन्त्री अपने अधीन पदाधिकारियों के प्रत्येक कार्य, व्यक्तियों के साथ किये गये अन्याय, सारे अपशासन तथा नीति-सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। और सारे मन्त्रिगण प्रत्येक मन्त्री के कार्यों के लिये उत्तरदायी होते हैं, क्योंकि उन सबसे संयुक्त-रूप में शासन-सञ्चालन की आशा की जाती है, और उनमें से प्रत्येक अपने विभाग के सम्बन्ध में सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् का प्रतिनिधि होता है। अतएव सारे मन्त्रियों का एक स्वर होता है; वे एक टोली की भाँति कार्य करते और साथ-साथ तैरते तथा साथ-साथ डूबते हैं। वे या उनमें से कोई राष्ट्रपति को क्या परामर्श देते हैं, इसके सम्बन्ध में उनसे संसद् में अथवा किसी न्यायालय में कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सकता और न राष्ट्रपति को ही अपने मन्त्रिपरिषद् से बाहर किसी से कोई

परामर्श लेने का अधिकार है। परन्तु राष्ट्रपति के नाम में मन्त्रिपरिषद् द्वारा किये गये सारे कार्यों के लिये संसद् के प्रति मन्त्रिगण ही उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को अपने पद से उसी दशा में हटा सकता है जब वे संसद् के विश्वासपात्र न रह जाएँ। यदि वह स्वेच्छानुसार कार्य करने लगे तो संसद् उसे देश का शासन चलाने के लिये एक पाई भी नहीं देगी और स्वयं राष्ट्रपति को महाभियोग तथा निष्कासन की आशङ्का हो जायेगी।

प्रधान मन्त्री—हमारे संविधान में देश के लिये सांसद शासन-प्रणाली को अपनाया गया है, अतएव प्रधान मन्त्री को भारत के अधिशासी प्रधान से कहीं अधिक शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति के सारे प्राधिकार शोभामात्र हैं। परन्तु प्रधान-मन्त्री, इङ्गलैण्ड के प्रधानमन्त्री की भाँति मन्त्रिपरिषद् के स्तम्भ की आधार-शिला है। उसके कर्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और उसका उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। उसके मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति उसकी मन्त्रणा पर ही होती है और उनका पदधारण-काल उसके पदधारण-काल के साथ जुड़ा होता है। उसके त्यागपत्र का अर्थ सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् का विलयन होता है। किसी मन्त्री के साथ उसका मतभेद होने की दशा में मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ता है, उसे नहीं। वह मन्त्रि-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करता है। अपने सहकर्मियों के बीच विवाद उत्पन्न होने पर उसका निर्णय करता है और शासन के विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बाँधता है। देश के प्रशासन में सबसे अधिक वही राष्ट्रपति की सहायता करता है। इतना ही नहीं, वास्तव में प्रशासन का सारा भार तथा आन्तरिक एवं वैदेशिक नीति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वही वहन करता है। वह राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के बीच संसूचना-स्रोत का कार्य करता है। मन्त्रि-मण्डल द्वारा किये गये समस्त निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराना उसका विशेष कर्तव्य होता है। देश के सर्वोच्च पदों, राजदूतों, राज्यपाल तथा राजप्रमुखों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों आदि की नियुक्ति उसके अभिस्ताव (recommendation) के अनुसार होती है। और अन्त में संसद् का सम्पूर्ण विधायी तथा आर्थिक कार्य उसके निर्देशन और नियन्त्रण में सम्पादित होता है। बहुमत-दल का मान्य नेता होने के कारण वह वचन दे सकता है कि अमुक सन्धियों पर हस्ताक्षर होंगे, अमुक विधियाँ स्वीकृत होंगी और अमुक अनुदान किये जायेंगे। वास्तव में संसद् तथा राष्ट्रपति की सारी शक्तियाँ प्रधान मन्त्री ही वहन करता है। संविधान के अनुसार वास्तविक सम्पूर्ण सत्ता संसद् में निहित है जो जनता की प्रतिनिधि होती है। परन्तु संसद् की सम्पूर्ण सत्ता का अर्थ है शासन-व्यवस्था में प्रधान मन्त्री की सर्वोच्च स्थिति। रैम्जे म्योर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "How Britain is Governed" में लिखा है कि "ब्रिटिश

मन्त्रिमण्डल राज्य के पोत का दिशा बदलने वाला पहिया है और प्रधानमन्त्री उस पहिये का घुमाने वाला है[1]। यह उपमा भारतीय प्रधान मन्त्री के साथ भी चरितार्थ होती है। परन्तु प्रधानमन्त्री देश की आन्तरिक तथा वैदेशिक नीति निर्धारित करने में कितना हाथ रखता है, यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर होगा। अगर कोई साधारण प्रतिभा का व्यक्ति इस पद पर होगा तो उसका प्रभाव स्वभावत: कम होगा, किन्तु यदि भारत के वर्तमान प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की भाँति इस पद पर कोई असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति होगा, तो उसका प्रभाव निश्चय ही सर्वव्यापी होगा।

वर्तमान मन्त्रिमण्डल के विभाग—संघ-अधिशासन की संवैधानिक रूपरेखा की विवेचना कर चुकने के पश्चात् अब हम वर्तमान मन्त्रिमण्डल के प्रशासन कार्य का अध्ययन करेंगे। यह कार्य विभिन्न विभागों के द्वारा सम्पादित होता है। इन विभागों के अध्यक्ष मन्त्रिगण होते हैं जो अपना सारा कार्य राष्ट्रपति के नाम में करते हैं। वर्तमान मन्त्रिमण्डल में निम्नलिखित विभाग मुख्य हैं:— वैदेशिक विभाग, जिसमें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के साथ सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं, गृह तथा रियासत विभाग, रक्षा विभाग, खाद्य तथा कृषि विभाग, उद्योग तथा व्यापार विभाग, अर्थ विभाग, शिक्षा तथा वैज्ञानिक अन्वेषण विभाग, श्रम विभाग, स्वास्थ्य विभाग, यातायात विभाग, कानून विभाग, निर्माण, खान तथा विद्युत विभाग, रेल तथा परिवहण विभाग, प्राकृतिक साधन विभाग, उत्पादन विभाग, योजना विभाग आदि। इनके अतिरिक्त पुनर्वास सूचना आदि कुछ अन्य विभाग भी हैं जिनके अध्यक्ष मन्त्रिगण मन्त्रिपरिषद् के पूर्ण सदस्य नहीं माने जाते हैं। इन्हें राज्यमन्त्री कहा जाता है। कुछ विभागों में जो अधिक महत्वपूर्ण हैं, उपमन्त्री भी होते हैं जो, जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है, अपने मन्त्रियों के सहायक रूप में कार्य करते हैं।

सचिवालय—प्रत्येक मन्त्री का अपना अलग सचिवालय होता है और प्रत्येक सचिवालय में अनेक विभाग होते हैं जिनका काम विभिन्न वर्गों के सहस्रों अधिकारीगण सँभालते हैं अधिकारियों के कुछ वर्ग निम्नलिखित हैं:—सचिव (secretary), संयुक्त सचिव (joint secretary), उपसचिव (deputy secretary), सहायक सचिव (assistant secretary), अधोसचिव (under secretary), प्रशासकाधिकारी (administrative officers), अधीक्षक (superintendents), सहायक (Assistants) तथा क्लर्क (clerks)।

पुनर्संगठन की योजना—कुछ समय से सरकार भारत-शासन के पुनर्संग-

1. "British Cabinet is the steering wheel of the ship of State and the Prime Minister is the steersman."—*Ramsay Muir*.

ठन की एक योजना पर विचार कर रही है जिसका उद्देश्य शासन को अधिक सुचारु तथा सस्ता बनाना है। यह योजना श्री गोपालस्वामी आयंगर ने तैयार की है और दिसम्बर सन् १९४९ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें अभिस्ताव किया गया है कि भारत शासन में २८ विभागों के २० मन्त्रणालय, ८ केन्द्रीय कार्यालय तथा एक मन्त्रिमण्डल का सचिवालय होना चाहिये। योजना में यह भी कहा गया है कि सामाजिक तथा आर्थिक सेवाओं से सम्बन्धित मन्त्रणालयों का वर्गीकरण करके ब्यूरो (Bureau) नाम के संयुक्त संगठन स्थापित किये जाने चाहिये। इस योजना के अनुसार :—

(१) वित्त, वैदेशिक कार्य, गृह कार्य, कानून तथा प्रतिरक्षण के मन्त्रणालय पूर्ववत् स्वतन्त्र विभाग बने रहेंगे।

(२) रियासत (States) तथा सहायता और पुनर्वास (Relief and Rehabilitation) विभागों के अस्थायी होने के कारण, उनके संगठन में कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा।

(३) अन्य मन्त्रणालयों के नाम तथा प्रकार्य, दोनों में परिवर्तन होंगे।

(४) राज्य-मन्त्रियों तथा उपमन्त्रियों की नियुक्ति भी होती रहेगी, भले ही उनमें से सबको अथवा कुछ को पूर्ण-मन्त्रित्व का पद न दिया जाये।

पुनर्संगठन की यह योजना भारत-शासन के संचालन से सम्बन्धित कतिपय दोषों तथा उस पर होने वाले भारी व्यय के कारण आवश्यक हो गई थी। प्रशासन विभागों के वर्तमान संगठन का एक प्रमुख दोष, जिस पर इस योजना में प्रकाश डाला गया है, यह है कि विभिन्न विभागों के बीच योजनाओं तथा नीति के निर्माण का समन्वय अत्यन्त कठिन है और इसके परिणामस्वरूप देश-कल्याण की योजनाओं तथा नीतियों को कार्यान्वित करने में बहुत समय लगता है और सुचारुता नहीं आ पाती है। आशा की जाती है कि इन दोषों को दूर करने के लिये निकट भविष्य में केन्द्रीय प्रशासन विभागों का पूर्ण पुनर्संगठन किया जायेगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

संघीय व्यवस्थापिका

संघ के विधानमण्डल को संसद् नाम से सम्बोधित किया गया है। उसमें दो आगार हैं :—(१) राज्य-परिषद् (Council of States), तथा (२) लोकसभा (House of the People)। संघ विषयों की सम्पूर्ण विधायी शक्ति राष्ट्रपति और संसद् में निहित है। हम पहले ही देख चुके हैं कि राष्ट्रपति को संसद् द्वारा बनाये गये कानून को रद्द करने की निरंकुश शक्ति प्राप्त नहीं है; परन्तु उसकी अनुमति बिना संसद् का कोई निर्णय कानून का रूप धारण नहीं कर सकता है।

राज्य परिषद् की रचना—राज्य-परिषद् संघ के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की संस्था है। इसमें अधिक से अधिक २५० सदस्य हो सकते हैं, जिनमें से अधिक से अधिक २३८ राज्यों के प्रतिनिधि और शेष १२ साहित्य, विज्ञान, कला, समाज सेवा, आदि विषयों के विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होते हैं। प्रथम अनुसूची के भाग १ तथा २ में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधि राज्य के निम्न आगार के सदस्यों द्वारा एक-परिवर्तनीय मतविधि (Single Transferable Vote) की अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation) द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। प्रथम अनुसूची के भाग ३ में उल्लिखित राज्यों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की रीति संसद् निर्धारित करती है।

सङ्घ-व्यवस्था में साधारणतया उत्तर आगारों की रचना इस प्रकार की जाती है कि सभी सङ्घांगों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाये। संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा स्विटजरलैंड में बड़े-छोटे सभी संघांगों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है। परन्तु हमारी राज्य-परिषद् राज्य-प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होते हुये भी सब राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं प्रदान करती है। हमने कनाडा के उदाहरण पर उत्तर आगार के प्रतिनिधित्व के लिये भी जनसंख्या का आधार ही स्वीकार किया है। यदि हम समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार कर लेते तो भाग २ तथा ३ के राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या भाग १ के राज्यों की सदस्य संख्या से दुगनी होती, यद्यपि उनकी जनसंख्या भाग १ के राज्यों की जनसंख्या की एक तिहाई ही है। और स्पष्ट है कि यह न्याय-संगत न होता। संविधान में स्थानों का विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

भाग १ के राज्यों के प्रतिनिधि		भाग २ के राज्यों के प्रतिनिधि		भाग ३ के राज्यों के प्रतिनिधि	
आसाम	६	हैदराबाद	११	अजमेर और कुर्ग	१
बिहार	२१	जम्मू और काश्मीर	४	भूपाल	१
बम्बई	१७	मध्यभारत	६	बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश	१
मध्यप्रदेश	१२	मैसूर	६	कूचबिहार	१
मद्रास	२७	पटियाला पूर्वी पंजाब राज्य-संघ	३	दिल्ली	१
उड़ीसा	६	राजस्थान	६	कच्छ	१
पंजाब	८	सौराष्ट्र	४	मनीपुर-त्रिपुरा	१
उत्तरप्रदेश	३१	ट्रावनकोर-कोचीन	६	विन्ध्यप्रदेश	४
पश्चिमी बङ्गाल	१४				
योग	१४५		४६		११

परिषद् की अवधि—राज्य-परिषद् एक स्थायी संस्था है, उसका विलयन नहीं हो सकता; परन्तु उसके एक तिहाई सदस्य, संसद् द्वारा बनाये गये प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर अपना पद रिक्त करेंगे। इस प्रकार पहले समय के सदस्यों को छोड़ कर इसके बाकी सदस्य ६ वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित होंगे।

सभापति—भारत का उपराष्ट्रपति पद-कारणात् राज्य-परिषद् का सभापति होता है। राज्य-परिषद् अपने ही किसी सदस्य को अपना उपसभापति भी चुनती है, जो सभापति के स्थानापन्न राष्ट्रपति होने, अथवा अन्य किसी कारण से उपलब्ध न होने, की दशा में सभापति का आसन ग्रहण करेगा। यदि किसी समय उपसभापति भी उपलब्ध न हो तो राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को सभापति नियुक्त कर सकता है, या स्वयं राज्य-परिषद् ही किसी सदस्य को सभापति चुन सकती है।

लोकसभा की रचना—लोकसभा में जनता द्वारा निर्वाचित अधिक से अधिक ५०० सदस्य होते हैं। इसके निर्वाचन-क्षेत्र प्रादेशिक होते हैं तथा निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। भारत का प्रत्येक नागरिक जिसकी आयु २१ वर्ष से अधिक है और जो किसी कारण नागरिकता के अधिकार से वञ्चित नहीं है, इसके लिये मतदाता होता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की प्रतिनिधि संख्या इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि जनसंख्या के प्रत्येक ७,५०,००० के लिए एक से कम और प्रत्येक ५,००,००० के लिये एक से अधिक प्रतिनिधि न हो। हाल ही में लोकसभा में सरकार की ओर से इस आशय का एक संशोधन प्रस्तुत किया

गया है कि वे दोनों संख्यायें बढ़ा दी जायें, क्योंकि १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या बढ़ गई है और लोकसभा के सदस्यों की संख्या ५०० से अधिक बढ़ाना उचित नहीं है। प्रतिनिधित्व का अनुपात, यथासम्भव, देश भर में समान होगा और यह अनुपात प्रत्येक जनगणना के बाद संसद् के कानून द्वारा पुनर्व्यवस्थापित किया जायेगा। राज्यों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों तथा केन्द्राधिशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व के लिये संसद् को भिन्न व्यवस्था करने का अधिकार है। परन्तु लोकसभा में अनुसूचित जातियों (scheduled castes), अनुसूचित जन-जातियों (scheduled tribes) तथा एँग्लो-इण्डियन सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय के लिये स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था नहीं है, और संविधान के आरम्भ होने के दस वर्ष बाद ये आरक्षण भी समाप्त हो जायेंगे।

सन् १९५० ई० में स्वीकृत जनप्रतिनिधित्व क़ानून (Representation of the People Act) के अनुसार लोकसभा के लिये विभिन्न राज्यों को निम्नलिखित संख्या में स्थान देने का निश्चय किया गया है :—

भाग १ के राज्यों के प्रतिनिधि		भाग २ के राज्यों के प्रतिनिधि		भाग ३ तथा ४ के राज्यों के प्रतिनिधि	
आसाम	१२	हैदराबाद	२५	अजमेर	२
बिहार	५५	जम्मू और काश्मीर	६	भूपाल	२
बम्बई	४५	मध्यभारत	११	बिलासपुर	१
मध्यप्रदेश	२९	मैसूर	११	कुर्ग	१
मद्रास	७५	पटियाला तथा पूर्वी पञ्जाब राज्य संघ	५	दिल्ली	४
उड़ीसा	२०	राजस्थान	२०	हिमाचल प्रदेश	३
पञ्जाब	१८	सौराष्ट्र	६	कच्छ	२
उत्तर प्रदेश	८६	ट्रावनकोर-कोचीन	१२	मनीपुर	२
पश्चिमी बङ्गाल	३४			त्रिपुरा	२
				विन्ध्य प्रदेश	६
				अण्डमान और निकोबार द्वीप	१
योग	३७४		९६		२६

लोकसभा की अवधि—लोकसभा का कार्यकाल साधारण अवस्था में पाँच वर्ष होगा और पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर वह स्वयं भंग हो जायेगी। राष्ट्रपति इस अवधि के मध्य में भी इच्छानुसार लोकसभा का विलयन कर सकता

है। परन्तु ऐसा वह तभी करेगा जब उसे यह विश्वास हो जाय कि लोकसभा में जनता के प्रतिनिधियों का अभाव है। आपात-स्थिति के उद्घोषण-काल में संसद् लोकसभा की अवधि को बढ़ा सकती है। परन्तु यह विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक और किसी अवस्था में उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के ६ मास की अवधि से अधिक नहीं हो सकता है।

लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष—लोकसभा अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है, अथवा आवश्यकतानुसार अपने किसी सदस्य को, राज्य परिषद् की भाँति, अस्थायी रूप से सभापति चुन लेती है। अध्यक्ष को लोकसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से स्वीकृत प्रस्ताव द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। जिस समय लोकसभा में अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष के निष्कासन का प्रस्ताव उपस्थित हो, वे उस बैठक का सभापतित्व नहीं कर सकते हैं। लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को संसद् द्वारा समय-समय पर निश्चित वेतन तथा अधिदेय दिये जाते हैं। अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष की शक्तियाँ सामान्य प्रकार की ही हैं। वह लोकसभा की बैठकों का संचालन करता है और इस अवस्था में उसका कार्य सुव्यवस्था तथा शालीनता का संधारण करना, वैधिक अनुकूलता के प्रश्नों (points of order) का निर्णय करना, प्रश्न पूछना तथा मत-गणना का फल घोषित करना होता है। उसे अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले सदस्यों को दण्डित करने की शक्ति होती है; वह उन्हें लोकसभा की निर्दिष्ट बैठकों में भाग लेने से रोक सकता है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि विभिन्न दलों के साथ उचित न्याय का व्यवहार हो और शासन अथवा विरोधी दल की ओर से आपत्तिजनक रीतियों का प्रयोग न होने पाये। यदि उसे निश्चय हो जाय कि अभी प्रश्न पर समुचित विवाद नहीं हो पाया है तो वह विवाद-समाप्ति के प्रस्तावों को उपस्थित किये जाने से रोक सकता है। वह सभा के नियमों की व्याख्या तथा घोषणा करता है। कोई विधेयक अर्थविधेयक है अथवा नहीं, इसका निर्णय भी वही करता है। और अन्त में, वह संसद् के दोनों आगारों के संयुक्त अधिवेशन का सभापतित्व करता है। उसकी यह सारी शक्तियाँ ब्रिटिश परम्परा के अनुसार ही हैं, परन्तु भारत ने इङ्गलैण्ड की यह प्रथा, कि एक बार का अध्यक्ष सदा अध्यक्ष रहेगा, भी स्वीकार कर ली है, यह अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। और न यही कहा जा सकता है कि भारतीय अध्यक्ष भी ब्रिटेन के अध्यक्ष की भाँति निष्पक्ष तथा दलबन्दी से अलग रहेगा।

संसद् की सदस्यता के लिये योग्यतायें—संसद् के सदस्यों के लिये निम्नलिखित योग्यतायें आवश्यक हैं:—

(१) वे भारत के नागरिक हों।

(२) उनकी आयु लोकसभा की सदस्यता के लिये २५ वर्ष और राज्य-परिषद् की सदस्यता के लिये ३० वर्ष से कम न हो।

(३) उनमें वे सारी योग्यतायें हों जो संसद् विधि द्वारा निश्चित करे।

निर्योग्यतायें—कोई व्यक्ति संसद् के किसी आगार का सदस्य चुने जाने के लिये और सदस्य रहने के लिये निर्योग्य होगा—

(१) यदि वह भारत-शासन के, अथवा किसी राज्य के शासन के अधीन, किसी ऐसे लाभपद पर आरूढ़ है जो संघ अथवा राज्य के मन्त्री का पद न हो;

(२) यदि वह विक्षिप्त है, और अधिकृत न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है;

(३) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया है;

(४) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, अथवा अपनी ओर से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वीकार कर चुका है, अथवा अन्य किसी प्रकार से किसी विदेशी राज्य के प्रति अनुषक्त है; और

(५) यदि वह संसद् निर्मित किसी कानून के द्वारा संसद् की सदस्यता के अयोग्य ठहरा दिया गया है। १६५१ के Representation of the People Act के अन्तर्गत निम्नलिखित अयोग्यतायें और जोड़ दी गई हैं :—

(अ) यदि वह निर्वाचन सम्बन्धी किसी अपराध का अपराधी हो;

(ब) यदि वह किसी अपराध के लिये दो वर्ष से अधिक की सजा पा चुका हो तथा उसको छूटे हुये पाँच वर्ष का समय न हुआ हो;

(स) यदि वह सरकारी नौकरी से बेईमानी करने पर निकाला गया हो; और

(द) यदि वह सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके में हिस्सेदार हो या उसका सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने में कोई हित हो।

उपरोक्त निर्योग्यताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य परिस्थितियों में भी सदस्यों को अपना स्थान रिक्त करना पड़ता है। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति एक साथ संसद् के दोनों आगारों का सदस्य नहीं हो सकता है और न वह एक साथ तथा एक ही समय में संसद् के एक आगार तथा राज्य के विधानमण्डल का सदस्य रह सकता है। और यदि संसद् के किसी आगार का कोई सदस्य ६० दिनों की अवधि तक बिना आगार की अनुमति के उसके सब अधिवेशनों में अनुपस्थित रहता है, तो उसका स्थान रिक्त माना जायेगा।

सदस्यों के विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ—संसद् की कार्यप्रणाली की प्रक्रिया के नियमों के अधीन रहते हुये संसद् में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। संसद् में अथवा उसकी किसी समिति में, कही हुई किसी बात अथवा दिये हुये किसी मत के सम्बन्ध में संसद् के किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न

चल सकेगी, और न वह संसद् के अधीन किसी प्रकाशन के लिये ही न्याय के सम्मुख उत्तरदायी होगा। अन्य बातों में संसद् के सदस्यों के विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ वही होंगी, जो संसद्, समय-समय पर, विधि द्वारा परिभाषित करे, और वे जब तक इस प्रकार परिभाषित नहीं की जातीं, तबतक वे होंगी, जो इस संविधान के प्रारम्भ होने के समय ब्रिटेन के हाउस आफ़ कामन्स के सदस्यों को प्राप्त हैं। इनमें सदस्यों का संसद् के अधिवेशन-काल में गिरफ्तारी से विमुक्ति का अधिकार भी सम्मिलित है। संसद् के सदस्यों को संसद् द्वारा समय-समय निश्चित किये गये वेतन तथा अधिदेय मिलते हैं।

कार्य-प्रणाली—प्रत्येक वर्ष में कम से कम दो बार संसद् का अधिवेशन आवश्यक है तथा उसके दो अधिवेशनों के बीच किसी दशा में भी ६ मास से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिये। परन्तु राष्ट्रपति, आवश्यकतानुसार, संसद् के अधिक शीघ्र अधिवेशन बुला सकता है, और दोनों आगारों का सत्रावसान अथवा लोकसभा का विलयन कर सकता है। राष्ट्रपति प्रत्येक अधिवेशन के आरम्भ में शासन की साधारण नीति पर प्रकाश डालते हुये संसद् को सम्बोधित करता है। संसद् के आगारों का कार्य-संचालन सभापति करते हैं, परन्तु जिस समय उनके ही निष्कासन का प्रस्ताव उपस्थित होता है, वे कार्यवाही में कोई भाग नहीं ले सकते हैं। उनको आगारों के विवाद में मतदान का अधिकार नहीं होता, परन्तु मत-समता की दशा में वे अपने निर्णायक मत का प्रयोग कर सकते हैं। इन सभापतियों के अतिरिक्त प्रत्येक आगार का अपना सचिवालय भी होता है, जो कार्य-संचालन में उनकी सहायता करता है। संसद् के प्रत्येक आगार के प्रत्येक सदस्य को अपना स्थान ग्रहण करने के पूर्व, विनिहित प्रपत्र के अनुसार घोषणा करनी अथवा शपथ लेनी पड़ती है। राष्ट्रपति के निष्कासन के प्रश्न को छोड़ कर अन्य सभी प्रश्नों पर, दोनों आगारों में उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा निर्णय किया जाता है। प्रत्येक आगार की बैठक के लिये उसके सब सदस्यों की दशांश संख्या को गणपूरक संख्या (quorum) माना जाता है। संसद् को अपने कार्य-संचालन के लिये अन्य कार्य-प्रणाली सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार है। गणतंत्र की स्थापना से १५ वर्ष तक संसद् में प्रयोग की जाने वाली भाषा हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी होगी, और यह अवधि समाप्त होने पर केवल हिन्दी ही रह जायेगी। परन्तु आगार का सभापति अथवा अध्यक्ष ऐसे सदस्यों को जो हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी नहीं बोल सकते हैं, अपनी मातृभाषा में आगार को सम्बोधित करने की अनुमति दे सकता है। सभी मन्त्री तथा महान्यायवादी (Attorney-General) किसी भी आगार की बैठक में भाग ले सकते तथा बोल सकते हैं, चाहे वे उस आगार के सदस्य हों या न हों।

संसद् की शक्तियाँ—सन् १९३५ ई० के कानून के अन्तर्गत संघीय विधान-

मण्डल सम्पूर्ण सत्ताधारी नहीं था। गवर्नर-जनरल को अनेक स्वविवेकाधारित अधिकार तथा विशेष उत्तरदायित्व प्राप्त थे जिनके आधार पर वह संघीय अथवा प्रान्तीय विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किसी कानून को अस्वीकार कर सकता था। परन्तु हमारे नये संविधान के अन्तर्गत संसद्, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की भाँति, एक सम्पूर्ण सत्ताधारी विधि-निर्माता संस्था है। उसे किसी भी कानून का निर्माण अथवा विखण्डन करने का अधिकार है और उसके द्वारा निर्मित किसी कानून को न मानने अथवा उसकी अवहेलना करने का क़ानून के अनुसार किसी व्यक्ति को भी अधिकार नहीं है। संसद् के विधायी प्राधिकार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसके बनाये हुये कानूनों को राष्ट्रपति भी अस्वीकार नहीं कर सकता। संसद् को संघ-सूची में उल्लिखित सभी विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार है। वह समवर्ती-सूची और परिभाषित परिस्थितियों में राज्य-सूची में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकती है। राज्य-परिषद् अथवा राज्यों की विधानसभा के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव किये जाने पर संसद् राज्यों के लिये भी क़ानून बना सकती है। आपात-काल में वह सम्पूर्ण देश के लिये ऐसे विषयों के सम्बन्ध में भी कानून निर्माण कर सकती है जिनका उल्लेख किसी सूची में न किया गया हो। संसद् केन्द्राधिशासित क्षेत्रों, और आवश्यकतानुसार, अनुसूचित तथा जन-जातीय क्षेत्रों के लिये भी कानून बनाती है। वह राज्यक्षेत्र-बाह्य-प्रभाव का कानून (Act with extra-territorial effect) भी बना सकती है। परन्तु, आपात-काल के अतिरिक्त, संसद् संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूलाधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

साधारण विधि-निर्माण में दोनों आगारों की स्थिति समान है। कोई भी विधेयक संसद् के किसी आगार में प्रस्तुत किया जा सकता है और दोनों आगारों तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् वह कानून बन जाता है। दोनों आगारों के बीच असहमति उत्पन्न हो जाने की दशा में उसका समाधान करने के लिये संयुक्त बैठक की जाती है, जिसमें दोनों आगारों के उपस्थित तथा मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा अन्तिम निर्णय किये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि कहने के लिये दोनों आगारों की शक्तियाँ समान हैं, परन्तु वास्तव में राज्य-परिषद् अपेक्षाकृत निर्बल है। संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार मन्त्रिमण्डल में निहित है जो लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है, और लोकसभा की सदस्य संख्या भी राज्य-परिषद् की तुलना में दुगनी होती है। अतएव लोकसभा सरलतापूर्वक राज्य-परिषद् के विरोध पर अभिभावी हो सकती है। इसके अतिरिक्त, संसद् को प्रदायों (supplies) पर मत देने और कर आरोपित करने की आर्थिक शक्तियाँ हैं। परन्तु करों के आरोपण, परिवर्तन कम करने अथवा हटाने तथा शासन द्वारा व्यय किये जाने की अनुमति देने का अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है, और धन-विधेयक केवल

उसमें ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लोकसभा की स्वीकृति के बिना कोई नया कर नहीं लगाया जा सकता है, किसी प्रकार का व्यय (सिवाय अनिवार्य व्यय के) नहीं किया जा सकता है और न सरकार कोई ऋण ले सकती है। किन्तु मन्त्रि-परिषद् का निर्माण संसद् के बहुमत दल के सदस्यों से ही होता है, अत: मन्त्रि-परिषद् धन सम्बन्धी जो बिल चाहती है पास करवा लेती है। वास्तविकता यह है कि वित्त पर लोकसभा का अधिकार नाममात्र का है। धन सम्बन्धी कोई बिल केवल मन्त्रि-परिषद् की ओर से ही उपस्थित किया जा सकता है और इसके लिये राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है। लोकसभा में स्वीकृत होने के पश्चात् धन विधेयक राज्य-परिषद् में भेजे जाते हैं और विधेयक की प्राप्ति-तिथि से १४ दिन की अवधि के भीतर यदि राज्य-परिषद् उसे अपने संशोधन सहित या उनके बिना, लोकसभा को लौटा नहीं देती, तो विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर प्राप्त करने के पश्चात् स्वीकृत समझा जायेगा। और यदि विधेयक इस अवधि के भीतर संशोधन सहित लोकसभा में लौट आता है तो लोकसभा को अधिकार होगा कि वह चाहे उन संशोधनों को स्वीकार करे चाहे न करे। इससे यह स्पष्ट है कि धन-विधेयकों के अतिरिक्त, अन्य प्रकार के विधेयकों के लिये तो दोनों आगारों की स्वीकृति आवश्यक होती है परन्तु धन विधेयक बिना राज्य-परिषद् की स्वीकृति के भी कानून का रूप धारण कर लेते हैं। संवैधानिक संशोधनों के लिये यह आवश्यक होता है कि वे संसद् के प्रत्येक आगार द्वारा उसकी सम्पूर्ण सदस्य संख्या के, तथा उपस्थित एवं मत देने वाली सदस्य-संख्या के दो-तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकार किये जायें। राज्यों के अधिकारों से सम्बन्धित विषयों पर संशोधन के लिये प्रथम अनुसूची के भाग १ तथा २ के आधे से अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है। गणराज्य के राष्ट्रपति के निर्वाचन, उसके विरुद्ध महाभियोग की जाँच, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के निष्कासन, तथा राष्ट्रपति द्वारा आपात-उद्घोषणा को चालू रखने के अनुमोदन, आदि में दोनों आगारों की शक्तियाँ समान हैं। संसद् को प्रश्नों, प्रस्तावों तथा वादविवाद द्वारा कार्यपालिका के नियन्त्रण तथा अधीक्षण का भी अधिकार है। यदि ऐसा न हो तो कार्यपालिका मनमानी करने लगे। प्रश्नों का उद्देश्य सरकार से विवध विषयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना होता है। प्रश्नों की सूचना कुछ दिन पूर्व देनी होती है। सदस्यों को अधिकार है कि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट न होने पर वे पूरक प्रश्न (supplementary questions) पूछ सकें। पूरक-प्रश्नों की पहले से सूचना नहीं देनी होती है। इन प्रश्नों के कारण सरकार को सदा चौकन्ना रहना पड़ता है। प्रस्तावों का उद्देश्य प्रश्नों से भिन्न होता है। इनका उद्देश्य कार्यपालिका से किसी विषय पर जानकारी प्राप्त करना नहीं, बल्कि उससे कोई काम करने की सिफारिश करना होता है। इन साधारण प्रस्तावों

के अतिरिक्त कभी-कभी संसद् में काम स्थगित करने के लिये प्रस्ताव (adjournment motion) रखा जाता है। सदन के सभापति को अधिकार है कि वह प्रस्ताव को अस्वीकार कर दे। ऐसी दशा में प्रस्ताव पेश नहीं होगा। इस प्रकार के प्रस्ताव के पास हो जाने का अर्थ सरकार के कार्यों की निन्दा (vote of censure) होती है। एक अन्य प्रकार का प्रस्ताव 'अविश्वास का प्रस्ताव' (vote of no-confidence) कहलाता है। अगर यह पास हो जावे तो मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) को पद-त्याग करना होगा। कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने का एक महत्वपूर्ण उपाय संसद् में वादविवाद भी है। इसका तात्पर्य सरकारी नीति सम्बन्धी किसी विशेष बात पर संसद् पर बहस करना होता है। इन वादविवादों से लाभ यह है कि सरकार को यह ज्ञात हो जाता है कि जनता में उसकी नीति के प्रति क्या भावना है। इस प्रकार प्रश्नों, प्रस्तावों तथा वादविवाद द्वारा संसद् के सदस्य कार्यपालिका के प्रशासी कार्यों पर नियन्त्रण करते हैं। परन्तु सरकार अथवा मन्त्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से केवल लोकसभा के ही प्रति होता है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि हमारी राज्य परिषद् (Council of States) की गणना संसार के सबसे अधिक शक्तिहीन द्वितीय आगारों में की जानी चाहिये। लोकसभा आर्थिक क्षेत्र में सर्वशक्तिशाली और विधि-निर्माण में अभिभावी होती है और व्यवहार रूप में वही सर्वसत्तासम्पन्न, तथा स्वतन्त्र संसद् है।

परन्तु संसद् के अधिकारों के प्रयोग पर एक बड़ा ठोस प्रतिबन्ध भी है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संसद् सर्वसत्तासम्पन्न तथा बाह्य नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त है। परन्तु आन्तरिक क्षेत्र में, संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति, उसकी सत्तासम्पन्नता पर भी न्यायिक पर्यवेक्षण का प्रतिबन्ध लगा है। इसका अर्थ यह है कि भारत में न्यायपालिका को अधिकार है कि वह संसद् की किसी विधि को यह कह कर असंवैधानिक तथा अमान्य घोषित कर दे कि उसमें संविधान के प्रावधानों का अतिक्रमण किया गया है। इससे भारतीय जनता की स्वतन्त्रता का उसी प्रकार सबल अभिरक्षण होगा जैसा इङ्गलैंड में न्याय-विधि (Rule of Law) के द्वारा होता है। इसके कारण अधिशासी वर्ग तथा विधानमण्डल असंवैधानिक रीति से जनता की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे। संसद् सर्वोच्च अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्य-पालन में किये गये आचरण पर विवाद केवल उसी दशा में कर सकती है जब उस न्यायाधीश के निष्कासन का प्रस्ताव उसके समक्ष उपस्थित हो।

विधि-निर्माण की कार्य-प्रणाली—हमारे संसद् की विधि-निर्माण की कार्य-प्रणाली में ब्रिटेन की परम्पराओं का अनुसरण किया गया है। इङ्गलैंड की भाँति यहाँ भी संसद् का अधिक समय देश के साधारण विधान का परिवर्तन करने वाले

सार्वजनिक विधेयकों (Public Bills) पर विवाद करने में व्यतीत होता है। इस कार्य-प्रणाली का आधार यह सिद्धान्त है कि सा 'जनिक विषयों में कानून-निर्माण का प्रारम्भ मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व होता है, और मन्त्रिमण्डल प्रशासन के संचालन का उत्तरदायी होने के कारण विभिन्न विभागों की विधायी आवश्यकताओं से भली-भाँति परिचित होता है। मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य सदस्यों को भी सार्वजनिक विषयों पर अपनी ओर से विधेयक (Private Members' Bill) प्रस्तुत करने का अधिकार होता है, परन्तु ऐसे विधेयकों को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है, और उन पर विचार करने के लिये सप्ताह में एक दिन नियत कर दिया जाता है। वास्तव में यह एक दिन का समय भी व्यर्थ ही नष्ट होता है क्योंकि ऐसे विधेयकों के स्वीकृत होने का एकमात्र उपाय यह हो सकता है कि सरकार उन्हें अपना ले और सरकार अधिकतर ऐसा नहीं करती।

धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य कोई विधेयक संसद् के किसी आगार में प्रारम्भ हो सकता है। परन्तु आगार में प्रस्तुत करने से पूर्व मन्त्रिमण्डल उस पर पूर्णरूप से तथा एकमत होकर विचार करता है। जो मन्त्री विधेयक को प्रस्तुत करना चाहता है उसे पहले आगार से एतदर्थ अनुमति लेनी पड़ती है। यह अनुमति तो मिल ही जाती है। तत्पश्चात् मन्त्री विधेयक का शीर्षक पढ़ कर उसके आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में एक वक्तव्य देता है। इस प्रथम पाठ (first reading) के पश्चात् विधेयक साधारणतया 'सेलेक्ट कमेटी' में चला जाता है। कुछ अवस्थाओं में जनमत संग्रह करने के लिये विधेयक प्रकाशित भी किया जाता है। अत्यावश्यक तथा अविवादास्पद विधेयकों पर तुरन्त विचार आरम्भ कर दिया जाता है। इसके पश्चात् वह विधेयक भारतीय गज़ट में प्रकाशित किया जाता है। इङ्गलैंड में प्रचलित प्रणाली के प्रतिकूल हमारे यहाँ विधेयक का समिति-पर्यालोचन (committee stage) द्वितीय पाठ (second reading) से पहले ही हो जाता है। विधि-निर्माण की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली में सबसे अधिक समय इसी समिति पर्यालोचन में लगता है क्योंकि इसमें विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार किया जाता है और अनेक संशोधन उपस्थित किये जाते हैं। समिति अपनी रिपोर्ट आगार को देती है जिसके पश्चात् विधेयक का द्वितीय पाठ आरम्भ होता है। यह बड़ा महत्वपूर्ण स्थल होता है, क्योंकि विधेयक के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों और अधिक महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर इसी विवाद में विस्तृत विचार किया जाता है। इस समय कोई भी सदस्य अपने संशोधन प्रस्तुत कर सकता है और आगार में उन पर विवाद हो चुकने के पश्चात् मत लिया जाता है। और अन्त में, स्वीकृत संशोधनों सहित विधेयक की धाराओं पर मत लिया जाता है। इस प्रकार द्वितीय पाठ समाप्त हो चुकने के पश्चात् वह विधेयक एक बार फिर उसी आगार के समक्ष तृतीय और अन्तिम पाठ (third reading) के लिये आता है

इस समय विधेयक में विशेष परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। तृतीय पाठ के पश्चात् विधेयक दूसरे आगार में भेज दिया जाता है और वहाँ भी उपरोक्त कार्य-प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। यदि दोनों आगार उसे एक ही रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी अनुमति के लिये भेज दिया जाता है। किन्तु यदि पहले आगार में पास हुआ बिल दूसरे आगार द्वारा अस्वीकृत कर दिया जावे, या दूसरा आगार उसमें कोई संशोधन कर दे जो पहले आगार को स्वीकार न हो, या दूसरा आगार उस बिल को ६ महीने तक रोके रखे तो दोनों आगारों के बीच इस मतभेद के होने पर उसके निर्णय के लिये राष्ट्रपति द्वारा दोनों आगारों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जायेगा जिसका सभापतित्व लोकसभा का अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष करेगा। इस बैठक में उपस्थित सदस्यों का बहुमत प्राप्त करने पर वह विधेयक दोनों आगारों द्वारा स्वीकृत समझा जायेगा। संयुक्त अधिवेशन में केवल उन संशोधनों पर ही विचार हो सकेगा जिनके सम्बन्ध में दोनों आगारों का एक मत न हो। परन्तु यदि विधेयक के एक आगार से दूसरे आगार में लौटा देने के विलम्ब के कारण कुछ संशोधन आवश्यक हों, तो उन पर अवश्य विचार किया जा सकेगा। किसी विधेयक के दोनों आगारों द्वारा स्वीकृत हो चुकने के पश्चात् भी राष्ट्रपति अपनी अनुमति रोक कर उस पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है। ऐसी दशा में आगारों को उस विधेयक पर फिर विचार करना पड़ेगा, परन्तु दूसरी बार उसके स्वीकृत हो चुकने के पश्चात् राष्ट्रपति अपनी अनुमति नहीं रोक सकता है।

सदस्यों द्वारा अपनी ओर से प्रस्तुत किये गये विधेयकों (Private Members' Bills) के लिये भी यही कार्यप्रणाली होती है। परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि उनके लिये बहुत थोड़ा समय दिया जाता है और उनके स्वीकृत होने की सम्भावना नहीं के बराबर होती है।

वित्त सम्बन्धी कार्य-प्रणाली—वित्तीय विषयों से सम्बन्धित कार्य-प्रणाली अत्यधिक विस्तारपूर्ण तथा सामान्य कार्यप्रणाली से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक वर्ष शासन के विभिन्न विभाग आगामी वर्ष के लिये अपनी विस्तारपूर्ण आगणनाएँ (detailed estimates) तैयार करते हैं। तत्पश्चात् वित्त-मन्त्री इनका परीक्षण करता है। सार्वजनिक आय तथा व्यय का आनियमन, करारोपण में परिवर्तन, सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित प्रस्तावों का सुझाव, वार्षिक बजट का निर्माण तथा संसद् में उसका संचालन, आगम-संग्रह (revenue collection), राज्य के विभागों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति, चलार्थ का नियन्त्रण (control of currency) तथा बैंकों (banks) का अधीक्षण इत्यादि, विषय वित्त-मन्त्री के उत्तरदायित्व होते हैं। आगणनाओं के परीक्षण के पश्चात् वह उन्हें मन्त्रिपरिषद् के समक्ष उपस्थित करता है। मन्त्रिपरिषद् उन पर विस्तृत विवाद तो कर ही नहीं

सकती, परन्तु यह माँग अवश्य कर सकती है कि अमुक विभाग अपने आगणन (estimates) घटा दे और अमुक बढ़ा दे। मन्त्रिपरिषद् द्वारा स्वीकृत हो चुकने के पश्चात् बजट लोकसभा के समक्ष उपस्थित किया जाता है। लोकसभा की कार्यवाही वित्त-मन्त्री के बहु-प्रतीक्षित बजट-भाषण से आरम्भ होती है। वित्त-मन्त्री के इस भाषण में पिछले वर्ष का वित्तीय सिंहावलोकन तथा प्रस्तुत वर्ष के लिये सम्भावित आय-व्यय का विवरण-पत्र (balance sheet) होता है और इसके परिहरण (remission), संपरिवर्तन (modification), तथा करारोपण (taxation) से सम्बन्धित प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं। इसमें शासन की करारोपण (tariff) तथा उद्योग-संरक्षण सम्बन्धी नीति पर भी प्रकाश डाला जाता है। कई सप्ताहों तक लोकसभा का अधिकांश समय बजट के पर्यालोचन में ही व्यतीत होता है, आगणनाओं का अनुमोदन किया जाता है और प्रशासी विभागों के लिये धन की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रकार वित्तीय कार्य-प्रणाली की तीन मुख्य बातें हैं—वार्षिक आय-व्यय का विवरण-पत्र; अनुदानों की माँग एवं विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) तथा अन्य वित्तीय विधेयक। भारत-शासन द्वारा आरोपित करों तथा उसके द्वारा लिये गये ऋणों की सारी आय एक कोष में जमा की जाती है जिसे भारत की सञ्चित निधि (Consolidated Fund of India) के नाम से सम्बोधित करते हैं। व्यय दो विभागों के अन्तर्गत दिखाया जाता है : (१) वह व्यय जिसका भार भारत की सञ्चित निधि पर है—यह व्यय संसद् में मतदान के लिए नहीं रखा जाता; (२) अन्य व्यय जो संसद् में मतदान के लिये रखा जाता है। पहले विभाग में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं:— राष्ट्रपति का वेतन तथा अभिदेय (allowances) और उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय, राज्य-परिषद् के सभापति तथा उपसभापति और लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन तथा अधिदेय, ऋण-प्रभार (debt charges), सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले वेतन, अधिदेय तथा उत्तरवेतन (pensions), संघीय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जानेवाला उत्तरवेतन, भारत के महालेखक को दिये जाने वाले वेतन, अधिदेय तथा उत्तरवेतन और संसद् की घोषणा द्वारा इस प्रकार भारित किया गया कोई अन्य व्यय। अन्य सारे व्यय दूसरे विभाग के अन्तर्गत आते हैं जो संसद् के समक्ष मतदान के लिये रखे जाते हैं। यहाँ पर हमें यह न भूलना चाहिये कि सन् १९३५ ई० के संविधान के अनुसार संघीय बजट का ८० प्रतिशत भाग विधानमण्डल के मतदान के क्षेत्र से बाहर था, परन्तु अब बहुत थोड़ा भाग ऐसा रह गया है।

व्यय की आगणनायें (estimates) लोकसभा के समक्ष अनुदान की माँग

(demands) के रूप में रखी जाती हैं, और लोकसभा किसी भी माँग को स्वीकार, अस्वीकार अथवा कम कर सकती है; परन्तु उसे शासन द्वारा याचित राशियों को बढ़ाने का अधिकार नहीं होता। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग नहीं की जा सकती है। शासन द्वारा माँगे गये किसी व्यय को घटाने या अस्वीकार करने की लोकसभा की शक्ति भी नाममात्र की ही होती है क्योंकि मन्त्रि-मण्डल की इच्छाओं के विरुद्ध किसी माँग में कमी करना उसमें अविश्वास प्रकट करने के बराबर होता है। अतएव वास्तव में संसद् के सदस्यगण केवल विभिन्न विभागों की प्रशासन नीति का पर्यालोचन करते हुये अपनी-अपनी शिकायत शासन के समक्ष रखते हैं और उनका वित्त सम्बन्धी विषयों पर यथार्थ नियन्त्रण नहीं होता। सब माँगें स्वीकृत हो जाने के पश्चात् उन सबको मिलाकर एक विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) बनाया जाता है जिसमें संसद् के मताधीन तथा अन्य, दोनों प्रकार के, व्यय सम्मिलित होते हैं। किसी भी आगार में इस प्रकार अनुमोदित किसी माँग अथवा व्यय को घटाने के उद्देश्य से विनियोग-विधेयक में कोई संशोधन नहीं किया जा सकता। आवश्यकता पड़ने पर लोकसभा के समक्ष राष्ट्रपति द्वारा सिफ़ारिश की गई माँगें (supplementary demands) भी रखी जा सकती हैं, और लोकसभा विशेष अवसरों पर विशेष स्वीकृति भी दे सकती है। इसके अतिरिक्त भारत के सञ्चित निधि पर भारित कोई विधेयक बिना राष्ट्रपति की सिफ़ारिश के स्वीकृत नहीं किया जा सकता। संसद् एक आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) के निर्माण का प्राधिकार देती है। राष्ट्रपति इस निधि का प्रयोग अन-पेक्षित व्यय के लिए कर सकता है।

समस्त प्रदायों (supplies) पर मतदान हो जाने के पश्चात् लोकसभा विभिन्न आगम-प्रस्तावों (revenue proposals) पर मतदान के लिये बैठती है। यहाँ पर भी करों को बढ़ाने का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता। लोकसभा किसी भी प्रस्तावित कर को केवल स्वीकार अथवा कम कर सकती है। इसके पश्चात् विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) तथा राजस्व विधेयक (Revenue Bill) लोकसभा द्वारा, सामान्य कार्य-प्रणाली के अनुसार पारित होते हैं। विनियोग-विधेयक में व्यय का प्राधिकरण तथा राजस्व विधेयक में नये करों का आरोपण, अथवा पुरानों में परिवर्तन किया जाता है। इसके पश्चात् अध्यक्ष द्वारा धन-विधेयक प्रमाणित होकर उपरोक्त दोनों विधेयक राज्य-परिषद् में भेजे जाते हैं जिसके सामने उन्हें स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय ही नहीं होता। यदि १४ दिनके भीतर विधेयक, राज्य-परिषद् के संशोधनों सहित या उनके बिना, परिषद् से लोकसभा में नहीं लौट आते तो राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के पश्चात् वे क़ानून बन जाते हैं। राष्ट्रपति भी किसी धन विधेयक को पुनर्विचार के लिये नहीं लौटा सकता है और न वह अपनी

स्वीकृति ही रोक सकता है। अत: हमारी वित्तीय कार्यप्रणाली का सारांश यह है कि इङ्गलैण्ड की भाँति भारत में भी सम्पूर्ण अर्थ तथा व्ययों पर वास्तविक नियन्त्रण मन्त्रिपरिषद् का है। विधि-निर्माण तथा सामान्य नीति के क्षेत्रों में तो लोकसभा का थोड़ा बहुत प्रभाव रहता है, परन्तु वित्तीय क्षेत्र में सिद्धान्त रूप में उसका अविभाजित क्षेत्राधिकार होते हुए भी वह नितान्त शक्तिहीन है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

संघीय न्यायपालिका

संघ राज्य की सफलता के लिये सबल तथा स्वतन्त्र न्यायमण्डल आवश्यक होता है। संघ शासन की उचित व्यवस्था के लिये यह अत्यावश्यक है कि संघ सरकार तथा राज्यों की सरकारों अथवा राज्यों के आपस में उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय केन्द्रीय शासन अथवा राज्यों के ऊपर न छोड़ा जाये। यह कार्य एक सबल तथा स्वतन्त्र न्यायमण्डल ही उचित रीति से सम्पादित कर सकता है। संघ-व्यवस्था का प्राण उसका लिखित संविधान होता है, राज्य की सर्वोच्च सत्ता उसमें ही निहित रहती है। अतएव उसकी धाराओं की व्याख्या को लेकर मतभेद तथा विवादों का जन्म स्वाभाविक ही है। यदि कोई राज्य अथवा व्यक्ति किसी विषय में केन्द्रीय शासन के प्राधिकार को असंवैधानिक कहकर उसका विरोध करने लगे तो इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये किसी अधिकारपूर्ण संस्था की आवश्यकता पड़ेगी। यह अधिकार सर्वोच्च न्यायालय में निहित होता है। सर्वोच्च न्यायालय राज्य के विभिन्न अंगों को एकता के सूत्र में बाँधता है, वह राज्य की मशीन में संतुलन-चक्र का कार्य करता है। उसकी स्थिति शासन-शक्ति तथा शासित जनसमाज के मध्य पंच की सी होती है। उसका कार्य संविधान की रक्षा करना होता है। यदि संघ अथवा राज्य के विधानमण्डल संविधान के विरुद्ध कोई कानून बनाते हैं तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह ऐसे कानून को अवैध घोषित कर दे। सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की भी रक्षा करता है। प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि उसके मौलिक अधिकारों पर आघात हो तो वह उनकी रक्षा के लिये सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सके।

एकीकृत न्यायमण्डल—हमारे संविधान में एक ऐसी विशेषता है जो संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा अन्य संघ राज्यों में कहीं नहीं पाई जाती है और वह है सम्पूर्ण देश के लिये एकीकृत (integrated) न्याय-मण्डल की स्थापना। राष्ट्र की न्यायिक व्यवस्था में सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय का स्थान है और कानून सम्बन्धी विषयों में इसके निर्णय भारत के सभी न्यायालयों के लिये मान्य हैं। वह भारत के सभी न्यायालयों के आदेशों तथा अन्तिम निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय तथा आदेश सम्पूर्ण भारत में प्रवर्तनीय होंगे और न्यायालय को भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को उपस्थित कराने, किन्हीं प्रलेखों को प्रस्तुत कराने और अपने किसी अपमान के अनुसन्धान कराने अथवा दण्ड

दिलाने की शक्ति प्राप्त है। संसार के अन्य संघ-राज्यों की द्वैध व्यवस्था में राज्यों की न्यायमण्डल-शृंखला से अलग संघ-न्यायालयों का प्रावधान किया जाता है। परन्तु भारत में शासन-व्यवस्था द्वैध होते हुये भी नागरिकता तथा न्यायमण्डल की व्यवस्था इकहरी ही है। इस प्रकार की व्यवस्था देश की एकता को बनाये रखने के उद्देश्य से भारत भर में कानूनों तथा न्यायिक कार्य-प्रणाली की समानता स्थापित करने के लिये की गई है। डा० अम्बेदकर के शब्दों में : "हमारे संघ-राज्य का न्याय-मण्डल एकीकृत है; उसका क्षेत्राधिकार संवैधानिक कानून, दीवानी कानून, तथा फौजदारी कानून के अन्तर्गत सभी मामलों तक विस्तृत है और वह सब में उपचार की व्यवस्था कर सकता है[1]।"

सर्वोच्च न्यायालय का संगठन—संविधान में भारत के एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना तथा संगठन का प्रावधान किया गया है जिसमें भारत का मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice) तथा अधिक से अधिक सात अन्य न्यायाधीश हो सकते हैं। परन्तु संसद् कानून द्वारा न्यायाधीशों की यह संख्या बढ़ा सकती है। इस समय सर्वोच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त पाँच अन्य न्यायाधीश हैं। सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों के साथ, जिन्हें वह एतदर्थ आवश्यक समझे, परामर्श करके राष्ट्रपति सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति करता है। परन्तु मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के विषय में भारत के न्यायाधीश के साथ परामर्श किया जाना आवश्यक है। यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय के अधिवेशन (session) को बुलाने अथवा जारी रखने के लिये न्यायाधीशों की गणपूरक संख्या (quorum) पूरी न हो तो, राष्ट्रपति की अनुमति से, भारत का मुख्य न्यायाधीश उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश से, जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता रखता हो, तदर्थ (Ad hoc) न्यायाधीश के रूप में, आवश्यक काल के लिये, सर्वोच्च न्यायालय की बैठकों में उपस्थित होने की प्रार्थना कर सकता है। इस उपस्थिति के काल में तदर्थ न्यायाधीश (Ad hoc Judge) को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समस्त क्षेत्राधिकार, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे।

न्यायाधीशों की योग्यतायें और उनके पद सम्बन्धी नियम—जहाँ तक नियुक्ति के लिये आवश्यक योग्यताओं का सम्बन्ध है, कोई भी व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने के योग्य नहीं समझा जा सकता जब तक

1. "Our federation has a unified judiciary, having jurisdiction and providing remedies in all cases arising under the constitutional law, the law or the criminal law."—*Ambedkar*.

कि वह भारत का नागरिक न हो और (क) किसी उच्च न्यायालय का लगातार कम से कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश न रह चुका हो; अथवा (ख) किसी उच्च न्यायालय का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) न रह चुका हो; अथवा (ग) राष्ट्रपति के मतानुसार एक विशिष्ट न्यायिक (jurist) न हो। मुख्य न्यायाधीश को ५,०००) रु० तथा अन्य न्यायाधीशों को ४०००) रु० प्रति मास वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त, इन न्यायाधीशों को रहने के लिये बिना किराये का मकान तथा अन्य भत्ते मिलते हैं। अवकाश-ग्रहण करने के पश्चात् वे कहीं अभिवक्ता (lawyer) का कार्य नहीं कर सकते हैं। परन्तु अवकाश-ग्रहण के पश्चात् भी, अपनी सहमति के अनुसार, वे विशेष अवसरों पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश का कार्य करने के लिये बुलाये जा सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय दिल्ली में बैठता है परन्तु उसकी बैठकें ऐसे अन्य स्थानों में भी की जा सकती हैं जिन्हें मुख्य न्यायाधीश समय-समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से निश्चित करे।

न्यायाधीशों की अवधि तथा उनका निष्कासन—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश ६५ वर्ष की अवस्था पूर्ण होने तक अपने पद पर कार्य कर सकते हैं। वे उस समय तक अपने पद से निष्कासित नहीं किये जा सकते हैं जब तक कि सिद्ध दुराचार अथवा अयोग्यता के कारण उनके निष्कासन के लिये संसद् के दोनों आगार पृथक-पृथक एक ही अधिवेशन में, अपने समस्त सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास करके राष्ट्रपति से यह प्रार्थना न करें कि अमुक न्यायाधीश अपने पद से हटा दिया जावे। इस उपबन्ध से न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय का अधिकारक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। उसका क्षेत्राधिकार प्रारम्भिक (Original), पुनर्विचार सम्बन्धी (Appellate) तथा मन्त्रणा सम्बन्धी (Advisory) है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मूलाधिकारों की रक्षा के लिये कतिपय आदेश अथवा प्रलेख (writs) जारी करने का अधिकार भी है।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के मध्य तथा दो या अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले समस्त विवादों में अनन्य प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। परन्तु भूतपूर्व देशी राज्यों के संदर्भ में किसी संधि, संविदा (engagements), अथवा सनद से सम्बन्धित विवाद इस क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार उन विवादों तक ही सीमित है जो भारत सरकार तथा राज्यों अथवा स्वयं राज्यों के बीच हों। परन्तु आस्ट्रेलिया के संविधान के अनुसार वहाँ के उच्च न्यायालय (HighCourt)—जो सर्वोच्च संघीय न्यायालय है—का क्षेत्राधिकार विभिन्न राज्यों

अथवा विभिन्न राज्यों के निवासियों और किसी एक राज्य तथा अन्य राज्य के निवासी, के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों तक विस्तृत है। अमरीका के संविधान में भी इसी प्रकार का प्रावधान किया गया है जिसके अनुसार न्यायिक शक्ति दो या अधिक राज्यों, अथवा एक राज्य और किसी दूसरे राज्य के नागरिकों, अथवा विभिन्न राज्यों के नागरिकों, के मध्य होने वाले विवादों तक विस्तृत है। सर्वोच्च न्यायालय के उपरोक्त प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत संविधान कानून, भारतीय स्वतन्त्रता कानून (१९४७) तथा संघ और राज्यों द्वारा बनाये गये कानूनों की व्याख्या भी आती है। इन्हीं के आधार पर तो संघ-सरकार अथवा राज्य की सरकारें किसी वैध अधिकार (legal rights) के अस्तित्व का दावा कर सकती है। नागरिकों के मूल अधिकारों (Fundamental Rights) के संरक्षण के सम्बन्ध में भी सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को संवैधानिक (constitutional), व्यवहार सम्बन्धी अथवा दीवानी (civil), और दण्ड सम्बन्धी अथवा फ़ौजदारी (criminal) कार्यवाहियों में सभी उच्च न्यायालयों के लगभग सभी निर्णयों और आदेशों पर पुनर्विचार करने की शक्ति प्राप्त है। यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि किसी मामले में संविधान सम्बन्धी कोई प्रश्न निहित है, तो उसके पुनर्विचार की प्रार्थना सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। और यदि उच्च न्यायालय इस प्रकार का प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे तब भी सर्वोच्च न्यायालय इस आधार पर कि उस मामले में संविधान-सम्बन्धी कोई प्रश्न निहित है, उस मामले के पुनर्विचार के लिये विशेष अनुमति दे सकता है। व्यवहार सम्बन्धी (civil) विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में पुनर्विचार के लिये प्रार्थना तभी हो सकती है जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि विवादग्रस्त विषय का मूल्य बीस हजार रुपये से कम नहीं है अथवा अन्य किसी कारण विवाद सर्वोच्च न्यायालय में पुनर्विचार प्रार्थना के समुपयुक्त है। दण्ड सम्बन्धी (criminal) मामलों में भी सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष पुनर्विचार की प्रार्थना की जा सकती है यदि (क) उच्च न्यायालय ने पुनर्विचार करते हुये अपने अधीन न्यायालय द्वारा मुक्त किये गये अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया हो, अथवा (ख) यदि उच्च न्यायालय ने अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को अपने परीक्षण के लिये मँगा कर अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया हो, अथवा (ग) यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय में पुनर्विचार प्रार्थना के लिये उपयुक्त है। और अन्त में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह सैनिक न्यायालय के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी न्यायालय द्वारा किसी विषय में दिये गये किसी निर्णय अथवा आदेश की पुनर्विचार प्रार्थना के लिये विशेष अनुमति प्रदान कर दे। संसद् को दण्ड सम्बन्धी विषयों

(criminal matters) में सर्वोच्च न्यायालय के पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (Appellate jurisdiction) की वृद्धि करने का अधिकार प्राप्त है।

मन्त्रणा सम्बन्धी क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को विधि अथवा तथ्य (law or fact) सम्बन्धी सार्वजनिक महत्व के उन सब प्रश्नों में मन्त्रणा देने का अधिकार है जो राष्ट्रपति समय-समय पर उसके पास विचारार्थ भेजता है। राष्ट्रपति किसी सन्धि, सनद या करार सम्बन्धी ऐसे विवादों को भी सर्वोच्च न्यायालय के विचारार्थ भेज सकता है जिनका सम्बन्ध भाग २ के किसी राज्य से हो। और न्यायालय के लिये राष्ट्रपति द्वारा पूछे गये प्रश्नों पर अपना मत देना आवश्यक है। इङ्गलैंड तथा कनाडा में भी सर्वोच्च न्यायालयों से इस प्रकार परामर्श लिया जा सकता है, परन्तु आस्ट्रेलिया में उच्च न्यायालय के मन्त्रणा सम्बन्धी क्षेत्राधिकार का कोई प्रावधान नहीं है।

मूलाधिकारों के प्रवर्तन से सम्बन्धित क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों को नागरिकों के मूलाधिकारों के प्रवर्तन (enforcement) के लिये सम्पूर्ण राज्य में सभी न्यायालयों, व्यक्तियों तथा प्राधिकारियों के नाम बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकारपृच्छा (Quo Warranto) तथा उत्प्रेषण (Certiorari) के लेखों (writs) अथवा इनमें से किसी प्रकार के निदेशों अथवा आदेशों को निकालने की शक्ति प्राप्त है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeas Corpus) का अर्थ है किसी व्यक्ति की अवैध कारावास से तात्कालिक मुक्ति। इसके द्वारा न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी बन्दी किये गये व्यक्ति को अपने सम्मुख उपस्थित करने का आदेश दे सकता है। न्यायालय इस बात की जाँच करता है कि वह व्यक्ति कानून के अनुसार बन्दी किया गया है या नहीं। यदि व्यक्ति कानून के अनुसार बन्दी नहीं किया गया है, तो न्यायालय उस व्यक्ति की तात्कालिक मुक्ति का आदेश दे सकता है। इस प्रकार इस लेख (writ) द्वारा कार्यपालिका की निरंकुशता से नागरिकों को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। परमादेश (Mandamus) किसी व्यक्ति, संस्था अथवा न्यायालय के नाम निकाले गये उस आदेश को कहते हैं जिसका सम्बन्ध उस व्यक्ति अथवा प्राधिकारी के कर्तव्य से हो, उदाहरणार्थ किसी सार्वजनिक संस्था अथवा न्यायालय को निष्कासित व्यक्ति की पुनर्नियुक्ति, किसी व्यक्ति के मताधिकार की पुनर्प्रतिष्ठा अथवा नागरिकों के संविधान-प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन का आदेश। प्रतिषेध (Prohibition) का अर्थ है किसी निम्न न्यायालय को ऐसी कार्यवाही रोक देने का आदेश जो उस न्यायालय के अधिकारक्षेत्र से बाहर अथवा देश के विधान के प्रतिकूल हो। अधिकारपृच्छा (Quo Warranto) उस आदेश को कहते हैं जिसमें किसी व्यक्ति से पूछा जाता है कि वह किस कानून के अनुसार

किसी पद का धारण अथवा किसी अधिकार या प्राधिकार का दावा करता है। इस लेख द्वारा न्यायालय किसी भी व्यक्ति को, जिसने कि अवैध ढङ्ग से किसी पद अथवा अधिकार को प्राप्त किया हो, उस पद या अधिकार का उपयोग करने से रोक सकता है। और उत्प्रेषण लेख (Writ of Certiorari) का अर्थ है किसी न्यायाधीश अथवा निम्न न्यायालय को किसी मुकदमे की कार्यवाही से सम्बन्धित सब उल्लेखों के भेजने का आदेश। इस प्रकार उच्च न्यायालय यह जान सकता है कि अधीन न्यायालय कहीं अपने निश्चित क्षेत्र से बाहर तो नहीं जा रहा है। सर्वोच्च न्यायालय की यह शक्तियाँ इङ्गलैण्ड के 'कानून की समता' (Rule of Law) के सिद्धान्त पर आधारित हैं। इनके अनुसार सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था में बिखरे हुये वैधिक उपचारों के द्वारा नागरिकों के अधिकारों का पूर्ण संरक्षण किया जाता है। अपनी इन शक्तियों के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय भी गणतन्त्र के समस्त नागरिकों को सभी विषयों में, और विशेष कर उनके मूलाधिकारों के स्वतन्त्र प्रयोग के सम्बन्ध में निष्पक्ष न्याय का आश्वासन दे सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता—इस प्रकार भारत का सर्वोच्च न्यायालय एक सशक्त तथा स्वतन्त्र न्यायमण्डल है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून सब न्यायालयों के लिये मान्य होंगे और गणतन्त्र के सब असैनिक तथा न्यायिक प्राधिकारी उसकी सहायता में कार्य करेंगे। वह एक उल्लेख न्यायालय (Court of Record) भी है जिसके उल्लेख प्रत्येक न्यायालय में साक्ष्यरूप में स्वीकार किये जायेंगे। परन्तु इतनी शक्तियों तथा इतने सम्मान से सम्पन्न न्यायालय वास्तव में समस्त नागरिकों के अधिकारों का अभिभावक तभी बन सकता है जब वह कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से पूर्णतया स्वतन्त्र हो। इस उद्देश्य से संविधान में कई उपबन्ध रखे गये हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति की रीति नियत करते समय इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति न्याय विशेषज्ञों के परामर्श से करे। न्यायाधीश अपने सद्व्यवहार-काल में अपने पद से हटाये नहीं जा सकते। उनका वेतन संविधान-द्वारा निर्धारित है, संसद् को प्रति वर्ष उस पर विवाद और मत-प्रदर्शन करने का अधिकार नहीं है। उनके वेतन तथा भत्ते आदि उनके कार्य-काल में घटाये नहीं जा सकते हैं। संसद् या किसी राज्य के विधानमण्डल में सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश द्वारा कर्तव्यपालनार्थ किये गये किसी कार्य पर विचार नहीं हो सकता है। मुख्य न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति और उनकी सेवाओं तथा कार्य-संचालन के सम्बन्ध में नियम बनाने का भी अधिकार है। देश के सभी प्राधिकारी सर्वोच्च न्यायालय को सदैव सहयोग प्रदान करेंगे। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् न्यायाधीशों को किसी भी न्यायालय में वकालत करने का अधिकार नहीं दिया गया है, जिससे

उनके समक्ष कोई प्रलोभन न हो और वे स्वतन्त्रतापूर्वक निष्पक्ष न्याय कर सकें। संविधान के उपरोक्त उपबन्धों के फलस्वरूप इस बात की आशा की जाती है कि न्यायाधीश सब प्रकार के राजनैतिक तथा अधिशासी प्रभावों से मुक्त रह सकेंगे।

भारत का महान्यायवादी (Attorney-General)—इस पदाधिकारी का काम भारत-सरकार को कानूनी मामलों में सलाह देना तथा अन्य ऐसे कानून-सम्बन्धी कार्यों को सम्पादित करना है जो राष्ट्रपति समय-समय पर उसे सौंपे। इन कर्तव्यों के पालन में महान्यायवादी को भारत-राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत सब न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार दिया गया है। वह राष्ट्रपति के प्रसाद-काल तक पदासीन रहेगा और उसको वे परितोषण दिये जायेंगे जो राष्ट्रपति निश्चित करे। २६ जनवरी सन् १६५० के एक आदेश द्वारा राष्ट्रपति ने यह निश्चित किया है कि महान्यायवादी को ४०००) रु० प्रति मास वेतन तथा अन्य भत्ते मिलेंगे। इस पद पर सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के न्यायाधीश नियुक्त होने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति को ही नियुक्त किया जा सकता है।

अट्ठाइसवाँ अध्याय
राज्यों की कार्यपालिका

केन्द्रीय शासन के पश्चात् अब हम संघांगों, अर्थात् राज्यों की शासन-व्यवस्था पर दृष्टिपात करेंगे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, भारत-संघ के अन्तर्गत राज्यों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। भाग १ और २ के राज्यों में स्वायत्त शासन की स्थापना की गई है। भाग १ में विभाजन के पूर्व के ब्रिटिश भारत के प्रान्त और भाग २ में उस समय के देशी राज्य तथा उनके संघ रखे गये हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि अब इन दो प्रकारों के राज्यों की शासन-व्यवस्था में बहुत थोड़ा अन्तर रह गया है। अंग्रेजों के शासनकाल में प्रतिनिधि-संस्थाओं के क्षेत्र में प्रगतिशील ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा सामन्तशाही देशी राज्यों के बीच धरती-आकाश का अन्तर था। किन्तु अब ऐसा नहीं है। इस महान् परिवर्तन का मुख्य श्रेय सरदार वल्लभ भाई पटेल के अकथ परिश्रम को है जिनकी दृढ़ नीति ने भारत भर के समस्त देशी राज्यों का एकीकरण सम्भव बनाया। उन्होंने स्थिति का ऐसा कुशल संचालन किया कि आज उन सभी भूतपूर्व देशी राज्यों का शासन जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों के अनुसार हो रहा है और उनके शासकों ने संवैधानिक प्रधान बन कर रहना स्वीकार कर लिया है। तथापि भाग १ तथा २ के राज्यों की शासन व्यवस्था में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है। उनके अधिशासन के प्रधान अधिकारियों के नामकरण तथा परिलाभों में विभिन्नता है। इसके अतिरिक्त, संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष तक भाग २ के राज्यों पर संघ के राष्ट्रपति का सामान्य नियन्त्रण तथा निर्देशन रहेगा। इन राज्यों में कोई प्रजातन्त्रात्मक परम्परा न होने के कारण राष्ट्रपति का यह नियन्त्रण आवश्यक समझा गया। भाग ३ तथा भाग ४ में उल्लिखित केन्द्राधिशासित राज्यों का प्रशासन भी राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त चीफ़ कमिश्नर अथवा उपराज्यपाल अथवा किसी समवर्ती राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के माध्यम से करेगा। परन्तु हाल ही में यह निश्चय किया गया है कि भाग ३ के राज्यों में भी, विधानमण्डलों तथा उनके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना की जायेगी। और इस वर्ग के कुछ राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित भी हो गया है। भारत-शासन विभिन्न राज्यों की आवश्यकताओं, सुविधाओं और समस्याओं के अनुसार उनकी प्रजातन्त्रात्मक प्रगति का नियन्त्रण करता है। इन राज्यों के विधानमण्डलों में मनोनीत सदस्य भी हो सकते हैं।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख—प्रथम अनुसूची के भाग १ में उल्लिखित

प्रत्येक राज्य में अधिशासन का प्रधान एक राज्यपाल है। अनुसूची के भाग २ में उल्लिखित राज्यों में राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख है और उसके अधिकार तथा प्रकार्य राज्यपाल के अधिकारों तथा प्रकार्यों के समान ही हैं। परन्तु राज्यपाल को निर्दिष्ट वेतन (prescribed salary) मिलता है और राजप्रमुख को अधिदेय (allowances)। राज्यपाल को राष्ट्रपति ५ वर्ष की अवधि के लिये नियुक्त करता है और वे उसके प्रसादकाल तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। राजप्रमुख देशी राज्यों के भूतपूर्व देशी नरेशों में से चुने जाते हैं। संविधान के अनुसार राज्यपाल ऐसे ही व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं जो भारत के नागरिक हों तथा जो ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुके हों। राज्यपाल न तो संसद् के किसी आगार का और न किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी आगार का सदस्य हो सकता है, और यदि ऐसा कोई सदस्य राज्यपाल नियुक्त हो जाये तो उसे अपने आगार का स्थान रिक्त करना पड़ेगा। राज्यपाल को बिना किराये का मकान तथा वे अधिदेय और वेतन दिये जाते हैं जो संसद् के कानून द्वारा निश्चित किये गये हों और जो उसकी पदावधि में घटाये नहीं जा सकते। किसी भी राज्य का राजप्रमुख वह व्यक्ति कहा जाता है जिसे राष्ट्रपति ने उस समय इस रूप में स्वीकार कर लिया हो। राजप्रमुख की न तो नियमित नियुक्ति होती है और न निश्चित पदावधि ही। आजकल निम्नलिखित भूतपूर्व देशी नरेश भाग २ के विभिन्न राज्यों के राजप्रमुख हैं:—

राजप्रमुख	राज्य
१. निज़ाम	हैदराबाद
२. ग्वालियर के महाराज	मध्य भारत
३. पटियाला के महाराज	पटियाला और पूर्वी पञ्जाब राज्य संघ
४. उदयपुर के महाराज	राजस्थान
५. नवानगर के जाम साहब	सौराष्ट्र
६. ट्रावनकोर के महाराज	ट्रावनकोर और कोचीन
७. मैसूर के महाराज	मैसूर

काश्मीर भाग २ के राज्यों में एक विशेष स्थान रखता है। वहाँ जनता की प्रतिनिधि-संविधान सभा द्वारा गणतन्त्र की स्थापना हुई है और पूर्व युवराज श्री करनसिंह सदरे रियासत चुने गये हैं। भारत के राष्ट्रपति ने उनको अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है। भाग १ के राज्यों की कार्यपालिका शक्ति, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, राज्यपाल में निहित है, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। संविधान सभा के कुछ सदस्यों का यह मत था कि राज्यपालों का निर्वाचन जनता द्वारा होना चाहिए। संविधान के प्रारुप (draft) में भी राज्यपाल के जनता

द्वारा निर्वाचन का प्रावधान था। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में राज्यों के गवर्नर का निर्वाचन ही होता है। इस प्रश्न पर संविधान सभा में बहुत वाद विवाद हुआ, किन्तु अन्त में यही निश्चित हुआ कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जावे। अधिकतर सदस्यों की धारणा थी कि राज्यपाल केवल राज्य का वैधानिक प्रधान है, अत: यह आवश्यक नहीं है कि वह जनता द्वारा निर्वाचित किया जावे। उनको भय था कि यदि राज्यपाल जनता द्वारा चुना गया तो उसके तथा मन्त्रिपरिषद् के बीच संघर्ष की सम्भावना उत्पन्न हो जावेगी। राज्यपाल इस बात को नहीं भूलेगा कि मन्त्रियों की तरह वह भी जनता का प्रतिनिधि है। निर्वाचन में यह भी सम्भावना थी कि राज्य की सरकार की एकता तथा स्थायित्व सङ्कट में पड़ जाते, क्योंकि राज्यपाल भी दलबन्दी में पड़ जाता। साथ ही यह न भूलना चाहिये कि जनता द्वारा निर्वाचन में समय तथा धन की भारी हानि होती है। इन कारणों से यही उचित समझा गया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जावे।

राज्यपाल तथा राजप्रमुख की शक्तियाँ—राज्यपाल तथा राजप्रमुख की शक्तियाँ प्राय: समान हैं और निम्नलिखित वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं :—
(क) कार्यपालिका सम्बन्धी, (ख) विधायी, (ग) वित्तीय, और (घ) न्याय सम्बन्धी।

कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ—राज्य की अधिशासी शक्ति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख में निहित है और उन सब विषयों तक विस्तृत है जिनके सम्बन्ध में राज्य का विधानमण्डल विधि-निर्माण कर सकता है। उसकी अधिशासी शक्ति के अन्तर्गत वे विषय भी आते हैं जिनका उल्लेख समवर्ती सूची में किया गया है परन्तु इस क्षेत्र में वह केन्द्रीय शासन की अधिशासी शक्ति के अधीन होती है। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपनी इस शक्ति का प्रयोग एक मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा तथा सहायता से करता है जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधान के अनुसार, जिन बातों में संविधान द्वारा अथवा इसके अधीन राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह अपने प्रकार्यों अथवा उनमें से किन्हीं के पालन में स्वविवेक का प्रयोग करेगा, उनको छोड़कर, राज्यपाल को अपने प्रकार्यों का पालन करने में सहायता तथा मंत्रणा देने के लिये एक मन्त्रिपरिषद् है। परन्तु आसाम के अतिरिक्त और किसी राज्य के राज्यपाल को संविधान के अन्तर्गत स्वविवेकाधारित शक्तियाँ नहीं दी गई हैं। और आसाम में भी राज्यपाल केवल कतिपय सीमान्त क्षेत्रों के प्रशासन और आसाम की सरकार तथा किसी ज़िला परिषद् के मध्य खनिज अधिकार शुल्क (mining royalties) के प्रश्न पर उठने वाले विवादों में ही स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि राज्यपाल का पद एक शोभामात्र होगा। डाक्टर अम्बेदकर के शब्दों में : "यद्यपि राज्यपाल के स्वयं पालन करने के लिये कोई प्रकार्य नहीं होंगे और उसे किसी भी विषय में मन्त्रिपरिषद् पर अभि-

भावी शक्ति नहीं होगी, परन्तु, किसी दल-विशेष के नहीं अपितु सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि रूप में, निष्पक्ष, शुद्ध तथा सुचारु प्रशासन के लिये, मन्त्रिपरिषद् को परामर्श देना उसका कर्तव्य होगा[1]।" फिर भी अन्ततः उसे अपने मन्त्रियों का परामर्श अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। यह स्पष्ट है कि मन्त्रिगण भी विधानमंडल की इच्छाओं के प्रतिकूल कोई परामर्श राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को न तो देंगे और न दे ही सकते हैं। संविधान में यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है कि मन्त्रिपरिषद् संयुक्त रूप से विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होगी। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उत्तरदायित्व से ऊपर होगा और राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में ही कार्य करेगा। गणतन्त्र के राष्ट्रपति की भाँति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख भी पहले अपने मुख्य मन्त्री की और फिर उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है, और इच्छानुसार उन्हें निष्कासित कर सकता है। परन्तु जब तक मन्त्रिगण विधान-मंडल के विश्वासपात्र रहते हैं, राज्यपाल द्वारा उनके निष्कासन की सम्भावना नहीं होती। यह भी स्पष्ट है कि एक मनोनीत व्यक्ति होने के कारण, राज्यपाल एक निर्वाचित विधानमण्डल के प्रतिनिधियों के परामर्श की अवहेलना करने का साहस कम ही करेगा, क्योंकि इस प्रकार की अवहेलना के परिणामस्वरूप मन्त्रिपरिषद् का पदत्याग अवश्यम्भावी है और ऐसी दशा में राज्यपाल के लिये अपनी रुचि के अनुकूल मन्त्रिपरिषद् का निर्माण अत्यधिक कठिन हो जायेगा। परन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्यपाल एक अत्यधिक सम्मानित पदाधिकारी है। वह अपनी परिषद् के मन्त्रियों, लोकसेवा आयोग (Public Service Commission) के सदस्यों तथा महाधिवक्ता (Advocate-General) इत्यादि राज्य के उच्च पदाधिकारियों कीनियुक्ति करता है तथा उसे विभिन्न मन्त्रियों के मध्य शासन कार्य का विभाजन करने और राज्य शासन के सुचारु सञ्चालन के लिये नियम बनाने की शक्ति प्राप्त है।

विधायी शक्तियाँ—राज्यपाल अथवा राजप्रमुख राज्य के विधानमण्डल के किसी आगार का सदस्य न होते हुये भी उसका एक आवश्यक अङ्ग है। विधान-मण्डल के सङ्गठन तथा कार्य के सम्बन्ध में उसके प्रकार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वह विधान परिषद् (Legislative Council) के सदस्यों की पूरी संख्या के लगभग $\frac{1}{6}$ सदस्य स्वयं मनोनीत करता है और यदि उसे विश्वास हो जाए कि एँग्लो-इण्डियन

1. "While the Governor shall have no functions to discharge by himself, and would have no power to override the ministry in any particular matter, he would have the duty to advise the ministry, not as the representative of any particular party, but of the people as a whole, with the object of securing an impartial, pure and efficient administration."—*Ambedkar.*

सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व यथेष्ट नहीं है तो वह विधानसभा (Legislative Assembly) में भी उस सम्प्रदाय के कुछ सदस्य मनोनीत कर सकता है। वह समय समय पर विधानमण्डल का अधिवेशन बुला सकता है। परन्तु पहले अधिवेशन की अन्तिम तिथि और दूसरे अधिवेशन के प्रारम्भ होने की तिथि के बीच ६ महीने से अधिक समय नहीं होना चाहिये। वह दोनों आगारों का सत्रावसान (prorogue) तथा विधानसभा का विलयन कर सकता है। वह किसी एक अथवा दोनों आगारों को सम्बोधित कर सकता तथा उनमें सन्देश भेज सकता है। वास्तव में राज्य के विधानमण्डल का प्रत्येक अधिवेशन राज्यपाल के सम्बोधन से आरम्भ होता है। वह किसी समय भी विधानमण्डल के दोनों आगारों के मध्य उत्पन्न हुये विधि-निर्माण सम्बन्धी गत्यवरोध को दूर करने के लिये उनका संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य के विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत कोई विधेयक बिना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की सहमति के मान्य अथवा प्रवर्तनीय नहीं हो सकता है। यदि वह विधेयक से सहमत न हो अथवा उसके विरुद्ध आपत्ति रखता हो और वह विधेयक धन-विधेयक (money bill) न हो, तो राज्यपाल सम्पूर्ण विधेयक अथवा उसके किसी भाग पर पुनर्विचार के लिये उसे फिर आगार के पास भेज सकता है, अथवा आगार से उन संशोधनों की वांछनीयता पर विचार करने के लिये कह सकता है जो उसने उपस्थित किये हैं। परन्तु यदि वह विधेयक, संशोधन सहित अथवा उसके बिना, उस आगार द्वारा फिर स्वीकार कर लिया जाता है तो राज्यपाल अथवा राजप्रमुख उस पर अपनी स्वीकृति नहीं रोक सकता। राज्यपाल को कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर लेने का अधिकार भी है। वह किसी ऐसे विधेयक पर अपनी सहमति नहीं दे सकता जिसके पास होने के लिये संविधान के अनुसार राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक हो। नागरिकों की सम्पत्ति के अनिवार्य हस्तगन (compulsory acquisition of property) अथवा उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करने का प्रावधान करने वाले समस्त विधेयकों को राष्ट्रपति की सहमति के लिये आरक्षित किया जाना आवश्यक है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह राज्यपाल द्वारा उसके विचारार्थ आरक्षित किसी ऐसे विधेयक को अपनी स्वीकृति दे या उसे रद्द कर दे या अपनी सिफ़ारिश के साथ राज्य के विधानमण्डल के पास पुन: विचारार्थ भेज दे। राज्य के विधानमण्डल को ऐसा सन्देश मिलने के ६ महीने के अन्दर उस विधेयक पर फिर से विचार करना पड़ेगा। अगर वह विधेयक संशोधन सहित या बिना संशोधन फिर से पास हो जाता है तो वह फिर से राष्ट्रपति के सम्मुख उसकी सम्मति के लिये भेजा जायेगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अपनी सम्मति दे या न दे।

अगर राज्य का विधानमण्डल अधिवेशन में न हो तो राज्यपाल आवश्यकता

होने पर उन सब विषयों पर अध्यादेश जारी कर सकता है जिन पर राज्य के विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार है। ऐसे किसी अध्यादेश का वही प्रभाव होगा जो राज्यों के विधानमण्डल द्वारा बनाये हुये किसी कानून का होता है। परन्तु इस प्रकार का अध्यादेश विधानमण्डल के समक्ष रखा जायेगा और विधानमंडल के अधिवेशन के आरम्भ होने की तिथि से ६ सप्ताह के बाद अथवा यदि इस कालावधि की समाप्ति से पूर्व उसकी प्रतिनिन्दा का प्रस्ताव विधानमंडल स्वीकृत कर दे, तो वह अध्यादेश रद्द हो जायेगा। उन विषयों पर, जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति की आज्ञा के बिना राज्य के विधानमण्डल में कोई विधेयक उपस्थित नहीं किया जा सकता है तथा जिनके लिये संविधान के अधीन राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है, राज्यपाल बिना राष्ट्रपति के अनुदेशों के अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है।

राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को गम्भीर आपात-स्थिति की उद्घोषणा करने का उस प्रकार का कोई प्राधिकार नहीं है जैसा कि गणतन्त्र के राष्ट्रपति को प्राप्त है। संविधान में राज्यपाल के स्वविवेकाधारित प्रकार्यों के पालन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख न करना ही उचित समझा गया।

वित्तीय शक्तियाँ—राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को, प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में, राज्य की उस वर्ष के लिये आगणित आय और व्यय का विवरण-पत्र विधानमण्डल के समक्ष रखने का प्राधिकार प्राप्त है। राज्यपाल की सिफ़ारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग नहीं की जा सकती है और न कोई धन विधेयक ही उसकी सिफ़ारिश के बिना विधानसभा में प्रस्तुत किया जा सकता है। राज्य की आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) उसके अधीन होती है जिसमें से वह आकस्मिक व्यय के लिये विधानमंडल की आज्ञा के पहले ही धन दे सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ—संविधान के १६१वें अनुच्छेद के अनुसार जो विषय राज्य की अधिशासी शक्ति के अन्तर्गत हैं उनसे सम्बन्धित किसी कानून के विरुद्ध किसी अपराध के लिये दोषी किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा करने, कम करने, स्थगित करने या बदल देने की शक्ति राज्यपाल को प्राप्त है। परन्तु प्राणदण्ड क्षमा करने या कम करने का उसे अधिकार नहीं है।

मन्त्रि-परिषद्

केन्द्रीय शासन की भाँति सभी राज्यों में भी राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को उसके प्रकार्यों के पालन में परामर्श देने और उसकी सहायता करने के लिये एक मन्त्रिपरिषद् होती है जिसका प्रधान एक मुख्य मन्त्री होता है। कहने के लिये तो राष्ट्रपति की भाँति राज्यपाल अथवा राजप्रमुख में भी राज्य-शासन की सारी अधिशासी शक्ति निहित होती है, परन्तु वास्तव में राज्य का अधिशासन उसकी मन्त्रिपरिषद् के हाथ में रहता है। व्यवहार रूप में विधान-सभा के बहमत दल का

नेता ही मुख्य मन्त्री होता है और वही अपने दल के प्रमुख व्यक्तियों में से अपने सहकर्मी चुनता है। शासन-विभागों का वितरण भी पूर्णतया मुख्य मन्त्री के हाथों में ही रहता है। मन्त्रिगण सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अत: जब तक कोई मन्त्रिपरिषद् धारासभा में बहुमत की विश्वासपात्र रहती है उसके हटाये जाने का कोई भय ही नहीं होता। अगर राज्यपाल किसी ऐसे मन्त्रिपरिषद् को भङ्ग कर दे जिसका विधानसभा में बहुमत है तो उसको नये मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। परन्तु राज्य का कोई भी मन्त्री जो ६ महीने तक राज्य के विधान-मंडल का सदस्य न रहे, मन्त्री नहीं रह सकता। संविधान में यह नहीं कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् में कितने सदस्य होंगे, इसलिए उनकी संख्या का निश्चय मुख्य मन्त्री सरकार के कामों की उचित व्यवस्था ध्यान में रखते हुये करेगा। परन्तु संविधान के एक प्रावधान के अनुसार बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा तथा मध्य भारत राज्यों में जनजातियों के कल्याणार्थ एक मन्त्री अवश्य रहेगा जो साथ-साथ अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के हितों की रक्षा का भी ध्यान रखेगा। मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते राज्य के विधानमंडल द्वारा निश्चित किए जायेंगे, परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता उनको वही वेतन मिलेगा जो संविधान प्रारम्भ होने के पहले मिलता था। राज्यों के मन्त्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली वैसी ही होगी जैसी संघीय मन्त्रिपरिषद् की है। संविधान में कहा गया है कि राज्यपाल मन्त्रियों के बीच कार्य विभाजन करने के लिए नियम बनायेगा, किन्तु यथार्थ में मन्त्रियों के बीच कार्य-विभाजन मुख्य मन्त्री करता है। प्रत्येक मन्त्री के अधीन एक या दो विभाग होते हैं और उन्हें सहायता देने के लिए कहीं कहीं उपमन्त्री (Deputy Ministers) भी हैं, जो मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नहीं होते हैं और उसकी बैठकों में उपस्थित होने के अधिकारी भी नहीं होते। उनका कर्तव्य विधायी तथा अधिशासी कार्य में मन्त्रियों की सहायता करना होता है।

संविधान के १६७वें अनुच्छेद में केवल मुख्य मन्त्री के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध राज्य की विधायी तथा अधिशासी व्यवस्था के विषयों में मन्त्रि-परिषद् के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देने से है। परन्तु वास्तव में, संघीय मन्त्रिपरिषद् की भाँति राज्यों के मन्त्रि-परिषद् का कार्य-क्षेत्र भी सर्व-व्यापक है। मन्त्रिपरिषद् राज्य के विधायी तथा अधिशासी अङ्गों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। राज्यपाल के परामर्श-दाता के रूप में मन्त्रिगण विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं, और इस प्रकार सर्वोच्च अधिशासी प्रकार्यों का प्रयोग करते हैं। बहुमत दल के प्रमुख सदस्य होने के नाते वे सम्पूर्ण विधायी तथा आर्थिक व्यवस्था का निर्णय करते हैं। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् के हाथों में न्यायमण्डल की शक्तियों को छोड़ कर शासन की अन्य सारी शक्तियाँ केन्द्रित हैं।

उन्तीसवाँ अध्याय

राज्यों के विधानमण्डल

प्रथम अनुसूची के भाग १ के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल है जिसमें राज्यपाल के अतिरिक्त मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, उत्तरप्रदेश, बिहार तथा पञ्जाब में दो आगार, किन्तु अन्य राज्यों में एक आगार है। भाग २ के राज्यों के विधानमण्डलों में राजप्रमुख तथा मैसूर राज्य में दो आगार और शेष राज्यों में एक-एक आगार है। अन्य सभी बातों में जो प्रावधान भाग १ के राज्यों के विधानमण्डलों के सम्बन्ध में किये गये हैं वही भाग २ के राज्यों में भी लागू होते हैं। जहाँ किसी राज्य के विधानमण्डल के दो आगार हैं वहाँ एक—अर्थात् उत्तर आगार—विधानपरिषद् और दूसरा विधान सभा के नाम से सम्बोधित किया जाता है; और जहाँ केवल एक ही आगार है वहाँ वह विधान सभा के नाम से पुकारा जाता है। यदि किसी राज्य की धारा-सभा अपनी सम्पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करे तो संसद् कानून द्वारा उस राज्य की विधान परिषद् का उन्मूलन अथवा उस राज्य में विधान-परिषद् की स्थापना, का प्रावधान कर सकती है। कतिपय आलोचकों की यह धारणा कि राज्यों के लिये द्वितीयागारों की आवश्यकता ही नहीं थी, उचित प्रतीत होती है। केन्द्रीय व्यवस्था में द्वितीयागार की वाँछनीयता समझ में आ सकती है, क्योंकि संघतन्त्रात्मक संविधान में विभिन्न हितों का संतुलन आवश्यक होता है। परन्तु राज्यों में इसकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कुछ राज्यों के विधानमण्डल द्वि-आगारिक हैं, कुछ के एकागारिक। राज्यों की यह स्थिति संतोषजनक नहीं है। इसका अर्थ यह है कि संघांगों की संवैधानिक व्यवस्था में एकरूपता का अभाव है। सम्भवत: हमारे संविधान-निर्माताओं को भी द्वितीयागारों की उपादेयता में भारी सन्देह था और उन्होंने इसी कारण द्वितीयागारों को बहुत थोड़ी शक्तियाँ दी हैं। कुछ राज्यों में द्वितीयागारों के अस्तित्व का एकमात्र तर्क यही है कि वहाँ यह आगार पहले से वर्तमान थे और वे राज्य उनका उन्मूलन नहीं चाहते। अन्यथा, आधुनिक राजनैतिक विचारक एकमत होकर एकागारिक सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। उनकी धारणा है कि द्वितीयागार या तो प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की राह में रुकावट होते हैं, या अनावश्यक। महात्मा गाँधी द्वि-आगारिक विधानमण्डलों के घोर विरोधी थे। उनका कहना था कि भारत ऐसे निर्धन देश के लिये द्वितीयागार अनावश्यक विलास-सामग्री की भाँति हैं।

राज्य के विधानमण्डल का प्रत्येक वर्ष में कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये बुलाया जाना आवश्यक है तथा उसके एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक तथा आगामी अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच ६ मास से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिये। उपरोक्त प्रावधानों के अधीन राज्यपाल या राजप्रमुख समय-समय पर विधानमण्डल के किसी आगार को अधिवेशन के लिये बुला सकता है। वह विधान-मण्डल के आगारों का स्थगन तथा विधानसभा का विलयन भी कर सकता है।

विधान-परिषद् की रचना—राज्यों की विधान परिषद् एक स्थायी संस्था है; उसका विलयन नहीं किया जा सकता, परन्तु उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के पश्चात् स्थान रिक्त करेंगे और उन स्थानों की पूर्ति नवीन सदस्यों द्वारा होगी। यह नवीन सदस्य ६ वर्षों के लिये होंगे। आरम्भ में संसद् के एक-तिहाई सदस्य २ वर्ष के लिये होंगे, एक तिहाई ४ वर्ष के लिये और एक-तिहाई ६ वर्ष के लिये। किन्तु बाद में प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल ६ वर्ष होगा, परन्तु प्रत्येक २ वर्ष पश्चात् एक-तिहाई सदस्य बदल जायेंगे। विधान-परिषद् के समस्त सदस्यों की संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की समस्त संख्या के पचीस प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती है; परन्तु किसी भी विधानपरिषद् की समस्त सदस्य-संख्या किसी दशा में भी, ४० से कम नहीं होगी। जब तक संसद् कानून द्वारा कोई अन्य प्रावधान न करे, राज्य की विधान-परिषद् की रचना निम्नलिखित प्रकार से होगी :—

(१) परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या में से लगभग एक-तिहाई सदस्य नगर-पालिकाओं (Municipalities), जिला बोर्डों (District Boards) तथा संसद् द्वारा निश्चित इसी प्रकार की अन्य स्थानीय प्राधिकारी संस्थाओं द्वारा निर्वाचित होंगे।

(२) पूरी संख्या के १/१२ सदस्य विश्वविद्यालयों के उन स्नातकों द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे जिन्हें विश्वविद्यालय से प्रमाणपत्र लिये कम से कम तीन वर्ष हो गये हों, अथवा जिनमें संसद् द्वारा निश्चित इसकी समवर्ती कोई अन्य योग्यता हो।

(३) पूरी संख्या के १/१२ सदस्य माध्यमिक शिक्षालयों अथवा इनसे उच्च स्तर के शिक्षालयों के शिक्षकों द्वारा निर्वाचित होंगे।

(४) १/३ सदस्य उस राज्य की विधान सभा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित करेगी जो उसके (अर्थात् विधान सभा के) सदस्य न हों।

(५) शेष १/६ सदस्य राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों में से मनोनीत करेगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारिता अथवा समाजसेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो।

स्थानीय संस्थाओं के सदस्य, स्नातकगण तथा शिक्षक प्रादेशिक निर्वाचन

क्षेत्रों (territorial constituencies) से चुने जायेंगे और विधान सभा में निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional Representation) के अनुसार एक-परिवर्तनीय मतविधि (Single Transferable Vote) द्वारा होगा। राज्य की विधान परिषद् अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपना सभापति तथा उप-सभापति चुनती है। सभापति को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। इनका काम वैसा ही है जैसा कि राज्य परिषद् के सभापति तथा उप-सभापति का। विधान परिषद् इनको अपने पद से बहुमत के प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है, परन्तु ऐसे प्रस्ताव के लिये १४ दिन पूर्व सूचना देना आवश्यक है।

जनप्रतिनिधित्व कानून, १९५० (Peoples Representation Act, 1950) के द्वारा विभिन्न राज्यों की विधान परिषदों की रचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था की गई है:—

राज्य का नाम	स्थानों की सम्पूर्ण संख्या	स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	विधान-सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल अथवा राजप्रमुख द्वारा मनोनीत
१. बिहार	७२	२४	६	६	२४	१२
२. बम्बई	७२	२४	६	६	२४	१२
३. मद्रास	७२	२४	६	६	२४	१२
४. पंजाब	४०	१३	३	३	१३	८
५. उत्तर प्रदेश	७२	२४	६	६	२४	१२
६. पश्चिमी बङ्गाल	५१	१७	४	४	१७	९
७. मैसूर	४०	१३	३	३	१३	८

विधान-सभा की रचना—प्रत्येक राज्य में वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुये सदस्यों की एक विधान-सभा है। इसके सदस्यों की संख्या का निश्चय जनसंख्या के आधार पर रखा गया है। जनसंख्या के प्रत्येक ७५,००० के लिये एक से अधिक प्रतिनिधि नहीं हो सकता है। परन्तु आसाम के स्वायत्त जिलों, शिलाङ्ग के नगरपालिका क्षेत्र तथा कटक में यह अनुपात लागू नहीं होगा, क्योंकि वहाँ जनसंख्या कम है। किसी विधानसभा के सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या ५०० से अधिक और ६० से कम नहीं हो सकती है। राज्य भर में प्रतिनिधित्व का अनुपात यथासम्भव समान होगा जो प्रत्येक जनगणना के पश्चात् पुनर्व्यवस्थापित किया जायेगा। साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों का अन्त कर

दिया गया है, परन्तु राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों, और आसाम के स्वायत्तशासी मण्डलों (autonomous districts) के सम्बन्ध में दस वर्ष के लिये जनसंख्या के आधार पर विशेष आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल के मत में ऐंग्लो इण्डियन सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व यथेष्ट न हो तो उनके सदस्य मनोनीत करने का भी विशेष प्रावधान किया जा सकता है। विधानसभा अपनी बैठकों का सभापतित्व करने के लिये अपने ही दो सदस्यों को अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनती है। इनके कर्तव्य लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के समान हैं और इनको अपने पद से हटाने के लिये वही प्रक्रिया है जो विधान परिषद् के सभापति अथवा उपसभापति को हटाने के लिये है।

संसद् ने विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के लिये निम्नलिखित सदस्य संख्या निर्धारित की है :—

राज्यों के नाम	स्थानों की पूर्ण संख्या
१. आसाम	१०८
२. बिहार	३३०
३. बम्बई	३१५
४. मध्य प्रदेश	२३२
५. मद्रास	३७५
६. उड़ीसा	१४०
७. पञ्जाब	१२६
८. उत्तर प्रदेश	४३०
९. पश्चिमी बङ्गाल	२३८
१०. हैदराबाद	१७५
११. मध्य भारत	९९
१२. मैसूर	९९
१३. पटियाला तथा पूर्वी पञ्जाब राज्य संघ	६०
१४. राजस्थान	१६०
१५. सौराष्ट्र	६०
१६. ट्रावनकोर-कोचीन	१०८

विधान-सभा का कार्य काल—विधान-सभा का कार्यकाल ५ वर्ष है, परन्तु राज्यपाल यह कालावधि पूर्ण होने के पहले भी उसका विलयन कर सकता है। आपात-काल में संसद् इस कालावधि को एक बार में एक वर्ष के लिये बढ़ा सकती है, परन्तु आपात स्थिति की उद्घोषणा का अन्त होने के पश्चात् ६ मास से अधिक तक यह कालावधि-वर्धन प्रवर्तनीय नहीं रह सकता

विधानमण्डल के सदस्यों की योग्यतायें—कोई व्यक्ति किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य होने के लिये उस समय तक योग्य न समझा जायेगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो, (२) विधान-सभा के लिये २५ और विधान-परिषद् के किये ३० वर्ष की आयु पार न कर चुका हो, और (३) उसमें वे योग्यतायें न हों जो राज्य के विधानमण्डल ने एतदर्थ निर्धारित की हों। जन प्रतिनिधित्व कानून, १९५१ (Peoples Representation Act, 1951) के द्वारा यह निश्चित हुआ है कि विधान-परिषद् के निर्वाचित सदस्य होने के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति उस राज्य की विधानसभा के लिये मतदाता हो। इस कानून द्वारा राज्यों की विधानसभा के लिये निश्चित किया गया है कि (अ) राज्य के अन्दर अनुसूचित जातियों या जनजातियों के लिये सुरक्षित किसी स्थान से चुने जाने के लिये यह आवश्यक है कि सदस्य उन्हीं जातियों का हो तथा उस राज्य की विधान-सभा के लिये मत दाता हो; (ब) आसाम के स्वायत्त ज़िलों (Autonomous Districts) के लिये सुरक्षित किसी स्थान के लिये चुने जाने के लिये यह आवश्यक है कि सदस्य उस ज़िले की किसी जनजाति का हो तथा ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र से मतदाता हो जिसमें उस ज़िले के लिये एक स्थान सुरक्षित हो; (स) किसी अन्य स्थान के लिये चुने जाने के लिये उस राज्य में विधानसभा का मतदाता होना आवश्यक है।

निर्योग्यतायें—कोई व्यक्ति किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य निर्वाचित होने के लिये निर्योग्य होगा :—

(१) यदि वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन, मन्त्रिपद के अतिरिक्त अन्य किसी लाभपद पर आरूढ़ है;

(२) यदि वह पागल है और अधिकृत न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है;

(३) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया है,

(४) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, अथवा अपनी ओर से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर चुका है; अथवा अन्य किसी प्रकार से किसी विदेशी राज्य के प्रति अनुषक्त है; और

(५) यदि वह राज्य के विधान-मण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून के अधीन इस प्रकार निर्योग्य कर दिया गया है। जनप्रतिनिधित्व कानून, १९५१ (Peoples Representation Act, 1951) द्वारा यह निश्चित किया गया है कि अगर कभी यह प्रश्न उठे कि कोई व्यक्ति विधानमण्डल की सदस्यता के लिये अयोग्य तो नहीं है तो राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह निर्वाचन आयोग (Election Commission) की राय से इस बात का निर्णय करे और उसका निर्णय अन्तिम होगा।

उपरोक्त निर्योग्यताओं के अतिरिक्त कतिपय ऐसी दशायें भी हैं जिनमें

राज्य के विधानमण्डलों के सदस्यों को अपना स्थान रिक्त करना पड़ता है। उदाहरण के लिये, कोई व्यक्ति एक साथ एक राज्य के विधानमण्डल के दोनों आगारों का, अथवा दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डलों का सदस्य नहीं रह सकता है। दूसरे यदि राज्य के विधानमण्डल के किसी आगार का कोई सदस्य, आगार की अनुमति प्राप्त किये बिना लगातार ६० दिन से अधिक उसकी बैठकों में अनुपस्थित रहता है, तो उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जायेगा।

सदस्यों के विशेषाधिकार (privileges) तथा उनकी विमुक्तियाँ (immunities)—प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। राज्य के विधानमण्डल में, अथवा उसकी किसी समिति में, कही हुई किसी बात अथवा दिये हुये किसी मत के सम्बन्ध में, विधानमण्डल के किसी सदस्य के विरुद्ध, किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी, और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध, विधानमण्डल के किसी आगार के प्राधिकार द्वारा किसी विवरण-पत्र (report) अथवा मत के प्रकाशन के विषय में इस प्रकार की कोई कार्यवाही चल सकेगी। अन्य बातों में, सदस्यों के विशेषाधिकार तथा उनकी विमुक्तियाँ वे होंगी जो राज्य का विधानमण्डल क़ानून द्वारा परिभाषित करे अथवा जो ब्रिटिश 'हाउस आफ़ कामन्स' के सदस्यों को प्राप्त हैं। राज्य के विधानमण्डल के सदस्यों को वे वेतन तथा अधिदेय मिलेंगे जो उस राज्य का विधानमण्डल समय-समय पर कानून द्वारा निश्चित करे और जब तक तद्विषयक कानून नहीं बनाये जाते, सदस्यों को वे वेतन तथा अधिदेय मिलेंगे जो संविधान की प्रारम्भ तिथि से पूर्व उस राज्य की प्रान्तीय विधान सभा के सदस्यों को मिलते थे।

कार्य-संचालन—राज्य के विधानमण्डलों का कार्य-संचालन उनके प्रधान पदाधिकारी करते हैं। परन्तु जिस समय आगार में स्वयं उनके निष्कासन के विषय में विचार होता हो, वे कार्यवाही में कोई भाग नहीं ले सकते। वे केवल मत-समता की अवस्था में ही अपने निर्णायक मत का प्रयोग कर सकते हैं। विधानमण्डल के सदस्यों को अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व निर्धारित रीति के अनुसार शपथ लेनी पड़ती है। समस्त निर्णय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। दोनों आगारों के संयुक्त अधिवेशनों में भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। गणपूरक संख्या (quorum) दस सदस्यों की, अथवा आगार के सदस्यों की समस्त संख्या के दसवें भाग की, जो भी अधिक हो, होती है। राज्य का विधानमण्डल अपने कार्य-संचालन के सम्बन्ध में अन्य नियम भी बना सकता है। विधान परिषद् के सभापति तथा विधान सभा के अध्यक्ष से परामर्श करके राज्यपाल दोनों आगारों की संयुक्त बैठक तथा उनके मध्य सम्पर्क स्थापित करने के सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार नियम बना सकता है। राज्य के

विधानमण्डल में सर्वोच्च अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश द्वारा अपने कर्तव्यों के पालन में किये गये किसी कार्य पर विवाद नहीं किया जा सकता है। दोनों आगारों के संयुक्त अधिवेशन का सभापतित्व विधान सभा का अध्यक्ष करता है। विधानमण्डल में प्रारम्भिक १५ वर्षों तक हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी और तत्पश्चात् केवल हिन्दी का प्रयोग किया जायेगा। परन्तु सभापति किसी भी ऐसे सदस्य को जो हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी बोलने में असमर्थ है, अपनी मातृभाषा में आगार को सम्बोधित करने की अनुमति दे सकता है।

राज्यों के विधान-मण्डल की शक्तियाँ—साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि राज्यों के विधानमण्डल को राज्यसूची में उल्लिखित समस्त विषयों में कानून बनाने का अधिकार है। वे समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकते हैं, परन्तु उन्हीं विषयों पर संसद् द्वारा निर्मित कानूनों की प्रवर्तनशीलता राज्य द्वारा बनाये गये क़ानूनों से अधिक होगी। २४ वें अध्याय में "राज्यों की शक्तियाँ", "समवर्ती शक्तियाँ" तथा "संसद् की अविभावी शक्तियाँ" उपशीर्षकों के अन्तर्गत राज्य-शक्तियों तथा समवर्ती शक्तियों की सूचियों और राज्यों के विधानमण्डलों की शक्तियों पर लगे हुये प्रतिबन्धों का विस्तृत वर्णन किया गया है। विधिनिर्माण के अतिरिक्त विधानमण्डल को शासन तथा वित्त सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। वह कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखता है। बिना उसकी स्वीकृति के कोई नया कर नहीं लगाया जा सकता, और न किसी प्रकार का व्यय (अनिवार्य व्यय के सिवाय) ही किया जा सकता है। उसके राज्यों के क्षेत्र में वही अधिकार हैं जो संघ-क्षेत्र में संसद् के हैं।

विधायी प्रक्रिया—साधारण विधेयक राज्य के विधानमण्डल के किसी आगार में प्रारम्भ हो सकता है, परन्तु वह पास तभी समझा जायेगा जब वह दोनों आगारों तथा राज्यपाल अथवा राजप्रमुख द्वारा स्वीकार कर लिया गया हो। धन-विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वास्तव में साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान परिषद् की स्थिति अपेक्षाकृत अधीन ही है। संविधान के १९७वें अनुच्छेद में धन-विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-परिषद् की शक्तियों पर लगाये गये प्रतिबन्धों का वर्णन किया गया है। परिषद् को विधानसभा द्वारा स्वीकृत विधेयकों में संशोधन करने की अधिक शक्ति नहीं है। यदि विधानसभा द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक को विधान-परिषद् अस्वीकार कर देती है; अथवा संशोधन सहित स्वीकार करती है, और विधान सभा उन संशोधनों से सहमत नहीं है, अथवा विधेयक को परिषद् के समक्ष आये तीन मास से अधिक व्यतीत हो गये हैं तो विधान सभा उस विधेयक को, संशोधनों सहित या उनके बिना फिर स्वीकार करके परिषद् के पास भेज सकती है; और परिषद् यदि अब भी उसे

स्वीकार नहीं करती है तो विधेयक उसी रूप में जिसमें वह विधानसभा द्वारा स्वीकृत हुआ है, दोनों आगारों द्वारा पास समझा जायेगा। धन-विधेयकों के सम्बन्ध में विधान-परिषद् की शक्तियाँ केन्द्रीय राज्य-परिषद् की शक्तियों के समान ही हैं। विधान सभा द्वारा स्वीकृत होकर धन-विधेयक परिषद् में भेजा जाता है और यदि १४ दिन के भीतर वह लौटाया न गया तो दोनों आगारों द्वारा पास समझा जाता है। और यदि परिषद् इस अवधि के भीतर विधेयक को अपने संशोधन सहित लौटा देती है तो विधान सभा को अधिकार है कि वह उस संशोधन को चाहे स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, परन्तु विधेयक विधिवत् पास समझा जायेगा। कोई विधेयक धन-विधेयक है अथवा नहीं, इस विषय में विधानसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। इस प्रकार विधि निर्माण तथा आर्थिक व्यवस्था, दोनों ही क्षेत्रों में विधानसभा का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में, केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों आगारों में एक ऊपरी समता के दर्शन होते हैं, परन्तु राज्य-विधानमण्डल में उसका भी अभाव है। विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत होकर सभी विधेयक राज्यपाल अथवा राज-प्रमुख के समक्ष उसकी अनुमति के लिये उपस्थित किये जाते हैं। वह विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है, अनुमति रोक सकता है अथवा विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रख सकता है। धन-विधेयकों के अतिरिक्त अन्य किसी विधेयक को वह एक आगार अथवा दोनों आगारों के पास पुनर्विचारार्थ भी लौटा सकता है, परन्तु उनके द्वारा पुनः स्वीकृत हो जाने के पश्चात् वह उस विधेयक पर अनुमति नहीं रोक सकता है।

वित्तीय-प्रक्रिया—गणतन्त्र के राष्ट्रपति की भाँति, राज्यपाल अथवा राज-प्रमुख भी राज्य के विधानमण्डल के समक्ष प्रत्येक वर्ष के लिये आगणित आय और व्यय का विवरण-पत्र रखता है। यहाँ भी आगणित व्यय के दो विभाग किये जाते हैं—एक वह जिस पर विधानमण्डल का मत लिया जाता है और दूसरा वह जिस पर मत नहीं लिया जाता। पहले विभाग में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं:—(१) प्रथम अनुसूची के भाग १ के राज्यपालों के परिलाभ तथा अधिदेय और अनुसूची के भाग २ के राज्यों में राजप्रमुख के अधिदेय, तथा राष्ट्रपति द्वारा साधारण अथवा विशेष आदेश द्वारा परिभाषित उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय; (२) सभापति तथा उपसभापति और अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन तथा अधिदेय; (३) ऐसे ऋण-प्रभार (debt charges) जिनकी देयता राज्य पर है; (४) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन तथा अधिदेय; (५) किसी न्यायालय अथवा मध्यस्थ-न्यायालय (arbitral tribunal) के निर्णय, अथवा आदेश के पालन के लिये अपेक्षित कोई राशियाँ, और इस प्रकार घोषित किया गया कोई अन्य व्यय। विधानमण्डल में उपरोक्त व्यय-पदों पर विवाद हो सकता है परन्तु इन पर विधान

सभा का मत नहीं लिया जाता है। अन्य प्रकार के व्यय पर मत लिया जाता है और उनके लिये विधानसभा के समक्ष अनुदानों की माँग उपस्थित की जाती है। विधानसभा माँगों को स्वीकार कर सकती अथवा घटा सकती है, परन्तु शासन द्वारा अपेक्षित राशि से अधिक का अनुदान नहीं कर सकती है। बिना राज्यपाल अथवा राजप्रमुख को सिफ़ारिश के किसी भी अनुदान की माँग नहीं की जा सकती है। सब माँगों पर अनुदान हो चुकने के पश्चात् उन्हें एक विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) के रूप में सङ्कलित किया जाता है जिसमें सभी प्रकार के व्यय सम्मिलित होते हैं। इस विधेयक के सम्बन्ध में किसी भी आगार द्वारा अधिकृत माँगों अथवा व्यय को घटाने के लिये किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की सिफ़ारिश पर विधानसभा के समक्ष पूरक अनुदानों (supplementary demands) की माँग उपस्थित की जा सकती है, और विधान सभा विशेष अवसरों पर, व्यय होने के पूर्व, विशेष अनुदान भी कर सकती है।

तीसवाँ अध्याय
राज्यों की न्यायपालिका

संविधान में प्रथम अनुसूची के भाग १ तथा २ के प्रत्येक राज्य के लिये उच्च न्यायालय का प्रावधान किया गया है। संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्व जो उच्च न्यायालय भारत के जिन राज्यों में थे वे वहां के उच्च न्यायालय स्वीकार कर लिये गये हैं। अनुसूची के भाग ३ के प्रत्येक राज्य के लिये उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार संसद् को दिया गया है। २१५वें अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय होगा और उसे, अपने अपमान का दण्ड देने के अधिकार के सहित अभिलेख न्यायालय की समस्त शक्तियाँ प्राप्त होंगी। अधीन न्यायालय इसके फैसलों को प्रामाणिक मानेंगे।

उच्च न्यायालयों की रचना—प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य ऐसे न्यायाधीश होंगे जिन्हें गणतन्त्र का राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे। न्यायाधीशों की संख्या किसी समय उस अधिकतम संख्या से अधिक नहीं हो सकती है जो राष्ट्रपति समय-समय पर प्रत्येक उच्च न्यायालय के लिये निश्चित करता रहेगा। राष्ट्रपति गणराज्य के मुख्य न्यायाधीश और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात् उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है; और मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में सम्बन्धित राज्य के मुख्य न्यायाधीश से भी परामर्श किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय की भाँति उच्च न्यायालयों की बैठकों में भी सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों की उपस्थिति के लिये प्रावधान है।

न्यायाधीशों की योग्यतायें तथा उनके वेतन आदि—किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश-पद पर नियुक्ति के लिये कोई व्यक्ति तब तक योग्य नहीं समझा जा सकता जब तक वह भारत का नागरिक न हो और (क) भारत में कम से कम १० वर्ष तक कोई न्यायिक पद (judicial office) न धारण कर चुका हो, या (ख) किसी उच्च न्यायालय का कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो। प्रथम अनुसूची के भाग १ में उल्लिखित राज्यों में मुख्य न्यायाधीश का वेतन ४०००) रुपया प्रतिमास और अन्य न्यायाधीशों का ३५००) रुपया प्रतिमास होगा। अनुसूची के भाग २ में उल्लिखित राज्यों में न्यायाधीशों को वह वेतन मिलेगा जो राष्ट्रपति, राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात् निश्चित करे। प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ऐसे अधिदेय, अवकाश तथा उत्तरवेतन (pension) के अधिकारी होंगे

जो संसद् निश्चित करे, परन्तु उनकी नियुक्ति के पश्चात् इनमें कोई ऐसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता है जिससे उनको हानि हो। राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से किसी न्यायाधीश का एक उच्च न्यायालय से दूसरे में स्थानान्तरण कर सकता है।

अवधि तथा निष्कासन—प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक अपना पद धारण कर सकता है और उस समय तक अपने पद से निष्कासित नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रमाणित दुराचार अथवा अयोग्यता के कारण निष्कासन के लिये संसद् के दोनों आगारों की सम्पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मत देने वालों में से कम से कम दो-तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित अभिलेख राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति ने आदेश न दिया हो। इस उपबन्ध से राज्यों की न्यायपालिका की स्वतन्त्रता निश्चित हो जाती है।

उच्च न्यायालयों की शक्तियाँ—उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार अब भी वही होगा जैसा कि संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्व था, अर्थात् उच्च न्यायालय राज्य के दीवानी (civil) तथा फौजदारी (criminal) दोनों प्रकार के मामलों में, पुनर्विचार का सर्वोच्च न्यायालय होगा। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में, संविधान लागू होने के पूर्व, उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक तथा पुनर्विचार, दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त था। वे दीवानी मुकदमे जिनका मूल्य दो हजार रुपये से अधिक होता था इनमें उपस्थित किये जा सकते थे, तथा वे फौजदारी के मुकदमे भी जो प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेटों द्वारा भेजे जाते थे इनमें आरम्भ हो सकते थे। अन्य उच्च न्यायालयों को केवल पुनर्विचार क्षेत्राधिकार था। नये संविधान में इस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। किन्तु इसके द्वारा उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का कुछ विस्तार अवश्य किया गया है। अभी तक उनका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार राजस्व सम्बन्धी विषयों में कतिपय प्रतिबन्धों के अधीन था। जब तक राजस्व तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित विषय देश की परिपाटी अथवा उस समय प्रवर्तित विधि के अनुसार हो रहा हो, उच्च न्यायालयों को इस विषय में कोई क्षेत्राधिकार नहीं प्राप्त था। परन्तु नये संविधान के अनुसार राजस्व तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित विषय उच्च न्यायालयों के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आ गये हैं। दूसरे, अब उच्च न्यायालयों को अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत स्थित समस्त न्यायालयों तथा अदालतों पर अधीक्षण शक्ति प्राप्त है। संविधान के २२६ वें अनुच्छेद के अनुसार उच्च न्यायालयों को बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के लेखों (Writs) के रूप में अपने क्षेत्राधिकारगत किसी व्यक्ति अथवा प्राधिकारी (जिसमें शासन भी सम्मिलित होगा) के नाम निदेश अथवा आदेश निकालने की शक्ति होगी। इसके अतिरिक्त यदि उच्च न्यायालय समझे कि उसके

किसी अधीनस्थ न्यायालय में विचाराधीन किसी मामले में संविधान के निर्वाचन (interpretation) से सम्बन्धित कोई कानूनी प्रश्न निहित है, तो वह उस मामले को अपने पास ले लेगा। तत्पश्चात् वह चाहे उस मामले का स्वयं ही निर्णय करे और चाहे उस मामले के कानूनी प्रश्न पर निर्णय देने के पश्चात् उसे उसी अधीनस्थ न्यायालय के पास निर्णय देने के लिये लौटा दे। संविधान के २२७ वें अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने अधिकारक्षेत्र में स्थित समस्त न्यायालयों तथा न्यायाधिकरणों (Tribunals) से किसी मामले के कागजों (returns) को मँगा सकता है। वह अपने अधीनस्थ न्यायालयों की कार्यप्रणाली और कार्यवाहियों को निश्चित करने के लिये नियम बना सकता है। वह इन न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों, प्रविष्टियों (entries) और लेखों के प्रपत्रों (forms) का विनिधान भी कर सकता है। उच्च न्यायालय अधीन न्यायालयों के शेरिफ (sheriff), क्लर्क (clerks), अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि की फीस भी निश्चित कर सकता है। संसद् कानून द्वारा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ा अथवा घटा सकती है।

अधीनस्थ न्यायालयों का सङ्गठन तथा उनकी शक्तियाँ—उच्च न्यायालय के अधीन जिले में न्यायालयों का संगठन आज भी लगभग वैसा ही है जैसा कि सन् १९३५ ई० के कानून के अन्तर्गत था। ये न्यायालय कई प्रकार के हैं। फौजदारी तथा दीवानी के मुक़दमों के लिये अलग-अलग न्यायालय हैं। इनके अतिरिक्त माल की अदालतें (revenue courts) भी हैं। ज़िले में फ़ौजदारी का सबसे बड़ा न्यायालय 'सेशन्स कोर्ट' कहलाता है। इसके न्यायाधीश को सेशन जज कहते हैं। सेशन जज की सहायता के लिये सहकारी सेशन जज भी होते हैं। इन न्यायालयों में जज मुक़दमों का फैसला जूरी या असेसरों की सहायता से करते हैं। इन न्यायालयों के अधिकार फ़ौजदारी के मामलों में उच्च न्यायालय (High Court) के समान ही हैं। परन्तु इनके द्वारा दिये हुये मृत्युदण्ड के लिये उच्च न्यायालय की स्वीकृति आवश्यक होती है।

सेशन जजों के नीचे तीन श्रेणी के मजिस्ट्रेट होते हैं। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को २ वर्ष की क़ैद तथा १०००) रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार होता है। द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट ६ माह की क़ैद तथा ३००) रु० तक जुर्माना कर सकते हैं, और तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट १ माह की क़ैद तथा ५०) रु० तक जुर्माना कर सकते हैं। कुछ स्थानों में अवैतनिक मजिस्ट्रेट (Honorary Magistrates) भी होते हैं, यद्यपि अनेक स्थानों में अब इनका पद तोड़ दिया गया है। इनकी नियुक्ति राज्य की सरकार करती है और इनके पास साधारण मुक़दमें ही आते हैं। वैतनिक मजिस्ट्रेटों में ज़िलाधीश (District Magistrate) को प्रथम श्रेणी के

मजिस्ट्रेट के अधिकार प्राप्त होते हैं। उसके नीचे डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार और नायब तहसीलदार की कचहरियाँ होती हैं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में 'प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट' (Presidency Magistrates) तथा बड़े शहरों में सिटी मजिस्ट्रेट (City Magistrates) होते हैं। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की कचहरी में उसके अधीन कचहरियों के फैसलों की अपील हो सकती है। और प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध सेशन जज की अदालत में तथा सेशन जज के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील हो सकती है।

ज़िले में दीवानी की सब से बड़ी अदालत ज़िला न्यायाधीश की अदालत होती है। साधारणत: एक ही व्यक्ति सेशन जज तथा ज़िला न्यायाधीश दोनों का पद धारण करता है। ज़िला न्यायाधीश को दीवानी के मामलों में प्रारम्भिक Original) तथा पुनर्विचार सम्बन्धी (Appellate) दोनों प्रकार के अधिकार होते हैं। उसकी अदालत में केवल वे मुक़दमें ही पुनर्विचार (appeal) के लिये रखे जा सकते हैं जिनका मूल्य ५,०००) रु० से कम होता है। ज़िला न्यायाधीश की अदालत के नीचे सिविल जज और उसके नीचे मुन्सिफ की अदालत होती है। सिविल जज की अदालत में किसी भी मूल्य के मुक़दमें दायर हो सकते हैं और सिविल जज को लगभग वे ही अधिकार प्राप्त होते हैं जो ज़िला न्यायाधीश को। मुन्सिफ़ की अदालत में २०००) रु० तक के और विशेष अधिकार दिये जाने पर ५,०००) रु० तक के मुक़दमें दायर हो सकते हैं। बड़े ज़िलों में खफ़ीफ़ा अदालत (Small Causes Court) भी होती है जिसमें साधारणत: ५००) और विशेष अवसरों पर १०००) रु० तक के मुक़दमें सुने जा सकते हैं। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में ये अदालतें २०००) रु० तक के मुक़दमें सुन सकती हैं। खफ़ीफा अदालतों के फैसले की अपील नहीं होती है।

मालगुजारी सम्बन्धी सब बातों का फैसला करने के लिये राज्य में माल की सबसे बड़ी अदालत बोर्ड आफ रैवन्यू (Board of Revenue) है। इसके नीचे कमिश्नर की अदालत होती है। ज़िले में माल को सबसे बड़ी अदालत ज़िला मजिस्ट्रेट की होती है। इसके नीचे डिप्टी कलेक्टर तथा तहसीलदार की अदालतें हैं जिममें लगान, मालगुजारी तथा आबपाशी सम्बन्धी मामले सुने जाते हैं।

पंचायती अदालतें—जिन राज्यों में पंचायत प्रथा स्थापित हो चुकी है, वहाँ पंचायती अदालतें भी हैं। इन अदालतों के सदस्यों का चुनाव ग्राम पंचायत के सदस्यों द्वारा किया जाता है। गाँव के साधारण दीवानी तथा फ़ौजदारी मुक़दमों की सुनवाई इन अदालतों में होती है।

हमारे प्रान्त में सन् १९४७ ई० के पंचायत राज एक्ट के अनुसार सब गाँवों या ग्राम समूहों में ग्रामसभाएँ स्थापित की गई हैं जिनमें गाँव के २१ वर्ष से ऊपर के

सभी, स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते हैं। ग्राम सभा अपनी पंचायत का चुनाव करती है जो ग्राम पंचायत कहलाती है। इसके सदस्यों की संख्या गाँव की जनसंख्या के अनुपात से ३० से ५१ तक होती है। इन ग्राम-पंचायतों के कार्यक्षेत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) स्थानीय शासन के कार्य जिनमें सार्वजनिक सड़कों का निर्माण, रोशनी का प्रबन्ध, चिकित्सा, सफ़ाई, संक्रामक रोगों की रोक थाम आदि कार्य मुख्य हैं। (२) न्याय वितरण का कार्य जिसके लिये पंचायती अदालतों की स्थापना हुई है। साधारणतया तीन से लेकर पाँच गाँवों तक के क्षेत्र के लिये एक पंचायती अदालत स्थापित होती है। पंचायती अदालत के लिये उस क्षेत्र की ग्राम सभायें निर्धारित योग्यता वाले पंच चुनती हैं। इस प्रकार एक पंचायती अदालत के लिये २५ पंच चुने जाते हैं जो सरपंच का चुनाव करते हैं। सरपंच प्रत्येक मुक़दमें के लिये पंचों में से पाँच पंच की नियुक्ति करता है। इन पंचों में से कम से कम एक पंच ऐसा होता है जो लिख-पढ़ सकता हो, एक ग्राम सभा के ऐसे क्षेत्र का रहने वाला होता है जिसमें वादी रहता हो तथा एक ऐसे क्षेत्र का निवासी होता है जिसमें प्रतिवादी रहता हो।

पञ्चायती अदालतों को दीवानी, फ़ौजदारी तथा माल सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। इनके फसलों की अपील नहीं होती, परन्तु यदि किसी मामले में अन्याय किया गया हो तो उसकी निगरानी की जा सकती है। कोई वकील पञ्चायती अदालत में पैरवी नहीं कर सकता है। यदि नियत समय और तारीख़ पर वादी उपस्थित न हो तो दावा खारिज कर दिया जाता है। इसी प्रकार प्रतिवादी के अनुपस्थित होने पर एकतरफा डिगरी दी जा सकती है, किन्तु एक मास के भीतर उपयुक्त कारण दिखाने पर एक-तरफा डिगरी खारिज हो सकती है। पंचायती अदालत के अधिकार-क्षेत्र के मुक़दमें को दूसरी कोई अदालत नहीं कर सकती। अदालत को दीवानी के १००) रु० के मूल्य तक के मुक़दमे, जिनका सम्बन्ध चल-सम्पत्ति या मवेशियों द्वारा की गई क्षति पूर्ति से हो, करने का अधिकार है। किन्तु सरकार इस अधिकार को ५००) रु० तक बढ़ा सकती है। मवेशियों द्वारा की गई क्षति-पूर्ति के दावे की काल-अवधि क्षति होने की तिथि से ६ मास की दी गई है, और शेष दावों की काल-अवधि तीन वर्ष की है। जिन दावों का सम्बन्ध अचल सम्पत्ति से है वे इन अदालतों के क्षेत्र से बाहर हैं।

फ़ौजदारी के सम्बन्ध में पंचायती अदालत ऐसे मुक़दमें कर सकती है जैसे सार्वजनिक मार्ग पर लड़ाई, सम्मन तामील न करना या उसका उल्लंघन करना, अश्लील क्रिया या गीत, मारपीट, हमला, किसी को बन्द करने के प्रयत्न, बलात् बेगार लेना, ५० रु० से कम मूल्य की चोरी, भूमि या मकान में अनधिकार प्रवेश आदि।

माल के दुरुस्ती कागज़ों व दाखिल-ख़ारिज से सम्बन्ध रखने वाले उन मुक़-दमों को पंचायती अदालत के पास भेजा जायेगा जिनमें दोनों पक्षों में झगड़ा हो और जिनकी मालगुजारी २००) रु० वार्षिक से अधिक न हो।

पंचायती अदालत को क़ैद की सज़ा देने का अधिकार नहीं है। वह केवल जुर्माना कर सकती है और जुर्माने में अदालत वादी को खर्च तथा क्षतिपूर्ति दिला सकती है। यदि अदालत को यह विश्वास हो जाये कि दावा झूठा है तो वह अभि-युक्त को वादी से ५) रु० तक मुआविज़ा दिला सकती है। यदि अदालत के सरपंच को ऐसा विश्वास हो कि किसी व्यक्ति की ओर से शान्ति भंग की जाने की आशंका है तो जाँच करने के बाद पंचायत उस व्यक्ति से १००) रु० तक की जमानत व मुच-लका ले सकती है। पंचायती अदालत को १००) रु० से अधिक जुर्माना करने का अधिकार नहीं है।

जिला-न्यायाधीशों की नियुक्ति—जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा पदो-न्नति में अब भी उसी व्यवस्था का अनुसरण किया जाता है जो १९३५ के कानून के अन्तर्गत थी, अन्तर केवल इतना है कि अब राज्यपाल अपने मन्त्री तथा सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श से कार्य करता है। परन्तु उसके लिये उच्च न्यायालय की सिफारिश स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। जिला-न्यायाधीश नियुक्त होने के लिये ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में, जो पहले से ही गणराज्य अथवा राज्यों की सेवा में नहीं हैं, यह आवश्यक है कि वे कम से कम सात वर्ष तक अधिवक्ता या वकील रह चुके हों और उच्च न्यायालय ने उनकी नियुक्ति की सिफारिश की हो। राज्य की न्यायिक सेवा में जिला-न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य पदों पर नियुक्तियाँ राज्यपाल अथवा राजप्रमुख अपने बनाये हुये नियमों के अनुसार तथा राज्य के लोक-सेवा आयोग और उच्च न्यायालय के परामर्श से करेगा। जिला-न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उन्नति राज्यपाल के हाथ में होगी जो इस विषय में उच्च न्यायालय से परामर्श करेगा। परन्तु राज्य की न्यायिक सेवा के जिला-न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य अधि-कारियों की नियुक्ति तथा पदोन्नति पूर्णतया उच्च न्यायालय के अधीन होगी और इस विषय में केवल इतना प्रतिबन्ध होगा कि कोई भी व्यक्ति, कानून के अनुसार उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध पुनर्विचार की प्रार्थना कर सकेगा। जिला-न्यायालयों तथा अन्य अधीनस्थ न्यायालयों पर नियन्त्रण की शक्ति उच्च न्यायालय को प्राप्त है। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा आदेश कर सकता है कि अधीनस्थ न्यायालयों तथा न्यायिक सेवा से सम्बन्धित प्रावधान कतिपय श्रेणियों के मजिस्ट्रेटों के सम्बन्ध में भी लागू होंगे। यह व्यवस्था अधिशासन तथा न्यायमण्डल के पृथक्करण की सुविधा के लिये की गई है। आजकल जिला तथा अधीनस्थ मजिस्ट्रेटों पर नियन्त्रण का अधिकार राज्य की सरकार को प्राप्त होता है। उनकी नियुक्ति तथा

पदोन्नति में उच्च न्यायालय को कुछ कहने का अधिकार नहीं होता। अब अधीनस्थ दण्ड-न्यायालयों (subordinate criminal courts) का नियन्त्रण उच्च न्यायालय के हाथ में देना सम्भव हो सकेगा।

इकतीसवाँ अध्याय

भारत की वित्त-व्यवस्था

सन् १६१६ ई० से पूर्व की वित्त व्यवस्था—भारत की वर्तमान वित्त-व्यवस्था गत डेढ़ शताब्दियों के क्रमिक विकास का परिणाम है। बहुत समय तक करारोपण तथा व्यय के प्राधिकरण की शक्ति केवल केन्द्रीय शासन में ही निहित रही और प्रान्तीय सरकारों को धन के संचय तथा व्यय में, केन्द्रीय शासन का अभिकर्तामात्र (mere agents) समझा जाता था। सन् १८५८ के कानून के पश्चात् भी वित्त-व्यवस्था भारत-शासन के हाथों में ही केन्द्रीकृत रही और प्रान्तों का अपने द्वारा संगृहीत आगमों में भी कोई कानूनी अधिकार स्वीकार नहीं किया गया। कर (taxation) के साधन, उसकी राशि, उसके संग्रह की प्रणाली तथा व्यय (expenditure) का प्राधिकार, सभी विषयों में भारत-शासन का आदेश चलता था। प्रान्त छोटी या बड़ी ऐसी कोई सुधार-योजना कार्यान्वित नहीं कर सकते थे जिसमें धन की आवश्यकता पड़ती हो। उदाहरणार्थ, यदि दो स्थानीय बाज़ारों के बीच एक सड़क बनाने में २० पौण्ड व्यय करना हो, अथवा किसी गिरे हुये घुड़साल की मरम्मत करानी हो, अथवा १० शिलिङ्ग प्रति मास पर एक नौकर रखना हो, तो भारत-शासन से आदेश लेना आवश्यक था। माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट के अनुसार इस प्रणाली में निम्नलिखित दोष थे (१) वास्तविक वित्तीय नियन्त्रण का अभाव था, क्योंकि इतने विशाल देश में किसी भी केन्द्रीय शासन को स्थानीय दशाओं का पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है। (२) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासकों के बीच बहुधा खींचा-तानी चला करती थी, क्योंकि केन्द्रीय शासन प्रशासम सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों में भी हस्तक्षेप करता था। (३) सार्वजनिक आय का विभाजन भी एक ऐसी खींचातानी बन गया था जिसमें जो पक्ष जितना अधिक कलहशील होता था उतने ही लाभ में रहता था। (४) स्थानीय मितव्ययिता से स्थानीय लाभ की कोई सम्भावना न होने के कारण स्थानीय अधिकारीगण धम का अपव्यय करते थे। (५) सार्वजनिक आगमों (public revenues) की वृद्धि के लिये किसी प्रकार का प्रोत्साहन न था।

थोड़े ही काल में उपर्युक्त वित्तीय केन्द्रीकरण की प्रणाली के दोष स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे और लार्ड मेयो के वित्त सम्बन्धी प्रस्ताव (१८७०) के साथ विकेन्द्रीकरण का प्रारम्भ हुआ। इस प्रस्ताव के अनुसार आगमों तथा व्यय के कतिपय पद (items) प्रान्तों के नियन्त्रण में दे दिये गये और प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार की ओर से एक निश्चित वार्षिक अनुदान दिये जाने की

व्यवस्था की गई। प्रान्तों को हस्तान्तरित पद निम्नलिखित थे :—कारागार; पञ्जीयन (registration) पुलिस ;शिक्षा भैषजिक सेवा (medical service); मुद्रण ; सड़कें; तथा विविध सार्वजनिक सुधार-योजनायें। प्रान्तीय सरकारें, गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति से प्रान्तीय करारोपण द्वारा अपनी आय की वृद्धि कर सकते थे। व्यय के सम्बन्ध में २५०) रुपये प्रति मास से अधिक वेतन वाले नये पदों के निर्माण के लिये केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। परन्तु इस प्रणाली के अन्तर्गत भी प्रान्तों को आय के यथेष्ट साधन नहीं प्राप्त हो सके। शासन-विभागों का व्यय बढ़ रहा था, परन्तु आय की वृद्धि की कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव लार्ड लिटन के शासन ने बड़े साहस तथा दूरदर्शिता का प्रदर्शन करते हुये भू-आगम (land-revenue), उत्पादन कर (excise), मुद्रांक (stamps), सामान्य प्रशासन (general administration), लेखन सामग्री (stationery), कानून तथा न्याय के कतिपय नये व्यय-पद प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिये। और इन नये उत्तरदायित्वों के पालन के लिये उनके स्थायी अनुदानों (permanent grants) में वृद्धि करने के स्थान पर उत्पादन-कर, स्टाम्प, कानून, न्याय तथा भूसम्पत्ति से प्राप्त होने वाले करों की आय में प्रान्तों का भाग निश्चित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गई कि आगणित आय (estimated income) से अधिक प्राप्ति होने पर बढ़ी हुई आय का आधा भाग भारत-सरकार लेगी और कमी पड़ने पर उसी अनुपात में उसे पूरा भी करेगी। लार्ड रिपन ने सन् १८८२ ई० में इस व्यवस्था का संशोधन किया जिसके परिणामस्वरूप निश्चित अनुदान देने की प्रणाली का अन्त कर दिया गया और प्रान्तीय सरकारों को कुछ और आगम-साधन दे दिये गये और कुछ में उनका भाग निश्चित कर दिया गया। अब आगम-साधन केन्द्रीय (Imperial), प्रान्तीय (Provincial) और विभाज्य (Divided) विभागों में बाँट दिये गये। यह विभाजन सन् १६१६ ई० तक चलता रहा। प्रान्तों को वे ही आगम-साधन हस्तान्तरित किये गये थे जिनका विकास स्थानीय सरकारें अधिक सुचारु रूप से कर सकती थीं, उदाहरणार्थ वन-सम्पत्ति, उत्पादन कर, लाइसेंस कर (आजकल का आय-कर), स्टाम्प, पञ्जीयन (registration), सार्वजनिक निर्माण (public works), शिक्षा, इत्यादि। आय का सबसे बड़ा साधन, भू-राजस्व (land-revenue) विभाज्य-सूची में रक्खा गया था। इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह था कि अब प्रान्तीय हितों का प्रान्तीय आगामों के अतिरिक्त प्रान्तों में संग्रह किये जाने वाले अधिक महत्वपूर्ण केन्द्रीय आगम-साधनों के साथ भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो गया। लार्ड रिपन ने पञ्चवर्षीय निर्णयों (quinquennial settlements) की प्रणाली भी प्रारम्भ की जिसका १८८७, १८६२ तथा १८६७ में पुनरीक्षण (revision) किया गया।

इन पञ्चवर्षीय निर्णयों का सबसे बड़ा दोष यह था कि आर्थिक सङ्कट से विवश होकर भारत सरकार प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद प्रान्तों की संग्रहीत राशि को ले लेती थी। और इस प्रकार प्रान्तों के लिये मितव्ययिता की कोई प्रेरणा नहीं रह जाती थी। इस सम्बन्ध में बङ्गाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर अलेक्जेण्डर मैकेञ्जी ने कहा था: "पञ्चवर्षीय निर्णयों का सामान्य इतिहास इस प्रकार है—दो वर्ष तक तङ्गी और सञ्चय के, दो वर्ष पुनर्प्राप्त सामान्य शक्ति के, और एक वर्ष संग्रहीत राशि के अपव्यय का, इस भय से कि यदि कुछ भी शेष रहा तो केन्द्रीय शासन पुनरीक्षण के समय हड़प लेगा[1]।" अतएव सन् १६०४ ई० में लार्ड कर्ज़न ने अर्धस्थायी निर्णय (quasi-permanent settlement) की प्रणाली आरम्भ की जिसके अन्तर्गत पञ्चवर्षीय पुनरीक्षण अनावश्यक हो गया। अब प्रान्तों को सौंपे गये आगम प्राय: स्थायी रूप से निश्चित कर दिये गये और केवल अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर ही परिवर्तित किये जा सकते थे। अत: प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार की वित्त सम्बन्धी नीति के स्थायित्व में विश्वास रख कर अपनी मितव्ययिता से स्वयं लाभ उठा सकती थी। सन् १६१२ ई० में लार्ड हार्डिज ने कुछ फेर-बदल के पश्चात् अर्धस्थायी निर्णय (quasi-permanent settlement) को स्थायी बना दिया। परन्तु देश की वित्तीय-क्षमता (solvency) का उत्तरदायित्व अब भी केन्द्रीय सरकार पर ही था। अतएव प्रान्तों पर केन्द्र का विस्तृत नियन्त्रण था और प्रान्तों की करारोपण की शक्ति बहुत सीमित थी। "विभाज्य पदों" (Divided Heads) के अस्तित्व के कारण केन्द्रीय सरकार स्वच्छन्दतापूर्वक प्रान्तीय वित्त व्यवस्था में हस्तक्षेप कर सकती थी।

सन् १६१६ ई० के सुधार-कानून के अन्तर्गत वित्त-व्यवस्था—माण्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड रिपोर्ट में विस्तृत परिवर्तनों का प्रस्ताव किया गया। इसका उद्देश्य प्रान्तीय तथा केन्द्रीय आगम-साधनों का पूर्ण पृथक्करण था और इसका अर्थ था "विभाज्य पदों" का अन्त। विभाजन के नये सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से दो विभिन्न सूचियों का निर्माण इस प्रकार से किया गया कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच संघर्ष की कम से कम सम्भावना रह जाये। कोई विषय प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, इसका अन्तिम निर्णय गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के हाथों में था। निराक्रम्य कर (customs), अशोषविक वस्तुओं (जिनमें नमक भी सम्मिलत था) पर उत्पादन-कर (non-alcoholic excise) सामान्य-

---

1 "The normal history of a quinquennial contract is this: two years of screwing and saving, two years of resumed energy on a normal scale and one year of dissipation of balances in the fear that, if not spent, they will be annexed by the Supreme Government at the time of revision."—*Alexander Mackenzie.*

मुद्रांक (general stamps), आयकर (Income Tax), रेल, तार, डाक, चलार्थ (currency) और मुद्रा-निर्माण (coinage) इत्यादि की आय केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई। दूसरी ओर भू-आगम (land revenue), सिंचाई (irrigation), सौषविक पदार्थों पर उत्पादन कर (alcoholic excise), बन तथा खनिज, न्याय-शुल्क मुद्रांक (Court fee stamps), पञ्जीयन-शुल्क (registration fees) तथा अन्य गौण आगम-साधन प्रान्तों को हस्तान्तरित किये गये। अनुमान किया गया था कि इस व्यवस्था में केन्द्रीय बजट सदा घाटा प्रदर्शित करेगा और प्रान्तीय बजट सदा लाभ। अतएव प्रस्ताव किया गया कि प्रान्तीय सरकारें अपनी बचत में से कुछ भाग केन्द्रीय सरकार को देकर उसके घाटे की पूर्ति करें। संयुक्त प्रान्त तथा मद्रास ने प्रान्तों के द्वारा अंशदान (provincial contributions) की इस योजना का विरोध किया क्योंकि भारत के समस्त प्रान्तों के अंशदान का आधे से अधिक भाग इन्हीं दोनों प्रान्तों के भाग में पड़ा था। दूसरी ओर बम्बई तथा बङ्गाल कह रहे थे कि आय-कर में से कुछ भाग उनको मिलना चाहिये। इन दोनों प्रश्नों का समाधान करने के लिये मेस्टन कमेटी (Meston Committee) की नियुक्ति की गई। इसने सिफारिश की कि आय-कर का विभाजन न करके सामान्य-मुद्रांक (general stamps) का एक और आगम-साधन प्रान्तों को दे दिया जाना चाहिये। जहाँ तक अंशदान का सम्बन्ध था, कमेटी ने प्रत्येक प्रान्त का अंश निश्चित कर दिया। उसने अनुमान लगाया कि केन्द्रीय सरकार को प्रति वर्ष लगभग १० करोड़ रुपये का घाटा हुआ करेगा। अतएव उसने प्रान्तों की सामर्थ्य के अनुसार इस राशि को उनमें विभाजित कर दिया और दो अनुसूचियों की सिफारिश की। पहली अनुसूची में सात वर्ष के संक्रान्तिकाल (transitional period) के लिये प्रावधान करते हुये प्रत्येक वर्ष अलग-अलग प्रान्तों में संग्रह की जाने वाली प्रस्तावित राशियों का उल्लेख किया गया था। सात वर्ष की यह अवधि प्रान्तीय परिस्थितियों की विषमता को दूर करने तथा उसमें समता उत्पन्न करने के लिये आवश्यक समझी गई थी। दूसरी अनुसूची में वह स्थायी अनुपात दिया गया था जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त को केन्द्रीय शासन का घाटा पूरा करने के लिये अंशदान देना था। मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, संयुक्त प्रान्त तथा पञ्जाब को अपने नये आगमों का ६०% अंशदान में देना था और शेष घाटा पूरा करने का उत्तरदायित्व बरमा, मध्य प्रान्त तथा आसाम पर छोड़ा गया था, परन्तु इनके लिये कोई पूर्व-निश्चित अनुपात नहीं था। पार्लियामेण्ट की संयुक्त सेलेक्ट कमेटी (Joint Select Committee) ने इन सब सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। आय-कर में प्रान्तों का भाग एक रुपये में एक पैसा निश्चित किया गया, परन्तु इसके साथ एक शर्त यह लगा दी गई कि निर्धारित आय सन् १९२०-२१ के स्तर से अधिक हो, और

यह शर्त कभी पूरी ही नहीं हुई। इस मेस्टन परिनिर्णय (Meston Award) के परिणामस्वरूप प्रान्तीय सरकारों का धनाभाव स्थायी हो गया। अंशदान का भार वास्तव में अत्यधिक दुर्वह था और सन् १९२८ में उसका अन्त कर दिया गया।

सन् १९३५ ई० के संविधान के अन्तर्गत वित्त-व्यवस्था—पहले गोलमेज़ सम्मेलन में एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का निश्चय किया गया और इसके साथ-साथ संघीय सरकार तथा प्रान्तों और देशी राज्यों के बीच वित्तीय समझौते का प्रश्न फिर नये सिरे से उठा। दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन की पील कमेटी (Peel Committee) ने संघीय वित्त-व्यवस्था के पूरे प्रश्न पर विचार किया। इस कमेटी की सिफ़ारिशों के आधार पर सन् १९१३ ई० के श्वेत-पत्र (White Paper) में एक विस्तृत योजना की रूपरेखा बनाई गई जिसे संयुक्त पार्लियामेण्टरी कमेटी के कुछ संशोधनों के पश्चात् सन् १९३५ ई० के भारत शासन कानून में सम्मिलित कर लिया गया। इस कानून में आगम-साधन संघीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच विभाजित कर दिये गये और अवशिष्ट साधन (residuary sources) गवर्नर जनरल के अधीन छोड़ दिये गये।

संघीय सरकार द्वारा आरोपित एवं संग्रहीत कर निम्नलिखित थे:—निराक्रम्य कर (customs duties), मदिरा, अफीम तथा अन्य प्रमीलक भेषजों (narcotic drugs) के अतिरिक्त भारत में बनी सभी प्रकार की वस्तुओं पर उत्पादन कर, निगम कर (corporation tax), नमक कर, कृषि आय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आयों पर कर, पूंजी पर कर, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी शुल्क, विनिमय पत्रों (bills of exchange), धनादेशों (cheques), प्रतिज्ञा-पत्रों (promissory notes) तथा बीमा से सम्बन्धित मुद्रांक, रेल अथवा विमान द्वारा ले जाई जाने वाली वस्तुओं अथवा यात्रियों पर सीमा कर (terminal taxes) और रेल के भाड़ों तथा ढुलाई-भाड़ों पर कर।

प्रान्तीय सरकार के प्रमुख आय-साधन निम्नलिखित थे :—भू-आगम (land-revenue), सौषविक पदार्थों पर उत्पादन कर (excise duty on intoxicants), भूमि तथा इमारतों पर कर, कृषि-भूमि के उत्तराधिकार से सम्बन्धित कर, सिंचाई कर, पंजीयन शुल्क (registration fee), न्यायालय-मुद्रांक (court-fee stamps), वन, विज्ञापन, आमोद-प्रमोद तथा जुआ पर कर, सवारियों पर कर (taxes on vehicles), बिजली के उपभोग पर कर और स्थानीय संस्थाओं द्वारा आरोपित सभी कर। इसके अतिरिक्त संघीय सरकार द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत कतिपय करों में भी प्रान्तों का सम्पूर्ण अथवा आंशिक भाग होता था। सुधार-कानून की १३७ वीं धारा में प्रावधान किया गया था कि संघ उत्तराधिकार कर (succession duties), मुद्रांक कर (stamp duties), वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर सीमा

कर (terminal taxes) और रेल के भाड़ों तथा ढुलाई भाड़ों पर कर आरोपित तथा संग्रह करेगा, परन्तु इस प्रकार संग्रहीत सम्पूर्ण राशि, उस अंश को छोड़कर जो केन्द्राधिशासित क्षेत्रों से प्राप्त हुआ हो, संघीय विधानमण्डल के कानून द्वारा निर्धारित अनुपात में प्रान्तों में बाँट दी जायेगी। सुधार-कानून की १४० वीं धारा में यह भी कहा गया था कि संघीय विधानमण्डल के कानून द्वारा नमक कर, उत्पादन कर, तथा निर्यात कर (export duties) की आय भी, पूर्णतः अथवा अंशतः प्रान्तों को दी जा सकती है। परन्तु पटसन से प्राप्त निर्यात कर का कम से कम आधा भाग उन्हीं प्रान्तों अथवा राज्यों को दिया जायेगा जिनमें वह पटसन (jute) उत्पन्न किया गया हो। १९३५ के कानून की १३८ वीं धारा में प्रावधान किया गया था कि आय कर के उस भाग के अतिरिक्त जो केन्द्राधिशासित क्षेत्रों से प्राप्त हुआ हो, शेष का एक निश्चित प्रतिशत प्रान्तों को दिया जायेगा। और १४२ वीं धारा में कुछ कम आय वाले तथा नये प्रान्तों को सहायता (subventions) दिये जाने का प्रावधान किया गया था।

नीमियर परिनिर्णय (Niemeyer Award)—१९३५ के क़ानून की उपरोक्त १३८ वीं, १४० वीं तथा १४२ वीं धाराओं के विषय में विस्तृत सिफारिशें करने के लिये सरकार ने सन् १९३६ ई० में एक कमेटी नियुक्त की जिसके अध्यक्ष सर ओटो नीमियर (Sir Otto Niemeyer) थे। इस कमेटी ने, निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) आयकर का ५०% प्रान्तों को बाँट दिया जाय। विभाजन के लिये कमेटी ने निम्नलिखित अनुपात निर्धारित किया : बम्बई और बंगाल—२० प्रतिशत; मद्रास और संयुक्त प्रान्त—१५ प्रतिशत; बिहार—१० प्रतिशत; पंजाब—८ प्रतिशत; मध्य-प्रान्त तथा बरार—५ प्रतिशत; आसाम, उड़ीसा तथा सिन्ध—२ प्रतिशत और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश—१ प्रतिशत। परन्तु यह व्यवस्था प्रान्तीय स्वराज्य के प्रारम्भ होने के दस वर्ष पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकती थी।

(२) पटसन निर्यात कर (jute export duty) द्वारा प्राप्त विशुद्ध आय (net proceeds) का ६२½ प्रतिशत पटसन उत्पन्न करने वाले प्रान्तों को दिया जायेगा। इस सिफ़ारिश के परिणामस्वरूप पहले ही वर्ष बङ्गाल, बिहार, आसाम तथा उड़ीसा के प्रान्तों में ४७ लाख रुपये बाँटे गये।

(३) प्रान्तों को निम्नलिखित सहायता (subventions) दी जाने की सिफारिश की गई:—संयुक्त प्रान्त को ५ वर्ष तक २५ लाख रुपया; आसाम को ३० लाख रु० वार्षिक; उड़ीसा को पहले वर्ष ४७ लाख, अगले ४ वर्षों तक ४३ लाख और तत्पश्चात् ४० लाख रुपया वार्षिक; पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त को १०० लाख तथा सिन्ध को १० वर्ष तक १०५ लाख और पहले वर्ष ११० लाख रुपया।

(४) बङ्गाल, बिहार, आसाम तथा उड़ीसा के ऊपर १ अप्रैल सन् १६३६ ई० से पूर्व के केन्द्रीय सरकार के ऋण का अन्त कर दिया गया। इस तिथि के पूर्व के मध्यप्रान्त द्वारा आगमों के घाटे के कारण एकत्रित ऋण भी समाप्त कर दिये गये।

जहाँ तक देशी राज्यों का सम्बन्ध था निगम-कर (corporation tax) के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष संघीय कर उनमें आरोपित नहीं किया जा सकता था और निगम-कर भी संघ-व्यवस्था के स्थापित होने के दस वर्ष बाद ही आरोपित किया जा सकता था। सन् १६३५ ई० के कानून में इस आशय का प्रावधान भी था कि जो देशी राज्य संघ में सम्मिलित हो जायें उनके नज़राने (tributes) की रक़म धीरे-धीरे समाप्त कर दी जाये।

नये संविधान के अन्तर्गत वित्त-व्यवस्था—नये संविधान में संघ-सरकार तथा राज्यों के बीच आगम-विभाजन की लगभग वही योजना स्वीकार की गई है जिसकी रूपरेखा सन् १६३५ ई० के कानून तथा नीमियर परिनिर्णय (Niemeyer Award) में निहित थी। संविधान में केन्द्र तथा भाग १ और २ के राज्यों के बीच आगम-साधनों के विभाजन की निम्नलिखित प्रणाली निर्धारित की गई है :—

आगम-साधनों (Sources of Revenue) की संघ तथा राज्य सूचियाँ—

(१) निम्नलिखित कर केवल संघीय सरकार द्वारा ही आरोपित किये जा सकते हैं—कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर; निराक्रम्य कर (customs duties); तम्बाकू, शक्कर, कपास, पटसन, मिट्टी का तेल तथा सौषविक पेयों (alcoholic liquors) और मादक पदार्थों के अतिरिक्त भारत में बनी हुई अन्य सभी वस्तुओं पर उत्पादन कर; निगम कर (corporation tax); कृषि भूमि के अतिरिक्त पूंजी पर कर, कृषि भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी शुल्क; वस्तुओं तथा यात्रियों पर सीमा कर (terminal tax); विनिमयपत्रों (bills of exchange), धनादेशों (cheques), प्रतिज्ञापत्रों (promissory notes) इत्यादि पर मुद्रांक शुल्क (stamp duty); समाचारपत्रों तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर; और न्यायालयों में लिये जाने वाले शुल्कों के अतिरिक्त संघ-सूची के विषयों पर शुल्क।

(२) निम्नलिखित कर केवल राज्य सरकारों द्वारा ही आरोपित किये जा सकते हैं—भू-आगम (land revenue); कृषि भूमि के सम्बन्ध में उत्तराधिकार तथा भू-सम्पत्ति शुल्क; सौषविक पेयों (alcoholic liquors), तथा अन्य मादक पदार्थों पर कर; भूमि तथा इमारतों पर कर; खानिज-अधिकारों (mineral rights) पर कर; समाचारपत्रों के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं पर विक्रय कर; चुङ्गी; बिजली के उपयोग अथवा विक्रय पर कर; प्रति-व्यक्ति कर (capitation tax); पशुओं तथा वाहनों पर कर; अन्तर्देशीय जलमार्गों से ले जाये जाने वाले यात्रियों तथा

वस्तुओं पर कर; व्यवसायों तथा उद्योगों पर कर; संघ-सूची में उल्लिखित प्रलेखों (documents) के अतिरिक्त अन्य प्रलेखों पर मुद्रांक बलि (stamp duties); विलास की वस्तुओं (luxuries), आमोद-प्रमोद के साधनों (entertainments) तथा जुआ पर कर; और राज्य-सूची के किसी विषय से सम्बन्धित शुल्क।

(३) समवर्ती आगम साधन के अन्तर्गत, उनके अतिरिक्त जो न्यायिक मुद्रांकों (judicial stamps) के द्वारा एकत्रित हुए हों, अन्य मुद्रांक कर (stamp duties) आते हैं। परन्तु इस अपवाद में समवर्ती-सूची के किसी विषय के सम्बन्ध में प्राप्त मुद्रांक करों तथा शुल्कों की दरें सम्मिलित नहीं हैं।

संघ तथा राज्यों के बीच आगम-विभाजन—यह ध्यान देने की बात है कि संघ-सूची के करों से तो यथेष्ट तथा स्थायी आय की सम्भावना है, परन्तु राज्य-सूची के करों की स्थिति ऐसी आशाप्रद नहीं है। भू-आगम, मुद्रांक-करों तथा विक्रय-करों की आय एक-सी ही रहती है, परन्तु राज्य-सरकारों की मद्य-निषेधक नीति के कारण सोषविक पेयों (alcoholic liquors) तथा अन्य मादक पदार्थों पर उत्पादन कर (excise duty) की स्थिति डावाँडोल है। दूसरी ओर राज्यों का शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रम-कल्याण, शरणार्थियों की सहायता एवं पुनर्वास इत्यादि की योजनाओं पर उत्तरोत्तर अधिक व्यय आवश्यक हो रहा है। ज़मींदारी-उन्मूलन के साथ-साथ कृषि-आय कर तथा कृषि-भूमि से सम्बन्धित उत्तराधिकार तथा भू-सम्पत्तिकरों का भी अन्त हो जायेगा। राज्यों की सरकारें कृषकों को पहले ही से वचन दे चुकी हैं, अतएव भू-आगम बढ़ाया नहीं जा सकता है। अत: राज्यों के बजट सम्बन्धी सन्तुलन पर भारी दबाव पड़ना अवश्यम्भावी है। राज्यों को अधिक आगम की आवश्यकता है; अतएव संविधान में प्रावधान किया गया है कि कतिपय कर संघ द्वारा आरोपित अथवा आरोपित और संग्रहीत होकर भी पूर्णत: अथवा अंशत: राज्यों को दिये जायेंगे।

(१) निम्नलिखित कर संघ द्वारा आरोपित, परन्तु राज्यों द्वारा संगृहीत तथा पूर्णत: नियोजित (appropriated) होंगे—(क) विनिमय-पत्रों (bills of exchange), धनादेशों (cheques), प्रतिज्ञापत्रों (promissory notes), वहनपत्रों (bills of lading), प्रत्ययपत्रों (letters of credit) बीमा (policies of insurance), अंशों के हस्तांतरण (transfer of shares), ऋणपत्रों (debentures), प्रति पुरुष पत्रों (proxies), और रसीदों (receipts) से सम्बन्धित मुद्रांक कर (stamp duties)। (ख) भैषजिक एवं शृङ्गार सम्बन्धी ऐसी वस्तुओं पर उत्पादन कर जिनमें कोई सोषविक पदार्थ तथा अफ़ीम, गाँजा अथवा कोई और मादक पदार्थ मिले हों।

(२) निम्नलिखित कर संघ द्वारा लगाये तथा वसूल किये जायेंगे। परन्तु

इन करों से प्राप्त आय उन राज्यों में बाँट दी जायेगी जिनमें वे कर वसूल किये गये हों। इस बँटवारे के सम्बन्ध में संसद् कानून बनावेगी :—

(क) कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी शुल्क;

(ख) कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति विषयक सम्पत्ति-शुल्क;

(ग) स्टाक ऐक्सचेंज (stock exchange) और वादा बाज़ारों के सौदों पर मुद्रांक-करों (stamp duties) के अतिरिक्त अन्य कर;

(घ) समाचारपत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर;

(ङ) रेल, समुद्र अथवा वायु मार्ग द्वारा ले जाई जाने वाली वस्तुओं एवं यात्रियों पर सीमा कर; (terminal tax) और

(च) रेल भाड़ों पर कर।

(३) कुछ कर ऐसे हैं जो सघ द्वारा लगाये तथा वसूल किये जायँगे, किन्तु उनकी आय संघ तथा राज्यों के बीच विभाजित होगी। इस प्रावधान के अन्तर्गत कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर संघ सरकार लगायेगी और वसूल करेगी, परन्तु उससे होने वाली आमदनी को राष्ट्रपति निश्चित विधि द्वारा राज्यों और संघों के बीच वितरण करेगा। संविधान में आय-कर के विभाजन की प्रणाली निर्धारित करते हुये कहा गया है कि आय-कर के केवल शुद्ध आगम (net proceeds) का ही वितरण होगा, अर्थात् इस कर की वसूली में जो व्यय होगा वह इसमें से पहले ही काट लिया जावेगा। इस शुद्ध आगम में से वह भाग भी निकाल लिया जावेगा जो अनुसूची के भाग ३ के राज्यों को दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त संघ सरकार द्वारा अपने कर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतन तथा पेंशन आदि का भाग भी निकाल लिया जावेगा। इसके पश्चात् जो राशि बचेगी उसमें से राष्ट्रपति के आदेशानुसार राज्यों को भाग मिलेगा। वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशों के पश्चात् राष्ट्रपति उनको ध्यान में रखते हुये आय-कर के वितरण के लिये आदेश देगा। राज्य क्षेत्रों में संगृहीत तम्बाकू, कपड़े आदि केन्द्रीय उत्पादनों करों (excise duties) का शुद्ध आगम भी संघ तथा राज्यों के बीच विभाजित किया जा सकता है। किसी कर विशेष का शुद्ध-आगम क्या और कितना है, इसका निर्णय भारत का महाकेंक्षक (Auditor-General) किया करेगा। आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बङ्गाल को, दस वर्ष अथवा इससे कम समय तक, पटसन अथवा पटसन की बनी वस्तुओं पर लगाये गये निर्यात कर से प्राप्त आय का कुछ भाग दिया जायेगा।

भारतीय संविधान के उपरोक्त वित्त सम्बन्धी प्रावधान देखने में सन् १९३५ ई० के कानून के प्रावधानों के समान ही प्रतीत होते हैं। परन्तु नये संविधान में कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके कारण इन प्रावधानों का महत्त्व बढ़ जाता है। हमारे संविधान

का उद्देश्य सर्वसाधारण के लिये जीविका के यथेष्ट साधनों की, श्रमिकों के लिये कम से कम पारिश्रमिक की, समस्त नागरिकों के लिये शिक्षा के कम से कम स्तर की तथा समाज के लिये अन्य सेवाओं के विस्तार की प्रत्याभूति करना है। इन निदेशक सिद्धान्तों के पालन के लिये एक ऐसी आर्थिक नीति आवश्यक हो जाती है जिसमें अनेक सामाजिक सेवाओं के लिये आवश्यक धन की प्राप्ति धनिक वर्गों पर अधिकाधिक कर आरोपित करके की जाय। संविधान ने, इसी उद्देश्य से, केन्द्रीय तथा राज्यों के विधानमण्डलों को सार्वजनिक धन के नियन्त्रण की पहले से कहीं अधिक शक्तियाँ दी हैं। पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष का बजट पहली अप्रैल के पूर्व ही स्वीकृत हो जाना आवश्यक था। परन्तु अब यह प्रतिबन्ध उठा लिया गया है और विधानमण्डल इच्छानुसार बजट पर विस्तृत विवाद कर सकते हैं। अप्रत्याशित (unforeseen) तथा अनिवार्य व्यय, विधानमण्डल की स्वीकृति के पूर्व ही, आकस्मिक निधि (Contingency Fund) से किया जा सकता है। एक और अन्तर यह है कि सन् १६३५ ई० के कानून के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों द्वारा संचालित उद्योगों तथा व्यापारों पर केन्द्रीय सरकार कोई कर नहीं आरोपित कर सकती थी; परन्तु नये संविधान के २८६ वें अनुच्छेद के अनुसार संघ सरकार इस प्रकार के कार्यों पर कर आरोपित कर सकती है। परन्तु संघ अथवा राज्यों की कोई सम्पत्ति अथवा आय उनके द्वारा आरोपित समस्त करों से मुक्त होती है। १६३५ के कानून के अन्तर्गत प्रान्तों द्वारा विक्रय-कर के आरोपण तथा संग्रहण में कतिपय दोषों का अनुभव किया गया था, अतएव नये संविधान में इनको दूर करने का प्रयत्न किया गया है। नये संविधान में अन्तर्राज्य व्यापार एक संघ-विषय है जिसका अर्थ यह हुआ कि अब राज्यों को निर्यात वस्तुओं (exports) पर विक्रय-कर आरोपित करने का अधिकार नहीं रह गया है। कोई राज्य अपने राज्यक्षेत्र में भारत सरकार अथवा किसी रेलवे द्वारा, अपने उपभोग के लिये बेंची अथवा खरीदी गई बिजली पर, और किसी नदी-घाटी-प्राधिकारी-मण्डल (river-valley authority) द्वारा खरीदे गये जल अथवा बिजली पर, कोई कर नहीं आरोपित कर सकता है।

सहायक अनुदान—संविधान के २७५वें अनुच्छेद में संसद् को विधि द्वारा भारत-आगमों से, उन राज्यों को सहायक अनुदान देने का अधिकार दिया गया है जिन्हें विशेष सहायता की आवश्यकता हो। आर्थिक सहायता के लिये अनुदान देने की सामान्य शक्ति संसद् को सौंप दी गई है; परन्तु दो विषयों में परिभाषित अनुदानों का प्रावधान स्वयं संविधान में किया गया है। (१) यदि कोई राज्य अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिये अथवा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन-स्तर को ऊँचा करने के उद्देश्य से भारत सरकार के अनुमोदन के पश्चात् कोई विकास-योजना को कार्यान्वित कर रहे हों, तो उन्हें विशेष अनुदान दिया जाये।

(२) आसाम को अपने राज्य-क्षेत्र में स्थित जनजातीय क्षेत्रों के विकास तथा उनके प्रशासन-स्तर को ऊँचा करने के लिये जो व्यय हो, वह अनुदान रूप में दिया जाये। इस विषय में संसद् कानून बनायेगी और जब तक कानून नहीं बनता है, यह अनुदान राष्ट्रपति के आदेश से दिया जायेगा। वित्त आयोग की सिफारिशों के पश्चात् यह अनुदान उनके अनुसार दिये जायँगे।

वित्त-आयोग—इस आयोग का काम राष्ट्रपति को वित्त सम्बन्धी मामलों पर परामर्श देना है। वित्त-आयोग की स्थापना हो चुकी है और इसमें सभापति के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य हैं। इसका कर्तव्य निम्नलिखित विषयों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना है:—(क) संघ तथा राज्यों के बीच आय-करों के विभाजन के अनुपात का निश्चय; (ख) उन सिद्धान्तों का निश्चय जिनके अनुसार भारत आगमों में से राज्यों को सहायक अनुदान दिये जायें; (ग) प्रथम अनुसूची के भाग दो में उल्लिखित राज्यों के साथ किये गये वित्त-सम्बन्धी समझौतों का चालू रखना अथवा उनमें परिवर्तन; और (घ) संसद् द्वारा आयोग को सौंपा हुआ कोई अन्य विषय।

इस प्रकार के वित्त-आयोगों की स्थापना प्रति पाँच वर्ष की समाप्ति पर, और यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो इस अवधि से पूर्व भी, की जायेगी। इसका अर्थ यह है कि अब संघ तथा राज्यों की परिवर्तनशील आवश्यकताओं पर, समय-समय पर, विचार होता रहेगा और आगम-साधनों का विभाजन इतना उपयोजनशील हो गया है कि समय के आघात उसे अव्यवस्थित नहीं कर पायेंगे। राष्ट्रपति को वित्त-आयोग द्वारा की गई सिफारिशों तथा उन पर की गई कार्यवाही के विवरण को संसद् के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है।

देशमुख परिनिर्णय—वित्त आयोग के स्थापित होने तथा उसकी सिफारिशें प्राप्त होने के पूर्व संघ तथा राज्यों के बीच आयकर से प्राप्त आमदनी के विभाजन का कार्य वर्तमान वित्त-मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख को सौंपा गया। श्री देशमुख का निर्णय १ अप्रैल सन् १९५० से लागू है और यह सर ओटो नीमियर के परिनिर्णय पर आधारित है। श्री देशमुख ने पंजाब, बंगाल तथा आसाम के विभाजन से उत्पन्न हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने निर्णय में कुछ परिवर्तन अवश्य कर दिये हैं। इस निर्णय के अनुसार यह निश्चय किया गया है कि आयकर के शुद्ध आगम (net proceeds) का चालीस प्रतिशत संघ द्वारा नियोजित हो और शेष ६० प्रतिशत विभिन्न राज्यों में बाँट दिया जाये। राज्यों का भाग निम्नलिखित अनुपात में विभाजित किया गया है:—मद्रास—१७.५ प्रतिशत; बम्बई—२१ प्रतिशत; पश्चिमी बंगाल—१३.५ प्रतिशत; उत्तर प्रदेश—१८ प्रतिशत; बिहार १२.५ प्रतिशत; पंजाब—५.५ प्रतिशत; मध्य प्रदेश—६ प्रतिशत; आसाम—३ प्रतिशत; और उड़ीसा ३ प्रतिशत।

अधिकतर राज्य इस परिनिर्णय से संतुष्ट नहीं हैं। या तो उनका आयकर से सम्बन्धित अंशदान उनको दिए गए भाग से अधिक है, या संघ द्वारा दी गई इस सहायता से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है।

श्री देशमुख से चार पटसन उत्पन्न करने वाले राज्यों को पटसन के निर्यात-शुल्क के बदले में दिये जाने वाले अनुदानों का निश्चय करने के लिये भी कहा गया था। उन्होंने इस विषय में निम्नलिखित अनुदान निश्चित किये:—

पश्चिमी बंगाल	१०५ लाख रुपया वार्षिक।
आसाम	४० लाख रुपया वार्षिक।
बिहार	३५ लाख रुपया वार्षिक।
उड़ीसा	५ लाख रुपया वार्षिक।

देशमुख परिनिर्णय का भाग २ के राज्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन राज्यों तथा संघ के वित्तीय-सम्बन्धों का आनियमन राज्यों के एकीकरण अथवा विलयन के समय किये गये समझौतों के अनुसार होता है।

भाग २ के राज्यों का वित्तीय एकीकरण—सन् १६३५ के भारत सरकार कानून के अन्तर्गत देशी राज्यों को यथेष्ठ आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और संघ-शासन की उन पर करारोपण की शक्तियाँ अत्यधिक सीमित तथा विभिन्न राज्यों के लिये विभिन्न थीं। परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता के साथ देशी राज्यों का अस्तित्व भी समाप्त-प्राय हो गया और भूतपूर्व देशी राज्यों के प्रादेशिक एकीकरण के साथ-साथ उनके प्रजातन्त्रीकरण और वित्तीय-एकीकरण की नीति भी कार्यान्वित होने लगी। यह आवश्यक समझा गया कि संघ-व्यवस्था के अन्तर्गत भूतपूर्व प्रान्तों तथा देशी राज्यों की स्थिति तथा उनके अधिकार और उत्तरदायित्व समान हों। परन्तु भाग २ के राज्यों से संघीय आगम-साधनों को एकदम ले लेने से उनके प्रशासन में गंभीर अव्यवस्था तथा गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती थी। अतएव संविधान के २७८ वें अनुच्छेद में प्रावधान किया गया है कि संघ तथा भाग २ के राज्यों के बीच विशेष समझौते किये जा सकते हैं जो संविधान के प्रारम्भ से अधिक से अधिक दस वर्ष तक लागू रह सकेंगे। इसका उद्देश्य यह है कि दस वर्ष के अन्दर भाग २ के राज्य अपनी वित्तीय स्थिति ठीक कर लेंगे। राष्ट्रपति किसी ऐसे समझौते को पाँच वर्ष की समाप्ति पर भी वित्त-आयोग की सिफ़ारिश पर बदल या रद्द कर सकता है। इन समझौतों के परिणामस्वरूप संघ सरकार—

(क) किसी संघीय आगम साधन को सम्पूर्णतः अथवा अंशतः किसी राज्य को दे सकती है;

(ख) किसी ऐसे राज्य को जिसे आगम-विभाजन के परिवर्तनों के कारण आय की हानि हुई हो, मुआविज़ा दे सकती है; और

(ग) किसी राज्य द्वारा अपने भूतपूर्व शासक को दी जाने वाली थैली (privy purse) में उस राज्य का अंशदान कम कर सकती है।

भाग २ के राज्यों की वित्तीय समस्या को सुलझाने के लिये भारत सरकार ने २० अक्टूबर सन् १६४८ को एक कमेटी स्थापित की जिसके अध्यक्ष सर वी० टी० कृष्णामाचारी और सदस्य श्री एस० के० पाटिल तथा श्री एन० डंडेकर थे। इस समिति ने अगस्त सन् १६४६ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें काश्मीर के अतिरिक्त अन्य समस्त भूतपूर्व देशी राज्यों के विषय में विचार किया गया। भारत सरकार द्वारा १ अप्रैल सन् १६५० से इस रिपोर्ट की सिफ़ारिशें लागू कर दी गई हैं। समिति ने भाग २ के राज्यों के संदर्भ में संघीय वित्त-व्यवस्था की एक ऐसी समान प्रणाली के विकास की योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत भाग २ के राज्यों तथा संघ के बीच उसी प्रकार का वित्तीय सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा जैसा कि संघ तथा भाग १ के राज्यों के बीच स्थापित है। इस योजना में केन्द्र तथा संघांगों के बीच अंशदान और आगम-विभाजन की एक प्रणाली भी निश्चित की गई है। समिति ने सिफ़ारिश की कि अप्रैल सन् १६५० ई० तक भाग २ के राज्यों के आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो जानी चाहिये। इसके साथ-साथ, रिपोर्ट में दस वर्ष के संक्रान्ति-काल (transition period) की व्यवस्था करते हुये कहा गया कि इस अवधि के भीतर दोनों प्रकार के राज्यों की वित्त-व्यवस्था को समान स्तर पर लाने के लिये आवश्यक आर्थिक तथा प्रशासी समायोजन सम्भव हो सकता है। कमेटी ने सिफ़ारिश की कि प्रतिरक्षा रेल, तार, डाक इत्यादि विषय संघ सरकार को सौंप दिये जायें। १ अप्रैल सन् १६५० ई० से इन विषयों पर राज्यों का अधिकार समाप्त हो गया है। यह भी सिफ़ारिश की गई कि राज्यों को भारत के दूसरे भागों से अपने राज्य में आने वाले माल पर चुङ्गी नहीं लगानी चाहिये। इस प्रकार राज्यों की जो हानि होगी उसे वे बिक्री कर द्वारा कुछ वर्षों में पूरा कर लेंगे। १ अप्रैल सन् १६५० ई० से कुछ राज्यों में माल पर चुङ्गी लगाना बन्द कर दिया गया है। अन्य राज्यों को भी शीघ्र ही ऐसा करना होगा। जिन राज्यों की वित्तीय एकीकरण के कारण बहुत हानि हुई है उनको मुआविज़ा देने के सम्बन्ध में समिति ने यह सिफ़ारिश की कि उनको ५ वर्ष तक भारत सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जावे। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि संघ सरकार प्रत्येक राज्य के आय कर का संग्रहण करे, परन्तु केंद्रीय सरकार इसका ५० प्रतिशत राज्यों की सरकारों को दे दे। भाग २ के राज्यों में आय कर की दरें जो अभी तक कम थीं, उनको धीरे धीरे बढ़ा कर शेष भारत में आरोपित दरों के स्तर पर लाने की सिफ़ारिश की गई।

कृष्णामाचारी कमेटी की उपरोक्त सिफ़ारिशें स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप देशी राज्यों का आर्थिक एकीकरण पूर्ण हुआ तथा देश को वास्तविक राजनैतिक

तथा आर्थिक एकता प्राप्त हुई। सम्पूर्ण देश में वित्त तथा व्यापार सम्बन्धी नीति और प्रशासन की समानता स्थापित किये बिना राष्ट्र कभी शक्तिशाली नहीं हो सकता था। अब अन्तर्देशीय व्यापार तथा वाणिज्य का विकास अवश्यम्भावी है और भारत एक आर्थिक इकाई के रूप में प्रगति-पथ पर बढ़ सकता है। सम्भव है कुछ समय तक राज्यों के निवासियों को अतिरिक्त करारोपण अखरे परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अन्ततः यह एकीकरण केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों (States) दोनों के लिये हितकर सिद्ध होगा।

ऋण लेने से सम्बन्धित व्यवस्था—संविधान के २९२ तथा २९३ अनुच्छेदों के अनुसार भारत सरकार अथवा राज्यों की सरकारें संसद् अथवा राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा समय-समय पर नियत की गई सीमाओं के भीतर तथा अपने-अपने संचित निधि (Consolidated Fund) की ज़मानत पर ऋण ले सकती हैं। भारत सरकार भारत के किसी भाग अथवा विदेशों में ऋण ले सकती है, परन्तु राज्यों की सरकारें केवल भारत में अथवा भारत सरकार से ही ऋण ले सकती हैं। यदि किसी राज्य को भारत सरकार अथवा उसकी पूर्वाधिकारिणी (predecessor) सरकार से लिये हुये किसी ऋण का अथवा ऐसे किसी ऋण का, जिसके विषय में भारत सरकार ने प्रत्याभूति की हो, कोई अंश अभी देना शेष है, तो वह राज्य भारत सरकार की अनुमति बिना ऋण नहीं ले सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्यों की वित्तीय क्षमता (financial solvency) के स्थायित्व के लिये उनके द्वारा ऋण लेने की शक्तियों पर कतिपय आवश्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। परन्तु भारत सरकार को उपरोक्त शर्तों के पूरे न होने पर भी स्वयं कुछ आवश्यक शर्तें लगा कर राज्यों को ऋण लेने की अनुमति देने का प्राधिकार है।

स्थानीय वित्त व्यवस्था (Local Finance)—गणतन्त्र भारत की स्थानीय संस्थाओं को सार्वजनिक कल्याण की योजनायें कार्यान्वित करने के लिये अत्यधिक धनराशि की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु भारत के नये संविधान ने, सन् १९३५ ई० के कानून का अनुसरण करते हुये, इन संस्थाओं की करारोपण शक्ति के विस्तार पर कतिपय प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। भविष्य में कभी यदि संसद् चाहे तो स्थानीय संस्थाओं को करारोपण की अधिक शक्ति मिल सकती है। परन्तु संविधान करारोपण की संघ तथा राज्यों की दो सूचियाँ ही स्वीकार करता है। उसमें किसी स्थानीय सूची (local list) का उल्लेख भी नहीं किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थानीय करारोपण की शक्तियाँ राज्य-सूची में ही सम्मिलित हैं। और इससे भी बुरी बात यह है कि संविधान ने करारोपण की अवशिष्ट शक्तियाँ भी संघ सरकार के लिये आरक्षित कर दी हैं। सन् १९३५ ई० के कानून के अन्तर्गत स्थानीय संस्थायें अवशिष्ट कर (residual taxes) आरोपित कर सकती थीं और वास्तव

में अनेक संस्थाओं ने कई ऐसे कर आरोपित भी किये जिनका उल्लेख संघ अथवा प्रान्तीय सूची में नहीं किया गया था। अब स्थानीय संस्थाओं को राज्य-शासन से प्राप्त होने वाले अनुदानों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। यदि राज्य की सरकार चाहें तो कुछ राज्य-करों में से भी थोड़ा सा अंश स्थानीय संस्थाओं को दे सकते हैं। परन्तु यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि नई व्यवस्था में इन संस्थाओं की संसद् पर निर्भरता पहले से कहीं अधिक हो गई है।

संविधान के २७६वें अनुच्छेद के अनुसार कोई भी राज्य अथवा अन्य स्थानीय प्राधिकारी-मण्डल किसी भी व्यवसाय (profession), वाणिज्य (trade), वृत्ति (calling), अथवा आजीविका (employment) पर कर आरोपित कर सकता है। इस प्रकार के करों के लगाने से सम्बन्धित राज्यों का कोई कानून इसलिये अवैध नहीं माना जायेगा कि उसका सम्बन्ध आय (income) से है। परन्तु इस प्रकार के कर पर एक प्रतिबन्ध लगा हुआ है। कोई भी स्थानीय संस्था किसी करदाता से इस कर के सम्बन्ध में २५०) प्रति वर्ष से अधिक की माँग नहीं कर सकती है। २७७ वें अनुच्छेद में कहा गया है कि जो कर पहले राज्य अथवा स्थानीय संस्थाओं द्वारा आरोपित किये जाते थे वे, जब तक संसद् विपरीत प्रावधान न करे, उसी प्रकार आरोपित होते रहेंगे, चाहे उनका उल्लेख संघ-सूची में भले ही किया गया हो। इस प्रावधान के अन्तर्गत स्थानीय संस्थायें सीमा-कर (terminal tax), धर्मयात्री कर (pilgrims tax), सम्पत्ति कर (property tax) इत्यादि आरोपित कर सकती हैं, परन्तु वे इन करों की दर अथवा उनके विस्तार की वृद्धि नहीं कर सकती हैं।

नियन्त्रण तथा अंकेक्षण (Control and Audit)—भारत सरकार द्वारा आरोपित करों तथा उसके द्वारा लिये गये ऋणों की समस्त आय एक निधि में जमा होती है जिसे भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) कहा जाता है। भारत सरकार की अन्य समस्त आय जिस लेखे में जमा होती है उसे भारत का सार्वजनिक लेखा (Public Account of India) कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य का भी अपना संचित कोष तथा सार्वजनिक लेखा होता है। कोई भी व्यक्ति अथवा प्राधिकारी-मण्डल (authority) बिना संसद् अथवा राज्य के विधानमण्डल के प्राधिकरण के इन कोषों से धन की कोई राशि नहीं निकाल सकता है।

नियन्त्रक तथा महांकेक्षक (Comptroller and Auditor-General)—संविधान में भारत सरकार और राज्य सरकारों के लेखा-सम्बन्धी प्रकार्यों के पालन के लिये, राष्ट्रपति द्वारा एक नियन्त्रक तथा महांकेक्षक की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। उसकी सेवा के उपबन्ध सर्वोच्च न्यायालय के

न्यायाधीश की सेवा सम्बन्धी उपबन्धों के समानान्तर ही हैं। महांकेक्षक के अधीन भारतीय अंकेक्षण (audit) तथा लेखों (accounts) का महत्वपूर्ण विभाग है जिसके सेवा सम्बन्धी नियम राष्ट्रपति, उससे परामर्श करके निश्चित करता करता है। उसका मुख्य कर्तव्य संघ तथा राज्यों की वित्त-व्यवस्था पर निरीक्षण है; अतएव उसकी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये निम्नलिखित अभिरक्षणों का प्रावधान किया गया है:—

(१) वह अपने पद से केवल उन्हीं कारणों से निष्कासित किया जा सकता है जो सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के लिये आवश्यक हैं।

(२) उसके वेतन, अधिदेय, अवकाश, उत्तरवेतन अथवा सेवानिवर्तन सम्बन्धी अधिकार उसकी नियुक्ति के पश्चात् इस प्रकार परिवर्तित नहीं किये जायेंगे जिससे उसको हानि हो। इन पर संसद् मतदान नहीं कर सकती है।

(३) सेवानिवर्तन (retirement) के पश्चात् वह संघ अथवा राज्य-सरकार के अधीन कोई अन्य पद नहीं धारण कर सकता है।

महांकेक्षक भारत सरकार तथा राज्यों की सरकार के लेखा सम्बन्धी ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा, और ऐसी शक्तियों का प्रयोग करेगा जो किसी संसद्-कृत कानून द्वारा परिभाषित की गई हों। वह राष्ट्रपति से परामर्श करने के पश्चात् नियम बनायेगा कि भारत सरकार अथवा राज्य की सरकारों के लेखे किस प्रकार रखे जाने चाहिये। उसका कर्तव्य होगा कि वह अपने कर्मचारियों के द्वारा ऐसा नियन्त्रण रखे जिससे लेखे ठीक-ठीक और वैध रीति से रखे जायँ। वह भारत सरकार तथा राज्य की सरकारों की लेखा सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट तैयार करके राष्ट्रपति और राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समक्ष उपस्थित करता है जो उन्हें संसद् अथवा राज्य के विधान-मण्डल के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार विधान-मण्डल जान सकते हैं कि कार्यकारिणी ने कोई अवैध कार्य किया है अथवा नहीं।

वित्त व्यवस्था की समीक्षा—उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि हमारे देश की वर्तमान वित्त व्यवस्था वास्तव में अतीत की एक देन है और उसके अन्तर्गत करारोपण (taxation) तथा ऋण-ग्रहण (borrowing), दोनों क्षेत्रों में राज्यों की अपेक्षा केन्द्रीय शासन की स्थिति अधिक शक्तिशाली है। राज्य अब भी केन्द्र के अनुदानों पर निर्भर हैं और इन अनुदानों के निश्चयन में उनका कोई हाथ नहीं है। परन्तु निराक्रम्य करों (Customs) तथा आय और निगम करों (Income and Corporation taxes) की आय घट जाने के कारण संघ शासन को भी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। भारत सरकार की विविध योजनाओं के कारण एक वैज्ञानिक वित्तीय समायोजना केन्द्र तथा राज्य, दोनों के लिये अत्यधिक आवश्यक है। शासन के समस्त विभागों में यथासम्भव अपव्यय को रोकने का प्रयत्न होना

चाहिये। वर्तमान आगम-साधनों की यथासम्भव सतर्कता के साथ रक्षा करनी चाहिये। मद्य-निषेध तथा भू-आगमों को घटाने आदि के कार्य-क्रमों पर विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, कृषि इत्यादि राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों के विकास तथा प्रसार के लिये भी धन की आवश्यकता है। नये करारोपण के विस्तार पर भी ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिये। निर्धन जनता का भार बढ़ाये बिना नये आगमों की प्राप्ति के लिये वस्तुओं के विक्रय, उत्तराधिकार, कृषि-आय, इत्यादि पर नये कर आरोपित किये जा सकते हैं। संक्षेप में हमारी समस्या यह है कि हम अपने वर्तमान आगम-साधनों की वृद्धि करके किस प्रकार उनके उचित व्यय से देश का अधिकतम कल्याण कर सकते हैं।

बत्तीसवाँ अध्याय

भारत की असैनिक सेवायें

किसी भी देश का संविधान तथा उसके राजनैतिक सिद्धान्त उस समय तक निरर्थक रहते हैं जब तक उनके पीछे ईमानदार तथा कुशल सेवाओं का आधार न हो। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य (welfare state) अपनी नीति के पालन के लिये असैनिक सेवाओं (civil services) के विशेषज्ञों पर निर्भर रहता है। शासन की सांसद् पद्धति के अन्तर्गत मन्त्रिगणों को साधारणतया अपने विभागों के विशाल तथा उलझे हुये कार्यों का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता है। उनका अधिकाँश समय दलबन्दी तथा अन्य निर्वाचन सम्बन्धी अथवा सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत होता है। अतएव सामान्य प्रशासन-कार्यों का सम्पादन वास्तव में अनुभवी तथा विशेषज्ञ कर्मचारियों की वह सेना ही करती है जिसे देश की सार्वजनिक सेवा (public services) कहा जाता है। यह विशेषज्ञ पदाधिकारी बड़े योग्य होते हैं तथा अपना पूरा समय और ध्यान चुपचाप अपने कार्यालयों की समस्याओं के अध्ययन में व्यतीत करते हैं। वे अनेक गम्भीर समस्यायें मन्त्रियों के समक्ष उनके निर्णय के लिये उपस्थित करते तथा उचित तर्कों और तथ्यों से परिपुष्ट अपने सुझाव देते हैं। यह स्पष्ट है कि स्थिति के विस्तृत ज्ञान से शून्य मन्त्रिगण उनके सुझावों को स्वीकार कर साधारणतया खिंची हुई लकीर पर अपने हस्ताक्षर कर देते हैं। मन्त्रिगणों को विधानमण्डल में अनेक प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं और यहाँ भी वही विशेषज्ञ पदाधिकारी प्रत्येक प्रकार से उनकी सहायता करते हुये उन्हें लिखे हुये उत्तर देते हैं। मन्त्रिगण केवल नीति निर्धारित करते हैं और पदाधिकारी शीघ्र ही उसके अनुसार चलना सीख लेते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मन्त्रिगण नौकरशाही के हाथ की कठपुतली होते हैं। परन्तु साधारणतया वे इन पदाधिकारियो के परामर्श के अनुसार ही कार्य करते हैं और शासन की सम्पूर्ण सफलता स्थायी सेवाओं की योग्यता, उनके परिश्रम और सच्चाई पर ही निर्भर रहती है। अच्छा प्रशासन नेतृत्व, संगठन, वित्त-व्यवस्था तथा नागरिकों के चरित्र आदि कई बातों पर निर्भर होता है, परन्तु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण एक कुशल, ईमानदार तथा लोकहितकारी असैनिक सेवा का स्वेच्छापूर्ण सहयोग है।

ब्रिटिश शासन के अधीन सेवायें—असैनिक सेवाओं की परम्परा भारतीय गणतन्त्र की पूर्ववर्ती ब्रिटिश सरकार से प्राप्त हुई है। उस समय सेवाओं के तीन वर्ग थे—(१) अखिल भारतीय सेवायें; (२) केन्द्रीय सेवायें; तथा (३) प्रान्तीय सेवायें।

अखिल भारतीय सेवायें—अखिल भारतीय सेवाओं में, निम्नलिखित तीन, जिन्हें साम्राज्य सेवायें (Imperial Services) भी कहा जाता था, विशेष महत्वपूर्ण थीं:—(१) भारतीय असैनिक सेवा (Indian Civil Service), (२) भारतीय पुलिस सेवा, और (३) भारतीय भैषजिक सेवा (Indian Medical Service)। इन सेवाओं के कर्मचारियों की नियुक्ति भारतमन्त्री करता था और वे भारत के किसी भाग में भी कार्य कर सकते थे। इस सेवा वर्ग के थोड़े से कर्मचारी केन्द्रीय शासन के अधीन कार्य करते थे, परन्तु अधिकांश विभिन्न प्रान्तीय सरकारों के अधीन होते थे। उनको अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। उनके वेतन, अवकाश, उत्तरवेतन आदि से सम्बन्धित सेवा-नियमों का निर्माण स्वयं भारत-मन्त्री करता था। उन्हें अपने किसी उच्च पदाधिकारी के आदेश के विरुद्ध गवर्नर अथवा गवर्नर-जनरल के समक्ष शिकायत करने का अधिकार था। वे भारत के किसी प्राधिकारी द्वारा किये गये ऐसे आदेशों के विरुद्ध भी भारत-मन्त्री से अपील कर सकते थे, जिनमें उनकी निन्दा की गई हो अथवा उनके लिये किसी दण्ड का आदेश दिया गया हो, अथवा जिनका प्रभाव उनके सेवा के उपबन्धों के प्रतिकूल पड़ता हो। उन्हें सद्व्यवहार पूर्वक कार्य करने पर अपनी पदावधि में अपने पद से अलग नहीं किया जा सकता था। उन्हें किसी प्रस्तुत अधिकार के छीने जाने पर उसके बदले में मुआविज़ा पाने का अधिकार था। उनके उत्तरवेतन, भारतीय करारोपण से मुक्ति, पारिवारिक उत्तरवेतन तथा फण्ड आदि के विषय में भी प्रावधान था। और अन्त में, सार्वजनिक सेवाओं के अधिकारों के अभिरक्षण के लिये गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को विशेष उत्तरदायित्व दिया गया था। इन साम्राज्य-सेवाओं के अतिरिक्त भारतीय वनसेवा (Indian Forest Service), भारतीय कृषि-सेवा (Indian Agricultural Service), भारतीय शिक्षण सेवा (Indian Educational Service), भारतीय इञ्जीनियरों की सेवा (Indian Service of Engineers) आदि कुछ अन्य अखिल भारतीय सेवायें भी थीं। इन्हें भी अपने सेवा उपबन्धों के प्रतिकूल आदेशों के विरुद्ध गवर्नर-जनरल से अपील करने का अधिकार प्राप्त था।

इन अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकांश कर्मचारी अँग्रेज़ थे और प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण पद उनके हाथों में रहते थे। भारतीय असैनिक सेवा के पुराने अँग्रेज पदाधिकारी ही गवर्नर-जनरल की तथा बंगाल, बम्बई और मद्रास के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारिणी समितियों के सदस्य नियुक्त किये जाते थे। वास्तव में वे प्रशासन का संचालन करते हुये नीति भी निर्धारित करते थे।

केन्द्रीय सेवायें—केन्द्रीय सेवाओं का सम्बन्ध उन विषयों से था जो प्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार के अधीन थे। इनमें से भारतीय अंकेक्षण तथा लेखा सेवा (audit and accounts service), भारतीय रेलवे सेवा, भारतीय डाक-तार

सेवा, भारतीय निराक्रम्य सेवा (customs service) तथा भारतीय सचिवालय सेवा (secretariat service) आदि प्रमुख थीं। इनकी नियुक्तियाँ अंशत: नामज़दगी से और अंशत: परीक्षा के आधार पर, गवर्नर जनरल करता था। रेलवे, निराक्रम्य तथा डाक-तार सेवाओं में ऐंग्लो-इण्डियन सम्प्रदाय का विशेष ज़ोर था।

प्रान्तीय तथा अधीन सेवायें—प्रान्तीय शासन के ऊँचे ऊँचे पदों पर अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकांशत: अंग्रेज़ कर्मचारी आसीन रहते थे। उनके नीचे प्रान्तीय सेवायें होती थीं जिनमें लगभग सभी भारतीय कर्मचारी होते थे। उनकी नियुक्ति गवर्नर करता था और वे उसी के नियन्त्रण में रहते थे। उनका वेतन उन्नति, निष्कासन आदि गवर्नर पर ही निर्भर था। प्रमुख प्रान्तीय सेवायें निम्न-लिखित थीं—प्रान्तीय असैनिक सेवा (अधिशासी) जिसमें डिप्टी कलक्टर, मजिस्ट्रेट इत्यादि होते थे; प्रान्तीय असैनिक सेवा (न्यायिक) जिसमें मुन्सिफ़ तथा सहायक न्यायाधीश होते थे, प्रान्तीय पुलिस सेवा (डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट); प्रान्तीय शिक्षण सेवा (डिवीज़नल इन्स्पेक्टर); तथा प्रान्तीय भैषजिक सेवा (सहायक सिविल सर्जन)। इस प्रान्तीय सेवा वर्ग के नीचे अधीनस्थ सेवाओं के विभिन्न वर्ग होते थे। इन अधीनस्थ वर्गों के कर्मचारी प्रान्तीय पदाधिकारियों के अधीन रह कर दैनिक कर्तव्यों के सम्पादन में उनकी सहायता करते थे। उनकी नियुक्ति तथा नियन्त्रण प्रान्तीय शासन, विभागाध्यक्षों तथा उच्च पदाधिकारियों के अधीन होती थी। इन अधीनस्थ कर्मचारियों के नीचे क्लर्कों तथा इन्स्पेक्टरों की एक सेना होती थी। यह प्रान्तीय सेवा का निम्न अधीनस्थ वर्ग (lower subordinate cadre) कहलाता था और इसके कर्मचारियों को बहुत थोड़ा वेतन मिलता था।

असैनिक सेवाओं का भारतीयकरण—सरकारी नौकरियों के भारतीय-करण का आन्दोलन, जिसका उद्देश्य सभी सरकारी नौकरियों में अधिक से अधिक संख्या में भारतीयों को स्थान दिलाना था, ब्रिटिश काल में बराबर चलता रहा। सन् १७५७ तक तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक विशुद्ध व्यापारिक संस्था थी, अत: उसके अधिकारियों का अँग्रेज़ होना स्वाभाविक ही था। किन्तु सन् १७६५ की इलाहाबाद की सन्धि के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली और वह अब इस देश में शासन सँभालने लगी; अत: उसे कई पदों पर भारतीय रखने पर बाध्य होना पड़ा। सन् १७८६ ई० में कार्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। उसका कहना था कि भारतीय उच्च पदों के योग्य नहीं हैं, अत: उसकी नीति तथा सन् १७९३ ई० के चार्टर एक्ट के अनुसार भारतीयों को उच्च पद देना बन्द हो गया। यह नीति सन् १८३३ तक चलती रही, यद्यपि मुनरो, मैल्कम, एलफिन्स्टन, आदि कई अँग्रेज़ों ने भारतीय शासन की कुशलता तथा भारतीयों के चरित्र पर इस नीति के बुरे प्रभावों की ओर अँग्रेज़ी सरकार का

ध्यान आकृष्ट किया। सन् १८३३ के चार्टर से इस नीति में परिवर्तन हुआ और इस ऐक्ट द्वारा भारतीयों को भी बड़ी नौकरियों के योग्य मान लिया गया। फिर भी भारतीयों को ५००) रु० प्रति मास से अधिक वेतन वाले पद नहीं मिलते थे। सन् १८५३ से उच्च पदों में नियुक्ति एक परीक्षा द्वारा होने लगी जिसमें भारतीय भी सम्मिलित हो सकते थे। यह परीक्षा इङ्गलैण्ड में होती थी। सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में कहा कि नौकरियों में रंग, जाति या धर्म के कारण कोई भेदभाव नहीं किया जावेगा। परन्तु इससे भी भारतीयों का अधिक लाभ नहीं हुआ, क्योंकि अधिक व्यय तथा धर्म सम्बन्धी असुविधाओं के कारण इङ्गलैण्ड की प्रतियोगिता परीक्षा से बहुत कम भारतीय लाभ उठा सकते थे। भारतीयों की यह माँग कि परीक्षाएँ भारत तथा इङ्गलैण्ड में साथ-साथ हों, बहुत समय तक बराबर ठुकराई जाती रही। सन् १८७० के ऐक्ट द्वारा यह तय हुआ कि कुछ भारतीय उच्च पदों पर बिना परीक्षा में उत्तीर्ण हुये ही गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त कर दिये जायँ। इस ऐक्ट के आधार पर ६ वर्ष बाद सन् १८७६ में स्टैचुटरी सिविल सर्विस का आरम्भ हुआ, जिसके अनुसार भारतमन्त्री जितने व्यक्ति इङ्गलैण्ड में चुनता था उनका छठवाँ भाग गवर्नर-जनरल बिना परीक्षा के भारत में नियुक्त कर सकता था। यह भी निश्चित हुआ कि २००) रु० से अधिक वेतन वाले पदों पर बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के ऐसे व्यक्ति न नियुक्त हों जो भारतीय न हों। इस उपबन्ध के फलस्वरूप भारतीयों को उच्च पदों में स्थान मिला तथा अधीन पदों पर उनकी भरमार हो गई। परन्तु इस प्रकार जो व्यक्ति उच्च पदों पर नियुक्त हुये, वे अयोग्य सिद्ध हुये। अब अँग्रेज़ों को यह कहने का अवसर मिला कि भारतीय उच्च पदों के अयोग्य हैं। परन्तु सत्य यह है कि जो व्यक्ति इस प्रकार चुने गये थे, वे योग्यता के कारण नहीं, अपितु वंश-सम्बन्ध आदि के कारण, नियुक्त किये गये थे।

ब्रिटिश सरकार की अब तक की नीति से स्पष्ट है कि वह उच्च पदों पर भारतीयों को नहीं रखना चाहती थी। इङ्गलैण्ड में होने वाली प्रतियोगिता परीक्षा में प्रवेश की आयु १८५९ में २३ से घटा कर २२, १८६६ में २१ और सन् १८७८ में १९ कर दी गई। प्रतियोगिता परीक्षा में प्रवेश की आयु कम करने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि भारतीय विद्यार्थी परीक्षा में प्रविष्ट न हो सकें। परीक्षा में प्रवेश होने की कम से कम योग्यता बी० ए० थी और शिक्षा सम्बन्धी उपबन्धों के अनुसार भारत में २० वर्ष से कम आयु वाला कोई विद्यार्थी बी० ए० परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकता था।

सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस (Indian National Congress) की स्थापना हुई। उसने यह माँग आरम्भ की कि प्रतियोगिता परीक्षा में प्रवेश होने की आयु बढ़ाई जाये तथा परीक्षाएँ भारत और इङ्गलैण्ड में साथ-साथ

हों। उसकी माँगों के फलस्वरूप लार्ड डफरिन ने सन् १८८६ में एक कमीशन सर चार्ल्स एचीसन (Sir Charles Aitchison) की अध्यक्षता में नियुक्त किया। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारत में आई॰ सी॰ एस॰ (I. C. S.) परीक्षा करने के विरुद्ध राय दी, किन्तु यह सिफारिश की कि इण्डियन सिविल सर्विस (I. C. S.) में छठा भाग उन भारतीयों के लिये सुरक्षित किया जाय जो प्रान्तीय सिविल सर्विस (P. C. S.) से इसमें भेजे जायेंगे। सन् १८६२ में इन सिफारिशों के आधार पर नौकरियों में भर्ती के नियम बनाये गये जिनके अनुसार १०८ पद ऐसे रखे गये जिनमें भारतीय नियुक्त होते, परन्तु बाद को इनकी संख्या घटाकर ६३ कर दी गई। इन सूचीबद्ध पदों के अतिरिक्त भारतीयों को अधिक पद नहीं मिल सकते थे। एचीसन कमीशन ने नौकरियों को तीन वर्गों में विभक्त किया—(१) साम्राज्य सम्बन्धी, (२) प्रान्तीय, और (३) अधीन। इन वर्गों में से प्रान्तीय तथा अधीन वर्ग की सेवाओं में भारतीय नियुक्त होते थे।

सन् १८६३ में इङ्गलैण्ड की लोकसभा (House of Commons) ने यह प्रस्ताव किया कि इण्डियन सिविल सर्विस (I. C. S.) की प्रवेश परीक्षा इङ्गलैण्ड तथा भारत में साथ-साथ हो, किन्तु भारतमन्त्री के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका और उपरोक्त प्रस्ताव की अवहेलना की गई। सन् १६१२ में इसलिंगटन कमीशन (Islington Commission) की नियुक्ति हुई। न्यूजीलैण्ड के गवर्नर लार्ड इसलिंगटन इसके अध्यक्ष तथा दो प्रमुख भारतीय जस्टिस अब्दुर्रहीम और श्री गोपालकृष्ण गोखले इसके सदस्य थे। कमीशन की रिपोर्ट सन् १६१७ में प्रकाशित हुई। इसमें अधिक भारतीयों को उच्च नौकरियों में स्थान देने की सिफारिश की गई थी, किन्तु इसकी सिफारिशों को असन्तोषजनक बताया गया, अतः १६१६ की सुधार योजना द्वारा उनका अन्त कर दिया गया। इसी बीच अगस्त सन् १६१७ में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि उनकी नीति भारतीयों का शासन में अधिक से अधिक सम्पर्क प्राप्त करना है। दूसरे वर्ष माण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट में यह कहा गया कि इण्डियन सिविल सर्विस में भारतीयों का अनुपात ३३% होना चाहिये तथा १½% प्रति वर्ष बढ़ना चाहिये। १६१६ के सुधारों ने भारतवर्ष में लोकसेवा आयोग (Public Service Commission) की स्थापना की आयोजना की तथा नियुक्ति में जातीय भेदों को हटा दिया। इस कमीशन का यह काम था कि जिन पदों के लिये इङ्गलैण्ड में परीक्षाएँ होती थीं, उनके लिये भारत में चुनाव करे। सन् १६२२ से भारत में भी इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा होने लगी।

नौकरियों के भारतीयकरण के उद्देश्य से स्थापित द्वैध शासन के कारण अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। उदाहरणार्थ, भारतीय सिविल सर्विस के लिए

अङ्गरेज़ों की उदासीनता, तथा मन्त्रियों और उच्च कर्मचारियों में विरोध । अत: इन प्रश्नों की जाँच करने के लिये लार्ड ली (Lee) की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति हुई जो ली कमीशन कहलाता है । इसकी रिपोर्ट के अनुसार इण्डियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service), इण्डियन पुलिस सर्विस (Indian Police Service), इण्डियन फ़ारेस्ट सर्विस (Indian Forest Service), तथा इण्डियन सर्विस आफ़ इञ्जीनियर्स (Indian Service of Engineers) को छोड़ कर अन्य अखिल भारतीय नौकरियाँ जैसे इण्डियन ऐजुकेशनल सर्विस (Indian Educational Service), इण्डियन मेडिकल सर्विस (Indian Medical Service), इण्डियन इञ्जीनियरिङ्ग सर्विस (Indian Engineering Service) आदि प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दी गई जिससे उनमें अधिकतर पदाधिकारी भारतीय होने लगे । चार अखिल भारतीय नौकरियों के लिए निम्न योजना उपस्थित की गई :—

(१) इण्डियन सिविल सर्विस के रिक्त स्थानों में ६० प्रतिशत भारतीय रखे जायें, जिसमें २० प्रतिशत प्रान्तीय नौकरी से उन्नति पायें और ४० प्रतिशत कमीशन द्वारा निर्वाचित हों । इस प्रकार आशा की जाती थी कि इस सेवा वर्ग में १९३९ तक ५० प्रतिशत भारतीय हो जायेंगे ।

(२) पुलिस सर्विस के ५० प्रतिशत स्थान भारतीयों के लिये सुरक्षित रहें, जिसमें २० प्रतिशत प्रान्तीय नौकरी से उन्नति पावें और ३० प्रतिशत कमीशन द्वारा निर्वाचित हों । इस प्रकार आशा की जाती थी कि पुलिस सर्विस में १९४९ तक ५० प्रतिशत भारतीय हो जायेंगे ।

(३) इण्डियन फ़ारेस्ट सर्विस में ७५ प्रतिशत भारतीय प्रति वर्ष लिये जायें ।

(४) नहर विभाग के इञ्जीनियरों के लिये आई० सी० एस० जैसा नियम हो ।

भारतीयकरण की उपरोक्त सिफ़ारिशें पूर्ण प्रयोग में नहीं लाई गईं । अत: ली कमीशन की इस सिफ़ारिश के बाद भी कि भारतीयकरण की गति बढ़ाई जानी चाहिये, अखिल भारतीय सेवाओं में भारतीयों की संख्या बहुत थोड़ी रही । सन् १९३५ ई० में अखिल भारतीय सेवाओं के ३५०० कर्मचारियों में से केवल १२०० भारतीय थे और १४ अगस्त सन् १९४७ ई० तक भी भारतीयों की संख्या इन सेवाओं में आधे से कम ही थी । केन्द्रीय सेवाओं में भी अंग्रेज़ों की संख्या का अनुपात भारतीयों की तुलना में अधिक था । प्रान्तीय सेवाओं में अवश्य अधिकतर भारतीय ही थे और अधीनस्थ सेवाओं में लगभग सभी भारतीय थे । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनेक अँग्रेज़ अधिकारी एक साथ प्रशासन से अलग हो गये । अत: उच्च असैनिक सेवाओं के भारतीयकरण का आन्दोलन समाप्त हो गया और आज हमारी प्रशासन व्यवस्था का सञ्चालन पूर्णत: भारतीयों के ही हाथ में है । परन्तु अब उनसे

एक नई कार्य-प्रणाली तथा एक नये दृष्टिकोण की आशा की जाती है। उन्हें अब नये स्वामियों की सेवा करते हुये नये आदर्शों का पालन करना है।

नये संविधान के अधीन सेवायें—हमारे नये संविधान के निर्माताओं ने सेवाओं के ब्रिटिश कालीन विशेषाधिकारों के संधारण की यथेष्ट प्रत्याभूति की है। संविधान के ३१२वें अनुच्छेद में कहा गया है कि पुरानी अखिल भारतीय सेवाओं का प्रत्येक कर्मचारी जो भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन कार्य करता रहेगा, वेतन, अवकाश तथा उत्तर वेतन से सम्बन्धित सेवा के उन्हीं उपबन्धों, और अनुशासन-सम्बन्धी उन्हीं अधिकारों का अधिकारी होगा जो उसे संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्व प्राप्त थे। सेवाओं से सम्बन्धित वे सभी पुराने नियम जो भारत के नये संविधान के प्रावधानों से असङ्गत नहीं हैं, अब भी लागू रहेंगे। सभी स्थायी सेवाओं के हितों तथा उनकी दक्षता के अभिरक्षण का पूरा प्रयत्न किया गया है। परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में इनमें भी कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था। और सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि अब अखिल भारतीय सेवायें केवल दो ही रह गई हैं। अब इन सेवाओं का पूर्ण नियन्त्रण भारत शासन के अधीन है और उनकी नियुक्तियों तथा उनके संरक्षण में किसी विदेशी शक्ति का कोई हाथ नहीं रह गया है। दो अखिल भारतीय सेवायें भारतीय प्रशासी सेवा (Indian Administrative Service) तथा भारतीय पुलिस सेवा (Indian Police Service) हैं। इनके सदस्य संघ लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) द्वारा आयोजित परीक्षा-फल के आधार पर चुने जाते हैं। उनकी नियुक्ति संघ-शासन के अधीन होती है जो उनके सेवा के उपबन्धों, वेतन, आदि का नियन्त्रण भी करता है। अन्य भूतपूर्व अखिल भारतीय सेवायें अब राज्यों के अधीन कर दी गई हैं; परन्तु राज्य-परिषद् द्वारा दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव किये जाने पर कि राष्ट्रीय हित के लिये कतिपय अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना आवश्यक है, संसद् इस प्रकार की प्रस्तावित नई सेवाओं की स्थापना कर सकता है। अन्य दोनों भूतपूर्व सेवा-वर्गों का नाम-परिवर्तन मात्र किया गया है। पुरानी केन्द्रीय सेवायें अब संघ सेवायें हो गई हैं और पुरानी प्रान्तीय सेवायें राज्य-सेवायें।

सेवाओं की नियुक्ति सम्बन्धी नियम—संविधान के अनुसार राष्ट्रीय सेवाओं में केवल वही व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं जो भारतीय गणतन्त्र के नागरिक हों। परन्तु यह उपबन्ध वहाँ लागू नहीं होगा जहाँ प्रौद्योगिक विशेषज्ञों (technical experts) की आवश्यकता हो और उनकी नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिये की जाये। संघ सरकार तथा राज्य की सरकारों के अधीन विभिन्न सेवाओं में विशेष पदों पर नियुक्ति के लिये अब किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये व्यवस्था नहीं रह गई है।

परन्तु इस उपबन्ध के दो अपवाद भी हैं। ३३५वें अनुच्छेद के अनुसार, संघ अथवा राज्यों के कार्यों से सम्बन्धित पदों तथा सेवाओं के लिये नियुक्तियाँ करते समय अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के हितों का ध्यान रखना आवश्यक है। ३३६वें अनुच्छेद में कहा गया है कि संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष तक एङ्गलो-इण्डियन सम्प्रदाय को वे विशेषाधिकार दिये जायेंगे जो उन्हें १५ अगस्त सन् १९४७ ई० से ठीक पूर्व रेल, निराक्रम्य (Customs), डाक और तार की सेवाओं में प्राप्त थे। इसके पश्चात् प्रत्येक दो वर्ष के बाद इन सेवाओं में एङ्गलो-इण्डियनों के लिये आरक्षित पदों की संख्या का दशांश कम होता जायेगा और १० वर्ष के पश्चात् सारे आरक्षण समाप्त हो जायेंगे। अखिल भारतीय तथा संघ सेवाओं के सम्बन्ध में संसद् को, और राज्य सेवाओं के सम्बन्ध में राज्यों के विधानमण्डलों को कर्मचारियों के भर्ती तथा उनकी सेवा के उपबन्धों के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार है। जब तक इस प्रकार की व्यवस्था न हो गणतन्त्र के राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपालों अथवा राजप्रमुखों को नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। सार्वजनिक सेवाओं की भर्ती में सहायता करने के लिये संघ लोकसेवायोग तथा राज्य लोकसेवायोगों के संगठन का भी प्रावधान किया गया है।

सरकारी कर्मचारियों की पदावधि तथा उनका निष्कासन—संविधान के अनुसार स्थायी सेवाओं के सभी कर्मचारी राष्ट्रपति या राज्यपाल या राजप्रमुख के प्रसाद-काल तक अपने पदों पर आसीन रहेंगे। परन्तु पदावधि सम्बन्धी यह उपबन्ध निम्नलिखित पदाधिकारियों के सम्बन्ध में लागू नहीं है—सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, भारत का महाँकेक्षक तथा लेखा परीक्षक, मुख्य निर्वाचन कमिश्नर, लोकसेवायोगों के अध्यक्ष तथा सदस्यगण इत्यादि। सिद्धान्त रूप से राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के प्रसादाधीन किसी लोकसेवा का सरकार द्वारा किसी समय भी अन्त किया जा सकता है; परन्तु व्यवहार रूप में असैनिक सेवकों के विरुद्ध इस नियम का प्रयोग केवल भ्रष्टाचार (misconduct) तथा अयोग्यता की दशा में ही किया जाता है। पदावधि सम्बन्धी प्रावैधिक अस्थायित्व (formal insecurity) को सीमित रखने के लिये निम्नलिखित प्रावधान भी किये गये हैं :—

(१) कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे प्राधिकारी द्वारा अपने पद से निष्कासित नहीं किया जा सकता है जिसका पद उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से नीचा हो।

(२) कोई भी व्यक्ति अपने पद से निकाला, हटाया अथवा उतारा नहीं जा सकता है जब तक कि उसे अपने विषय में की जाने वाली कार्यवाही के विरुद्ध कारण बताने का उचित अवसर न दिया जा चुका हो। परन्तु यदि वह व्यक्ति किसी दण्डनीय अपराध के लिये दण्डित हो चुका है, अथवा उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी को, अथवा राज्य के प्रधान को, यह समाधान हो जाये कि उस व्यक्ति को इस प्रकार

का अवसर दिया जाना राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में, अथवा अन्य किसी विशेष कारण से, उचित नहीं है, तो उपरोक्त प्रावधान लागू नहीं होगा।

लोक-सेवा-आयोग—नये संविधान के अधीन संघ के लिये तथा प्रत्येक राज्य के लिये, एक-एक लोक-सेवा आयोग की स्थापना की गई है। परन्तु यह प्रावधान भी किया गया है कि यदि सम्बन्धित राज्यों के विधानमण्डलों का प्रत्येक आगार चाहे तो दो या अधिक राज्यों का एक संयुक्त लोक-सेवा आयोग भी स्थापित किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के संयुक्त लोक-सेवा आयोग की नियुक्ति की आज्ञा संसद् ही दे सकती है। यदि कोई राज्यपाल अथवा राजप्रमुख संघ के लोक-सेवा आयोग से प्रार्थना करे तो संघ लोक-सेवा आयोग, राष्ट्रपति की आज्ञा से उस राज्य की समस्त अथवा किसी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये कार्य करना स्वीकार कर सकता है।

लोक-सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि—संघ तथा राज्यों के लोक-सेवा आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति तथा सम्बन्धित राज्यों के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख करते हैं। विभिन्न आयोगों की सदस्य संख्या संविधान में नहीं दी गई है। इसका निश्चय राष्ट्रपति तथा प्रत्येक राज्य का प्रधान, जैसा वह उचित तथा वाँछनीय समझे, करेगा। यह निश्चय किया जा चुका है कि संघ के लोक-सेवा आयोग में ६ से ८ तक सदस्य होंगे। राज्यों के लोक-सेवा आयोगों में साधारणतया ३ सदस्य होते हैं। इन्हीं में से एक सदस्य अध्यक्ष नियुक्त कर दिया जाता है। संविधान में प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक लोक-सेवा आयोग के कम से कम आधे सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जो भारत सरकार अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी पद पर कम से कम दस वर्ष तक रह चुके हों। लोक-सेवा आयोगों के सदस्य साधारणतया ६ वर्ष तक अथवा संघ आयोग के लिये ६५ वर्ष और राज्यों के आयोग के लिये ६० वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक, पद-धारण कर सकते हैं। परन्तु लोक-सेवा आयोगों के उन सदस्यों पर जो संविधान के प्रारम्भ से ठीक-पूर्व अपने पदों पर आसीन थे, इस प्रावधान का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और वे निश्चित अवधि तक अपने पदों पर पूर्ववत् बने रहेंगे।

सदस्यों का निष्कासन—लोक-सेवा आयोग का कोई सदस्य अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। गणतन्त्र का राष्ट्रपति अथवा सम्बन्धित राज्य का प्रधान भ्रष्टाचार के आधार पर किसी भी सदस्य को अपने पद से हटा सकता है। परन्तु किसी सदस्य को इस प्रकार तभी हटाया जा सकता है जब सर्वोच्च न्यायालय ने जाँच करने के पश्चात्, यह रिपोर्ट की हो कि इस प्रकार के किसी आधार पर उसका निष्कासन उचित है। राष्ट्रपति नीचे लिखी दशाओं में भी सदस्य को अपने पद से हटा सकता है यदि (क) वह दिवालिया घोषित किया जा चुका हो; (ख) वह अपने

पद-धारण-काल में कोई अन्य वैतनिक नौकरी स्वीकार कर ले; और (ग) वह मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण राष्ट्रपति की राय में अपने पद पर रहने के अयोग्य हो।

आयोगों की स्वतन्त्रता संधारण करने वाले प्रावधान—इन लोक-सेवा आयोगों का संगठन इस प्रकार किया जायेगा कि वह प्रत्येक प्रकार के राजनैतिक प्रभाव से मुक्त रह कर स्वतन्त्रता पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। संविधान में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विस्तृत प्रावधान किये गये हैं। सबसे पहले, लोक-सेवा आयोगों के सदस्य, एक बार नियुक्त हो जाने के पश्चात्, सिद्ध भ्रष्टाचार अथवा अयोग्यता के आधारों पर ही अपने पद से हटाये जा सकते हैं। दूसरे, इन आयोगों तथा इनके कर्मचारियों का व्यय संसद् अथवा राज्यों के विधानमण्डलों के मताधीन नहीं होता है। तीसरे, आयोगों के सदस्यों के वेतन, अवकाश तथा उत्तरवेतन आदि से सम्बन्धित सेवा के उपबन्ध उनके पद-धारण-काल में इस प्रकार परिवर्तित नहीं किये जा सकते हैं जिससे उनको कोई हानि हो। चौथे, सेवा-निवृत्त सदस्यों को शासन की कृपा प्राप्त करने का लोभ न हो अतएव निवृत्ति के पश्चात् कोई और नियुक्ति स्वीकार करने पर कठिन प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। संघ के लोक-सेवा आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार अथवा राज्यों की सरकार के अधीन, किसी नियुक्ति को स्वीकार नहीं कर सकता है; और संघ लोक-सेवा आयोग के शेष सदस्य तथा राज्य सेवा आयोगों के अध्यक्ष और सदस्य निवृत्ति के पश्चात् निम्नलिखित पदों के अतिरिक्त अन्य कोई पद स्वीकार नहीं कर सकते हैं :—

(१) संघ लोक-सेवा आयोग का कोई सदस्य संघ आयोग अथवा किसी राज्य के लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति स्वीकार कर सकता है।

(२) राज्यों के लोक-सेवा आयोगों के सदस्य संघ लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य अथवा किसी अन्य राज्य के लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष नियुक्त हो सकते हैं।

(३) राज्यों के लोक-सेवा आयोगों के अध्यक्ष संघ लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य बन सकते हैं।

उपरोक्त सभी प्रावधान इस बात की प्रत्याभूति करते हैं कि लोक-सेवा आयोगों के सदस्य अपना काम निष्पक्षता तथा निर्भयतापूर्वक सम्पादित कर सकेंगे।

लोक-सेवा-आयोगों के कर्तव्य—संघ तथा राज्यों के लोक-सेवा आयोगों का मुख्य कर्तव्य क्रमशः संघ और राज्यों की लोक-सेवाओं में नियुक्तियों के लिये परीक्षाओं का संचालन करना होगा। संघ लोक-सेवा आयोग का यह भी कर्तव्य होगा कि अगर कोई दो या अधिक राज्य, ऐसी किन्हीं सेवाओं के लिये, जिनके लिये विशेष योग्यता वाले उम्मीदवार चाहिये, संयुक्त भर्ती की योजनाओं के बनाने तथा

प्रवर्तन करने में सहायता माँगें तो उनकी सहायता करें। संविधान की ३२०वीं धारा द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया है कि निम्नलिखित विषयों पर संघ सरकार संघ सेवा आयोग से और राज्यों की सरकारें राज्य लोक-सेवा आयोग से परामर्श लें :—

(क) असैनिक सेवाओं की भर्ती की रीति से सम्बन्धित समस्त विषयों पर;

(ख) असैनिक सेवाओं की नियुक्ति, पदोन्नति और एक सेवा से दूसरी में बदली करने में अनुसरण किये जाने वाले सिद्धान्तों पर;

(ग) असैनिक पदों पर सेवा करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध की जाने वाली अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही पर;

(घ) किसी असैनिक पद पर कर्तव्य पालन करते समय लगने वाली चोट से सम्बन्धित दावे पर; और

(ङ) असैनिक पद पर काम करने वाले किसी कर्मचारी के इस दावे पर कि कर्तव्य पालन में किये गये किसी कार्य के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध होने वाली न्यायिक कार्यवाही में जो व्यय उसे अपनी रक्षा पर करना पड़ा है वह सरकार द्वारा दिया जावे।

संविधान में यह भी कहा गया है कि संसद् द्वारा अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा यह प्रावधान भी किया जा सकता है कि संघ लोक-सेवा आयोग अथवा किसी राज्य का लोक-सेवा आयोग उपरोक्त प्रकार्यों के अतिरिक्त कुछ और प्रकार्यों का भी पालन करें। लोक-सेवा आयोगों के व्यापक प्रकार्यों के दो अपवाद भी हैं—(१) गणतन्त्र का राष्ट्रपति, अथवा राज्य का प्रधान, ऐसे नियम बना सकता है जिसके अनुसार परिभाषित परिस्थितियों में, सेवाओं से सम्बन्धित कुछ विषयों में लोक-सेवा आयोगों से परामर्श लेना आवश्यक नहीं होगा। परन्तु इस प्रकार के सारे आनियम संसद् अथवा राज्य के विधानमण्डलों के समक्ष अवश्य प्रस्तुत किये जायेंगे जिन्हें उनके विखण्डन अथवा संशोधन का अधिकार होगा। (२) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सदस्यों के स्थान आरक्षण के सम्बन्ध में लोक-सेवा आयोगों से कोई परामर्श नहीं लिया जायेगा।

लोक-सेवा-आयोगों की रिपोर्टें—३२३वें अनुच्छेद के अनुसार संघ लोक-सेवा आयोग, राज्यों के लोक-सेवा आयोगों तथा संयुक्त लोक-सेवा आयोगों का यह कर्तव्य होगा कि वे, राष्ट्रपति, राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के समक्ष अपने वर्ष भर के कार्य की रिपोर्ट उपस्थित किया करें। यह रिपोर्टें सम्बन्धित विधानमण्डलों के समक्ष अवश्य रखी जावेंगी। जिन मामलों में लोक-सेवा आयोगों का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया है उनकी अस्वीकृति के कारणों का विवरण भी रिपोर्ट के साथ दिया जायेगा। इससे विधानमण्डलों को समय-समय पर ज्ञात होता रहेगा कि लोक-सेवा आयोगों का कार्य किस प्रकार चल रहा है। अधिशासन-मण्डल को भी लोक-सेवा आयोगों से सम्बन्धित अपने कार्यों का ब्योरा देना पड़ता है और यह लोक-सेवा

आयोगों की स्वतन्त्रता, ईमानदारी और प्राधिकार का अन्तिम अभिरक्षण है।

पर्यालोचन—इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे संघ तथा राज्यों की सेवाओं की भर्ती केवल प्रतिभा और योग्यता के आधार पर ही हुआ करेगी। यह नियुक्तियाँ प्रत्येक प्रकार के राजनैतिक, व्यापारिक तथा दलगत प्रभाव से मुक्त रहें, इसके लिये पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है और स्वयं सेवाओं के लिये न्याययुक्त तथा सङ्गत व्यवहार की पूर्ण व्यवस्था है। सेवाओं के उच्च पदों पर नियुक्त होने वाले नये अधिकारियों का वेतन पहले की अपेक्षा घटा दिया गया है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों का ध्यान रखते हुये यह आवश्यक था। इससे सेवाओं के संतोष अथवा उनकी दक्षता पर कोई प्रभाव पड़ेगा, ऐसी आशंका नहीं है। स्वतन्त्र भारत में सेवाओं को वे वेतन माँगने अथवा पाने का कोई अधिकार नहीं हो सकता है जो वास्तव में विदेशी स्तर के अनुसार तथा हमारे क्षीण आर्थिक साधनों पर पड़ने वाले भार की अवहेलना पर आधारित थे। आशा की जाती है कि हमारी नई व्यवस्था में भी हमारी सेवायें विश्वविद्यालयों से निकलने वाले अधिकांश ऐसे योग्य नवयुवकों को पूर्ववत् आकर्षित करती रहेंगी जो सुरक्षा के पक्ष पर चलने को सबसे अच्छी नीति समझते हैं।

भारत की सेवाओं को भ्रष्टाचार, सिद्धान्तविहीन स्वेच्छाचार तथा निरंकुश प्रशासन-प्रणाली की धरोहर ब्रिटिश शासन से प्राप्त हुई है। इसमें सुधार आवश्यक है। परन्तु जनसाधारण में फैले हुये भ्रष्टाचार के विषाक्त वातावरण का नाश किये बिना सेवाओं की वास्तविक शुद्धि सम्भव नहीं है। भारत को अभी जनतन्त्रवाद का कोई विशेष अनुभव नहीं है। अतएव एक आशंका यह भी होती है कि कहीं हमारी सेवाओं का प्रयोग प्रशासन के वैधिक प्रकार्यों के पालन के स्थान पर सत्तारूढ़ दल के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये न होने लगे। यदि दैनिक प्रशासन-कार्य में भी सेवाओं के साथ हस्तक्षेप किया गया तो शासन-व्यवस्था का बिगड़ना स्वाभाविक होगा। इसके साथ-साथ सेवाओं को भी अपना रूढ़िगत दृष्टिकोण बदलना होगा। अंग्रेज़ी राज्य में वे परिवर्तन का विरोध करना अपना कर्तव्य समझती थीं। अब, स्वतन्त्र भारत में, उनका कार्य परिवर्तन का विरोध करना नहीं, परिवर्तन की प्रक्रिया में बुद्धिमत्तापूर्ण तथा रचनात्मक सहयोग देना है।

तेंतीसवाँ अध्याय

संविधान का संशोधन

विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार संविधानों का विभिन्न वर्गीकरण किया जाता है। संवैधानिक संशोधन की सरलता अथवा कठिनाई की दृष्टि से संविधान दो प्रकार के बतलाये जाते हैं—लचीले (flexible) और कठोर (rigid)। साधारण अर्थ के अनुसार लचीला संविधान उसे कहते हैं जिसका संशोधन सरलतापूर्वक किया जा सकता हो, और कठोर संविधान वह होता है जिसका संशोधन कठिन हो। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, उस देश का संविधान लचीला कहा जाता है जहाँ व्यवस्थापिका सभा कानून बनाने की साधारण कार्य प्रणाली द्वारा संशोधन कर सकती है। जिन देशों का संविधान लचीला है उनमें संवैधानिक तथा साधारण कानूनों में कोई अन्तर नहीं माना जाता और दोनों ही व्यवस्थापिका सभा द्वारा एक ही रीति से बनाये और बदले जा सकते हैं। इङ्गलैण्ड का संविधान लचीला है। वहाँ जब विधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है तो पार्लामेण्ट क़ानून बनाने की साधारण कार्य-प्रणाली द्वारा ही परिवर्तन कर देती है, उसके लिये किसी विशेष कार्य-प्रणाली की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके विपरीत कठोर (rigid) शासन-विधान वह है जिसमें संविधान में परिवर्तन करने के लिये एक विशेष प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। जिन देशों में कठोर (rigid) संविधान होता है वहाँ संवैधानिक कानूनों का स्तर साधारण कानूनों की अपेक्षा ऊँचा समझा जाता है। यदि साधारण क़ानून संवैधानिक क़ानून के विपरीत होता है तो वह रद्द समझा जाता है। अमेरिका का संविधान कठोर है। वहाँ साधारण क़ानून तो व्यवस्थापिका सभा (काँग्रेस) द्वारा बनाये जाते हैं, परन्तु संविधान में संशोधन करने के लिये एक विशेष प्रणाली का अनुकरण करना पड़ता है, जिसके द्वारा संशोधन करने में बहुत अधिक समय लगता है, कभी-कभी तो वर्षों लग जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी कठोर शासन-विधानों में परिवर्तन या संशोधन कठिन होता है। फ्रांस का शासन-विधान कठोर होते हुये भी उसमें परिवर्तन काफ़ी सुगम है। वास्तव में कठोर शासन-विधानों में संशोधन या परिवर्तन करने के नियम विभिन्न देशों में अलग-अलग हैं। संसार का कोई संविधान पूर्णतया लचीला अथवा पूर्णतया कठोर नहीं है। हम केवल तुलनात्मक रूप से ही कह सकते हैं कि अमुक संविधान अमुक की अपेक्षा अधिक कठोर अथवा अधिक लचीला है।

साधारणतया, संघतन्त्र में शासन शक्तियों के केन्द्रीकरण तथा उनके स्थानीय-

करण के बीच उचित संतुलन रखने के लिये कठोर संविधान आवश्यक होता है। परन्तु भारत के नये संविधान में एक ऐसे संघ की व्यवस्था की गई है जिसमें कठोरता (rigidity) और लचीलापन (flexibility) का सम्मिश्रण है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने अथक परिश्रम के पश्चात् ऐसी व्यवस्था बनाई है कि साधारणतया तो संविधान संघात्मक ही रहेगा परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसे सरलतापूर्वक एकात्मक बनाया जा सकता है। इसी कारण उसे लचीला बनाना आवश्यक था। प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ही नहीं, संविधान सभा का एक बड़ा बहुमत भारत के लिये लचीला संविधान बनाने के पक्ष में था। पं० नेहरू ने संविधान को लचीला बनाने के कारणों की व्याख्या करते हुये संविधान सभा में कहा था:—"हम चाहते तो यह हैं कि इस संविधान को यथासम्भव ठोस तथा स्थायी बनायें; परन्तु संविधानों में स्थायित्व का अभाव होता है। (उनमें) किसी सीमा तक लचीलापन होना चाहिये। ......अस्तु हम इस संविधान को इतना ठोस नहीं बना सकते थे कि वह परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के साथ बदला न जा सके। जब कि सारे संसार में उथल-पुथल मची हुई है और हम बड़े वेग से संक्रान्तिकाल से होकर निकल रहे हैं, हमारा आज का कार्य सम्भव है कल के योग्य न हो[1]।"

नये संविधान में विभिन्न प्रावधानों के संशोधन के लिये तीन प्रणालियाँ निर्धारित की गई हैं।

(१) बहुत से प्रावधानों का संशोधन संसद् द्वारा साधारण बहुमत से ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिये नये राज्यों का निर्माण अथवा वर्तमान राज्यों का पुनर्सङ्गठन, राज्यों के लिये द्वितीयागारों की स्थापना अथवा उनका उन्मूलन, केन्द्राधिशासित क्षेत्रों के लिये संविधान-निर्माण, अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जातियों का प्रशासन, आदि ऐसे विषय हैं जिनमें संसद् क़ानून बनाने की साधारण कार्य-प्रणाली द्वारा संशोधन कर सकती है। प्रावैधिक रूप से इन विषयों में संशोधन संवैधानिक संशोधन नहीं कहे जा सकते हैं; परन्तु उनका सम्बन्ध संवैधानिक महत्व के विषयों से है, अतएव व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे संवैधानिक संशोधनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

---

1. "While we want this constitution to be as solid and permanent as we can make it, there is no permanence in constitutions...... There should be a certain flexibility......In any event we could not make this constitution so rigid that it cannot be adopted to changing conditions. When the world is in turmoil and we are passing through a very swift period of transition, what we may do to-day, may not be wholly applicable tomorrow."—*Jawaharlal Nehru.*

(२) संविधान में प्रावधान किया गया है कि संसद् के किसी आगार में संविधान के संशोधन से सम्बंधित कोई विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता है, और जब वह विधेयक प्रत्येक आगार में, उस आगार की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उस आगार में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से पास हो जाये तो वह राष्ट्रपति के समक्ष उनकी स्वीकृति के लिये रखा जायेगा, और ऐसी स्वीकृति मिल जाने पर, विधेयक के उपबन्धों के अनुसार संविधान संशोधित हो जायेगा। भारत के संविधान में संशोधन की इस सामान्य विधि के सम्बन्ध में, जो संविधान के अधिकतर प्रावधानों के संशोधन करने में प्रयुक्त की जायेगी, हमारी यह धारणा है कि इसमें इङ्गलैण्ड के लचीलापन तथा अमरीका की कठोरता के बीच का मार्ग अपनाया गया है।

(३) संविधान के कतिपय ऐसे प्रावधान भी हैं जिनका संशोधन उपरोक्त सरल रीति से नहीं किया जा सकता है। निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित संशोधनों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रखे जाने के पूर्व, प्रथम अनुसूची के भाग १ तथा २ में उल्लिखित राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों के प्रत्येक आगार में, उस आगार की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस आगार में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से संशोधन-प्रस्ताव का पास हो जाना आवश्यक होगा।

(क) संविधान का ५४ वाँ तथा ५५ वाँ अनुच्छेद जिनका सम्बन्ध राष्ट्रपति के निर्वाचन विधि से है।

(ख) अनुच्छेद ७३ तथा १६२ जिनका सम्बन्ध संघ तथा प्रथम अनुसूची के भाग १ में उल्लिखित राज्यों की कार्यकारिणी शक्ति से है।

(ग) अनुच्छेद २४१ जिसका सम्बन्ध प्रथम अनुसूची के भाग ३ में उल्लिखित राज्यों के उच्च न्यायालयों से है।

(घ) संघीय न्यायमण्डल से सम्बन्धित भाग ५ का चौथा परिच्छेद; और राज्यों के उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित भाग ६ का पाँचवाँ परिच्छेद।

(ङ) संविधान के भाग ११ का पहला परिच्छेद जिसका सम्बन्ध संघ तथा राज्यों के विधायी सम्बन्धों से है।

(च) संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लिखित विषयों की संघ, राज्य तथा समवर्ती सूचियाँ।

(छ) संसद् के लिये राज्यों के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी प्रावधान।

(ज) संविधान का ३६८ वाँ अनुच्छेद जिसमें संविधान के संशोधन की प्रणाली निर्धारित की गई है।

हमारे संविधान-संशोधन की सामान्य विधि के उपरोक्त सब अपवाद संविधान

के संघात्मक स्वरूप की सुरक्षा के लिये आवश्यक थे। संसद् पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देना आवश्यक था कि वह राज्यों के बहुमत की अनुमति बिना शक्तियों के विभाजन में किसी प्रकार का परिवर्तन न कर सके। यदि शक्तियों का विभाजन बदलने का अधिकार केवल संसद् में ही निहित होता तो संघतन्त्र का आधार ही समाप्त हो जाता। परन्तु यह स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया के राज्यों की भाँति हमारे राज्य अपने संविधानों का स्वयं संशोधन नहीं कर सकते।

भारत के संविधान की संशोधन विधि के उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अधिकांश भाग में हमारा संविधान उतना ही लचीला है जितना कि स्वयं इङ्गलैण्ड का। संविधान के अधिकतर अनुच्छेद संसद् के दोनों आगारों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा संशोधित हो सकते हैं। हमने एक लम्बे तथा विस्तृत संविधान का निर्माण किया है और सभी सम्भावनाओं के लिये उचित प्रावधान करते हुये अनिश्चय के लिये बहुत थोड़ा स्थान छोड़ा है। इस पर भी आवश्यकतानुसार संशोधन की सरलता का ध्यान रखा गया है। थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त सम्पूर्ण संविधान सरलतापूर्वक बदला जा सकता है। हमारा संविधान वास्तव में लिखित होते हुए भी लचीला है।

चौंतीसवाँ अध्याय

भारत के राजनैतिक दल

राजनैतिक दलों की आवश्यकता—प्रतिनिधि-शासन के संचालन के लिये संगठित राजनैतिक दलों का अस्तित्व आवश्यक होता है। वे मतदाताओं की विभिन्नता भरी भीड़ में एक प्रकार की समता एवं व्यवस्था को जन्म देते हैं। लार्ड ब्राइस (Bryce) के मतानुसार राजनैतिक दलों का जन्म प्रजातन्त्रवाद के साथ ही हुआ होगा। उनके विकास में वैधिक एवं संवैधानिक परम्परायें भी कोई रुकावट नहीं डाल सकती हैं। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि प्रत्येक देश में, जहाँ-जहाँ संविधानों का निर्माण प्रजातन्त्रवाद के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है, राजनैतिक दल पाये जाते हैं। इङ्गलैण्ड तो सांसद प्रजातन्त्रवाद तथा राजनैतिक दलों का आदि देश ही है; वहाँ की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था राजनैतिक दलों के संगठन पर निर्भर है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने इङ्गलैण्ड की सांसद शासन-पद्धति को अपनाया है, अतएव हमारे यहाँ भी शासन संचालन में राजनैतिक दलों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होगा। भारत के प्रधान मन्त्री तथा राज्यों के मुख्य मन्त्रियों की इतनी अधिक शक्ति का रहस्य यही है कि वे बहुसंख्यक दल के नेता होते हैं। बहुसंख्यक दल के नेतागण ही मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं और संसद् तथा राज्यों के विधानमण्डलों का सम्पूर्ण विधायी तथा वित्तीय कार्य बहुसंख्यक दल (majority party) के सदस्यों की सहायता से ही चलता है। संगठित विरोधी दलों का अस्तित्व भी आवश्यक है, क्योंकि वे किसी एक दल की तानाशाही नहीं स्थापित होने देते हैं। वर्तमान भारत में इस प्रकार का विरोध विशेष सबल नहीं है, परन्तु आशा की जाती है कि भविष्य में यह अभाव दूर हो जायेगा। कुछ लोगों की धारणा है कि राजनैतिक दल अनेक दोषों की जड़ होते हैं, अतएव उनका उन्मूलन कर दिया जाना चाहिये। इन लोगों का कहना है कि जहाँ राजनैतिक दलों द्वारा नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा प्राप्त होती है वहाँ साथ ही इतना पक्षपातपूर्ण प्रचार होता है कि जनता भ्रम में पड़ जाती है और उसे सत्य का पता नहीं चलता। इन दलों के कारण बेईमानी, झूठ, रिश्वत, पक्षपात आदि अनेक दोष भी फैलते हैं। दलों के नेता मतदाताओं से झूठे वादे करते हैं, उन्हें रिश्वत देते हैं तथा पदों का लोभ देते हैं। जब कोई दल बहुमत प्राप्त करके शासन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तो वह अपने अनुयायियों को अयोग्य होते हुये भी सरकारी पदों पर नियुक्त करता

है और उन्हें अनेक प्रकार से आर्थिक लाभ पहुँचा कर राष्ट्र की हानि करता है। राजनैतिक दल राष्ट्र के प्रति भक्ति छोड़ कर नागरिकों के हृदय में केवल दल के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव जागृत करते हैं। दलों की आलोचना इसलिये भी की गई है कि ये सदस्यों के व्यक्तित्व को कोई महत्व नहीं देते। किसी दल में स्वतन्त्र विचार वाले व्यक्तियों को कोई स्थान नहीं। परन्तु आलोचक यह भूल जाते हैं कि किसी भी शासन-कार्य के सम्पादन के लिये संगठित सहयोग आवश्यक होता है और इसी संगठित सहयोग को दल कहा जाता है। जनमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति के सबसे अच्छे माध्यम यही राजनैतिक दल होते हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल की एक नीति होती है और उसी के अनुसार उसका कार्यक्रम होता है। दल के नेता व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा लोकमत अपने पक्ष में करते हैं। वे जनता के सामने राजनैतिक समस्यायें रखते हैं और इस प्रकार जनता को राजनैतिक शिक्षा मिलती है। वैसे तो संगठित राजनैतिक दल सदा प्रचार-कार्य करते रहते हैं, किन्तु इनका वास्तविक काम चुनाव के समय होता है। चुनाव के अवसर पर राजनैतिक दल अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में मतदाताओं के सम्पर्क में आते हैं, और उनके सामने राष्ट्रीय समस्याओं को रखते हैं। इस प्रकार वे जनता को राजनैतिक शिक्षा देते हैं, लोकमत को जाग्रत करते हैं तथा सार्वजनिक विषयों में नागरिकों की रुचि उत्पन्न करते हैं। प्रजातन्त्र को सफल बनाने तथा राजनैतिक शिक्षा देने के अतिरिक्त ये दल कभी-कभी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का भी प्रयत्न करते हैं।

दलों का निर्माण अनेक कारणों के परिणामस्वरूप तथा अनेक आधार पर होता है। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही दलबन्दी की ओर होती है। वे सम्मिलित विचार तथा सम्मिलित निर्णय के अभ्यस्त होते हैं। अनन्तकाल से मानव जाति प्रतिक्रियावादी (reactionary), रूढ़िवादी (conservative), उदारवादी (liberal) तथा उग्रवादी (radical) आदि वर्गों में विभाजित चली आई है। दलबन्दी का दूसरा मुख्य कारण आर्थिक हितों की विभिन्नता है। वे लोग जिनके आर्थिक हित समान होते हैं अपना अलग दल बना लेते हैं। अनेक दल धार्मिक, जातीय, साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक तथा भाषा सम्बन्धी भेदों के कारण भी बन जाते हैं। परन्तु यह सब दल विशुद्ध राजनैतिक दल की कोटि में नहीं आते हैं। वास्तव में शासन-सत्ता का नियन्त्रण करने वाले राजनैतिक दल नागरिकों के उस समूह का नाम है जो न्यूनाधिक संगठित हों, जो एक राजनैतिक इकाई की तरह काम करते हों और जिनका उद्देश्य शासन पर अधिकार करना हो।

राजनैतिक दल की परिभाषा करते हुये बर्क (Burke) ने लिखा है कि "दल मनुष्यों का एक संगठित समूह है जिसका निर्माण सर्वस्वीकृत एक ऐसे सिद्धान्त द्वारा

होता है जिसका उद्देश्य सब के सहयोग द्वारा राष्ट्र के हितों की वृद्धि हो[1]।" मेकाइवर (MacIver) ने राजनैतिक दलों की परिभाषा करते हुये कहा है कि "यह किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा नीति का समर्थन करने वाले संगठित समूह होते हैं जिसे वे, संवैधानिक साधनों द्वारा, शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करते हैं[2]।" इस परिभाषा की व्याख्या करने पर राजनैतिक दलों के तीन तत्व हमारे सामने आते हैं—(१) जनता का संगठित सहयोग होना चाहिये; (२) जनता के राजनैतिक सिद्धान्त तथा उद्देश्य समान होने चाहिये; और (३) उन्हें अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने में संवैधानिक एवं शान्तिमय उपायों का प्रयोग करना चाहिये। प्रोफेसर लास्की (Laski) के शब्दों में, "राजनैतिक दल मुख्यत: देश की आर्थिक व्यवस्था का निश्चय करने की इच्छा करने वाले संगठन होते हैं[3]।" यह परिभाषा आधुनिक राजनैतिक दलों के मुख्यत: आर्थिक दृष्टिकोण की ओर संकेत करती है। और इस दृष्टिकोण से भारत में राष्ट्रीय काँग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल इत्यादि इने-गिने दल ही राजनैतिक दल कहे जा सकते हैं। शेष दलों में से अधिकांश सम्प्रदायवादी संगठनमात्र हैं। अब हम देश के प्रमुख राजनैतिक दलों की नीति, कार्यक्रम तथा संगठन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस बहुत समय से जनता के स्नेह तथा विश्वास की पात्र रही है। गत कुछ वर्ष पूर्व काँग्रेस जितनी लोकप्रिय थी उतनी आज नहीं रह गई है। तथापि, अनेक लोगों की आज भी यही धारणा है कि वर्तमान परिस्थितियों में, और आगामी अनेक वर्षों तक केवल काँग्रेस ही राष्ट्र के भाग्य का उचित संचालन कर सकती है। आज भी काँग्रेस देश का सबसे बड़ा, सबसे सुसंगठित और सब से सबल राजनैतिक दल है। संघ तथा राज्यों के विधानमण्डलों में इसका प्रबल बहुमत है। समाजवादियों तथा साम्यवादियों के अलग हो जाने के पश्चात् काँग्रेस में अब कोई विषम अथवा बहुजातीय तत्व नहीं रह गये हैं।

काँग्रेस की नीति तथा उसका कार्यक्रम—स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व

---

1. "Party is a body of men united for promoting by their joint endeavours the national interest, upon some particular principle in which they are all agreed."—*Burke.*

2. "A political party is an association organised in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinant of government."—*MacIver.*

3. "Parties are predominantly organisations which seek to determine the economic constitution of the state."—*Laski.*

कॉंग्रेस का मुख्य उद्देश्य देश की जनता द्वारा सभी उचित शान्तिपूर्ण उपायों से भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति था। परन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा भारतीय गणतन्त्र की स्थापना के साथ कॉंग्रेस के इस स्वरूप का अन्त हो गया। अब कॉंग्रेस ने अपना एक नया उद्देश्य स्वीकार किया है। अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी की बम्बई में अप्रैल सन् १९४८ में होनेवाली बैठक में स्वीकृत भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के संविधान के पहले अनुच्छेद के अनुसार, "भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस का उद्देश्य भारत के निवासियों का जीवन सुखी और उन्नतिशील बनाना तथा शान्तिपूर्ण एवं उचित उपायों से भारत में एक ऐसे सहकारी जनराज्य की स्थापना करना है जो अवसर-समता तथा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की समता पर आधारित हो और विश्वशान्ति तथा विश्व भ्रातृत्व की कामना करता हो[1]।" इस प्रकार कॉंग्रेस का उद्देश्य तथा उसकी कार्य-प्रणाली सहयोग पर आधारित है और यथासम्भव संघर्ष तथा प्रतियोगिता से बचने में विश्वास रखती है। आर्थिक क्षेत्र में कॉंग्रेस एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना अपना उद्देश्य बतलाती है। सामाजिक क्षेत्रों में कॉंग्रेस एक ऐसे लौकिक राज्य की स्थापना करना चाहती है जिसमें सभी व्यक्तियों को समान अधिकार तथा अवसर प्राप्त हों, और धर्म, जाति, वर्ग अथवा प्रदेश के आधार पर जनता को विरोधी दलों में विभाजित करने वाले समस्त व्यवधानों का अन्त हो। शिक्षा प्रचार तथा हिन्दी का प्रचार भी कॉंग्रेस का उद्देश्य है। राष्ट्रीय क्षेत्र में कॉंग्रेस का उद्देश्य शान्ति को जन्म देकर राष्ट्र को अधिक शक्तिशाली बनाना है। और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कॉंग्रेस का उद्देश्य विश्व शान्ति का वर्धन करने की दिशा में अग्रसर एक स्वतन्त्र वैदेशिक-नीति का समर्थन करना है। अभी तक कॉंग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में तटस्थता की नीति को ही अपना ध्येय रखा है।

१४ जुलाई सन् १९५१ को अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी ने बङ्गलोर में अपना निर्वाचन सम्बन्धी उद्देश्य-पत्र स्वीकार किया। इसमें गाँधी जी की शिक्षाओं का अनुकरण करते हुये, राष्ट्रीय जीवन के नैतिक आधार के उचित मूल्यांकन, तथा राजनैतिक कार्यों में उसके पालन पर विशेष ज़ोर दिया गया है। कॉंग्रेस ने भूमि-व्यवस्था सुधार को सबसे अधिक महत्व दिया है। और इस दिशा में जमींदारी-

1. "The object of the Indian National Congress is the well-being and the advancement of the people of India and the establishment in India by peaceful and legitimate means of a co-operative commonwealth based on equality of opportunity and of political, economic and social rights, and aiming at world peace and fellowship."—*Article 1, of the Congress Constitution.*

उन्मूलन का प्रतिपादन करके पहला क़दम उठाया भी जा चुका है। काँग्रेस जमींदारी, जागीरदारी इत्यादि का उन्मूलन करके भूमि को पुरानी रूढ़िगत व्यवस्था से मुक्त करना चाहती है। काँग्रेस आश्वासन देती है कि वह खेतों के टुकड़े-टुकड़े नहीं होने देगी, सहकारी कृषि को प्रोत्साहन देगी और कृषि के योग्य बनाई गई भूमि के बँटवारे के समय खेतों में काम करने वाले उन मज़दूरों का सबसे पहले ध्यान रखेगी जिनके पास अपनी कोई भूमि नहीं है। काँग्रेस के उद्देश्यपत्र में गृह-उद्योगों के प्रोत्साहन की व्यवस्था भी की गई है। उसमें शासन की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (mixed economy) की नीति का समर्थन किया गया है और कहा गया है कि जिन वस्तुओं की देश में कमी है उनके वितरण पर शासन का नियन्त्रण रहना चाहिये। राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर पं० नेहरू ने कहा है: "हमारे दृष्टिकोण का आधार यह है कि मूल उद्योगों (key industries) पर शासन का स्वामित्व अथवा नियन्त्रण रहना चाहिये। हमें उत्तरोत्तर इस ओर बढ़ना चाहिये और यथासम्भव शीघ्रता के साथ।·········हमारी अर्थ-व्यवस्था सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत क्षेत्रों में विभाजित है। सार्वजनिक क्षेत्र राज्य-स्वामित्व का क्षेत्र है; परन्तु व्यक्तिगत उद्योगों का भी इस योजना के साथ समन्वय होना आवश्यक है। और इस अर्थ-व्यवस्था पर कुछ नियन्त्रण भी रहने चाहिये, क्योंकि सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत उद्योगों का संचालन संघर्ष मुक्त तथा परस्पर समन्वित होना चाहिये।"

श्रमिकों के विषय में काँग्रेस के उद्देश्यपत्र में कहा गया है कि राज्य को यथाशक्ति मिलमालिकों तथा श्रमिकों के साथ मिल कर उनके लिये गृहनिर्माण की योजनाओं को प्रोत्साहन देना चाहिये। परिवहण (transport) के क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण की नीति चालू रखी जायेगी क्योंकि इससे जनता की सुविधा और परिवहण की सुचारुता में वृद्धि हुई है। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, बेसिक शिक्षा के प्रचार पर विशेष जोर दिया गया है। पुनर्वास का कार्यक्रम पूरा किया जायेगा। अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी हुई जातियों के सामाजिक सुधार का कार्य उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह जातियाँ भी अन्य लोगों के समान आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अवसरों का उपभोग नहीं करने लगतीं। उद्देश्य पत्र में कहा गया है कि भारतीय नारियाँ आज भी अनेक सामाजिक तथा अन्य निर्योग्यताओं से आक्रांत हैं। अतएव काँग्रेस उनके लिये विधानमण्डलों तथा सामाजिक क्षेत्रों में सेवा के यथेष्ट अवसर देने का भरसक प्रयत्न करेगी।

जहाँ तक वैदेशिक नीति का सम्बन्ध है काँग्रेस एक ऐसी स्वतन्त्र नीति के पालन के पक्ष में है जो भारत के राष्ट्रीय दृष्टिकोण से तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये हितकर हो। भारत सभी देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखेगा और किसी गुटबन्दी में भाग नहीं लेगा परन्तु भारत में जो थोड़े स्थान विदेशियों के हाथ में हैं वे

उसे वापस मिल जाने चाहिये। भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों के विषय में, काश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण और उत्तेजना फैलाने वाले प्रचार के पश्चात् भी, कांग्रेस जम्मू तथा काश्मीर की जनता की इच्छाओं के अनुसार समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान चाहती है। परन्तु अब काश्मीर पर किसी प्रकार का भी आक्रमण भारत पर आक्रमण समझा जायेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्व शान्ति का एक साधन मान कर कांग्रेस उसमें विश्वास करती है। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध है तथा एशिया के समस्त देशों की मुक्ति और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास रखती है।

कांग्रेस की नीति तथा उसके कार्यक्रम का उपरोक्त वर्णन सराहनीय है। परन्तु शब्दों का कार्यरूप में परिणत होना आवश्यक है और जब तक कांग्रेस-कार्यकर्ताओं में एक बार फिर सेवा की पुरानी भावना का उदय नहीं होता, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से कांग्रेस के सदस्यों में स्वार्थपरता अधिक आ गई है; कांग्रेस में गुटबन्दी बहुत बढ़ गई है और कांग्रेस के भीतर अनेक छोटे-छोटे गुट अपने स्वार्थों के लिये लड़ रहे हैं। कांग्रेस के उच्च नेता इन बुराइयों को दूर करना चाहते हैं, किन्तु उन्हें इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी, निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता है।

कांग्रेस का संगठन—कांग्रेस का देशव्यापी सङ्गठन प्रजातन्त्रवाद के सिद्धांतों पर आधारित है। सङ्गठन की निम्नतम इकाई ग्राम अथवा मोहल्ला कांग्रेस समिति है जिसके क्षेत्र के अन्तर्गत कम से कम ५०० व्यक्ति निवास करते हैं। ग्राम अथवा मोहल्ला समिति के ऊपर तहसील, ज़िला तथा प्रदेश कांग्रेस समितियाँ हैं। परन्तु कांग्रेस सङ्गठन के प्रदेशों (प्रान्तों) की सीमायें प्रत्येक दशा में राज्य-सीमाओं से मिलती हुई नहीं हैं। कांग्रेस प्रदेशों की संख्या इस समय २५ है और इनका निर्माण भाषा के आधार पर हुआ है; उदाहरणार्थ आन्ध्र, उत्कल, कर्नाटक, केरल, गुजरात, तामिलनाड, महाकोशल, महाराष्ट्र और विदर्भ आदि। नगरों में नगर कांग्रेस समितियाँ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध प्रदेश समिति से होता है। प्रदेश समितियों के ऊपर एक अखिल भारतीय कांग्रेस सङ्गठन है जिसमें कांग्रेस अध्यक्ष (President), कार्यकारिणी समिति (Working Committee), अखिल भारतीय कांग्रेस समिति (All-India Congress Committee) तथा कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन (Annual Session) सम्मिलित हैं। नीचे से ऊपर तक सम्पूर्ण कांग्रेस सङ्गठन का आधार निर्वाचन का सिद्धान्त है। प्रत्येक कांग्रेस समिति का कार्यकाल साधारणत: २ वर्ष होता है।

कांग्रेस में दो प्रकार के सदस्य होते हैं—साधारण (Primary) तथा कर्मठ (Active)। कोई भी १८ वर्ष से अधिक आयु वाला व्यक्ति, जो कांग्रेस के उद्देश्यों में आस्था रखता हो, चार आना वार्षिक चन्दा दे कर तथा प्रार्थनापत्र भर कर कांग्रेस

का साधारण सदस्य बन सकता है। कर्मठ सदस्य के लिये आवश्यक है कि वह कम से कम २१ वर्ष का हो, सदा खद्दर पहनता हो, मद्य-निषेध, साम्प्रदायिक एकता और सामाजिक समता में विश्वास रखता हो, किसी अन्य राजनैतिक दल का सदस्य न हो और अपने समय का कुछ अंश काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में अवश्य लगाता हो। साधारण सदस्यों को केवल ग्राम अथवा मोहल्ला काँग्रेस समितियों के निर्वाचन में मत देने अथवा चुने जाने का अधिकार होता है। उन्हें काँग्रेस सङ्गठन की अन्य समितियों की सदस्यता के लिये खड़े होने का अधिकार नहीं प्राप्त होता है। कर्मठ सदस्यों को काँग्रेस की किसी समिति की सदस्यता के लिये खड़े होने तथा मत देने का अधिकार होता है।

प्रदेश काँग्रेस समिति में उस प्रदेश से काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के लिये निर्वाचित प्रतिनिधि तथा उस प्रदेश में रहने वाले काँग्रेस के भूतपूर्व तथा वर्तमान सभापति होते हैं। काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के इन सदस्यों को चुनने के लिये प्रत्येक प्रदेश कई नगर व देहाती निर्वाचन-क्षेत्रों में इस प्रकार बाँटा जाता है कि एक लाख जनता के पीछे एक प्रति नधि निर्वाचित हो। प्रदेश काँग्रेस समितियाँ अखिल भारतीय काँग्रेस समिति व कार्यकारिणी समिति के नियन्त्रण में अपने प्रदेश के अन्दर काँग्रेस के कार्य की देख-रेख करती हैं। वार्षिक अधिवेशन का काम प्रस्तावों द्वारा अगले वर्ष के लिये काँग्रेस का कार्यक्रम विचार कर निर्धारित करना होता है। अखिल भारतीय काँग्रेस समिति में काँग्रेस के अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, भूतपूर्व अध्यक्ष तथा प्रान्तीय प्रतिनिधि होते हैं। वार्षिक अधिवेशन वाले प्रान्तीय प्रतिनिधि अनुपाती प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) प्रणाली के एक-परिवर्तनीय मतविधि (Single Transferable vote system) द्वारा अपने में से $\frac{1}{8}$ सदस्य चुन लेते हैं। यही अखिल भारतीय काँग्रेस समिति के प्रान्तीय प्रतिनिधि होते हैं। इस समिति का कर्तव्य है कि काँग्रेस के दो अधिवेशनों के बीच काँग्रेस कार्यक्रम को पूरा करे। यह समिति काँग्रेस दल के सङ्गठन में संसद् का कार्य करती है। वह दल-सम्बन्धी सभी विषयों का आनियमन करती है और उसके बनाये हुये नियम सभी अधीनस्थ काँग्रेस कमेटियों के लिये मान्य होते हैं। उसे अध्यक्ष पद की अस्थायी रिक्तियों को भरने का अधिकार होता है। वह उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से काँग्रेस के संविधान का संशोधन भी कर सकती है। प्रतिवर्ष काँग्रेस के अधिवेशन से कम से कम दो दिन पूर्व नई अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी मनोनीत अध्यक्ष के सभापतित्व में विषय समिति के रूप में बैठ कर निश्चय करती है कि खुले अधिवेशन का क्या कार्यक्रम होगा और उसके समक्ष कौन-कौन से प्रस्ताव रखे जायेंगे। इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की बैठक या तो कार्यकारिणी के बुलाने से होती है या चौबीस सदस्यों के अनुरोध पर।

कॉंग्रेस की सर्वोच्च कार्यकारिणी में कॉंग्रेस अध्यक्ष तथा उसके द्वारा नामज़द सदस्य होते हैं। अध्यक्ष प्रतिवर्ष कॉंग्रेस के प्रतिनिधियों द्वारा पुरोधानिक अथवा वैकल्पिक मतदान प्रणाली (Preferential or Alternative vote system) के अनुसार निर्वाचित होता है। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता अपने मतदान पत्र पर पुरोधान के अनुसार अपनी पसन्द अंकित करता है। जब निर्वाचन के लिये केवल दो अभ्यर्थी ही होते हैं तब तो परिणाम स्पष्ट हो जाता है। परन्तु अभ्यर्थियों की संख्या दो से अधिक होने पर द्वितीय अथवा तृतीय गणनाओं की आवश्यकता भी पड़ सकती है, क्योंकि नियम यह है कि निर्वाचित होने के लिये अभ्यर्थी को डाले गये मतों में से कम से कम ५०% मिलने चाहिये। कार्यकारिणी समिति में अध्यक्ष तथा कोषाध्यक्ष के अतिरिक्त लगभग १८ या २० और सदस्य होते हैं जिनमें दो या तीन मन्त्री भी सम्मिलित रहते हैं। कार्यकारिणी समिति के सदस्य साधारणतया अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के सदस्य भी होते हैं, और यदि न हों तो कार्यकारिणी समिति में नियुक्त होने की तिथि से छ: मास के भीतर उनके लिये अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के सदस्य निर्वाचित हो जाना आवश्यक होता है। कार्यकारिणी समिति कॉंग्रेस संगठन के मन्त्रिमण्डल के समान है जो उसके कार्यक्रम तथा उसकी नीति को कार्यान्वित करती है। उसकी समय-समय पर होने वाली बैठकों में महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा नीतियों का निश्चय किया जाता है। वह अपने सभी कार्यों के सम्बन्ध में अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के प्रति उत्तरदायी होती है और उसको छोड़ कर वह अन्य सभी कॉंग्रेस कमेटियों के कार्य का अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण करती है। देश भर के सभी प्रमुख कॉंग्रेसी नेतागण साधारणतया कार्यकारिणी समिति में सम्मिलित किये जाते हैं।

सांसद मण्डल तथा केन्द्रीय निर्वाचन समिति—कॉंग्रेस की कार्यकारिणी समिति एक सांसद मण्डल (Parliamentary Board) की नियुक्ति करती है जिसमें कॉंग्रेस के अध्यक्ष के अतिरिक्त, जो इसका भी सभापति होता है, पाँच और सदस्य होते हैं। सांसद मण्डल का कार्य कॉंग्रेस के सांसद कार्यों का आनियमन तथा निर्देशन करना होता है। वह राज्यों के कॉंग्रेस मन्त्रिमण्डलों के कार्यों का नियन्त्रण करता है तथा जो लोग कॉंग्रेस के आदेशों का पालन नहीं करते हैं उनके विरुद्ध अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही की सिफारिश करता है। सांसद मण्डल के अतिरिक्त एक केन्द्रीय निर्वाचन समिति (Central Election Committee) भी होती है जिसमें सांसद मण्डल के सदस्यों के अतिरिक्त अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी द्वारा निर्वाचित पाँच और सदस्य होते हैं। यह समिति कॉंग्रेस की ओर से राज्यों के तथा केन्द्रीय विधानमण्डलों की सदस्यता के लिये खड़े होने वाले व्यक्तियों का अन्तिम चुनाव करती तथा निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार-कार्य करती है।

विधानमण्डलों में काँग्रेस का संगठन—अभी तक हमने विधानमण्डलों के बाहर काँग्रेस के संगठन का वर्णन किया है। परन्तु जब से काँग्रेस ने विधान-मण्डलों में प्रवेश करके पदग्रहण किया है, काँग्रेस के प्रतिनिधियों ने केन्द्रीय तथा राज्यों के विधानमण्डलों के अन्दर भी अपने संगठन बना लिये हैं। काँग्रेस का यह संगठन इङ्गलैंड की प्रणाली के अनुसार ही किया गया है। वहाँ किसी भी दल की ओर से निर्वाचित होने वाली पार्लियामेंट के सदस्यों पर संसद् के बाहर दल के किसी भी संगठन का विशेष नियन्त्रण नहीं रहता है। यह उक्ति मज़दूर (Labour) दल की अपेक्षा अनुदार (Conservative) तथा उदार (Liberal) दलों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लागू होती है। परन्तु व्यवहार रूप में मज़दूर दल भी पार्लियामेंट में पूर्ण स्वतन्त्र होता है; केवल नीति और सिद्धान्तों के प्रश्नों में उसके लिये मज़दूर पार्टी के संविधान तथा स्थायी आदेशों का अनुसरण करना आवश्यक होता है। भारत में अनेक काँग्रेसियों की अब भी यह धारणा है कि अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी अथवा प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों को केवल सामान्य नीति-निर्देशन का ही नहीं, मन्त्रिमण्डलों को विस्तृत आदेश देने और उनके कार्यों की समीक्षा करने का भी अधिकार होना चाहिये। ऐसे लोगों के विषय में यही कहा जा सकता है कि वे अपने आपको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलने में समर्थ नहीं हो सके हैं। परन्तु काँग्रेस को कभी न कभी यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उसे एक राज-नैतिक दल बन कर रहने में संतोष करना चाहिये और अपने कार्यक्षेत्र को सामान्य नीतियों के विकास और निर्वाचन-सम्बन्धी उद्देश्य-पत्रों में उनकी अभिव्यक्ति तक ही सीमित रखना चाहिये। उसका कार्य केवल प्रचार और निर्वाचन लड़ना होना चाहिये।

विधानमण्डलों में काँग्रेस के संगठन के मुख्य अंग दल के नेता उसके प्रमुख सहकारी तथा विभिन्न नियन्त्रक गण (whips) होते हैं। सङ्गठन में सर्वोच्च स्थान दल के नेता का होता है। यदि दल बहुमत में हुआ तो दल का नेता प्रधान मन्त्री बन जाता है और अपने सहकारियों के योग से मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। नीति तथा कार्य संचालन में उसके मत का विशेष प्रभाव पड़ता है और बहुधा दल को उसके दिये हुये वचन का पालन करना पड़ता है। नेता की नियुक्ति की प्रणाली के सम्बन्ध में हमारे देश में अभी किसी निश्चित संप्रतिशा का विकास नहीं हुआ है। इङ्गलैंड में अनुदार दल का नेता एक बार निर्वाचित हो जाने के पश्चात् जब तक चाहे दल का नेतृत्व कर सकता है परन्तु अन्य दलों के नेतागण एक वर्ष की अवधि के लिये चुने जाते हैं। भारत में पं० जवाहरलाल नेहरू केन्द्रीय विधानमण्डल में दल के सर्वस्वीकृत नेता हैं और इसका कारण उनका महान् व्यक्तित्व है। परन्तु राज्यों के विधानमण्डलों में काँग्रेस के नेतागण प्रत्येक साधारण निर्वाचन के पश्चात्

अथवा जब कभी दल अपने नेता का परिवर्तन उचित एवं आवश्यक समझे, निर्वाचित किये जाते हैं। कुछ राज्यों में यह नेतागण बहुत दिनों से मुख्य मन्त्री के पद पर आसीन चले आ रहे हैं, परन्तु मद्रास, पञ्जाब, राजस्थान आदि में बहुधा परिवर्तन हुये हैं। काँग्रेस के केन्द्रीय सांसद दल में नेता के अतिरिक्त एक उपनेता, दो मन्त्री तथा एक कोषाध्यक्ष हैं। केन्द्रीय तथा राज्यों के विधानमण्डलों के दलों की अपनी कार्यसमितियाँ होती हैं जो दल के सदस्यों द्वारा निर्वाचित की जाती हैं। इन कार्यसमितियों का स्थान मन्त्रिमण्डलों के अधीनस्थ होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विधानमण्डल के दल में कई नियन्त्रक (whips) भी होते हैं। वे विधानमण्डल के सदस्य होते हुये भी उसके विवादों में बहुत कम भाग लेते हैं। उनका कार्य यह प्रबन्ध करना होता है कि जब कभी किसी विषय पर विधानमण्डल के दलों के विभाजन का अवसर आये, मन्त्रिमण्डल के समर्थक यथेष्ट संख्या में वहाँ उपस्थित हों। वे मन्त्रियों को अपने दल के सदस्यों की भावनाओं का बोध कराते रहते हैं और उदासीन सदस्यों को दल की ओर से मत देने पर तैयार करते हैं। जब कभी विधानमण्डल में मत लिये जाते हैं, वे गणकों का भी कार्य करते हैं।

समाजवादी दल

संक्षिप्त इतिहास—काँग्रेस समाजवादी दल का पहला अधिवेशन पटना में १७ मई, सन् १९३४ ई० को आचार्य नरेन्द्रदेव के सभापतित्व में हुआ था। इसमें भारत के सभी भागों के सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था जिनमें से अधिकतर पुनर्स्थापित स्वराज्य दल के कौंसिल-प्रवेश कार्यक्रम के विरोधी थे। इस प्रकार के एक दल की आवश्यकता का अनुभव सन् १९३१ ई० में किया गया था और जयप्रकाश नारायण, एम० आर० मसानी तथा अन्य समाजवादियों ने नासिक जेल में इसके सङ्गठन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। उनकी धारणा थी कि भारत का जनसमूह राजनैतिक स्वतन्त्रता मात्र से संतुष्ट नहीं होगा, उसके लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ समाज के आर्थिक ढाँचे की ऐसी पुनर्व्यवस्था आवश्यक है कि उसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की कोई सम्भावना न रह जाये और सब को आर्थिक तथा नैतिक उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों। पटना के सम्मेलन में अखिल भारतीय काँग्रेस समाजवादी दल का कार्यक्रम तथा संविधान बनाने के लिये एक प्रारुप-समिति नियुक्त की गई और श्री जयप्रकाश नारायण दल के संगठन-मन्त्री बनाये गये। काँग्रेस समाजवादी दल का पहला खुला अधिवेशन (open session) बम्बई में, अक्टूबर सन् १९३४ ई० में हुआ। इसमें दल के उद्देश्य तथा कार्यक्रम का निम्नलिखित आधार निश्चित किया गया :—

(१) किसानों और मज़दूरों के प्रतिदिन के आर्थिक तथा राजनैतिक संघर्ष में भाग लेने और उसका विकास करने, तथा स्वतन्त्रता और समाजवाद की प्राप्ति

के लिये एक शक्तिशाली जन-आन्दोलन को जन्म देने के उद्देश्य से किसानों और मज़दूरों का श्रम-संघों में प्रवेश और उनका संगठन।

(२) सभी साम्राज्यवादी युद्धों का सक्रिय विरोध और इस प्रकार की अन्य संकटपूर्ण परिस्थितियों का राष्ट्रीय संघर्ष को प्रबल बनाने के लिये प्रयोग।

(३) ब्रिटिश शासन के साथ संवैधानिक प्रश्नों पर किसी अवस्था में भी बात करने की असमर्थता।

(४) शक्ति-ग्रहण करने के पश्चात्, भारतवर्ष का संविधान बनाने के लिये वयस्क मताधिकार के आधार पर एक संविधान सभा का निर्माण।

इस प्रकार इस दल का संगठन दो आधारभूत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया गया था। पहला उद्देश्य था ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध एक शक्तिशाली राष्ट्रीय मोर्चे की स्थापना। यह कार्य अत्यधिक आवश्यक था क्योंकि सविनय अवज्ञा आन्दोलन की असफलता के पश्चात् राष्ट्रीय शक्तियाँ विश्रृंखल होकर पीछे हटती सी प्रतीत हो रही थीं। दूसरा उद्देश्य समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार कर, राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात्, देश को समाजवाद स्वीकार करने के लिये तैयार करना था। सन् १६३४ ई० से सन् १६४१ ई० तक काँग्रेस समाजवादी दल की सम्पूर्ण शक्ति सन् १६३५ ई० की योजना तथा ब्रिटिश शासन की युद्ध अथवा शांति में किसी प्रकार की सहायता करने के विरोध में लगी रही। उसने काँग्रेसी नेताओं के प्रजातन्त्र विरोधी कार्यों की ओर भी संगठन का ध्यान आकर्षित किया।

सन् १६४२ ई० का "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास हो जाने के पश्चात् जो संघर्ष आरम्भ हुआ उसमें काँग्रेस समाजवादी दल ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। जिस समय संघर्ष आरम्भ हुआ, इसके अधिकाँश कार्यकर्ता कारागृहों में थे। इसके मन्त्री श्री जयप्रकाश नारायण सन् १६४० ई० में ही बन्दी बनाये जा चुके थे। संघर्ष आरम्भ होते ही इसके शेष नेतागण भी पकड़ लिये गये और दल अवैध घोषित कर दिया गया। तथापि "भारत छोड़ो" प्रस्ताव के पश्चात् जो भी कार्य लुक-छिप कर किया गया और बहुत दिनों तक चलता रहा, उस सब का श्रेय काँग्रेस समाजवादी दल तथा इसके नेताओं को ही है। इस समय दल ने गाँधी जी की अहिंसा का परित्याग कर दिया। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा: "भारत छोड़ो" प्रस्ताव की स्वीकृति के साथ-साथ प्रत्येक भारतीय स्वतन्त्र हो गया है और उसे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हिंसा के प्रयोग का अधिकार है।" काँग्रेस समाजवादियों के प्रयत्न से ही सतारा, मिदनापुर तथा बलिया में ब्रिटिश शासन के समानान्तर शासन की स्थापना हुई और सम्राट् की भारतीय सेना के सैनिकों में भी ब्रिटिश-विरोधी प्रचार किया गया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जयप्रकाश नारायण और उनके सहयोगियों ने संघर्ष में एक नये जीवन एवं एक नई स्फूर्ति का संचार किया, अन्यथा

वह पहले ही समाप्त हो गया होता।

सन् १६४६ ई० में जब काँग्रेस ने प्रान्तों में, और आंशिक रूप में केन्द्र में भी, फिर शक्ति ग्रहण की, तब काँग्रेस समाजवादी दल पर लगे हुये प्रतिबन्ध उठा लिये गये। दल ने पुन: शक्ति-संग्रह आरम्भ किया और सन् १६४७ ई० में कानपुर में इसका एक सम्मेलन हुआ जो समाजवादी दल के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। इस सम्मेलन में दल ने अपने नाम के सामने से काँग्रेस शब्द हटा दिया और गैरकाँग्रेसियों के लिये भी दल के द्वार खोल देने का निश्चय किया। उन्होंने दल के आदेशों एवं उद्देश्यों को मुख्यत: आर्थिक बताते हुये काँग्रेस की आलोचना आरम्भ कर दी। नासिक सम्मेलन के बाद से समाजवादी काँग्रेस से पूर्णतया अलग हो गये। बहुत से समाजवादियों ने, जो काँग्रेस की ओर से विधानमण्डलों के सदस्य चुने गये थे, अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और समाजवादी दल की ओर से पुनर्निर्वाचन के लिये अभ्यर्थी बने। परन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। तथापि, वे आज भी काँग्रेस के विरोध में लगे हुये हैं और कहीं-कहीं उन्होंने विधानमण्डलों में पहले से अधिक समर्थन प्राप्त कर लिया है। भारत के निवासी यदि किसी दल से स्वस्थ विरोध की आशा रखते हैं तो वह समाजवादी दल है। समाजवादी अभी अधिक लोकप्रिय नहीं हुये हैं, परन्तु उनके दल में नेतृत्व, योग्यता तथा संगठन का अभाव नहीं है। उनकी नीति तथा उनके कार्यक्रम से भारत का शिक्षित वर्ग विशेष प्रभावित है।

नीति तथा कार्यक्रम—समाजवादी दल की वर्तमान नीति का आधार दल की साधारण समिति द्वारा अक्टूबर सन् १६४६ ई० में बंगलोर में स्वीकृत नीति-सम्बन्धी संशोधित संविधान है जिसमें दल के दो मुख्य उद्देश्यों की परिभाषा की गई है:—(क) भारत में एक जनतन्त्रात्मक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना, और (ख) साम्राज्यवाद, जाति-विभेद, उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रों के बीच आर्थिक विषमता उत्पन्न करने वाले अन्य स्वरूपों का उन्मूलन और एक जनतन्त्रात्मक, समाजवादी संसार का निर्माण। जनतन्त्रात्मक समाजवाद पर प्रकाश डालते हुये संविधान अधिनायकतन्त्रीय साम्यवाद (totalitarian communism) को अस्वीकार करता है और एक ऐसे समाज को अपना लक्ष्य बताता है जिसमें सब को पूरी-पूरी राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता हो। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति अर्थात् मज़दूर पूर्ण स्वतन्त्र होगा और शासन को उचित वैधिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से उसके अधिकार एवं विशेषाधिकार छीनने की कोई शक्ति नहीं होगी। समाजवादी व्यवस्था में श्रम-संघ पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे, और उन्हें, आवश्यकता पड़ने पर, हड़ताल करने का भी अधिकार होगा। शक्ति आरूढ़ राजनैतिक दल के अतिरिक्त अन्य दलों को भी संगठन तथा कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी।

प्रकाशन, रेडियो तथा प्रचार के अन्य साधनों पर शासन का एकाधिकार नहीं होगा। शासन के समाचारपत्र प्रत्येक श्रमिक के लिये खुले होंगे और उसको शासन अथवा उसके किसी अंग या कर्मचारी की आलोचना अथवा विरोध करने का अधिकार होगा। इस प्रकार के समाज में आर्थिक शक्ति केवल नौकरशाही शासन के अधीन न रह कर श्रम-संघों, सहकारी संस्थाओं तथा श्रमिकों की अन्य प्रतिनिधि-संस्थाओं में विभाजित होगी। पुलिस तथा प्रशासन के अधिकारियों सहित राज्य के सभी उच्च कर्मचारी निर्वाचित होंगे और जनता उन्हें उनके पद से हटा भी सकेगी। उच्चतम तथा निम्नतम वर्गों के बीच आय का अन्तर कम कर दिया जायगा और किसी भी वर्ग के लिये किसी प्रकार के विशेष अधिकार अथवा अवसर नहीं रह जायेंगे। शासन तथा आर्थिक व्यवस्था को यथासम्भव सरल बना दिया जायेगा, जिससे कि अधिकतम संख्या में जनता उनमें भाग ले सके। वैदेशिक नीति के क्षेत्र में समाजवादी दल विश्व-शासन तथा विश्व शान्ति का समर्थक है। इस दोहरे उद्देश्य का अनुसरण एक दृढ़ तथा रचनात्मक नीति का पालन आवश्यक बना देता है। इस नीति के मुख्य तत्व चार हैं:—जन-स्वातन्त्र्य; जनतन्त्रवाद तथा सामाजिक न्याय; संसार भर में श्रम का अपेक्षाकृत समान मूल्य; तथा सक्रिय तटस्थता।

यह समाजवादी दल का दीर्घकालीन कार्यक्रम है। जुलाई सन् १९५१ ई० में दल ने अपना निर्वाचन सम्बन्धी उद्देश्य-पत्र प्रकाशित किया था जिसमें उस कार्यक्रम की रूपरेखा अंकित की गई थी जिसे समाजवादी दल निर्वाचन में सफल होने पर आगामी पाँच वर्षों में कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता। इसमें कहा गया है कि जनता के भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षण तथा स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान तभी सम्भव हो सकता है जब हमारे सामाजिक सम्बन्धों के आधार बदल जायें और हमारी आर्थिक व्यवस्था तथा हमारे प्रशासन का पूर्णरूपेण पुनर्सङ्गठन हो। कृषि के क्षेत्र में यह कार्यक्रम ज़मींदारों को मुआविज़ा दिये बिना ज़मींदारी उन्मूलन के पक्ष में है। परन्तु छोटे-मोटे ज़मींदारों को उनके पुनर्वास के लिये उचित मुआविज़ा दिया जायेगा। पुनर्सङ्गठित कृषि सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था ग्राम-पञ्चायतों तथा बहुधन्धी सहकारी समितियों पर आधारित होगी और इस सारी व्यवस्था का संचालन एक उपक्रमायोग (Planning Commission) के अधीन होगा। राज्य द्वारा संगठित तथा सुसज्जित खाद्यान्न सेना नई बेकार पड़ी हुई भूमि को खेती के योग्य बनायेगी, और संयुक्त कृषि आदि समस्त सहकारिता-सम्बन्धी योजनाओं को प्रोत्साहन दिया जायेगा। औद्योगिक क्षेत्र में राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के लिये राज्य कतिपय उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेगा। बैंक तथा बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण से पूंजी-निर्माण में सहायता मिलेगी। लोहा, विद्युत्-शक्ति, खनिज आदि उद्योगों का सामाजिक स्वामित्व संयोजित आर्थिक विकास के लिये

आवश्यक है। सूती कपड़ा, शक्कर तथा सीमेंट के उद्योगों को भी राज्य अपने अधीन कर लेगा। शेष उद्योग व्यक्तिगत पूँजी के हाथों में रहेंगे। उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग लेना अनिवार्य होगा। बीमारी के बीमे (sickness insurance) तथा प्रसूति-अवस्था में सरकारी सहायता (maternity benefits) का प्रबन्ध होगा। राज्यों तथा संघ के उपक्रम आयोग (Planning Commissions) औद्योगिक विकास की योजनाओं का निरीक्षण करने के पश्चात् उन्हें अन्तिम स्वरूप देंगे। आर्थिक समानता की स्थापना के लिये राज्य पुराने देशी नरेशों के विशेषाधिकारों का उन्मूलन कर, करारोपण की क्रमगत योजना बनायेगा। आय-स्तर को घटा-बढ़ा कर इस प्रकार की व्यवस्था की जायेगी कि प्रत्येक व्यक्ति की मासिक आय कम से कम १००) रुपये और अधिक से अधिक १०००) रुपये के भीतर हो। साम्पत्तिक अधिकारों को सीमित करने और जन-स्वातन्त्र्य के क्षेत्र को विस्तृत बनाने के उद्देश्य से संविधान में परिवर्तन किये जायेंगे। भारतवर्ष ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) से अलग होकर अपनी पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा पूरी करेगा। भ्रष्टाचार, घूसखोरी, अयोग्यता तथा प्रशासनगत विलम्ब के उन्मूलन के लिये शासन में सुधार किये जायेंगे। भारत की वैदेशिक नीति निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित होगी:—(१) अमरीकी तथा सोवियट दलबन्दियों के संघर्ष में तटस्थता; (२) हिन्देशिया से लेकर मिस्र तक के सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये सामूहिक रक्षा की व्यवस्था; (३) संयुक्त राष्ट्रसंघ की उन संस्थाओं के साथ सहयोग जो पिछड़ी हुई जातियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा लोगों की भूख और युद्ध के उन्मूलन में सहायक हों; और (४) ऐसे समस्त घोषणा-पत्रों और समझौतों का विरोध जो एक ओर संसार के समृद्ध और शक्तिशाली देशों को और दूसरी ओर दलित तथा निर्बल राष्ट्रों को रखकर एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-भावना को प्रोत्साहन देते हों। भारतवर्ष अफ्रीका के स्वातन्त्र्य संघर्षों और संसार के सभी देशों के समाजवादी आन्दोलनों का समर्थन करेगा।

समाजवादी कार्यक्रम काँग्रेस के कार्यक्रम से कहीं अधिक विस्तृत और साहसपूर्ण है और सम्भवत: इसीलिये वास्तविकता से कुछ हटा हुआ सा प्रतीत होता है। पाँच वर्ष की अल्प अवधि के भीतर वस्त्र-उद्योग के राष्ट्रीयकरण तथा समाजवादी प्रशासन-सुधार की योजनाओं के सफलतापूर्वक पूर्ण होने में सन्देह है।

दल का संगठन—समाजवादी दल की निम्नतम इकाई मोहल्ला अथवा ग्राम है जिसमें उस क्षेत्र के रहने वाले दल के सभी सदस्य सम्मिलित होते हैं। इसके ऊपर क्षेत्र (constituency) तथा क्षेत्र के ऊपर ज़िला, प्रान्त तथा राष्ट्र के संगठन हैं। ऊपर से नीचे तक इन सभी संगठनों में एक विचार तथा विवाद करने वाली कौंसिल तथा एक अपेक्षाकृत कम सदस्यों वाली कार्यकारिणी समिति होती है।

अखिल भारतीय मन्त्रणा-परिषद् को राष्ट्रीय जनरल कौंसिल (National General Council) और दल की कार्यकारिणी को राष्ट्रीय कार्यकारिणी (National Executive) कहा जाता है। परन्तु दल की सर्वोच्च अखिल भारतीय शक्ति राष्ट्रीय सम्मेलन (National Conference) में निहित होती है जिसमें सदस्यों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। सदस्य दो प्रकार के होते हैं—व्यक्ति (individual) तथा सम्बद्ध (affiliated)। पहली कोटि की सदस्यता में १८ वर्ष से ऊपर अवस्था वाले वे व्यक्ति आते हैं जो दल की नीति को स्वीकार तथा साम्प्रदायिक एवं जातीय भेदभाव को अस्वीकार करते हों। सम्बद्ध सदस्य वे वर्ग अथवा समूह होते हैं जो दल की नीति को स्वीकार कर चुके हों, उदाहरणार्थ व्यापार-संघ, किसान सभायें, इत्यादि। राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन वार्षिक होता है और इसमें दल के संविधान का संशोधन भी किया जा सकता है। राष्ट्रीय कौंसिल में राष्ट्रीय सम्मेलन के सदस्यों द्वारा निर्वाचित अपनी पूर्ण संख्या के $\frac{1}{5}$ सदस्य होते हैं। राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सभापति तथा प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त २३ साधारण सदस्य होते हैं। इनका निर्वाचन भी राष्ट्रीय सम्मेलन ही करता है। समाजवादी दल के संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रान्तीय प्रतिनिधियों में से कम से कम दशांश स्त्रियाँ होनी चाहिये। संगठन के सभी स्तरों पर दल के मन्त्रिगण वैतनिक तथा पूरे समय कार्य करने वाले होते हैं। परन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि इस संगठन को कम से कम अभी तक जन-शक्ति संग्रह करने में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। समाजवादी दल का प्रभाव अभी नगरों तक ही सीमित है।

साम्यवादी दल

भारत में साम्यवादी दल का जन्म सन् १९२४ में हुआ था, किन्तु लगभग २० वर्षों तक यह दल अवैध रहा। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी इस दल के समर्थकों को बहुधा वामपंथी कहा जाता है। परन्तु वास्तव में वे न वामपंथी (Leftists) हैं न दक्षिणपंथी (Rightists)। वे सदा सोवियट रूस के आदेशों का अनुसरण करते हैं। उन्होंने ब्रिटेन का समर्थन किया हो या विरोध, काँग्रेस के मित्र रहे हों अथवा शत्रु, परन्तु कदाचित् ही कभी भारतीय जनता के हितों से प्रेरणा ग्रहण की है। भारतीय साम्यवादियों ने द्वितीय महायुद्ध में जो कुछ किया उससे इस सन्देह की पुष्टि हो जाती है कि उन पर रूसी शासन का पूरा नियन्त्रण है। सन् १९४१ ई० में जिस समय रूस जर्मन आक्रमणकारियों द्वारा पदाक्रान्त हो रहा था, साम्यवादी जर्मनी को साम्राज्यवादी कह कर गालियाँ दे रहे थे; परन्तु इसके कुछ समय बाद जब रूस ने आक्रमण आरम्भ किया, तब उन्हीं साम्यवादियों ने "जन-युद्ध" (Peoples' war) का नारा उठाया। अगस्त सन् १९४२ ई० के पश्चात्, जिस समय भारत की राष्ट्रीय

कॉंग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन्म-मरण के संघर्ष में रत थी, और जब प्रत्येक सच्चा भारतीय आशा कर रहा था कि साम्यवादी भी कॉंग्रेस के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर लड़ेंगे साम्यवादियों ने देश के साथ विश्वासघात किया और राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध किया। इतना ही नहीं, उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ खुली सन्धि कर ली। वे "भारत छोड़ो" प्रस्ताव को वापस ले लेने पर ज़ोर देने लगे और उन्होंने जिन्ना साहब के साथ पाकिस्तान के सिद्धान्त के आधार पर समझौता कर लिया। जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ, उन्होंने शासन को पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। परन्तु उन्होंने अपने इस वचन का भी पालन नहीं किया और आज भी भारत में उनकी सम्पूर्ण नीति रूसी शासन के आदेशों का ही अनुसरण कर रही है।

नीति तथा कार्यक्रम—साम्यवादियों के उद्देश्य तथा आदर्श हमारी आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार के आधारभूत परिवर्तनों से सम्बन्ध रखते हैं जिनके बिना सामान्य जनों की स्वतन्त्रता तथा समृद्धि असम्भव है। वे श्रमिकों, कृषकों और शोषित मध्यवर्गों के एक गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं। उनका चरम उद्देश्य देश में पूंजीवाद का पूर्णरूपेण अन्त करना है। वे एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण नहीं होगा; देश की नौकरशाही व्यवस्था का अन्त हो जायेगा और वर्तमान शासकों का स्थान जनता द्वारा निर्वाचित, जनसमितियों द्वारा नियन्त्रित तथा पद-धारण के लिये जनता के प्रसाद पर अवलम्बित, कर्मचारीगण ले लेंगे। जमींदारी का नाश करके भूमि किसानों को दे दी जायेगी। राज्य समस्त उद्योगों का नियन्त्रण तथा संचालन जनता के हित में करेगा और व्यक्तिगत लाभ का प्रश्न ही नहीं उठेगा। साम्यवादी दल के निर्वाचन सम्बन्धी घोषणापत्र (Election Manifesto) में दी गई १५ बातों में निम्नलिखित मुख्य हैं—ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद, भारतीय सेना से ब्रिटिश अधिकारियों का निष्कासन, भारत में लगी हुई समस्त ब्रिटिश पूँजी का अपहरण तथा राष्ट्रीयकरण, बिना मुवाविज़े के ज़मींदारी उन्मूलन, समस्त भूमि का कृषकों में वितरण, श्रमिकों तथा नौकरी-पेशा वालों को जीवन-यापन के लिये यथेष्ट वेतन, एक राष्ट्रीय सेना का संगठन जिसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क हो, और भाषण, मुद्रण, सम्मेलन तथा हड़ताल आदि की समस्त नागरिक-स्वतन्त्रताओं की स्थापना। घोषणापत्र में जनता से वर्तमान शासन के स्थान पर जनतन्त्रात्मक शासन की स्थापना करने का आग्रह किया गया है। यह व्यवस्था जनता के लिये सुख और समृद्धि का आश्वासन होगी। परन्तु वास्तव में रूस की भाँति भारत में भी साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य श्रमिकों के जनतन्त्रवादी नियन्त्रण से निकल कर देश के एकमात्र साम्यवादी दल के शक्ति-आरूढ़ गुट के हाथों में कठपुतली बन जायेगा। राज्य अपने नागरिकों के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण स्था-

पित कर लेगा। व्यक्ति की अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जायेगी।

जहाँ तक उन सिद्धान्तों का सम्बन्ध है जिनके आधार पर पूंजीवाद साम्यवाद में परिवर्तित होगा, यह ध्यान रखना चाहिये कि साम्यवाद वस्तुत: एक क्रान्तिकारी कार्यप्रणाली का सिद्धान्त है। इसके दो आधारभूत सिद्धान्त वर्ग-युद्ध (class war) तथा श्रमिक-वर्गों द्वारा शक्ति की क्रान्तिकारी प्राप्ति है। साम्यवादियों की धारणा है कि सन् १६१७ ई० की रूसी क्रान्ति विश्व क्रान्ति का आरम्भ मात्र थी और कभी न कभी संसार के अन्य देशों में भी पूँजीवाद का पतन अवश्य होगा। साम्यवादियों का कहना है कि उनकी यह क्रान्ति इतिहास की अन्य क्रान्तियों से इस बात में भिन्न होगी कि जहाँ अतीत की क्रान्तियों का परिणाम सदा एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का दमन हुआ है, उनकी साम्यवादी क्रान्ति वर्ग-विभेद का पूर्णतया नाश कर देगी। श्रमिकों का युद्ध एक वर्ग द्वारा लड़ा और जीता जायेगा, परन्तु उसका उद्देश्य समस्त मानव समाज का कल्याण होगा। साम्यवादियों के अनुसार पूँजीवादी प्रतिक्रिया को रोकने के लिये सशस्त्र हिंसा का प्रयोग आवश्यक है। श्रमिकों की तानाशाही स्वभावत: एक वर्ग-संगठन होती है और संक्रमण काल में इसे विवश होकर दमनशील तथा निरंकुश बनना पड़ता है। परन्तु यह क्रान्ति की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। इस प्रकार साम्यवाद का आधार वर्तमान परिस्थितियों के प्रति उसकी असन्तोष-भावना है। साम्यवादियों को उन्नति की धीमी गति से घोर निराशा है और उनका यह विश्वास है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था इतनी सड़ गई है कि वर्तमान परिस्थितियों के पूर्ण उन्मूलन के अतिरिक्त साम्यवादी आदर्शों की प्राप्ति का कोई अन्य उपाय ही नहीं है। इस कार्यप्रणाली की आलोचना करते हुये हम कह सकते हैं कि हिंसात्मक क्रांन्ति के समय सम्पूर्ण समाज अव्यवस्थित हो जाता है और यह कहा नहीं जा सकता कि क्रान्ति के पश्चात् उसका क्या स्वरूप होगा। सम्भव है क्रान्ति के जन्मदाताओं ने जैसी आशा की थी उससे कहीं भिन्न रूप लेकर समाज उनके सामने आये। एक क्रान्तिकारी वर्ग-युद्ध के परिणामस्वरूप शक्ति व्यक्तियों के ऐसे समूह के हाथों में भी जा सकती है जो क्रान्ति के उन्नायकों से कोई सहानुभूति न रखता हो। यह वर्ग अथवा समूह महत्वाकाँक्षी एवं स्वार्थी व्यक्तियों का भी हो सकता है जो वास्तव में क्रान्ति के उन्नायकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा अपनी शक्ति को बनाये रखने में अधिक रुचि रखते हों। अतीत की क्रान्तियों में साधारणतया ऐसा ही अनुभव हुआ है। क्रान्ति को किसी पूर्व-निश्चित योजना अथवा नीति के अनुसार निभा ले जाना अत्यन्त कठिन होता है। क्रान्ति सदा अँधेरे में कूदने के समान होती है जिसमें कूदने वाला यह कभी नहीं जान सकता कि वह कहाँ जाकर गिरेगा। साम्यवादियों की क्रान्ति-प्रणाली भय एवं आशंकाओं से मुक्त नहीं है।

दल का संगठन—इस दल का संगठन "प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रीकरण" के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें प्रत्येक स्तर पर दल के अङ्गों तथा पदाधिकारियों का निर्वाचन आवश्यक होता है। यह अङ्ग तथा पदाधिकारी दल के संगठन के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी होते हैं। दलगत अनुशासन अत्यधिक कठोर होता है और दल के समस्त सदस्य तथा निम्न अङ्ग उच्च अङ्गों द्वारा किये गये निश्चयों का पूर्ण रूप से अनुसरण करते हैं। दल की मूल इकाई को प्रारम्भिक अङ्ग (primary party organ) कहा जाता है। इसमें केवल दो अथवा तीन सदस्य होते हैं और इसकी स्थापना किसी कारखाने, माध्यमिक विद्यालय, अथवा विश्वविद्यालय, इत्यादि में की जा सकती है। प्रारम्भिक अङ्ग उन प्रतिनिधियों को चुनते हैं जिनसे नगरों अथवा ग्रामीण जिलों की दल समितियाँ बनती हैं। यह सब समितियाँ मिल कर दल की प्रान्तीय समिति का निर्वाचन करती हैं और प्रान्तीय समितियों के चुने हुये प्रतिनिधि साम्यवादी दल की अखिल भारतीय काँग्रेस (All-India Party Congress) का निर्माण करते हैं। इसका अधिवेशन वार्षिक होता है जिसमें दल के प्रधान मन्त्री तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों का निर्वाचन भी किया जाता है। इस कार्यकारिणी की एक अन्तरङ्ग समिति भी होती है जिसे पोलिट् ब्यूरो (Polit Bureau) कहा जाता है। वास्तव में यह अन्तरङ्ग समिति ही दल की नीति निर्धारित करती है तथा अधीन समितियों को आदेश देती है। साम्यवादी संगठन का अनुशासन अत्यन्त कठोर होता है। प्रत्येक सदस्य को दल के प्रति सच्चे बने रहने की शपथ लेनी पड़ती है, और वह उच्च समितियों के समस्त आदेश मानने को बाध्य होता है।

अखिल भारतीय हिन्दू महासभा

नीति तथा कार्यक्रम—पुस्तक के आठवें अध्याय में हिन्दू महा सभा के इतिहास तथा उसकी नीति का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ पर उसके कार्यक्रम की थोड़ी-सी विवेचना यथेष्ट होगी। इस कार्यक्रम की रूपरेखा महासभा के निर्वाचन सम्बन्धी उद्देश्यपत्र में की गई है जो १३ अगस्त सन् १९५१ को प्रकाशित किया गया था। महासभा के सैद्धान्तिक आधार की विवेचना करते हुये इस उद्देश्य-पत्र में कहा गया है कि "हिन्दू महासभा भारत में एक ऐसे हिन्दू-राज्य की स्थापना का समर्थन करती है जिसमें शासन का स्वरूप अर्थ तथा राजनीति के हिन्दू सिद्धांतों के अनुसार होगा। महासभा भारत का विकास हिन्दुओं की राष्ट्र-भूमि के रूप में करना चाहती है जहाँ हिन्दू जीवन-दर्शन के उच्चतम गुणों को आत्म-विकास के लिये उचित स्थान मिल सके।" महासभा का पहला कार्य भारत के संविधान का संशोधन करके उसे देश की संस्कृति तथा परम्पराओं के अनुकूल बनाना होगा। उद्देश्यपत्र में काँग्रेस पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने मुस्लिम लीग तथा ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के साथ मिल कर देश का विभाजन करवाया है। इसमें काँग्रेस शासन की आर्थिक नीति को अस्थिर तथा अनिश्चित बताया गया है। उद्देश्यपत्र की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—समस्त संवैधानिक उपायों के प्रयोग से अखण्ड हिन्दुस्तान की पुनर्स्थापना; ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल से सम्बन्ध विच्छेद; जनता की ओर से राज्य द्वारा समस्त भूमि का स्वामित्व; व्यक्तिगत सम्पत्ति की राज्य द्वारा रक्षा और उसके स्वामियों को तत्सम्बन्धी अधिकार तथा उत्तराधिकार (inheritance) की प्रत्याभूति; राज्य द्वारा स्थापित नियन्त्रणों (controls) का उत्तरोत्तर उन्मूलन; विद्युत्शक्ति, रेल, कोयला, लोहा, खनिज पदार्थ तथा युद्ध-सामग्री बनाने वाले उद्योगों आदि का राष्ट्रीयकरण; मज़दूरों को वृत्ति तथा कम से कम वेतन की प्रत्याभूति; और राष्ट्र-हित पर आधारित वैदेशिक नीति। इस उद्देश्यपत्र में अल्पसंख्यकों के प्रति उचित व्यवहार, नि:शुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, कम से कम वेतनों का निश्चय करके प्रशासन सम्बन्धी व्यय में कमी, गोरक्षा तथा धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप का अभाव, आदि बातें भी सम्मिलित हैं। उद्देश्यपत्र की विवेचना के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि हिन्दू महासभा का उद्देश्य उन सभी बातों की रक्षा तथा प्रगति है जिनसे हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू जाति तथा हिन्दू संस्कृति को शक्ति प्राप्त हो। महासभा के कार्यक्रम में हिन्दुओं का संगठन तथा उनके सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी हितों की उन्नति करना है। परन्तु आर्थिक क्षेत्र में जहाँ एक ओर मूल उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करने के कारण हिन्दू महासभा तथा समाजवादी दल के कार्यक्रमों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है, दूसरी ओर यह उद्देश्यपत्र बड़े-बड़े ज़मींदारों और पूँजीपतियों के लिये भी व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार की अक्षुण्णता का सिद्धान्त स्वीकार करता है। इस स्वयं-विरोधी कार्यक्रम में किसी प्रकार का तारतम्य स्थापित करना कठिन है।

दल का संगठन—हिन्दू महासभा का संगठन काँग्रेस के संगठन पर आधारित है। इस संगठन की निम्नतम इकाई ग्राम हिन्दू-सभा है। ग्राम सभा के ऊपर तहसील, ज़िला और प्रान्त की हिन्दूसभाएँ हैं। बड़े-बड़े नगरों की सभाएँ जो वार्डों में विभाजित होती हैं, सीधे प्रान्तीय सभा से सम्बद्ध होती हैं। हिन्दू महासभा की अखिल भारतीय समिति में, प्रान्तों की सदस्य संख्या के अनुसार, प्रत्येक प्रान्त से कम से कम एक और अधिक से अधिक ५० प्रतिनिधि जाते हैं। १८ वर्ष से अधिक अवस्था वाला प्रत्येक हिन्दू, यदि वह हिन्दू महासभा के सिद्धान्तों से सहमत है, चार आना वार्षिक चन्दा देकर इसका सदस्य बन सकता है। अक्टूबर सन् १९५० ई० के महासभा के मुरादाबाद अधिवेशन के बाद से, जो लोग हिन्दू नहीं हैं वे भी महासभा के सदस्य हो सकते हैं, परन्तु वे केवल इसके सांसद कार्यक्रम (parliamentary programme) में ही भाग लेने के अधिकारी होंगे। महासभा की अखिल

भारतीय समिति की स्थिति अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के समान ही है और इसमें भी वार्षिक अधिवेशन का मनोनीत सभापति, समस्त भूतपूर्व सभापति और गत वर्ष के पदाधिकारी सम्मिलित रहते हैं। इसे महासभा से सम्बन्धित सभी विषयों का, संविधान के अनुसार, आनियमन करने का अधिकार होता है। यही महासभा की नीति तथा उसका कार्यक्रम भी निर्धारित करती है जिसे कार्यान्वित करने का उत्तर-दायित्व 'इसके प्रति उत्तरदायी कार्यकारिणी समिति पर होता है।

महासभा का सभापति प्रान्तीय सभाओं द्वारा सिफारिश किये गये व्यक्तियों में से चुना जाता है। जिस व्यक्ति के पक्ष में अधिक प्रान्तीय सभाओं की सिफारिश होती है वही निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर एक स्थानापन्न सभापति भी नियुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त महासभा के पदाधिकारियों में अधिक से अधिक ६ उपसभापति, १ प्रधानमन्त्री, २ सहायक मन्त्री तथा १ कोषाध्यक्ष होते हैं। इन सब पदाधिकारियों का निर्वाचन महासभा की अखिल भारतीय समिति करती है। कार्यकारिणी समिति में उपरोक्त पदाधिकारियों के अतिरिक्त २० सदस्य अखिल भारतीय समिति द्वारा निर्वाचित तथा ३ सभापति द्वारा मनोनीत होते हैं। यह कार्यकारिणी महासभा की समस्त समितियों का अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण करती है और उसकी आज्ञा की जानबूझ कर की गई उपेक्षा अथवा अवज्ञा पर व्यक्तियों तथा समितियों के विरुद्ध अनुशासन की उचित कार्यवाही करती है। यह महासभा के लेखे (accounts) का अंकेक्षण भी करती है।

परन्तु इतना विस्तृत संगठन होने पर भी हिन्दू महासभा की लोकप्रियता उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। वास्तव में इससे अधिक प्रभावशाली तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि इसके कतिपय सहायक संगठन हैं। परन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक साँस्कृतिक संस्था है। उसकी कम से कम अभी तो कोई राजनैतिक महत्वा-काँक्षायें नहीं हैं। अतएव उसे राजनैतिक दल की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अपने सहायक संगठनों के साथ हिन्दू महासभा प्रजातन्त्रवाद के समर्थन का दावा अवश्य करती है, परन्तु वास्तव में राजनैतिक क्षेत्र में उसकी नीति प्रतिक्रियावादी है। इसके अनुयायी प्राय: ज़मींदार और पूंजीपति हैं और इसका काम उनके विशेष हितों की रक्षा करना अवश्य होगा।

भारतीय मुस्लिम लीग

मुस्लिम लीग किसी समय अत्यधिक शक्तिशाली थी, परन्तु आज वह मृत-प्राय है। उसकी उत्तराधिकारिणी भारतीय मुस्लिम लीग के समर्थकों की संख्या न्यून है। मार्च सन् १९४८ ई० में मद्रास में भारतीय मुस्लिम लीग की कौंसिल का एक अधिवेशन हुआ जिसके सभापति मि० मुहम्मद इस्माइल थे। इसमें लीग के संगठन को सामाजिक, साँस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिये सीमित करके

उसे बनाये रखने का निश्चय किया गया। कुछ समय तक यह दल विशेष रूप से आग्रह करता रहा कि मुसलमानों के लिये पूर्ववत् पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था होनी चाहिये। परन्तु शीघ्र ही इसके नेताओं ने अनुभव किया कि दक्षिणी भारत के मुट्ठी भर समर्थकों के अतिरिक्त भारत के अधिकांश मुसलमान इसके पक्ष में नहीं हैं। नये संविधान के अन्तर्गत पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों का अन्त हो जाने के साथ अब भारत में इस दल का राजनैतिक-क्षेत्र में कोई भविष्य नहीं रह गया है।

अकाली दल

सिखों में अनेक काँग्रेस के समर्थक हैं, कुछ राजनैतिक दलों की ओर पूर्ण-रूपेण तटस्थ हैं परन्तु ऐसे भी बहुत हैं जो भारतीय संघ के भीतर एक सिख राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल (इसकी नीति का वर्णन आठवें अध्याय में किया जा चुका है) का मत है कि जिस प्रकार हिन्दुओं की राष्ट्र-भूमि हिन्दुस्थान तथा मुसलमानों की पाकिस्तान है, उसी प्रकार सिखों को भी अपना सिखिस्तान मिलना चाहिये। और यदि अलग सिखिस्तान सम्भव न हो तो भारत-संघ में कम से कम एक ऐसा राज्य अवश्य होना चाहिये जहाँ सिखों का बहुमत हो।

अन्य राजनैतिक दल तथा वर्ग

अन्य राजनैतिक दलों तथा वर्गों में सबसे पहले हम उनका वर्णन करेंगे जो काँग्रेस से निकले हैं। श्री त्रिलोकीसिंह के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश का जनता दल तथा श्री प्रफुल्लचन्द्र घोष के नेतृत्व में बंगाल का कृषक-मज़दूर-प्रजा दल सबसे पहले काँग्रेस से अलग हुये। परन्तु इन से अधिक महत्वपूर्ण किसान-मज़दूर प्रजा-दल है जिसका संगठन आचार्य कृपलानी ने जून सन् १९५१ ई० में किया। प्रजा दल के नाम से प्रसिद्ध इस नये दल का उद्देश्य शान्तिपूर्ण उपायों से एक स्वतन्त्र, प्रजातन्त्रात्मक, जाति तथा वर्ग-भेद रहित समाज की स्थापना करना है। यह दल राष्ट्र की समृद्धि तथा सुरक्षा का ध्यान रखते हुये राजनैतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण के लिये प्रयत्न करेगा। हाल ही में इस दल तथा समाजवादी दल के बीच एक समझौते के परिणामस्वरूप दोनों राजनैतिक दलों ने मिलकर प्रजा समाज-वादी दल (Praja Socialist Party) का निर्माण किया है। इस संयुक्त दल के अध्यक्ष आचार्य कृपलानी और प्रधान मन्त्री श्री अशोक मेहता हैं। यदि यह नया दल काँग्रेस बहुमत के विरुद्ध एक स्वस्थ विरोध का निर्माण करने में सफल हो सका तो इससे देश तथा काँग्रेस दोनों का ही हित होगा।

अब हम कुछ वाम-पंथी दलों (Leftist groups) को लेंगे जिनमें फारवर्ड ब्लाक (Forward Block), रिपब्लिकन सोशलिस्ट पार्टी (Republican Socialist Party) तथा रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी (Radical Democra-

tic Party) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फारवर्ड ब्लाक की स्थापना अमर शहीद नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस से अलग होने के बाद की थी। इसकी नीति स्पष्ट रूप से समाजवादी है परन्तु यह वैधानिक तथा क्रान्ति दोनों प्रकार की नीति में विश्वास रखता है। आजकल फारवर्ड ब्लाक में दो वर्ग हो गये हैं; एक के नेता श्री आर० एस० रुइकर (Ruiker) तथा दूसरे के श्री के० एस० जोगलेकर हैं। रिपब्लिकन सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना शरतचन्द्र बोस ने की थी। इसकी सदस्यता पश्चिमी बंगाल तक ही सीमित है और शरतचन्द्र बोस की मृत्यु के बाद से इसका यथेष्ट ह्रास हुआ है। श्री एम० एन० राय की रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी सन् १९४८ ई० तक कार्यरत थी परन्तु इसके बाद से उसका राजनैतिक कार्य समाप्त हो गया है। आजकल यह पार्टी नवीन मानववाद (new humanism) के सिद्धान्तों का प्रचार कर रही है। महाराष्ट्र में भी किसानों तथा मज़दूरों का एक वामपन्थी दल है जिसके नेता श्री एस० एस० मोरे तथा श्री के० एम० जेधे हैं। यह दल भाषा के आधार पर एक संयुक्त महाराष्ट्र के निर्माण का समर्थक है। अन्य वामपन्थी दलों के नाम ये हैं:—बोल्शेविक पार्टी (Bolshevik party), रिवोल्यूश्नरी कम्यूनिस्ट पार्टी (Revolutionary Communist party), रिवोल्यूश्नरी सोशलिस्ट पार्टी (Revolutionary Socialist party) आदि।

दलित जातियों (Depressed Classes) के अपने अलग दल हैं। इनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं। पहला अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ (All-India Scheduled Castes Federation) है जिसके नेता श्री पी० एन० राजभोज हैं। यह संघ कांग्रेस-विरोधी है तथा अपने सदस्यों में अन्य दलों से पृथक रहने की भावना का प्रचार करता है। दूसरा दल अखिल भारतीय हरिजन लीग (All-India Harijan League) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके नेता भारत-शासन के वर्तमान यातायात मन्त्री श्री जगजीवन राम हैं। यह दल कांग्रेस का समर्थक है तथा इसके सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है।

उपरोक्त दलों तथा वर्गों के अतिरिक्त कुछ और साम्प्रदायिक तथा वर्ग संगठन भी हैं। इनमें एक स्वामी करपात्री जी का रामराज्य परिषद् है। इसी प्रकार का एक और संगठन भारतीय-जन-संघ है जिसके पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शक्ति कार्य कर रही है। उत्तर प्रदेश के ज़मींदारों की अपनी प्रजा पार्टी है जिसके सभापति कुँवर जगदीश प्रसाद तथा मन्त्री कुँवर गुरुनारायण हैं। इसी प्रकार के और छोटे-छोटे दल देश भर में बिखरे होंगे। और सम्भव है भविष्य में कुछ और नये दल उत्पन्न होकर परिस्थिति को और अधिक विषम बना दें।

भविष्य की सम्भावनायें—आज हमारे देश में लगभग पूर्णतया एक-दल शासन है। केन्द्रीय संसद् में, तथा अधिकतर राज्यों के विधानमण्डलों में कांग्रेस का

पूर्ण बहुमत है। इसके कई कारण हैं। सबसे पहले काँग्रेस के पीछे राष्ट्र-सेवा तथा बलिदान का एक लम्बा और चिरस्मरणीय इतिहास होने के नाते उसे पूर्ण बहुमत प्राप्त होना स्वाभाविक है। दूसरे, कांग्रेस का मुख्य विरोध मुस्लिम लीग की ओर से होता था, परन्तु अगस्त सन् १९४७ ई० में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् मुस्लिम लीग के अधिकांश नेतागण पाकिस्तान चले गये और जो छोटे-मोटे लोग यहाँ रह भी गये वे निराधार हो गये हैं। अतएव मुस्लिम लीग का एक प्रकार से अन्त हो गया। तीसरे, समाजवादी दल का देश व्यापी संगठन न होने के कारण देश की ग्रामीण जनता पर अधिक प्रभाव नहीं है। और अन्त में, 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय देश के साथ विश्वासघात करने के कारण जनता में साम्यवादियों की कोई साख नहीं रह गई है। इन सब कारणों से काँग्रेस को परिस्थिति पर पूर्णरूपेण अभिभावी होने का अवसर मिल गया। और काँग्रेस ने सन् १९४६ के निर्वाचन की भाँति सन् १९५२ के चुनाव में भी सारे देश में विजय पाई। परन्तु प्रभुता पाकर अनेक काँग्रेसी अपने आदर्शों को भूल गये हैं। यदि काँग्रेस अपनी सेवा और बलिदान की परम्परा का अनु-सरण करती रहे तो आगामी अनेक दशाब्दियों तक कोई उसे डिगाने वाला नहीं है। परन्तु अब जनता गम्भीरतापूर्वक यह सन्देह करने लगी है कि काँग्रेस में देश की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता नहीं है। आज एक नहीं, अनेक दिशाओं से काँग्रेस-विरोधी स्वर उठ रहे हैं। ट्रावनकोर-कोचीन, मद्रास और पटियाला तथा पूर्वी-पञ्जाब राष्ट्र-संघ में काँग्रेस ने १९५२ के निर्वाचन में अनेक स्थानों पर हार खाई है। राजस्थान, मध्यभारत तथा उड़ीसा में भी काँग्रेस की स्थिति अधिक संतोषजनक नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आज काँग्रेस का उतना प्रभाव नहीं रह गया है जितना सन् १९४७ से पूर्व था। विरोधी दल अभी काँग्रेस की समानता नहीं कर सकते हैं, परन्तु इतना स्पष्ट है कि निकट भविष्य में ही काँग्रेस के एक-दल शासन का अन्त हो जायेगा। उसे सबल तथा दृढ़ विरोध का सामना करना होगा। भारत में एक-दल प्रणाली का विकास कठिन है।

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि भारत में इङ्गलैंड, अमरीका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की भाँति द्वि-दल प्रणाली (two-party system) का विकास होगा अथवा फ्रांस की बहु दल प्रणाली (multiple party system) का। वैसे तो द्वि-दल प्रणाली में भी अन्य दलों के लिये स्थान का अभाव नहीं होता है। द्वि-दल प्रणाली का अर्थ केवल इतना है कि इसके अन्तर्गत दो ऐसे शक्तिशाली दल होते हैं जिनमें विधानमण्डल में बहुमत प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य होती है। बहुदल प्रणाली में ऐसा नहीं होता। द्वि-दल प्रणाली के देशों में शासन पूर्णतया एक दल का होता है परन्तु बहु-दल प्रणाली के देशों में सदा संयुक्त दल (coali-tion) शासन की ही सम्भावना रहती है। पहली प्रणाली के अन्तर्गत शासन स्थायी

होता है, दूसरी के अन्तर्गत अस्थायी तथा निःशक्त। अतएव भारत के लिये यही अधिक लाभकर होगा कि हमारी राजनीति केवल दो बड़े राजनैतिक दलों के आधार पर विकसित हो। हम आशा करते हैं कि अन्ततः ऐसा ही होगा भी, परन्तु परम्परा के निर्माण में यथेष्ट समय अवश्य लगेगा। एक सशक्त तथा स्थायी राजनैतिक दल का निर्माण सरल नहीं होता है। यदि प्रजा समाजवादी दल (Praja Socialist party) का संयुक्त मोर्चा काँग्रेस के विरुद्ध एक स्वस्थ तथा संगठित विरोध उपस्थित कर सके तो देश में द्वि-दल प्रणाली का विकास सम्भव है जिससे जनता के हितों की रक्षा हो सकेगी। अन्य दलों में, साम्यवादियों के विषय में कुछ भी कहना बड़ा कठिन है। उनके दल को प्रजातन्त्रात्मक नहीं माना जा सकता और ऐसे दल को जनता का विश्वास नहीं प्राप्त हो सकता। इसके अतिरिक्त साम्यवादी किसी धर्म विशेष में विश्वास नहीं करते हैं और नास्तिकता का प्रचार करते हैं। अतः भारत ऐसे देश में जहाँ धर्म की प्रधानता है साम्यवादियों का भविष्य उज्ज्वल नहीं प्रतीत होता। सम्प्रदायवादी रंग के दल आज की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। समय की माँग यह है कि राजनैतिक दल अपना ध्यान सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति पर केन्द्रित करें। यदि हमने इसकी उपेक्षा की तो कहीं के न रहेंगे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काँग्रेस को बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप बदलना चाहिये। उसे केवल एक जनतन्त्रात्मक राजनैतिक दल के रूप में कार्य करना चाहिये। यह बहुत कुछ विरोधी दलों के विकास पर निर्भर है। काँग्रेस बहुत समय से देश के समस्त प्रगतिशील तत्वों को अपने में समेटती रही है, अतएव सक्रिय विरोधी दलों का संगठन केवल ऐसे ही लोग कर सकते हैं जो बहुत समय तक काँग्रेस में रहने के पश्चात् अब उसकी वर्तमान दशा से असन्तुष्ट होकर उससे अलग हो चुके हैं या भविष्य में होंगे। श्री के० सन्थानम् ने भारत में राजनैतिक दलों के भविष्य पर अपने एक लेख में कहा है : "काँग्रेस तथा देश जनतन्त्रात्मक राजनीति के विकास में एक विषम स्थिति से होकर निकल रहे हैं। काश यह विकास पूर्वनिश्चित, तर्कसंगत रीति से हो सकता! परन्तु सामाजिक विकास बहुधा तर्कसंगत नहीं होता है। वह तो असंख्य मनोविकारों, इच्छाओं, आकाँक्षाओं और निराशाओं की उलझी हुई प्रतिक्रियाओं का परिणाम होता है[1]।"

---

1. "The Congress and the country are passing through a critical stage in the evolution of democratic politics. One may wish that this evolution should take place along predetermined national lines, but social evolution is seldom logical. It is the result of the complicated reactions of innumerable passions, desires, ambitions and frustrations."

—*K. Santhanam.*

परिशिष्ट (१)

संविधान की सप्तम अनुसूची

सूची १—संघ-सूची

१. भारत की तथा उसके प्रत्येक भाग की प्रतिरक्षा जिसके अन्तर्गत प्रतिरक्षा के लिये तैयारी तथा सारे ऐसे कार्य भी हैं, जो युद्ध काल में युद्ध को चलाने और उसकी समाप्ति के पश्चात् सफलतापूर्वक सैन्य-वियोजन में सहायक हों।

२. नौ, स्थल और विमान बल; संघ के कोई अन्य सशस्त्र बल।

३. कटक-क्षेत्रों का परिसीमन, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वायत्तशासन, ऐसे क्षेत्रों के अन्दर कटक-प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ, तथा ऐसे क्षेत्रों में गृह-वासन का विनियमन (जिसके अन्तर्गत किराये का नियन्त्रण भी है)।

४. नौ, स्थल और विमान-बल की कर्मशालायें।

५. शस्त्रास्त्र, अग्न्यस्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक।

६. अणुशक्ति तथा उसके उत्पादन के लिये आवश्यक खनिज सम्पत्।

७. संसद्-निर्मित विधि द्वारा प्रतिरक्षा के प्रयोजन के लिये अथवा युद्ध चलाने के लिये आवश्यक घोषित किये गये उद्योग।

८. केन्द्रीय गुप्तवार्ता और अनुसंधान विभाग।

९. भारत की प्रतिरक्षा, विदेशीय कार्य या सुरक्षा सम्बन्धी कारणों से निवारक निरोध; इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति।

१०. विदेशीय कार्य; सब विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से सम्बन्ध होता है।

११. राजनयिक, वाणिज्य-दूतिक और व्यापारिक प्रतिनिधित्व।

१२. संयुक्त राष्ट्र-संघटन।

१३. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थाओं और अन्य निकायों में भाग लेना तथा उनमें किये गये विनिश्चयों की अभिपूर्ति।

१४. विदेशों से सन्धि और करार करना तथा विदेशों से की गई सन्धियों, करारों और अभिसमयों की अभिपूर्ति।

१५. युद्ध और शांति।

१६. विदेशीय क्षेत्राधिकार।

१७. नागरिकता, देशीयकरण तथा अन्यदेशीय।

१८. प्रत्यर्पण।

१६. भारत में प्रवेश और उसमें से उत्प्रवासन और निर्वासन; पार-पत्र और दृष्टांक।

२०. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थयात्रायें।

२१. महासमुद्र या वायु में की गई जलदस्युता और अपराध; स्थल या महा-समुद्र या वायु में राष्ट्रों की विधि के विरुद्ध किये गये अपराध।

२२. रेल।

२३. राज-पथ जिन्हें संसद्-निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय राज्य-पथ घोषित किया गया है।

२४. यंत्र-चालित जलयानों के विषय में ऐसे अन्तर्देशीय जल-पथों में नौ-वहन और नौ-परिवहन जो संसद्-निर्मित विधि द्वारा राष्ट्रीय जल-पथ घोषित किये गये हैं; तथा ऐसे जल-पथों के पथ नियम।

२५. समुद्र-नौवहन और नौ-परिवहन जिसके अन्तर्गत ज्वार-जल नौवहन और नौ-परिवहन भी हैं; वणिक्-पोतीय शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

२६. प्रकाशस्तम्भ, जिनके अन्तर्गत प्रकाशपोत, आकाशद्वीप तथा नौवहन और विमानों की सुरक्षितता के लिये अन्य उपबन्ध भी हैं।

२७. वे पत्तन जिनको संसद्-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महा-पत्तन घोषित किया गया है, जिसके अन्तर्गत उनका परिसीमन तथा उनमें पत्तन-प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ भी हैं।

२८. पत्तन-निरोधा जिसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध चिकित्सालय भी हैं; नाविक और समुद्रीय चिकित्सालय।

२६. वायु-पथ; विमान और विमान-परिवहन, विमान-क्षेत्र के उपबन्ध; विमान-यातायात और विमान-क्षेत्रों का विनियमन और संघटन; वैमानिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी गई ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

३०. रेल-पथ, समुद्र या वायु से अथवा यन्त्रचालित यानों में राष्ट्रीय जल-पथों से यात्रियों और वस्तुओं का वहन।

३१. डाक और तार; दूरभाष, बेतार, प्रसारण और अन्य समरूप संचार।

३२. संघ की सम्पत्ति और उससे उत्थित राजस्व किन्तु प्रथम अनुसूची के भाग (क) या (ख) में उल्लिखित किसी राज्य में अवस्थित सम्पत्ति के विषय में, जहाँ तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे वहाँ तक, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुये।

३३. संघ के प्रयोजनों के लिये सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण।

३४. देशी राज्यों के शासकों की सम्पत्ति के लिये प्रतिपालक-अधिकरण।

३५. संघ का लोक-ऋण।

३६. चलार्थ, टंकण और विधिमान्य; विदेशीय विनिमय।

३७. विदेशीय ऋण।

३८. भारत का रक्षित बैंक।

३९. डाकघर बचत बैंक।

४०. भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी।

४१. विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य; शुल्क-सीमान्तों को पार करने वाले आयात और निर्यात; शुल्क सीमान्तों की परिभाषा।

४२. अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य।

४३. व्यापारिक निगमों का, जिनके अन्तर्गत महाजनी, बीमाई और वित्तीय निगम भी हैं किन्तु सहकारी संस्थाएँ नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन।

४४. विश्वविद्यालयों को छोड़ कर ऐसे निगमों का, चाहे वे व्यापारिक हों या नहीं, जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन।

४५. महाजनी।

४६. विनिमय-पत्र, चेक, वचन-पत्र तथा ऐसी अन्य लिखतें।

४७. बीमा।

४८. श्रेष्ठि-चत्वर और वादा बाजार।

४९. एकस्व; आविष्कार और रूपांकन; प्रतिलिप्यधिकार; व्यापार-चिन्ह और पण्य चिन्ह।

५०. बाटों और मापों का मान स्थापन।

५१. भारत से बाहर निर्यात की जाने वाली अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य को भेजी जाने वाली वस्तुओं के गुणों का मान-स्थापन।

५२. वे उद्योग जिनके लिये संसद् ने विधि द्वारा घोषणा की है कि लोक-हित के लिये उन पर संघ का नियन्त्रण इष्टकर है।

५३. तैल-क्षेत्रों और खनिज तैल सम्पत् का विनियमन और विकास; पैट्रोलियम और पैट्रोलियम उत्पाद; संसद् से विधि द्वारा भयानक रूप से ज्वालाग्राही घोषित अन्य तरल और द्रव्य।

५४. उस सीमा तक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियन्त्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोक-हित के लिये इष्टकर घोषित करे।

५५. श्रम का विनियमन तथा खानों और तैल-क्षेत्रों में सुरक्षितता।

५६. उस सीमा तक अन्तर्राज्यिक नदियों और नदी-दूनों का विनियमन और विकास जिस तक संघ के नियन्त्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोकहित के लिये इष्टकर घोषित करे।

५७. जलप्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन-क्षेत्र।

५८. संघ अभिकरणों द्वारा लवण का निर्माण, सम्भरण और वितरण; अन्य अभिकरणों द्वारा लवण के निर्माण, सम्भरण और वितरण का विनियमन और नियन्त्रण।

५९. अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात के लिये विक्रय।

६०. प्रदर्शन के लिये चल-चित्रों की मंजूरी।

६१. संघ के नौकरों से संपृक्त औद्योगिक विवाद।

६२. इस संविधान के प्रारम्भ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, साम्राज्यिक युद्ध-संग्रहालय, विक्टोरिया-स्मारक, भारतीय युद्ध स्मारक नामों से ज्ञात संस्थाएँ तथा भारत सरकार द्वारा पूर्णत: या अंशत: वित्त-पोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित ऐसी कोई अन्य तद्रूप संस्था।

६३. इस संविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थाएँ तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था।

६४. भारत सरकार से पूर्णत: या अंशत: वित्त-पोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित वैज्ञानिक या शिल्पिक शिक्षा-संस्थाएँ।

६५. संघ-अभिकरण और संस्थाएँ जो—

(क) वृत्तिक, व्यावसायिक या शिल्पि-प्रशिक्षण, जिनके अन्तर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है, के लिये हैं; अथवा

(ख) विशेष अध्ययनों या गवेषणा की उन्नति के लिये हैं; अथवा

(ग) अपराध के अनुसन्धान या पता चलाने में वैज्ञानिक या शिल्पिक सहायता के लिये है।

६६. उच्चतर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं में एकसूत्रता लाना और मानों का निर्धारण।

६७. संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख तथा पुरातत्वीय स्थान और अवशेष।

६८. भारतीय भूपरिमाप, भूतत्वीय, वानस्पतिक, नरतत्वीय, प्राणकीय परि· माप; अन्तरिक्ष-शास्त्रीय संस्थाएँ।

६९. जनगणना।

७०. संघ-लोकसेवाएँ, अखिल भारतीय सेवाएँ, संघ-लोकसेवा-आयोग।

७१. संघ-निवृत्ति-वेतन, अर्थात् भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित निधि में से दिये जाने वाले निवृत्ति-वेतन।

७२. संसद् और राज्यों के विधानमण्डलों के लिये तथा राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के पदों के लिये निर्वाचन; निर्वाचन-आयोग।

७३. संसद् के सदस्यों, राज्य-परिषद् के सभापति और उपसभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

७४. संसद् के प्रत्येक सदन की, तथा प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ; संसद् की समितियों अथवा संसद् द्वारा नियुक्त आयोगों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिये व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना।

७५. राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियाँ, भत्ते, विशेषाधिकार तथा अनुपस्थिति-छुट्टी के बारे में अधिकार; संघ के मन्त्रियों के वेतन और भत्ते; नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थिति-छुट्टी के बारे में अधिकार तथा अन्य सेवा-शर्तें।

७६. संघ के और राज्यों के लेखाओं की लेखापरीक्षा।

७७. उच्चतम न्यायालय का गठन, संघटन, क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ (जिसके अन्तर्गत उस न्यायालय का अवमान भी है) तथा उसमें ली जाने वाली फीसें; उच्चतम न्यायालय के सामने विधि-व्यवसाय करने का हक़ रखने वाले व्यक्ति।

७८. उच्च न्यायालयों के पदाधिकारी और भृत्यों के बारे के उपबन्धों को छोड़ कर उच्च न्यायालयों का गठन और संघटन; उच्च न्यायालयों के सामने विधि-व्यवसाय करने का हक़ रखने वाले व्यक्ति।

७९. किसी राज्य में मुख्य स्थान रखने वाले किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र में विस्तार तथा ऐसे किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का ऐसे किसी क्षेत्र से अपवर्जन।

८०. किसी राज्य के आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र पर विस्तार, किन्तु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की आरक्षी, उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र में बिना उस राज्य की सरकार की सम्मति के जिसमें कि ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके; किसी राज्य की आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर रेल-क्षेत्रों पर विस्तार।

८१. अन्तर्राज्यीय; प्रव्रजन; अन्तर्राज्यीय निरोधा।

८२. कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर।

८३. सीमा-शुल्क जिसके अन्तगत निर्यात-शुल्क भी है।

८४. भारत में निर्मित या उत्पादित तमाकू तथा—

(क) मानव उपभोग के मद्यसारिक पानों;

(ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली ओषधियों तथा स्वापकों,

को छोड़कर, किन्तु ऐसी ओषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत करके कि जिनमें मद्यसार अथवा उक्त प्रविष्टि की उपकंडिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क।

८५. निगम-कर।

८६. व्यक्तियों या समवायों की आस्ति में से कृषि-भूमि को छोड़ कर उसके मूलधन-मूल्य पर कर; समवायों के मूल-धन पर कर।

८७. कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के के बारे में सम्पत्ति शुल्क।

८८. कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क।

८९. रेल या समुद्र या वायु से ले जाये जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जन-भाड़े और वस्तु-भाड़े पर कर।

९०. मुद्रांक-शुल्क को छोड़ कर श्रेष्ठि-चत्वर और वादा बाजार के सौदों पर कर।

९१. विनिमय-पत्रों, चेकों, वचन-पत्रों, वहन-पत्रों, प्रत्यय-पत्रों, बीमा-पत्रों, अंशों के हस्तान्तरण, ऋण-पत्रों, प्रति-पत्रियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक-शुल्क की दर।

९२. समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर।

९३. इस सूची के विषयों में से किसी से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

९४. इस सूची के विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिये जाँच, परिमाप और सांख्यकी।

९५. उच्चतम न्यायालयों को छोड़ कर अन्य न्यायालयों के इस सूची में के विषयों में से किसी के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ; नावाधिकरण-क्षेत्राधिकार।

९६. किसी न्यायालय में लिये जाने वाली फीसों को छोड़ कर इस सूची में के विषयों से किसी के बारे में फीस।

९७. सूची (२) या (३) में से किसी में अनर्गणित किसी कर के सहित उन सूचियों में अप्रगणित कोई अन्य विषय।

सूची २—राज्य-सूची

१. सार्वजनिक व्यवस्था (किन्तु असैनिक शक्ति की सहायता के लिये संघ के नौ, स्थल वा विमान बलों या किन्हीं अन्य बलों के प्रयोग को अन्तर्गत न करते हुये)।

२. आरक्षी, जिसके अन्तर्गत रेलवे और ग्राम आरक्षी भी हैं।

३. न्याय-प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़ कर सब न्यायालयों का गठन और संघटन; उच्च न्यायालय के पदाधिकारी और सेवक; भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया; उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर सब न्यायालयों में ली जाने वाली फीसें।

४. कारागार, सुधारालय, बोरस्टल संस्थायें और तद्रूप अन्य संस्थायें और उनमें निरुद्ध व्यक्ति; कारागारों और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिये अन्य राज्यों से प्रबन्ध।

५. स्थानीय शासन अर्थात् नगर-निगम, सुधार-प्रन्यास, जिला-मण्डलों, खनिज-वसिति प्राधिकारियों तथा स्थानीय स्वशासन या ग्राम्य प्रशासन के प्रयोजन के लिये अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ।

६. सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता; चिकित्सालय और औषधालय।

७. भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ यात्राओं को छोड़ कर अन्य तीर्थ यात्रायें।

८. मादक पानों अर्थात् मादक पानों का उत्पादन, निर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय।

९. अङ्गहीनों और नौकरी के लिये अयोग्य व्यक्तियों की सहायता।

१०. शव गाड़ना और कबरस्थान; शव दाह और श्मशान।

११. सूची १ की प्रविष्टियों ६३, ६४, ६५ और ६६ तथा सूची ३ की प्रविष्टि २५ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी हैं।

१२. राज्य से नियन्त्रित या वित्त-पोषित पुस्तकालय, संग्रहालय या अन्य समतुल्य संस्थायें; संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख।

१३. संचार अर्थात् सड़कें, पुल, नौका घाट तथा सूची १ में अनुल्लिखित संचार के अन्य साधन; ट्राम-पथ; रज्जुपथ; अन्तर्देशीय जल-पथ और उन पर यातायात, वैसे जल-पथों के विषय में सूची १ और सूची ३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुये; यन्त्र-चालित यानों को छोड़ कर अन्य यान।

१४. कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि-शिक्षा और गवेषणा, मरकों से रक्षा तथा

उद्भिद् रोगों का निवारण भी है।

१५. पशु के नस्ल का परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओं के रोगों का निवारण; शालिहोत्री प्रशिक्षण और व्यवसाय।

१६. पश्वरोध और पशुओं के अनिचार का निवारण।

१७. सूची १ की प्रविष्टि ५६ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये जल, अर्थात् जल-सम्भरण, सिंचाई और नहरें, जल निस्सारण और बंध, जल-संग्रह और जल-शक्ति।

१८. भूमि, अर्थात् भूमि में या पर अधिकार, भूधृति जिसके अन्तर्गत भूस्वामी और किसानों का सम्बन्ध भी है, तथा भाटक का संग्रहण; कृषि-भूमि का हस्तांतरण और अन्य संक्रामण; भूमि-सुधार और कृषि सम्बन्धी उधार; उपनिवेषण।

१९. वन।

२०. वन्य प्राणियों और पक्षियों की रक्षा।

२१. मीन-क्षेत्र।

२२. सूची १ की प्रविष्टि ३४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये प्रतिपालक अधिकरण, भारग्रस्त और कुर्क सम्पदायें।

२३. संघ के नियन्त्रणाधीन विनियमन और विकास के सम्बन्ध में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये खानों का विनियमन और खनिजों का विकास।

२४. सूची १ की प्रविष्टि ६४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये उद्योग।

२५. गैस, गैस-कर्मशालायें।

२६. सूची ३ की प्रविष्टि ३३ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये राज्य के अन्दर व्यापार और वाणिज्य।

२७. सूची ३ की प्रविष्टि ३३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुये वस्तुओं का उत्पादन, सम्भरण और वितरण।

२८. बाजार और मेले।

२९. मान स्थापन को छोड़ कर बाट और माप।

३०. साहूकारी और साहूकार; कृषि ऋणिता का उद्धार।

३१. पान्थशाला और पान्थशालापाल।

३२. सूची १ में उल्लिखित निगमों से भिन्न निगमों का और विश्वविद्यालयों का निगमन, विनियमन और समापन; व्यापारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और अन्य अनिगमित समाजें और संस्थायें; सहकारी समाजें।

३३. नाट्यशाला, नाटक अभिनय, प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि ६० के उपबन्धों के अधीन रहते हुये चल-चित्र, क्रीड़ा, प्रमोद और विनोद।

३४. पण लगाना और जूआ।

३५. राज्य में स्थित या उसके स्ववश में की कर्मशालायें, भूमि और भवन।

३६. सूची ३ की प्रविष्टि ४२ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये संघ के प्रयोजनों के अतिरिक्त सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण।

३७. संसद्-निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुये राज्य के विधानमण्डल के लिये निर्वाचन।

३८. राज्य के विधानमण्डल के सदस्यों के, विधानसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा, यदि विधान-परिषद् है तो, उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते।

३९. विधानसभा और उसके सदस्यों और समितियों की तथा, यदि विधान-परिषद् हो तो, उस परिषद् और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, राज्य के विधानमण्डल की समितियों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिये व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना।

४०. राज्य के मन्त्रियों के वेतन और भत्ते।

४१. राज्य-लोक सेवायें, राज्य-लोकसेवा-आयोग।

४२. राज्य-निवृत्ति-वेतन अर्थात् राज्य द्वारा अथवा राज्य की संचित निधि में से देय निवृत्ति-वेतन।

४३. राज्य का लोक-ऋण।

४४. निखात निधि।

४५. भूराजस्व जिसके अन्तर्गत राजस्व का निर्धारण और संग्रहण, भू-अभिलेखों का बनाये रखना, राजस्व प्रयोजनों के लिये और स्वत्व-अभिलेखों के लिये परिमाप और राजस्व का अन्य संक्रामण भी है।

४६. कृषि-आय पर कर।

४७. कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क।

४८. कृषि-भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क।

४९. भूमि और भवनों पर कर।

५० संसद् से, विधि द्वारा, खनिज विकास के सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अधीन रहते हुये खनिज-अधिकार पर कर।

५१. राज्य में निर्मित या उत्पादित निम्नलिखित वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा भारत में अन्यत्र निर्मित या उत्पादित तत्सम वस्तुओं पर उसी या कम दर से प्रतिशुल्क—

(क) मानव उपभोग के लिये मद्यसारिक पान;

(ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियाँ और स्वापक किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्रियों को छोड़

कर जिनमें मद्यसार अथवा इस प्रविष्टि की उपकंडिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो।

५२. किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिये वस्तुओं के प्रवेश पर कर।

५३. विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर।

५४. समाचार-पत्रों को छोड़ कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर।

५५. समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

५६. सड़कों या अन्तर्देशीय जल-पथों पर ले जायी जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर कर।

५७. सड़कों पर उपयोग के योग्य यानों पर, चाहे वे यन्त्रचालित हों या न हों तथा जिनमें सूची ३ की प्रविष्टि ३५ के उपबन्धों के अधीन ट्राम गाड़ियाँ भी अन्तर्गत हैं, कर।

५८. पशुओं और नौकाओं पर कर।

५९. पथ-कर।

६०. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर।

६१. प्रतिव्यक्ति-कर।

६२. विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद पण लगाने और जुआ खेलने पर भी कर हैं।

६३. मुद्रांक-शुल्क की दरों के सम्बन्ध में सूची (१) के उपबन्धों में उल्लिखित दस्तावेजों को छोड़ कर अन्य दस्तावेजों के बारे में मुद्रांक शुल्क की दर।

६४. इस सूची में के विषयों में से किसी से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

६५. इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर सब न्यायालयों का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ।

६६. किसी न्यायालय में लिये जाने वाले शुल्कों को छोड़ कर इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में शुल्क।

सूची ३—समवर्ती-सूची

१. दण्ड-विधि जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर भारत दण्ड-संहिता के अन्तर्गत हैं किन्तु सूची १ या सूची २ में उल्लिखित विषयों में से किसी से सम्बद्ध विषयों के विरुद्ध अपराधों को छोड़ कर तथा असैनिक शक्ति की सहायतार्थ नौ, स्थल और विमान बलों के प्रयोग को छोड़ कर।

२. दण्ड-प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर दण्ड-प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं।

३. राज्य की सुरक्षा से, सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने से अथवा समुदाय के लिये अत्यावश्यक संभरणों और सेवाओं को बनाये रखने से संसक्त कारणों के लिये निवारक निरोध; ऐसे निरुद्ध व्यक्ति।

४. कैदियों, अभियुक्त व्यक्तियों तथा इस सूची की प्रविष्टि ३ में उल्लिखित कारणों से निवारक-निरोध में किये गये व्यक्तियों का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना।

५. विवाह और विवाह-विच्छेद; शिशु और अवयस्क; दत्तक ग्रहण; इच्छापत्र, इच्छापत्रहीनत्व और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन; वे सब विषय जिनके सम्बन्ध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्ष इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे।

६. कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्तियों का हस्तान्तरण; विलेखों और दस्तावेजों का पञ्जीयन।

७. संविदा जिनके अन्तर्गत भागिता, अभिकरण, परिवहन-संविदा और अन्य विशेष प्रकार की संविदायें भी हैं किन्तु कृषि-भूमि सम्बन्धी संविदायें नहीं हैं।

८. अभियोज्य दोष।

९. दिवाला और शोधक्षमता।

१०. न्यास और न्यासी।

११. महाप्रशासक और राजन्यासी।

१२. साक्ष्य और शपथें, विधि, सार्वजनिक कार्यों और अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों का अभिज्ञान।

१३. व्यवहार-प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर व्यवहार प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं, परिसीमायें और मध्यस्थ-निर्णय।

१४, न्यायालय-अवमान, किन्तु जिसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं है।

१५. आहिण्डन, अस्थिरवासी और प्रवाजी आदिम जातियाँ।

१६. उन्माद और मनोवैकल्य जिसके अन्तर्गत उन्मत्तों और मनोविकलों के रखने या उपचार के स्थान भी हैं।

१७. पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण।

१८. खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं में अपमिश्रण।

१९. अफीम विषयक सूची १ की प्रविष्टि ५९ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुये औषधि और विष।

२०. आर्थिक और सामाजिक योजना।

२१. वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिपत्य, गुट्ट और न्यास।

२२. व्यापार-संघ; औद्योगिक और श्रमिक विवाद।

२३. सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा; नौकरी और बेकारी।

२४. श्रमिकों का कल्याण जिसके अन्तर्गत कार्य की शर्तें, भविष्य-निधि, नियोजक-उत्तरवादिता, कर्मकार-प्रतिकर, असमर्थता और वार्धक्य-निवृत्ति वेतन और प्रसूति सुविधायें भी हैं।

२५. श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्पी-प्रशिक्षण।

२६. विधि-वृत्तियाँ, वैद्यक वृत्तियाँ और अन्य वृत्तियाँ।

२७. भारत और पाकिस्तान की डोमीनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवास-स्थान से स्थानान्तरित हुये व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास।

२८. पूर्त और पूर्त-संस्थायें, पूर्त और धार्मिक धर्मस्व और धार्मिक संस्थायें।

२९. मानवों, पशुओं और उद्भिदों पर प्रभाव डालने वाले सांक्रामिक और सांसर्गिक रोगों और मारकों के एक राज्य से दूसरे में फैलने का निवारण।

३०. जीवन सम्बन्धी सांख्यकी, जिसके अन्तर्गत जन्म और मृत्यु का पञ्जीयन भी है।

३१. संसद्-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महा-पत्तन घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन।

३२. राष्ट्रीय जल-पथों के विषय में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये अन्तर्देशीय जल-पथों पर यन्त्र-चालित यानों विषयक नौ-वहन और नौ-परिवहन तथा ऐसे जल-पथों पर पथ-नियम, तथा अन्तर्देशीय जल-पथों पर यात्रियों और वस्तुओं का परिवहन।

३३. जहाँ संसद् से विधि द्वारा किन्हीं उद्योगों का संघ द्वारा नियन्त्रण लोक-हित में इष्टकर घोषित किया गया है उन उद्योगों में व्यापार और वाणिज्य तथा उनका उत्पादन, सम्भरण और वितरण।

३४. मूल्य-नियन्त्रण।

३५. यन्त्र-चालित यान जिनके अन्तर्गत वे सिद्धांत भी हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर लगाया जाना है।

३६. कारखाने।

३७. वाष्पयन्त्र।

३८. विद्युत।

३९. समाचार-पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय।

४०. संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न पुरातत्त्व सम्बन्धी

स्थान और अवशेष ।

४१. विधि द्वारा निष्क्राम्य घोषित सम्पत्ति की कृषि भूमि सहित अभिरक्षा, प्रबन्ध और व्ययन ।

४२. संघ के या राज्य के या किसी अन्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिये प्रतिकर निर्धारण करने के सिद्धान्त तथा वैसे प्रतिकर दिये जाने का रूप और रीति ।

४३. किसी राज्य में, उस राज्य से बाहर पैदा हुये कर विषयक दावों तथा अन्य सार्वजनिक अभियाचनाओं की, जिसके अन्तर्गत भूराजस्व बकाया और इस प्रकार वसूल की जाने वाली बकाया भी है, वसूली ।

४४. न्यायिक मुद्राँकों द्वारा संगृहीत शुल्कों या फीसों को छोड़ कर अन्य मुद्राँक-शुल्क, किन्तु इसके अन्तर्गत मुद्राँक-शुल्क की दरें नहीं हैं ।

४५. सूची २ या सूची ३ में उल्लिखित विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिये जाँच और सांख्यकी।

४६. उच्चतम न्यायालय को छोड़ कर अन्य न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ ।

४७. इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में फीसें किन्तु इनके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसें नहीं हैं ।

परिशिष्ट (२)
पारिभाषिक शब्दों की सूची

अ

अंशत: Partly, partially
अंशदान Contribution
अंकेक्षण, लेखापरीक्षा Audit
अंग Member, unit
अचल Immovable
अतिक्रमण Violation
अतिशायी अनुदान Additional grants
अतिरिक्त लाभकर Excess Profits Tax
अधिकार Right
अधिकार क्षेत्र Jurisdiction
अधिकार-पृच्छा Quo Warranto
अधिदेय Allowance
अधिनियम Act (of Parliament)
अधिपत्र Warrant
अधिभार Surcharge
अधिवक्ता Advocate
अधिवास Domicile
अधिवेशन Meeting, session
अधिशासन, कार्यपालिका Executive
अधिसूचना Notification
अधीक्षण Superintendence
अधीन Subordinate, under
अध्यक्ष Speaker
अध्यादेश Ordinance
अध्यासीन होना Preside
अनन्य शक्ति Exclusive power
अनिवार्य Compulsory
अनिवास Non-residence
अनुच्छेद Article
अनुदान Grant
अनुदेश Instruction
अनुज्ञप्ति Licence
अनुज्ञा (*v*) Permit
अनुज्ञा (*n*) Permission
अनुपात Ratio
अनुपाती प्रतिनिधित्व Proportional representation
अनुपूरक Supplementary
अनुमति Assent
अनुमोदन Approval
अनुशासन Discipline
अनुषक्ति Allegiance
अनुसंधान Investigation
अनुसरण Follow
अनुसूचित Scheduled
अनुसूचित जनजाति Scheduled Tribe
अनुसूची Schedule
अन्त करना Abolition

अन्तर्देश Inland
अन्तर्राज्य Inter-State
अन्तर्राजनीतिक Diplomatic
अन्तर्राष्ट्रीय International
अन्तिम Last, final
अन्यथा Otherwise
अन्य देशीय Alien
अन्वेषण Research
अपनयन Removal
अपमान Contempt
अपर Additional
अपवर्जित Excluded
अपात्र Disqualified, Ineligible
अपेक्षा Requirement
अप्रमीलक भेषज Non-narcotic drug
अप्रवर्ती Inoperative
अबाध Free
अभिकर्ता Agent
अभिभावी होना Prevail
अभिभाषण Address
अभिरक्षण Safeguards
अभियाचना Demand
अभियुक्त Accused
अभिलेख Record
अभिलेख न्यायालय Court of Record
अभिवक्ता Pleader
अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य Freedom of expression
अभिस्ताव Recommendation
अभिसंयम Convention
अभ्यर्थी Candidate
अमान्य Invalid
अयोग्यता Disability
अर्थ, वित्त Finance
अर्थायोग, वित्त आयोग Finance Commission
अल्पकालीन Temporary
अल्पसंख्यक Minority
अवकाश Leisure
अवधि Duration, period, term
अवर आगार Lower House
अवरोध Detention
अवशिष्ट शक्ति Residuary power
अवापन Acquire (property)
अवैध Illegal
असंगति Inconsistency
असमर्थता Incompetency
असामर्थ्य Incapacity
असैनिक शक्ति Civil power
अस्थायी Temporary, unstable
अस्पृश्यता Untouchability
अस्वीकृत Rejected

आ

आकस्मिकता निधि Contingency Fund
आगणन Estimates
आगम Revenue
आगार House
आगोप Insurance

आगोप लेख Insurance policy
आदिवासी Aboriginal
आदेश Order
आनियमन Regulate
आनुषंगिक Incidental
आपरिवर्तन Alter, alteration
आपात-स्थिति State of Emergency
आय Receipt, proceeds, income
आयकर Income Tax
आयात Import
आयोग Commission
आरक्षक Police
आरक्षित Reserved
आरोपण Imposing
आर्थिक Financial, economic
आवेदन Statement

इ

इकाई Unit
इच्छा पत्र Will

उ

उच्च न्यायालय High Court
उच्चतम न्यायालय Supreme Court
उत्तर Latter
उत्तर आगार Upper House
उत्तरदायी Responsible, answerable, liable
उत्तर वेतन Pension
उत्तराधिकार Succession
उत्पाद बलि Excise duty
उत्प्रवासन Immigration
उत्प्रेषण लेख Writ of certiorari
उदय Proceeds
उदर्पण Extradition
उद्घोषणा Proclamation
उधार Loans
उधारग्रहण Borrowing
उन्मूलन Abolition
उपखण्ड Sub-clause
उपचार Treatment
उप-राष्ट्रपति Vice-President
उप-राज्यपाल Lieutenant-Governor
उपभोग Consumption
उपयोजनाशील Adaptable, flexible
उप-सभापति Deputy chairman
उपस्थित Present
उपाध्यक्ष Deputy Speaker
उल्लंघन Contravention
उल्लिखित Specified
उल्लेख Records

ऋ

ऋण-पत्र Debenture
ऋण-प्रभार Debt charges
ऋणग्रस्तता Indebtedness

ए

एकक, अंग Unit
एकमत Unanimous
एकरूप Uniform
एक परिवर्तनीय मत Single

transferable vote
एकस्व Patent
एकस्व पत्र Letters Patent
एकागारिक Unicameral
एतदर्थ In this behalf, ad hoc

ऐ

ऐतिहासिक Historical

औ

औद्योगिक Industrial
औषधालय Dispensary

क

कदाचार Misbehaviour
कर Tax
करारोपण Taxation
कर्तव्यों का पालन Discharge of duties
कर्मचारी-वर्ग Staff
कल्याण Welfare
कार्य Affairs
कार्य-पालिका Executive
कार्य-प्रणाली Procedure
कार्यवाही Proceedings
कार्य-संचालन Conduct of business
कार्यालय Office
कालावधि Duration, period
कृषक Agriculturist
कृषि आय Agricultural income
कृषि-भूमि Agricultural land
केन्द्र Centre
केन्द्राधिशासित Centrally administered
क्रमश: Respectively
क्षमा Pardon
क्षेत्र Area
क्षेत्राधिकार Jurisdiction

ख

खंड Clause
खनिज Mineral
खाद्यान्न Foodstuffs
खान Mine
खुला Open

ग

गण Board
गणपूरक Quorum
गणराज्य Republic
गूढ़ता शपथ Oath of secrecy
गूढ़ शलाका Secret ballot
ग्राह्य Admissible

घ

घटना Reduction, fact, event
घोषणा-तिथि Date of declaration

च

चुङ्गी Octroi
चल सम्पत्ति Movable property
चलार्थ Currency

ज

जनक Parents
जन-गणना Census
जन-जाति, वन-जाति Tribe

जल-प्रदाय Water supply
जल-बल Naval Force
जल-मार्ग Waterways
जाति Caste
जानपद, नागरिक Citizen
जानपदत्व, नागरिकता Citizenship
जानपद बनाना, देशीयकरण Naturalization
जीवन-स्तर Standard of living

त

तत्स्थानी प्रान्त Corresponding province
तथ्य Fact
तिथि Date
तुरन्त Immediate

द

दण्ड अधिकार क्षेत्र Criminal Jurisdiction
दण्ड कार्य-प्रणाली Criminal procedure
दर Rate
दावा Claim, suit
दुराचार Misbehaviour
देय Liability, Fee
देशीयकरण Naturalisation
देशी राज्य Indian States
दैहिक स्वातन्त्र्य Personal liberty
दोष प्रमाणित Convicted
द्वि-आगारिक Bicameral

ध

धन Wealth, Money
धन-विधेयक Money Bill
धर्माधिकरण Tribunal
धारा Section

न

नगर क्षेत्र Municipal area
नगर-निगम Municipal Corporation
नगर पालिका Municipality
नगर समिति Municipal Committee
नागरिकता Citizenship
नाम-निर्देशन Nominate
नष्टनिधित्व Bankruptcy
निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा Free primary education
निकाय Body
निगम Corporation
निगम कर Corporation tax
निदेश Direction
निधि Fund
नियत Allotted
नियन्त्रण Control
नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक Comptroller and Auditor-General
नियम Rule
नियुक्ति Appointment
नियोजन Appropriation
निराक्रम्य कर Customs
निर्णय Decision
निर्णायक मत Casting vote
निर्माण Formation
निर्योग्यता Disqualification
निर्वाचक-निकाय Electoral

College
निर्वाचन-क्षेत्र Constituency
निर्वाचित Elected
निर्वासन (काला-पानी) Transportation
निलम्बन Suspend
निवारण Prevent
निश्चयन Determine
निष्क्रमण-व्यय Redemption charges
निर्यात Export
निर्यात बलि Export duties
निष्कासन Removal
निषेध Forbid
निहित Vested
निदेशक सिद्धान्त Directive Principles
नौपरिवहण Navigation
न्यायपालिका Judiciary
न्यायाधिकरण Tribunal
न्यायिक कार्यवाही Judicial proceedings
न्यास Trust
न्यूनतम Least

प

पंजीयित Registered
पता लगाना Betting
पद Item, term, post, office
पदकारणात् Ex-officio
पद के प्रतिबन्ध Conditions of office
पदत्याग Resignation
पदावधि, पदधारण काल Tenure of office
पदाधिकारी Officer, incumbent
पद-वृद्धि Promotion
पद्धति System
पदावास Official residence
पर प्रभृत Charged on
परमलेख, परमादेश Writ of Mandamus
परामर्श Consultation
परिनिर्णय Award
परिपृच्छा Enquiry
परिलाभ Emoluments
परिषद् Council
परिसम्पत् Assets
परिसीमन Delimitation
परिवर्तन Alteration
परिहरण Remit, remission
परीक्षण Examination
पारण Passage
पालन To carry out, compliance
पिछड़े हुये वर्ग Backward classes
पुनरीक्षण Revision
पुनर्विचार क्षेत्राधिकार Appellate Jurisdiction
पुनर्विचार न्यायालय Court of Appeal
पुरःस्थापन Introduce
पूर्व सहमति Previous consent
प्रकार्य Function
प्रकाशन Publication

प्रक्रिया Procedure
प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य Democratic Republic
प्रजाति Race
प्रणीवि Fund
प्रत्यक्ष Direct
प्रत्यर्पण Extradition
प्रत्याभूति Guarantee
प्रतिज्ञा अर्थपत्र Promissory notes
प्रतिनिधान, प्रतिनिधित्व Representation
प्रतिरक्षण Defence
प्रतिव्यक्ति कर Capitation taxes
प्रतिस्थापन प्रणीवि Sinking Fund
प्रत्यय पत्र Letter of credit
प्रदाय Supply
प्रदेश Tract, territory
प्रधान, राष्ट्रपति President
प्रधान मन्त्री Prime Minister
प्रन्यास Trust
प्रपत्र Form
प्रभार Charge
प्रभावी बनाना Give effect to
प्रमीलक भेषज Narcotic drugs
प्रयोग Use, exercise
प्रलेख Document
प्रवर्तन Enforcement, Promulgation
प्रविलम्बन Reprieve
प्रशासन Administration
प्रसंविदा Contract
प्रसूति साहाय्य Maternity relief
प्रस्ताव Proposal
प्रस्तावना Preamble
प्रस्थिति-समता Equality of status
प्राड्विवाक Sheriff
प्राथमिक Primary
प्रादेश Decree
प्रादेशिक Territorial
प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र Territorial Constituency
प्राधिकार Authority
प्रापण Obtain
प्राभिकर्ता Attorney
प्राभियोग Impeachment
प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार Original Jurisdiction
प्रारम्भिक न्यायालय Court of first instance
प्रारूप Draft
प्रावधान Provision
प्राविधिक Technical
प्रास्थगन Respite

ब

बन्दी प्रत्यक्षीकरण Habeas Corpus
बन्धनकारी Binding
बलात्श्रम Forced labour
बलि Duty
बहुसंख्या, बहुमत Majority
बिना विपरीत प्रभाव के With-

out prejudice to

भ

भरण-पोषण Maintenance
भाग Part
भागफल Quotient
भार Charge
भारत भूमापन विभाग Survey of India
भारत शासन (सरकार) Government of India
भारतीय संचिति अधिकोष Reserve Bank of India
भाषण स्वातन्त्र्य Freedom of speech
भिन्न Fraction
भू-राजस्व, भू-आगम Land-revenues
भू-सम्पत्ति Estate
भेषज Drug
भ्रष्टाचार Corruption

म

मण्डल District
मण्डल-न्यायालय District Court
मण्डली Board
मत Vote
मतदाता Voter
मताधिकार Franchise, suffrage
मध्यस्थ न्यायाधिकरण Arbitral Tribunal
मति Opinion
मनोनीत Nominated
मन्त्रणा Advice
मन्त्रणा परिषद् Advisory Council
मन्त्रि परिषद् Council of Ministers
मन्त्री Minister
महांकिक Accountant-General
महालेखा परीक्षक, महांकेक्षक Auditor-General
महान्यायवादी, महाप्राभिकर्ता Attorney-General
महाभियोग Impeachment
मात्रा Extent
मानहानि Defamation
मान्यता Validity
माप Measure
मार्गकर Toll
मुआविज़ा Compensation
मुख्य मन्त्री Chief Minister
मुद्रा Seal
मुद्रांक-बलि, मुद्रांक-शुल्क Stamp duties
मुद्रा विधेयक Money bill
मूलाधिकार Fundamental Rights

य

यथास्थिति As the case may be
यातायात Communications
योग्य Qualified
योजना-निर्माण Planning

र

रक्षण Protection
राजनैतिक दल Political parties
राजस्व Revenue
राज्य State
राज्य-ऋण Public debt
राज्यक्षेत्र Territory
राज्यक्षेत्र-बाह्य Extraterritorial
राज्य-परिषद् Council of States
राज्य-संघ Union of States
राशि Amount
राष्ट्र-ऋण Public debt
राष्ट्रपति President
रिक्ति Vacancy

ल

लगातार Consecutive
लघुकरण Commute
लम्बमान Pending
लब्धि Quotient
लागू In force
लाभ Advantage, profit
लिंग Sex
लिपिक Clerk
लेख Writ
लेखा Account
लोकतन्त्रात्मक Democratic
लोकसभा House of the People
लोक साहाय्य Public aid
लोक सेवा आयोग Public Service Commission
लोक सेवाएँ Public Services
लौकिक Secular

व

वञ्चित Deprived
वयस्क मताधिकार Adult suffrage
वर्ग Class, category
वर्ण Caste
वर्तमान Existing, present
वर्धन Increase
वाक् स्वातन्त्र्य Freedom of speech
वांछनीय Desirable
वाणिज्य Commerce
वायुसेना Air Force
वास्तविक Actual
वाहन Vehicle
विकास Development
विखण्डन Repeal
वित्त Finance
वित्त-मन्त्री Finance Minister
वित्तायोग Finance Commission
विदेश कार्य Foreign affairs
विधान परिषद् Legislative Council
विधान-मण्डल Legislature
विधान सभा Legislative Assembly
विधायी Legislative
विधि Law
विधि का अतिक्रमण Violation of law

विधिवक्ता Barrister
विध्यनुकूल Lawful
विधेयक Bill
विनिधान Prescribe
विनियोग विधेयक Appropriation Bill
विनिमय Exchange
विनिमय पत्र Bill of Exchange
विभाजन Division, partition, distribution
विभेद Discrimination
विमुक्ति Immunity
वियुक्ति Dismissal
विरुद्ध Repugnant, against
विलयन Dissolution
विलेख Instrument
विवरण Statement
विवाद Dispute
विवाह विच्छेद Divorce
विविध Miscellaneous
विशेषाधिकार Privileges
विस्तार Extent, details
वृत्ति Calling, occupation
वेतन Salary, pay
व्यपगम Lapse
व्यवसाय Profession
व्यवहार न्यायालय Civil Court
व्यवहार्य Practicable
व्याख्या Explanation
व्यापार Trade
व्यावसायिक Industrial

श

शलाका Ballot
शक्ति Power, strength
शस्त्रास्त्र Arms
शासक, राज्यपाल Governor, ruler, Government
शुद्ध उदय Net proceeds
शुल्क Fees
श्रम Labour
श्रमिक Worker, labour

स

संचित निधि Consolidated Fund
संपूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न Sovereign
संयुक्त उत्तरदायित्व Joint responsibility
संयुक्त राष्ट्र संघ United Nations Organization
संविधान Constitution
संशोधन Amendment
संसद् Parliament
संघटन Organization
संस्थापना Constitute
संकल्प Resolution
संगत Consistent, relevant
संघ Union
संघांग Units of the Federation
संघीय Federal
सचिवालय Secretariat
संचालन Direct
सत्रावसान Prorogue
सदस्य Member
संधारण Hold, maintenance
सभा Assembly

सभापति Chairman
सम Equal, equivalent
समताधिकार Right of Equality
समवर्ती Concurrent
समादेश Command
समामेलन Amalgamate
समिति Committee
संपरिवर्तन Modification
संप्रतिज्ञा Convention
सहकारिता Cooperation
सहमति Concurrence
सहायक अनुदान Grants-in-aid
संवैधानिक उपचार Constitutional remedies
साक्ष्य Evidence
साधन Means
सामान्य Central
सीमा कर Terminal tax
सेवानिवृत्त Retired
स्थगन Suspend, adjourn
स्थानापन्न Acting
स्थानीय स्वशासन Local self-government
स्थायी Stable, permanent
स्वविवेक Discretion
स्वायत्तशासी Autonomous

ह

हस्तक्षेप Interference
हस्तान्तरण Transfer

परिशिष्ट (३)

पाठ्य-पुस्तकों की सूची

Modern Indian Nationalism and Thought

Ambedkar. B. R. : Thoughts on Pakistan

Andrews and Mookerjee : The Rise and Growth of the Congress.

Asoka Mehta'. 1857—The Great Rebellion.

Asoka Mehta and Patwardhan : The Communal Triangle,

Banerjea, Sir S. N. : A Nation in Making.

Besant, Annie : India—A Nation.

„ „ : How India Wrought for Freedom.

Beni Prasad : Hindu-Muslim Questions.

Bose, Subhas Chandra : The Indian Struggle

Brailsford. H. N. : Subject India.

Chintamani, C. Y. : Indian Politics Since the Mutiny.

Chirol, V. : Indian Unrest.

„ „ : India.

Cotton, Sir Henry : Indian and Home Memories.

Coupland, R. : Indian Politics 1936-1942.

„ „ : The Indian Constitutional Problem.

Dutt, R. C. : The Economic History of India.

Gandhi, M. K. : Speeches and Writings.

„ „ : My Experiments with Truth.

Gokhale, G. K. : Speeches.

G. N. Singh : Landmarks in Indian Constitutional and National Development.

Humayun Kabir : Muslim Politics 1906-1942.

Jawaharlal Nehru : Autobiography.

„ „ : The Unity of India.

„ „ : The Discovery of India.

Jaiprakash Narain : Towards Struggle.

Lajpat Rai : Young India.

Lovett, Sir Verney : A History of the Indian National Movement,

Macnicol, N, : The Making of Modern India,

Mazumdar. B. : Political Thought from Ram Mohan Roy to Dayanand.

Mazumdar. A. C. : Indian National Evolution.

Pattabhi Sitaramayya : History of the Indian National Congress. Volumes I & II.

,, ,, Gandhi & Gandhism, Volumes I & II.

Rajendra Prasad : India Divided.

R. Palme Dutt : India Today,

Radhakrishnan, S : Mahatma Gandhi—Essays and Recollections.

Raghuvanshi, V. P. S. : Indian Nationalist Movement and Thought.

S. N. Agrawal : Gandhian Constitution of Free India.

Zacharias, H. C. E. : Renascent India.

Indian Constitutional Development

Banerjee, D. N. : Indian Constitution (1919) and its Actual Working.

Banerjee, A. C. : Indian Constitutional Documents, Volumes I, II & III.

Curtis-Lionel ; Dyarchy.

Chintamani and Masani : Indian Constitution (1935) at Work.

Dodwell : Cambridge History of India Volume VI.

Government Publications : Montagu-Chelmsford Report on Indian Constitutional Reform.

,, ,, : Indian Statutory (Simon) Commission Report.

,, ,, : Indian Round Table Conference Proceedings.

,, ,, : Government of India Act, 1935.

,, ,, : Government of India Act, 1947.

G. N. Singh : Indian States and British India.

Joshi, G. N. : The New Constitution of India (1935).

Keith, Sir A. B. : Constitutional History of India 1600-1935.

Mukerji, P. : Indian Constitutional Documents.

Pardasani, N. S. : How India is Governed ?

Punniah, K. V. : The Constitutional History of India.

Sapre, B. G. : Growth of Indian Constitution and Administration.

Sharma and Verma : Government of India.

Shafaat Ahmad Khan : The Indian Federation.

Shah, K. T. : Federal Structure,

Government of the Indian Republic

Agrawala and Aiyar : The Constitution of India.

Banerjee, A. C. : Making of Indian Constitution.

Basu, Durga Das : A Commentary on the Constitution of India.

Government Publications : Constituent Assembly Proceedings.

" " The Constitution of India.

" " Proceedings of the Indian Parliament.

Shukla, V. N. : The Constitution of India.

Sharma, M. P. : The Government of the Indian Republic.